डा० विनोदचन्द्र विद्यालंकार

जयदेव

आचार्य एवं नाटककार के रूप में

आलोचनात्मक अध्ययन

साहित्य भण्डार, मेरठ

शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार द्वारा
प्रदत्त आर्थिक सहायता से प्रकाशित

जयदेव

आचार्य एवं नाटककार के रूप में

आलोचनात्मक अध्ययन

(आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त शोधप्रबन्ध)

डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालङ्कार
एम० ए० पी-एच० डी०

साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ–२

प्रथम संस्करण
१००० प्रतियाँ

मूल्य :

मुद्रक :
तरङ्ग प्रिंटिंग प्रेस
६५/३० आजाद रोड;
मेरठ–२

प्राक्कथन

संस्कृत-साहित्य में वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, भवभूति प्रभृति जिन कविमूर्धन्यों ने अपनी काव्यमन्दाकिनी को प्रवाहित किया है, उसमें पीयूषवर्ष जयदेव अन्यतम हैं। महाकवि एवं नाटककार होने के साथ-साथ काव्यशास्त्र का मार्ग प्रशस्त करने वाले आचार्यों में भी इनकी गणना है। इनके अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ चन्द्रालोक तथा नाटक प्रसन्नराघव ने पर्याप्त ख्याति प्राप्ति की है। इनके चन्द्रालोक का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि इसके अर्थालंकार-प्रकरण को आधार बनाकर आचार्य अप्पय दीक्षित ने अलंकारशास्त्र के प्रथित ग्रन्थ कुवलयानन्द की रचना की है। प्रसन्नराघव नाटक भी अपने काव्यवैशिष्ट्य के कारण सहृदयों का हृदयहार बना हुआ है। किन्तु जहां संस्कृत-साहित्य के इतर काव्यशास्त्री आचार्यों एवं महाकवियों पर प्रचुर शोध-कार्य हुआ है, वहाँ अभी तक इन स्वनामधन्य पीयूषवर्ष की कृतियों पर अद्यावधि कोई उल्लेखनीय कार्य दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अतएव प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में इनकी दोनों कृतियों का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। इस शोधप्रबन्ध पर लेखक को सन् १९७३ में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त हो चुकी है।

यह शोधप्रबन्ध दस अध्यायों में समाप्त हुआ है। इसके दो भाग हैं। प्रथम छः अध्यायों में आचार्य के रूप में पीयूषवर्ष के काव्य-सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा की गई है, तथा शेष चार में उनके कवि एवं नाटककार के रूप का दर्शन एवं पर्यालोचन है।

प्रथम अध्याय में जयदेव के ग्रन्थ, काल, निवासस्थान आदि का परिचय प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में अलंकारशास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति जयदेव की भावना, चन्द्रालोक पर उनका प्रभाव तथा चन्द्रालोक में प्रतिपादित अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिक तत्त्वों का निरूपण किया गया है। तृतीय अध्याय दोष तथा लक्षण विषयक है। प्राचीन आचार्य काव्यदोषों और नाट्यलक्षणों के सम्बन्ध में जो विचार कर चुके थे उस पर विहंगमदृष्टि डाल कर उसकी तुलना में जयदेव के दोषलक्षण-विचार का आलोचनात्मक परिचय दिया गया है। चतुर्थ अध्याय काव्यगुण सम्बन्धी है। इसमें काव्यगुणों का संक्षिप्त इतिहास देते हुए उसके प्रकाश में जयदेवाभिमत गुणों पर विचार किया गया है तथा गुणों और अलंकारों के अन्तर के विषय में भी प्राचीन आचार्यों की विवेचना के साथ-साथ जयदेव का मत उपस्थित किया गया है। पंचम अध्याय काव्यालंकार विषयक है। इसमें अलंकार के स्वरूप तथा विकास-क्रम पर प्रकाश डालते हुए जयदेवप्रदर्शित शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें प्रत्येक अलंकार के मूल तथा विकास का संक्षिप्त अध्ययन करते हुए उसकी तुलना में जयदेवप्रदर्शित स्वरूप वर्णित किया गया है तथा यह भी दर्शाया गया है कि कुवलयानन्दकार ने जयदेव के किस अलंकार के लक्षण एवं उदाहरण में क्या परिवर्तन या परिवर्धन किया है। जयदेव ने कौन-कौन से अलंकार नवीन उद्भावित किये हैं इसका भी परिचय दिया गया है। रसवदादि अलंकार, संसृष्टि, संकर, माला, परम्परा आदि की पृथगलंकारता होने या न होने के सम्बन्ध में भी जयदेव का मत निरूपित किया गया है। षष्ठ अध्याय रस, रीति, मधुरादि वृत्ति, शब्द-वृत्ति एवं काव्यभेदों के सम्बन्ध में है। प्रत्येक पर प्राचीन आचार्यों का संक्षिप्त विचार देकर इनके जयदेवसम्मत स्वरूप एवं भेदोपभेदों

को स्पष्ट किया गया है, तथा यह भी प्रदर्शित किया गया है कि जयदेव इनकी मीमांसा में पूर्ववर्ती किन-किन आचार्यों से प्रभावित हैं तथा इनकी नवीन देन क्या है ?

इसके अनन्तर पीयूषवर्ष की द्वितीय कृति प्रसन्नराघव नाटक का मूल्यांकन प्रारम्भ होता है। सप्तम अध्याय में रामकथाश्रित साहित्य का संक्षिप्त परिचय देकर प्रसन्नराघव का महत्त्व दर्शाया गया है। प्रसन्नराघव का अंकवार कथा-संक्षेप लिख-कर, कथानक में इन्होंने वाल्मीकिरामायण की अपेक्षा जो परिवर्तन या परिवर्धन किये हैं, तथा पूर्ववर्ती कालिदास, भवभूति, मुरारि आदि का इन पर जो प्रभाव पड़ा है उसका निरूपण किया गया है। अष्टम अध्याय में भावपक्ष की दृष्टि से प्रसन्नराघव की काव्यकला प्रदर्शित की गयी है, जिसमें कवित्व, प्रकृति-चित्रण, रूपसौन्दर्य-चित्रण, व्यक्तिचित्रण, वृत्तचित्रण, रस-परिपाक आदि पर कवि का वैशिष्टच प्रदर्शित किया गया है। नवम अध्याय में भाषा, अलंकार, छन्द आदि की दृष्टि से काव्यकला पर विचार है। दशम अध्याय नाटकीय-कला-सम्बन्धी है, जिसमें नाटक-रचना की दृष्टि से कवि के गुण-दोषों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रसन्नराघव एवं अनर्घराघव चौखम्बा प्रकाशित क्रमशः सन १९५६ तथा १९६० के संस्करणों का उपयोग किया गया है, अतः जहां पृष्ठसंख्या दी गई है, वहाँ इन्हीं संस्करणों की समझनी चाहिए।

शोधप्रबन्ध को लिखने में मुझे मेरे पथप्रदर्शक विद्वद्वर डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, डी० ए० वी० कालेज देहरादून से जो प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं निर्देशन प्राप्त हुआ है तदर्थ कृतज्ञताज्ञापन के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। मुख्यतः उनकी सहज कृपा, वात्सल्य, सूक्ष्मेक्षिका एवं निर्देशनकुशलता को ही इस शोधप्रबन्ध की पूर्ति का श्रेय है। मेरठ कालेज, मेरठ के संस्कृतविभागाध्यक्ष डॉ० निरूपण विद्यालंकार से भी मुझे शोधप्रबन्ध के लेखन तथा प्रकाशन में बहुत सहायता प्राप्त हुई है। इसे लिखने में मैंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से पर्याप्त लाभ उठाया है।

ग्रन्थकारों में सर्वप्रथम मैं इस शोधप्रबन्ध के उपजीव्य पीयूषवर्ष के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, जिनकी पीयूषवृष्टि से इस शोध-काल में निरन्तर मेरे मानस को सिक्त होने का अवसर मिला है। आचार्य भरतमुनि, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, भोजराज, मम्मट प्रभृति प्रायः सभी प्रमुख आलंकारिकों के ग्रन्थरत्नों का भी इस प्रसंग में मैंने यत्किंचित् पर्यालोचन किया है। आदि कवि के रामायण काव्य का पयः पान भी अनायास होता रहा है। तुलना के लिए कालिदास भवभूति, मुरारि, राजशेखर आदि के काव्यों को भी देखा है। इन प्राचीन महामान्य मनीषियों के अतिरिक्त अनेक आधुनिक समालोचक, इतिहासलेखक, टीकाकार आदि विद्वान् ग्रन्थप्रणेताओं के ग्रन्थों से भी मैंने भरपूर सहायता ली है, जिनके नाम अन्त में सन्दर्भग्रन्थसूची में दिये गये हैं। इन सबके प्रति मैं अपनी सादर प्रणति विज्ञापित करता हूँ।

इस शोधप्रबन्ध के प्रकाशन के लिए शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मंत्रालय, भारत सरकार से २५% आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है। तदर्थ मैं शिक्षा मंत्रालय के संस्कृत-विभाग के अधिकारियों का आभारी हूँ। इस ग्रन्थ के प्रकाशन का समग्र भार साहित्य भण्डार, मेरठ के अध्यक्ष श्री रतिराम जी शास्त्री ने कृपापूर्वक स्वीकार किया है। इसके लिए मैं उनका धन्यवाद करता हूं।

पंतनगर
१५–४–१९७५

विनयावनत
विनोदचन्द्र विद्यालङ्कार

विषयानुक्रमणिका

नवम अध्याय

दशम अध्याय

प्रथम अध्याय

जयदेव और उनकी रचनाएँ

पीयूषवर्ष—संस्कृत-साहित्य के काव्याकाश को अनेक आलंकारिकों एवं काव्यकारों की विमल कृतिरूपी नक्षत्रमालाओं से विभूषित होने का गौरव प्राप्त है। इस साहित्य की एक अनुपम विभूति पीयूषवर्ष जयदेव भी हैं, जो आलंकारिक तथा महाकवि दोनों की प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए हैं। इनका अलंकारग्रन्थ चन्द्रालोक तथा काव्यग्रन्थ प्रसन्नराघव नाटक संस्कृत की विद्वन्मण्डली में सुप्रसिद्ध है।

संस्कृत में काव्य-रचना करने वाले जयदेव नाम के कई लेखक हो चुके हैं। जर्मन विद्वान् ऑफ्रेक्ट ने जयदेव नामक १५ लेखकों का उल्लेख किया है[1], जिनमें गीतगोविन्दकार जयदेव, पक्षधर जयदेव तथा पीयूषवर्ष जयदेव प्रमुख हैं। संस्कृत-साहित्य में गीतगोविन्दकार जयदेव अतिशय प्रख्यात हैं। किन्तु वे तथा पीयूषवर्ष जयदेव एक नहीं हो सकते, क्योंकि गीतगोविन्दकार भोजदेव और रामादेवी के पुत्र हैं, जबकि पीयूषवर्ष के माता-पिता का नाम सुमित्रा और महादेव है[2]। इस हेतु से श्रीयुत काणे, सुशीलकुमार दे प्रभृति प्रायः सभी विद्वानों ने इन्हें भिन्न ही माना है, यद्यपि कोई-कोई विद्वान् इन्हें एक सिद्ध करने का भी प्रयत्न करते हैं। आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी काव्यप्रकाश-टीका की भूमिका में गीतगोविन्द के माता-पिता के उल्लेख वाले श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हुए दोनों को एक सिद्ध करने का यत्न किया है[3]। पर इनके तर्क अकाट्य नहीं हैं।

दूसरे जयदेव, जिनसे पीयूषवर्ष की अभिन्नता कही जाती है, पक्षधर मिश्र जयदेव हैं। इसके समर्थन में यह युक्ति दी जाती है कि प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में कवि ने अपने आपको प्रमाणप्रवीण कहा है और नट के मुख से यह कहलाया है कि इस कवि में चन्द्रिका और चण्डातप के समान कविता और तार्किकता की एकाधिकरणता को देखकर मैं विस्मित हूँ[4]। इनके विषय में जनश्रुति के अनुसार एक पद्य

---

१. कैटलागोरस कैटलागोरम भाग १, १९६२, पृ० १९९–२००।

२. श्रीभोजदेवप्रभवस्य राधादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य। गी० १२.४.५
महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः।
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ॥ च० १.६

३. विश्वेश्वर : काव्यप्रकाश-टीका, ज्ञानमण्डल वाराणसी, २०१७ वि०, भूमिका पृ० ८३।

४. नन्वयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते। तदिह चन्द्रिकाचण्डातपयोरिव कवितातार्किकत्वयोरेकाधिकरणतामालोक्य विस्मितोऽस्मि। प्र०, पृ० २६

भी प्रचलित है, जिसमें इन्हें काव्य तथा तर्कशास्त्र दोनों का पण्डित कहा गया है[५]। पक्षधर मिश्र भी परम तार्किक हैं और उन्होंने गंगेशोपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ पर मण्यालोक नाम से भाष्य लिखा है। इस आधार से दोनों एक होने चाहियें। मैथिल पण्डित महामहोपाध्याय परमेश्वर झा ने अपने मिथिलातत्त्वविमर्श नामक ग्रन्थ में इन दोनों को एक ही माना है तथा वे इनकी चार रचनायें बताते हैं—१. मण्यालोक, २. चन्द्रालोक, ३. सीताविहार, ४. प्रसन्नराघव नाटक[६]। डॉ० काणे भी दोनों को एक ही स्वीकार करते हैं[७]। परन्तु डॉ० दे इनकी एकता में तीव्र सन्देह व्यक्त करते हैं[८]। श्री बटुकनाथ शर्मा भी एकता के मत का विरोध करते हुए इन दोनों को भिन्न ही लिखते हैं। उनका कथन है कि पीयूषवर्ष प्रमाणप्रवीण थे, इतने मात्र से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे तार्किक पक्षधर जयदेव ही थे, जब तक कि कोई अन्य प्रबल प्रमाण प्राप्त न हो[९]।

पीयूषवर्ष की रचनाएँ

पीयूषवर्ष जयदेव की दो रचनायें उपलब्ध होती हैं—१. चन्द्रालोक, २. प्रसन्न-राघव नाटक। ये दोनों कृतियां एक ही जयदेव की हैं, इसमें निम्नलिखित युक्तियां दी जा सकती हैं—

१. दोनों ही ग्रन्थों में लेखक के पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा लिखा है, प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में तथा चन्द्रालोक के प्रत्येक मयूख के अन्तिम श्लोक में। यह समानता आकस्मिक नहीं हो सकती।

प्रसन्न० कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो-
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः ॥ १.१४
लक्ष्मणस्येव यस्याऽस्य सुमित्राकुक्षिजन्मनः।
रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृंगायते मनः ॥ १.१५

चन्द्रा० महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
अनेनासावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥ १.१६

२. दोनों ही ग्रन्थों के कवि शिव तथा विष्णु के उपासक हैं तथा इनमें अद्वैत मानते हैं। प्रसन्नराघव के मंगलाचरण में विष्णु की स्तुति है तथा चन्द्रालोक के

---

५. काव्येऽपि कोमलधियो वयमेव नान्ये, तर्केऽपि कर्कशधियो वयमेव नान्ये।
तन्त्रेऽपि यन्त्रितधियो वयमेव नान्ये, कृष्णेऽपि सङ्गतधियो वयमेव नान्ये ॥

६. मिथिलातत्त्वविमर्श, १९४९, पृ० २०३–२०६

७. काणे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, १९६६, पृ० ३६२

८. दे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स, खण्ड १, १९६०, पृ० १९७

९. द्रष्टव्य : चन्द्रालोक गागाभट्ट टीका, चौखम्बा, १९५५ वि० के प्रारम्भ में बटुकनाथ शर्मा का लेख 'पीयूषवर्षो जयदेवः', पृ० ९

मांगलिक पद्य में शिवजी की नेत्रत्रितयी का उल्लेख है, इससे यह सन्देह हो सकता है कि प्रसन्नराघवकार विष्णु के तथा चन्द्रालोककार शिव के उपासक होने से परस्पर भिन्न हैं। पर वस्तुतः इसका कारण यह है कि ये विष्णु और शिव में अभेद मानते हैं। प्रसन्नराघव के भरतवाक्य में यही याचना की गई है कि विष्णु तथा शिव में सबकी अद्वैतमति विलसित होती रहे[10]। साथ ही जहां मंगलाचरण में विष्णु की आराधना है वहां उसके तुरन्त पश्चात् ही भगवान् शंकर की यात्रा का भी उल्लेख है।[11] इसी प्रकार चन्द्रालोक में यद्यपि मंगलश्लोक में शिव का उल्लेख है, तथापि आगे विभिन्न लक्षणों के उदाहरण देते हुए शिव तथा विष्णु दोनों को ही स्मरण किया है। यथा—

शिव केतकी शेखरे शम्भोर्धत्ते चन्द्रकलातुलाम्। च० २.३५
दधार गौरी हृदये देवं हिमकराङ्कितम्। च० २.४४
जितोऽसि मन्द कन्दर्प मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः। च० ५.३८
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः। च० ५.३९
सारं सारस्वतं तत्र काव्यं तत्र शिवस्तवः। च० ५.९०

विष्णु मुधा निन्दन्ति संसारं कंसारिर्यत्र पूज्यते। च० ३.२
चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः। च० ५.४०
चन्दनं खलु गोविन्दचरणद्वन्द्ववन्दनम्। च० ५.६
श्रितोऽस्मि चरणौ विष्णोर्भृङ्गस्तामरसं यथा। च० ५.१६
त्वद्भक्तः कृष्ण गच्छेयं नरकं स्वर्गमेव वा। च० २.३२

प्रसन्नराघव में विशेषतः विष्णु का मंगलाचरण कवि ने इस हेतु से किया है, क्योंकि उसमें कथा ही विष्णु के अवतार राम की है। इसी प्रकार चन्द्रालोक में शिव का स्मरण इस कारण उपयुक्त है, यतः चन्द्रालोक शिव का शिरोभूषण है।

३. दोनों ही ग्रन्थों के कवियों में राम तथा रामायण के प्रति परम भक्ति है। प्रसन्नराघव में तो रामायण की कथा ही निबद्ध है, पर चन्द्रालोक में भी कतिपय उदाहरण रामकथा सम्बन्धी पाये जाते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि चन्द्रालोककर्ता के मन में भी रामचरित के प्रति उत्कट प्रीति है। उदाहरणार्थ निम्न पद्यांश द्रष्टव्य हैं—

चन्द्रा० हनूमानब्धिमतरद् दुष्करं किं महात्मनाम्। ५.६८
हर सीतां सुखं किं तु चिन्तयान्तकढौकनम्। ५.७३
अजरामरता कस्य नायोध्येव पुरी प्रिया। ५.६४
येन बद्धोऽम्बुधिर्यस्य रामस्यानुचरा वयम्। २.२३
न मामंगद जानासि रावणं रणदारुणम्। २.१५

---

१०. देवे कौस्तुभधाम्नि चन्द्रमुकुटेऽद्वैता मतिः खेलतु। प्र० ७.९४
११. भगवतः शंकरस्य यात्रायां परिमिलिता एव पारिषदाः। प्र०, पृ० ७

४. दोनों ग्रन्थों के भाव एवं भाषा में भी क्वचित् साम्य पाया जाता है। यथा—

चन्द्रा० दृष्टं चेद् वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना। ५.१००

प्रसन्न० राजीव जीवसि मुधा न सुधाकर त्वम्।
अस्याः समः पदनखस्य कुतो मुखस्य॥ १.१६

चन्द्रा० असावुदेति शीतांशुर्मानिच्छेदाय सुभ्रुवाम्। ३.१०

प्रसन्न० मृगदृशां मानं समुन्मीलयन्···इन्दुः समुज्जृम्भते। ७.६०

चन्द्रा० इन्दुर्यदि कथं तीव्रः सूर्यो यदि कथं निशि। ३.३

प्रसन्न० चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति। ६.१

चन्द्रा० त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनोः। ५.१५

प्रसन्न० वहत्यस्या दृष्टिर्विकचनवनीलोत्पलतुलाम्। २.१६

चन्द्रा० नायं सुधांशुः किं तर्हि व्योमगङ्गासरोरुहम्। ५.२४

प्रसन्न० त्रिपुरहरशिरःस्वःस्रवन्तीमृणालं···खण्डमिन्दोः। २.३५

रचनाओं का पौर्वापर्य

चन्द्रालोक और प्रसन्नराघव में से कवि ने पहले किसकी रचना की, यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। कवि ने अपने आपको पीयूषवर्ष चन्द्रालोक में कहा है[12], किन्तु प्रसन्नराघव में नहीं। चन्द्रालोक में वह स्वयं को सूक्तिपीयूषवर्ष भी कहता है[13]। प्रसन्नराघव में पीयूषवर्ष नाम न मिलने का कारण यही प्रतीत होता है कि उसकी रचना से पूर्व कवि इस नाम से प्रख्यात नहीं हुआ था। इस नाटक की मधुर सूक्तियों से चमत्कृत होकर ही सहृदय-समाज ने इन्हें पीयूषवर्ष या सूक्तिपीयूष-वर्ष उपनाम से विभूषित कर दिया होगा। चन्द्रालोक में जयदेव स्वयं को सुकवि भी कहते हैं। अतः इससे पूर्व इनकी कोई रचना अवश्य होनी चाहिए, जिसके कारण इन्हें सुकवि कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ होगा। वह रचना प्रसन्नराघव ही हो सकती है। इस युक्ति से प्रसन्नराघव ही इनकी प्रथम रचना प्रतीत होती है। यदि प्रसन्नराघव से पूर्व ये चन्द्रालोक की रचना कर चुके होते तो प्रस्तावना में कवि-परिचय में उसका उल्लेख अवश्य करते। ऐसा न होने से भी उपर्युक्त कल्पना की पुष्टि होती है। प्रसन्नराघव में इन्होंने पीयूषवृष्टि की है, जो कुरङ्गाक्षी के अधरबिम्ब को भी अधर कर देने वाली है—

विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दमधुरः।
कुरंगाक्षीबिम्बाधरमधर[14]भावं गमयति॥ प्र० १.१४

प्रसन्नराघव में एक स्थान पर 'चन्द्रालोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। षष्ठ अंक में रत्नशेखर द्वारा प्रदर्शित इन्द्रजाल में राम सीता की कण्ठध्वनि सुनकर उसे तुरन्त

---

१२. चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती। च० १.२
पीयूषवर्षप्रभवं चन्द्रालोकं मनोहरम्। वही १०.५

१३. सूक्तिपीयूषवर्षस्य जयदेवकवेर्गिरः। वही १०.६

१४. पाठान्तर : मधुरभावं।

पहचान लेते हैं, पर सीता उन्हें दिखाई नहीं देती। तब वे कहते हैं—'तत्कथमयमदृष्टचन्द्रलेखश्चन्द्रालोकः'। अरे यह तो ऐसा चन्द्रालोक है, जिसमें चन्द्रमा की कला दिखाई नहीं दे रही। इस निदर्शना के द्वारा कवि ने यह प्रकट किया है कि सीता के दृष्टिगोचर हुए बिना उसकी ध्वनि सुनाई देना ऐसा ही है, जैसे चन्द्रकला के दिखाई दिये बिना चन्द्रालोक का होना। यहां चन्द्रालोक शब्द को देखकर यह कल्पना हो सकती है कि चन्द्रालोक की रचना प्रसन्नराघव से पूर्व हो चुकी होगी। पर वस्तुतः यहाँ चन्द्रालोक शब्द का प्रयोग आकस्मिक ही है, यह ग्रन्थ के नाम को सूचित नहीं करता।

पीयूषवर्ष का काल

पीयूषवर्ष ने अपनी रचनाओं में कहीं अपने समय का उल्लेख नहीं किया है। प्रसन्नराघव में इन्होंने अपने से पूर्ववर्ती भास, कालिदास, चोर, मयूर, हर्ष तथा बाण कवियों का नामकीर्तन किया है। परन्तु ये सब कवि बहुत प्राचीन हैं, अतः इनसे पीयूषवर्ष के काल पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। इनसे उल्लिखित हर्ष कवि रत्नावलीकार हर्ष ही प्रतीत होते हैं। यदि ये नैषधकार श्रीहर्ष हों, तो भी यह सन्देहकोटि में होने से निर्णायक तत्त्व नहीं बन सकता। चन्द्रालोक में इन्होंने किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है। हां, नामोल्लेख के बिना ही मम्मट के काव्यलक्षण पर कटाक्ष अवश्य किया है। मम्मट ने अपने काव्य की परिभाषा में 'अनलंकृती पुनः क्वापि'[१५] कहकर क्वचित् स्फुटालंकाररहित भी शब्दार्थ को काव्य स्वीकार किया था। इस पर इन्होंने कहा है कि अलंकाररहित शब्दार्थ को काव्य मानना ऐसा ही हास्यास्पद है, जैसा अग्नि को अनुष्ण कहना—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ च० १.८

अतः ये मम्मट के काल ११वीं शती से पूर्व नहीं हो सकते। ये अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक से भी परवर्ती हैं, क्योंकि इन्होंने अपने चन्द्रालोक में कई अलंकारों के लक्षण रुय्यक के अनुसार लिखे हैं। यथा—

उपमेयोपमा	द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा। अ० स० १३
	पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता। च० ५.१३
परिकर	विशेषणसाभिप्रायत्वं परिकरः। अ० स० ३२
	अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे। च० ५.३९
दीपक	प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु (समानधर्माभिसम्बन्धे) दीपकम्। अ० स० २४
	प्रस्तुताप्रस्तुतानां च तुल्यत्वे दीपकं मतम्। च० ५.५३
दृष्टान्त	तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः। अ० स० २६
	चेद् बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः। च० ५.२६

१५. का० प्र० १.४

विचित्र	स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् अ० स० ४७ विचित्रं चेत् प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः। च० ५.८२
परिसंख्या	एकस्यानेकत्र प्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या। अ० स० ६३ परिसंख्या निषिध्यैकमन्यस्मिन् वस्तुयन्त्रणम्। च० ५.६५
विकल्प	तुल्यबलविरोधो विकल्पः। अ० स० ६५ विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः। च० ५.६६
समाधि	कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः। अ० स० ६८ समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसंनिधेः। च० ५.६८

इनमें से विचित्र और विकल्प अलंकार तो रुय्यक के ही आविष्कृत हैं। अतः पीयूषवर्षकृत इनके लक्षणों पर स्पष्टतः रुय्यक का ही प्रभाव है। शेष अलंकारों के लक्षण भी पूर्ववर्ती इतर आचार्यों के लक्षणों की अपेक्षा रुय्यक के लक्षणों से ही अधिक साम्य रखते हैं। रुय्यक का काल १२वीं शती का मध्य है। एवं १२वीं शती का मध्य पीयूषवर्ष के काल की पूर्वसीमा निश्चित हो जाती है।

चतुर्दश शती के आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में अविवक्षितवाच्य अर्थान्तरसंक्रमितध्वनि के उदाहरण में प्रसन्नराघव का एक श्लोक 'कदली कदली करभः करभः'[१६] आदि दिया है। शार्ङ्गधर पद्धति में भी प्रसन्नराघव के कतिपय श्लोक उद्धृत किये गये हैं[१७], जो १३६३ ई० की रचना है। इससे भी पूर्व के १३३० ई० में स्थित शिंगभूपाल ने भी अपने रसार्णवसुधाकर में प्रसन्नराघव के उद्धरण दिये हैं। एवं पीयूषवर्ष के काल की अन्तिम सीमा १३३० ई० स्वीकार करनी होगी। कोई कवि उसी कवि की कृति में से अपने ग्रन्थ में उद्धरण देता है जो अपनी काव्यकला में प्रख्यात हो चुकता है। कुछ समय ख्याति प्राप्त करने में भी लगता है। अतः चदुर्दश शती के जिन उपर्युक्त लेखकों ने अपने ग्रन्थों में प्रसन्नराघव के उद्धरण दिये हैं, उनसे कुछ पूर्व ही पीयूषवर्ष का काल होना चाहिए। इस दृष्टि से इनका काल १३वीं शती का पूर्वार्ध माना जा सकता है[१८]।

डॉ० दे ने इस बात का संकेत किया है कि परांजपे प्रसन्नराघव नाटक के पूना-संस्करण (१८९४) में पीयूषवर्ष तथा पक्षधर मिश्र को एक मानकर इनका काल १५०० से १५७७ ई० के मध्य में मानते हैं। ऐसा ही पीटर्सन तथा ऐगलिंग का भी मत है। परन्तु डॉ० दे इनसे सहमत नहीं हो सके हैं[१९]। पण्डित परमेश्वर झा भी

१६. प्र० १.३७

१७. द्रष्टव्य : प्र० १.९ तथा शार्ङ्ग० १६४, प्र० १.३३ तथा शार्ङ्ग० ३५२०, प्र० २.२२ तथा शार्ङ्ग० ३५५७, प्र० ७.५६ तथा शार्ङ्ग० ३६२६, प्र० ७.६० तथा शार्ङ्ग० ३६३१

१८. द्रष्टव्य : काणे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, १९६६, पृ० ३६२

१९. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स खण्ड १, १९६०, पृ० १९८

पीयूषवर्ष को पक्षधर मिश्र से अभिन्न मानते हैं तथा इनका काल १४५४ ई० स्वीकार करते हैं। इनका कथन है[२०] कि पक्षधर मिश्र ने एक विष्णुपुराण पुस्तक ताडपत्रों पर लिखी थी, जिसके अन्त में उन्होंने एक श्लोक[२१] लिखा है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि यह हस्तलेख लक्ष्मणसंवत्सर ३४५ अर्थात् १४५४ ई० में लिखा गया था। परन्तु ये कथन क्योंकि पीयूषवर्ष और पक्षधर जयदेव की अभिन्नता पर आधारित हैं, अतः प्रामाणिक नहीं माने जा सकते।

निवास-स्थान

पीयूषवर्ष किस प्रदेश के निवासी थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इन्होंने अपनी दोनों में से किसी भी कृति में निवास-स्थान का उल्लेख नहीं किया है। प्रसन्नराघव में ये अपने आपको कौण्डिन्य कहते हैं[२२]। अधिकांश विद्वानों ने कौण्डिन्य का अर्थ कुण्डिनगोत्री किया है। किन्तु कुछ विद्वान् इसका अभिप्राय 'विदर्भ प्रदेश के कुण्डिनपुर निवासी' यह लेते हैं। डॉ० पीटर्सन ने 'सुभाषितावली' की भूमिका में इन्हें विदर्भ-देश-वासी ही लिखा है, यद्यपि ये कौण्डिन्य से कुण्डिनगोत्र ही गृहीत करते हैं। परमेश्वर झा इन्हें मिथिला निवासी मानते हैं[२३]। इनका कथन है कि प्रसन्नराघव का मूलपाठ कौण्डिन्यः नहीं अपितु शाण्डिल्यः था, लिपिकार के प्रमाद से शा के स्थान पर कौ लिखा जाने से कौण्डिल्यः हो गया, और फिर किसी अन्य लिपिकार ने ल् के स्थान पर न् लिखकर इसे कौण्डिन्यः बना दिया। उन्होंने युक्ति दी है कि पंजीप्रबन्ध पुस्तक में जयदेव को शाण्डिल्यगोत्री ही लिखा है। परन्तु यह सब कल्पना इन्हें पीयूषवर्ष को पक्षधर से अभिन्न मानने के कारण ही करनी पड़ी है। इनका यह भी कथन है कि प्रसन्नराघव के प्रस्तावना-लेख से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि पीयूषवर्ष विन्ध्य पर्वत से दक्षिण प्रदेश के वासी नहीं हो सकते, क्योंकि इन्होंने दाक्षिणात्य नट को नटापसद कहा है। विदर्भ प्रदेश भी विन्ध्याचल के दक्षिण में है। अतः यदि कवि विदर्भवासी थे, तो वे भी दाक्षिणात्य हुए। अपने ही प्रदेश के वासी की वे उक्त प्रकार से निन्दा नहीं कर सकते थे।

इनके मिथिलावासी या विदर्भवासी होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। मिथिलापुरी की इन्होंने प्रशंसा अवश्य की है, परन्तु वैसी प्रशंसा दक्षिणस्थ नर्मदा और गोदावरी की भी की है और अयोध्या को भी नगरीसीमन्तमणि कहा है। अतः इनके निवास-स्थान के विषय में संप्रति कोई प्रामाणिक स्थापना कर सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

---

२०. मिथिलातत्त्वविमर्श, १९४९, पृ० २०१

२१. वाणैर्वेदयुतैः सशंभुनयनैः संख्यागते हायने।
श्रीमद्गौडमहीभुजो गुरुदिने मार्गे च पक्षे सिते॥

२२. प्र० १.१४

२३. मिथिलातत्त्वविमर्श, १९४९, पृ० २०६–७

विश्वास और धारणाएँ

पीयूषवर्ष के पिता महादेव परम याज्ञिक थे। माता सुमित्रा पतिभक्तिपरायणा एवं धर्मनिष्ठ थीं। अतः धार्मिक वृत्ति इन्होंने पैतृकगुण के रूप में प्राप्त की है। ये राम के चरणचञ्चरीक हैं[२४]। सभी कवि राम पर ही काव्य-रचना क्यों करते हैं, इसके उत्तर में ये कहते हैं कि यह कवियों का दोष नहीं, अपितु उन गुणगणों का दोष है, जो राम में आकर एकत्र हो गये हैं। अतएव इनका चित्तचकोर राम में ही आनन्दित होता है[२५]। राम के कीर्तिगायक होने के कारण ही महाकवि वाल्मीकि के प्रति भी इनकी अगाध श्रद्धा है[२६]।

ये विष्णु और शिव के समान रूप से उपासक हैं। दोनों में अद्वैत मानते हैं तथा यह चाहते हैं कि छोटे से लेकर बड़े तक सब में यह अद्वैत-बुद्धि जागृत हो। ऋषि-मुनियों के प्रति भी इनकी परम निष्ठा है। इन्हें ये अलौकिक सिद्धियों का अगार मानते हैं। याज्ञवल्क्य की महिमा से उनके शिष्य दालभ्यायन को भ्रमरों की वाणी समझने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। देवी मैत्रेयी भी सिद्धयोगिनी एवं काल-त्रयदर्शिनी हैं। वसिष्ठ-पत्नी अरुन्धती वन जाते समय सीता को ऐसे नूपुर प्रदान करती हैं जिनकी महिमा से पति-विरह न हो। अत्रि-पत्नी अनसूया के दिये हुए अंगराग का यह प्रताप है कि ज्यों ही रावण सीता का स्पर्श करने लगता है, त्यों ही सहसा अग्नि जल उठती है। भारद्वाज मुनि का ऐसा प्रभाव है कि उनके आश्रम में करी-केसरी, नकुल-सर्प आदि प्राणी अपने विरोध को भूलकर निवास करते हैं।

योग और अध्यात्मविद्या से भी कवि को विशेष अभिरुचि है। विश्वामित्र के योगीश्वर होने का वह बड़े गौरव के साथ वर्णन करता है। जनक के परमपुरुष में रमण करने एवं उनकी ब्रह्मविद्या का चित्रण करने में भी वह आनन्द मानता है। तपस्या के प्रति कवि के हृदय में विशेष आदर है। विश्वामित्र तपस्या की अग्नि में तपकर ही वर्णोत्कर्ष को प्राप्त करते हैं। शकुनशास्त्र में भी कवि विश्वास रखता है। मन्दोदरी शकुन-निरूपणार्थ अपनी परिचारिका को शबरपल्ली में भेजती है। कवि की यह आकांक्षा है कि आबालवृद्ध सबके मुखाम्बुजों में सरस्वती का वास हो और सज्जनों के गृहों में वाग्देवी के साथ लक्ष्मी का भी सदा विलास होता रहे।

पीयूषवर्ष की रचनाओं का परिचय

चन्द्रालोक—जयदेव का चन्द्रालोक दस मयूखों में विभक्त है। यह अधिकांश अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध है। केवल आरम्भ के तीन श्लोक शार्दूलविक्रीडित में तथा प्रत्येक मयूख का अन्तिम श्लोक शिखरिणी में है।

प्रथम मयूख—आदि में मंगलाचरण रूप में शिलष्टोपमा द्वारा वाग्देवता की

२४. रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृंगायते मनः। प्र० १.१५

२५. मम तु रामचन्द्र एव निर्भरमानन्दितोऽयं चित्तचकोरः। प्र०, पृ० १८

२६. मम पुनः कविकमलसद्मनि मुनौ वल्मीकजन्मनि मनः कौतुकितम्। प्र०, पृ० १६-१७

स्तुति की गई है, जो सभंग तथा अभंग श्लेष से शिवजी की नेत्रत्रितयी की ओर भी घटित होती है। द्वितीय श्लोक में यह कहा गया है कि मैं चन्द्रालोक की रचना कर रहा हूँ, अतः हे सहृदयों की चित्तरूपी चन्द्रकान्त-मणियो, तुम रसाप्लुत होने लगो। आगे क्रमशः साहित्यशास्त्र के प्रयोजन, पूर्वाचार्यों के प्रति विनय-प्रदर्शन, काव्य-हेतु तथा काव्य-लक्षण दिये हैं। इन्होंने काव्य के लिये अलंकारों का होना अनिवार्य माना है तथा मम्मट के काव्य-लक्षण के 'अनलंकृती' अंश पर कटाक्ष किया है। तदनन्तर शब्द की परिभाषा देकर उसके रूढ, यौगिक तथा मिश्र ये तीन भेद उपभेदों सहित दर्शाये हैं। अन्त में पद, वाक्य, खण्डवाक्य तथा वाक्यकदम्बक की परिभाषायें दी हैं। अन्तिम श्लोक में अपने पिता-माता का उल्लेख करते हुए स्व-रचित प्रथम मयूख के समाप्त होने की सूचना दी है। यह अन्तिम श्लोक किंचित् परिवर्तन के साथ सभी मयूखों के अन्त में आता है।

द्वितीय मयूख—इसमें काव्य-दोषों का प्रतिपादन है। आरम्भ में दोष-सामान्य का लक्षण देकर उसके पश्चात् श्रुतिकटु, च्युत-संस्कृति, अप्रयुक्त आदि १८ पद-दोषों, प्रतिकूलाक्षर, उपहतविसर्ग, लुप्तविसर्ग आदि २० वाक्य-दोषों तथा अपुष्टार्थ, कष्ट, व्याहत आदि १३ अर्थ-दोषों का सोदाहरण निरूपण किया गया है। अन्त में दोषांकुशों का वर्णन है।

तृतीय मयूख—इसमें अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान, हेतु, प्रतिषेध, निरुक्त, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, युक्ति तथा कार्य नामक दस लक्षणों का सोदाहरण निरूपण है। जैसे स्वर्ण से भ्राजिष्णु-भाल होना आदि किसी राजा के लक्षण होते हैं, वैसे ही ये काव्य के लक्षण हैं।

चतुर्थ मयूख—इसमें श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओजस्, सौकुमार्य, उदारता नामक आठ गुणों का उदाहरणसहित वर्णन है। तदनन्तर गुण तथा अलंकार में भेद बतलाकर अन्त में न्यास, निर्वाह, प्रौढि, औचिती, शास्त्रान्तर-रहस्योक्ति तथा संग्रह नामक काव्य की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

पंचम मयूख—इसमें अलंकारों का विवेचन है। प्रथम अलंकार-सामान्य का लक्षण है। तदनन्तर पंचविध अनुप्रास, पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक तथा चित्र नामक शब्दालंकारों तथा उपमा से लेकर अत्युक्ति पर्यन्त अर्थालंकारों का विवेचन है। फिर रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता का इस रूप में उल्लेख किया गया है कि कुछ मनीषी इन्हें भी पृथक् अलंकार मानते हैं। अन्त में यह बतलाया गया है कि शुद्धि, एकप्रधानत्व तथा संसृष्टि और संकर इनको पृथक् अलंकारता नहीं माननी चाहिये। इसी प्रकार अलंकारों के माला और परम्परा भेदों का भी अलंकारान्तर रूप में परिगणन करना अनावश्यक कहा है।

षष्ठ मयूख—इसमें आरम्भ में विभावादि की चर्चा कर रस-स्वरूप का विवेचन है। फिर क्रमशः शृंगारादि नव रस, भाव, निर्वेदादि तेंतीस व्यभिचारी तथा रसाभास, भावाभास आदि का उल्लेख किया गया है। तदनन्तर पांचाली, लाटी,

गौडी, वैदर्भी इन चार रीतियों तथा मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा नामक पांच वृत्तियों का निरूपण है।

सप्तम मयूख—प्रथम वाणी की व्यंजना, लक्षणा तथा अभिधा इन तीन वृत्तियों का संकेत कर व्यंजना का स्वरूप प्रतिपादित किया है। तदनन्तर ध्वनिकाव्य का सप्रभेद वर्णन है। ध्वनि के अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितवाच्य ये दो मुख्य भेद कर मम्मट के समान उन्हें कुल ५१ भेदों में बांटा है। अन्त में त्रिविध व्यङ्ग्य का निरूपण है—वक्तृस्यूत, स्वांकुरित तथा वाच्यव्यङ्ग्य। इनमें से वक्तृस्यूत ४ प्रकार का तथा स्वांकुरित दो प्रकार का माना है।

अष्टम मयूख—इसमें गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के अगूढ, अपरांग, वाच्यसिद्ध्यंग, अस्फुट, संदिग्ध, तुल्यप्राधान्य, असुन्दर तथा काकुस्थ नामक आठ भेदों का निरूपण है।

नवम मयूख—इसमें लक्षणा का प्रतिपादन है। लक्षणा का स्वरूप बताकर उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है। अन्त में कहा गया है कि यह लक्षणा शब्द, पदार्थ, वाक्यार्थ, संख्या, कारक या लिंग में रहती है तथा अलंकारों की उत्पत्ति में बीज बनती है।

दशम मयूख—इसमें अभिधा का विवेचन है। अभिधा का स्वरूप प्रतिपादित कर जाति, गुण, क्रिया, वस्तुयोग, संज्ञा तथा निर्देश के आधार पर उसे षड्विध प्रपंचित किया गया है। अन्त में विद्वज्जन मेरी कृति द्वारा आनन्द प्राप्त करें, यह आकांक्षा कर स्वयं को सूक्तिपीयूषवर्ष कहा है। अन्तिम श्लोक में पूर्व मयूखों के समान अपने पिता-माता महादेव एवं सुमित्रा को स्मरण कर दशम मयूख की समाप्ति की सूचना दी है।

चन्द्रालोक की टीकाएँ

चन्द्रालोक की लोकप्रियता का ही यह एक प्रमाण है कि इस छोटे से ग्रन्थ पर बहुत सी टीकाओं का प्रणयन हुआ है। इसकी प्राचीन टीकाओं में से निम्न तीन प्रकाशित हैं—

१. शरदागम टीका (१५८३ ई०)—इसका दूसरा नाम चन्द्रालोक-प्रकाश भी है। इसके लेखक प्रद्योतन भट्ट हैं जो पद्मनाभ मिश्र नाम से भी विदित हैं। इनके पिता का नाम बलभद्र था। इनके आश्रयदाता प्रद्योतन मिथिला के निवासी थे। ये बघेलावंशीय रामचन्द्रात्मज रींवा-नरेश वीरभद्र के सभापण्डित थे तथा उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने इस टीका की रचना की थी[२७]। वीरभद्रदेव का काल १६वीं शती का द्वितीयार्ध है, क्योंकि वात्स्यायन पर इनकी टीका कन्दर्पचूडामणि १५७७ ई० में लिखी गई है। शरदागम टीका सबसे प्राचीन है तथा इसका उल्लेख अप्पयदीक्षित ने भी किया है[२८]। यह टीका संक्षिप्त है तथा अक्षरशः न होकर टिप्पणी रूप में है। इसका प्रकाशन काशी संस्कृत सिरीज से हुआ है।

---

२७. क्रियते तस्य निदेशाच्चन्द्रालोकप्रकाशोऽयम्।
शरदागम इति विदितो भट्टाचार्येण यत्नेन॥

२८. चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसंभवः। कु० १७२

२. राकागम टीका (१७वीं शती का उत्तरार्ध)—यह सुधा नाम से भी कही जाती है। यह टीका पर्याप्त विस्तृत तथा पाण्डित्यपूर्ण है। इसके रचयिता विश्वेश्वर भट्ट हैं, जिनका दूसरा नाम गागाभट्ट भी था। इन्होंने मीमांसा तथा स्मृतिविषयक ग्रन्थ भी लिखे हैं। इनके पिता का नाम दिनकर भट्ट है। इनके चाचा प्रसिद्ध मीमांसक कमलाकर भट्ट थे, जो निर्णय-सिन्धु के लेखक हैं। गागाभट्ट का काल १६२० से १६८५ ई० तक कहा जाता है। प्रसिद्ध है कि इन्होंने १६७४ ई० में शिवाजी महाराज का राज्याभिषेक किया था। इन्होंने 'समय-नय' नामक अपनी रचना शम्भुराज के लिए १६८१ ई० में लिखी थी। सुशीलकुमार दे ने कमलाकर भट्ट का काल १७वीं शती का आरम्भ मानकर तदनुसार गागाभट्ट को १८वीं शती के आरम्भ तक माना है[२९]।

३. रमा टीका (१८वीं शती का पूर्वार्द्ध)—इसके लेखक विद्यानाथ पायगुण्ड हैं, जो बालभट्ट नाम से भी जाने जाते हैं तथा जिनके पिता का नाम महादेव था[३०]। ये कुवलयानन्द की अलंकारचन्द्रिका टीका के लेखक रामचन्द्रसूनु तत्सत् विद्यानाथ से भिन्न हैं। रमा टीका का प्रकाशन गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस, बम्बई से हुआ है। यह टीका प्रौढ तथा अपेक्षाकृत विस्तृत है। इसमें अनेक स्थल राकागम टीका से वैसे के वैसे ले लिये गये हैं। विशेष स्थलों में अपना मौलिक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। पायगुण्ड प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट के शिष्य थे। इन्होंने उनके परिभाषेन्दुशेखर पर टीका भी लिखी है। अतः अनुमानतः ये १८वीं शती के आरम्भ से बाद के हैं।

इनके अतिरिक्त इनकी चार प्राचीन टीकाएँ और हैं, जो अभी अप्रकाशित हैं। एक बाजचन्द्रचन्द्रिका, जिसके लेखक पूर्वोक्त गागाभट्ट ही हैं। दूसरी विरूपाक्षकृत शारद-शर्वरी व्याख्या, तीसरी चन्द्रालोक दीपिका तथा चौथी निगूढार्थदीपिका है। इनके विषय में विशेष विवरण ज्ञात नहीं है।

आधुनिक टीकाओं में श्री नन्दकिशोर शर्मा कृत तथा श्री सुबोधचन्द्र पन्त कृत संस्कृत-हिन्दी टीकाएँ उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम का प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत सिरीज से १९३७ ई० में तथा द्वितीय का मोतीलाल बनारसीदास द्वारा १९६६ ई० में हुआ है।

प्रसन्नराघव—यह रामकथा पर आश्रित एक रूपक है जो नाटकों की श्रेणी में आता है। यह सात अंकों में विभक्त है। इसमें सीता-स्वयंवर से लेकर लंका-युद्ध में रावण को परास्त कर, सीता को प्राप्त कर अयोध्या लौटने तक की कथा वर्णित है। रामकथा को आधार बनाकर लिखे गए नाटकों में इसका गौरवपूर्ण स्थान है।

यह मूलरूप में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से सन् १९०७ में प्रकाशित हुआ था। सन् १९५७ में चौखम्बा वाराणसी ने शेषराज शर्मा की संस्कृत-हिन्दी टीका सहित इसे प्रकाशित किया है। सन् १९७० में डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी की संस्कृत-हिन्दी टीका सहित मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी द्वारा यह प्रकाशित हुआ है। ●

---

२९. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, १९६०, पृ० २०४

३०. नत्वा गुरुं वैद्यनाथः पायगुण्डेति कीर्तितः।
व्याख्यां रमाख्यां तनुते चन्द्रालोके विलासिनीम्॥

द्वितीय अध्याय | चन्द्रालोक में अलंकारशास्त्र के प्रारंभिक तत्त्व

संस्कृत का अलंकारशास्त्र

संस्कृत में अलंकार-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह काव्य के स्वरूप, काव्य के शोभाधायक तत्त्व, गुण-दोष-विवेचन आदि के द्वारा काव्य के आदर्श को उपस्थित कर कवि के लिये हृदयहारी काव्य-निर्माण का तथा पाठक के लिये काव्य-परीक्षा का मार्ग सुकर कर देता है। संस्कृत में इस शास्त्र का जैसा सांगोपांग तथा सूक्ष्म विवेचन हुआ है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अलंकारशास्त्र के विषय प्रमुखतः काव्य के प्रयोजन, हेतु, स्वरूप, शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, अलंकार, गुण, दोष, रीति आदि हैं। कुछ आचार्यों ने सभी काव्यांगों पर विचार किया है, जिसमें दृश्य-श्रव्य प्रभृति काव्यों के भेद भी आ जाते हैं, तथा कुछ ने कतिपय विशेष काव्यांगों पर। साहित्यदर्पण आदि समस्त काव्यांगों के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। दण्डी के काव्यादर्श, भामह के काव्यालंकार, मम्मट के काव्यप्रकाश, जगन्नाथ के रसगंगाधर आदि में नाट्यातिरिक्त शेष अंगों का प्रतिपादन है। नाट्यशास्त्र, दशरूपक आदि मुख्यतः नाट्य तथा रस का प्रतिपादन करते हैं। अलंकारसर्वस्व, कुवलयानन्द आदि केवल अलंकारों के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। ध्वन्यालोक, वक्रोक्तिजीवित, व्यक्तिविवेक आदि किन्हीं विशेष सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं।

पूर्वाचार्यों के प्रति जयदेव की भावना

जयदेव से पूर्व भरतमुनि, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, कुन्तक, अभिनवगुप्त, धनंजय, महिमभट्ट, भोजराज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, वाग्भट, हेमचन्द्र आदि आचार्य अलंकारशास्त्र के तत्त्वों पर विचार कर चुके थे।

चन्द्रालोक में जयदेव ने बिना नामग्रहण किये सामान्य रूप से सभी अपने से पूर्ववर्ती आलंकारिक आचार्यों का स्तवन किया है। इन्होंने पूर्वाचार्यों को सूर्य तथा उनसे उक्त अलंकारशास्त्रों को तन्निःसृत ज्योति-स्तोम माना है तथा नम्रता प्रकट करते हुये यह कहा है कि मेरे गुण तो त्रसरेणु-तुल्य हैं, जो उन्हीं के ज्योति-स्तोम का आश्रय लेकर चमक सकते हैं। जयदेव यह भी कहते हैं कि यह नहीं समझना चाहिये कि चन्द्रालोक की रचना कर मैं पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों को दूषित कर रहा हूं, अपितु मेरी इस रचना से उनके सिद्धान्त भूषित ही होंगे, जैसे काजल से सुन्दरियों के नेत्र।

तं पूर्वाचार्यसूर्योक्तिज्योतिस्तोमोद्गमं स्तुमः।
यं प्रस्तूय प्रकाशन्ते मद्गुणास्त्रसरेणवः॥
नाशङ्कनीयमेतेषां मतमेतेन दूष्यते।
किं तु चक्षुर्मृगाक्षीणां कज्जलेनेव भूष्यते च० ॥ १.४, ५

वायुमण्डल में धूल के अनेक कण उड़ते रहते हैं, पर वे किसी की दृष्टि में नहीं आते। वे ही छिद्र में से आती हुई सूर्य-किरणों के माध्यम से द्योतित हो उठते हैं। अपने गुणों को त्रसरेणु या धूलिकण कहकर जयदेव ने यही आशय सूचित किया है कि यदि पूर्वाचार्यों के पाण्डित्यपूर्ण अलंकारशास्त्र विद्यमान न होते तो मेरे ग्रन्थ का आदर नहीं हो सकता था। साथ ही अपने ग्रन्थ को इन्होंने काजल से उपमित किया है। काजल जैसी तुच्छ वस्तु पृथक् अपना कुछ महत्त्व नहीं रखती, पर उसी से मृगाक्षियों के नेत्र अलंकृत हो उठते हैं, तथा काजल भी धन्य हो जाता है। ऐसे ही पृथक् देखने पर यह मेरा संक्षिप्त ग्रन्थ भले ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत न हो, पर प्राचीन अलंकारशास्त्रों के साथ मिलकर यह उन्हें भी शोभित करेगा तथा उनके सम्पर्क से स्वयं भी गौरवान्वित होगा। यद्यपि यह कवि का विनय-प्रदर्शन ही है, तो भी पर्याप्त अंशों में यह सत्य है, क्योंकि इन्होंने सभी बातें अति संक्षेप में कही हैं, जो पूर्वाचार्यों के शास्त्रों के प्रकाश में ही अपनी महत्ता प्रकट करती हैं। कवि के उक्त विनय-प्रदर्शन से यह भी सूचित हो जाता है कि अपने ग्रन्थ में जहाँ-कहीं इन्होंने पूर्वाचार्यों के मतों से असहमति प्रकट की है, वहाँ वह अलंकारशास्त्र के परिष्कार तथा उसमें पूर्णता लाने के विचार से ही है, दुरभिमानवश या पूर्वाचार्यों को तुच्छ बताने के लिए नहीं।

पूर्वाचार्यों का ऋण तथा अपनी विशेषता

जयदेव से पूर्ववर्ती आचार्यों के अलंकारशास्त्रों तथा चन्द्रालोक की उपर्युक्त विषयसूची की तुलना करने से ज्ञात होता है कि इसके प्रायः सब विषय वे ही हैं जिन पर पूर्वाचार्य किसी न किसी रूप में विचार कर चुके हैं। उन आचार्यों के ग्रन्थों से सार लेकर तथा कहीं-कहीं उनके सिद्धान्तों का समन्वय कर इन्होंने अपना ग्रन्थ लिखा है। कहीं-कहीं सिद्धान्तों में कुछ मतभेद भी है, जिसका निरूपण आगे यथास्थान किया जायेगा। जयदेव भरत, भामह, दण्डी रुद्रट, मम्मट एवं रुय्यक के विशेष ऋणी हैं। गुण-विवेचन में ये अधिकतर भरत और दण्डी से प्रभावित हैं तथा इन्होंने आठ गुण माने हैं, यद्यपि भामह, आनन्दवर्धन एवं मम्मट तीन गुणों का सिद्धान्त चला चुके थे तथा वामन और भोज दस से भी अधिक गुण स्वीकार कर चुके थे। भरत के समान काव्य-लक्षणों की भी इन्होंने चर्चा की है तथा आदर्श काव्य के लिये उसकी अनिवार्यता स्वीकार की है, जबकि इतर आचार्य उन्हें उपेक्षित कर चुके थे। वृत्तियों तथा रीतियों का वर्णन करने में ये रुद्रट से प्रभावित हैं। मम्मट से इन्होंने बहुत कुछ ग्रहण किया है, यद्यपि उनके काव्य-लक्षण पर कटाक्ष भी किया है। काव्यप्रकाश के १० उल्लासों के अनुकरण पर ही इन्होंने चन्द्रालोक में १० मयूख रखे हैं। दोष, दोषांकुश, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य आदि प्रकरणों में भी काव्यप्रकाश से पर्याप्त सहायता ली है। भामह और दण्डी के अनुकरण पर इन्होंने भी सब विषयों में स्वरचित उदाहरण दिये हैं।

जयदेव की संक्षेपप्रधान शैली नवीन है। इतने लघु-कलेवर ग्रन्थ में अलंकारशास्त्र के प्रायः सभी सिद्धान्त सोदाहरण छन्दोबद्ध सरल भाषा में दे देना इनकी

विशेषता है। प्रायः एक ही अनुष्टुप् श्लोक में स्वनिर्मित लक्षण और उदाहरण दोनों दे देते हैं।

चन्द्रालोक इन्होंने किस उद्देश्य से लिखा, यह इनके निम्न श्लोक से प्रकट होता है—

हं हो चिन्मयचित्तचन्द्रमणयः संवर्धयध्वं रसान्
रे रे स्वैरिणि निर्विचारकविते मास्मत्प्रकाशीभव।
उल्लासाय विचारवीचिनिलयालंकारवारांनिधे-
श्चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती॥ च० १.२

जयदेव आशा करते हैं कि मेरे 'चन्द्रालोक की रचना करने से यह सुकर हो जायेगा कि कवि-हृदय रूपी चन्द्रकान्त मणियाँ काव्य-रचना द्वारा रस प्रवाहित कर सकें तथा अविचारपूर्ण कविता पल्लवित न हो पाये।' साथ ही उन्हें यह भी विश्वास है कि उनका चन्द्रालोक विचार-वीचियों के अगार अलंकारशास्त्र रूप सागर में ज्वार उत्पन्न करेगा, जिससे उनसे पूर्व तक अलंकारशास्त्र की जो स्थिति रही है, उसमें स्वरूप तथा प्रचार-प्रसार की दृष्टि से संवर्धन होगा। अपने अलंकार-ग्रन्थ को वे सुधा का निधान कहते हैं—

पीयूषवर्षप्रभवं चन्द्रालोकं मनोहरम्।
सुधानिधानमासाद्य श्रयध्वं विबुधा मुदम्॥ च० १०.५

जिस प्रकार पीयूषवर्षी चन्द्रमा के अमृतमय, मनोहर चन्द्रालोक को पाकर देवता आनन्द प्राप्त करते हैं, वैसे ही पीयूषवर्ष जयदेव की यह आशा है कि मेरे अमृतागार, मनोहारी चन्द्रालोक ग्रन्थ को पाकर विद्वज्जन प्रमुदित होंगे। चन्द्रालोक का मूल्यांकन हम इसी से कर सकते हैं कि आचार्य अप्पय दीक्षित ने इसके अलंकार-प्रकरण को आधार बनाकर अलंकारशास्त्र के प्रख्यात ग्रन्थ कुवलयानन्द की रचना की है।

संक्षेप में जयदेव की अपनी कतिपय विशेषताएँ निम्न हैं, जिन पर आगे यथा-स्थान प्रकाश डाला जायेगा—

१. काव्य में ये अलंकारों का होना अनिवार्य मानते हैं। साथ ही लक्षण, रीति, गुण, रस तथा वृत्तियों को भी आवश्यक कहते हैं।

२. काव्यहेतुओं में ये श्रुत तथा अभ्यास की अपेक्षा प्रतिभा पर अधिक बल देते हैं, यद्यपि कारण तीनों को मानते हैं।

३. इन्होंने पद, वाक्यादि का भेदोपभेदों सहित विचार किया है।

४. इन्होंने अक्षरसंहति आदि लक्षणों को भी काव्य का अनिवार्य अंग माना है।

५. गुणों की संख्या ये आठ मानते हैं। मम्मट के विरुद्ध इन्होंने गुणों को रस का धर्म नहीं माना। समाधि, माधुर्य आदि कतिपय गुणों का स्वरूप भी इन्होंने नवीन निर्धारित किया है। ये गुणों को दोषाभाव रूप मानने का भी खण्डन करते हैं।

६. इन्होंने न्यास, निर्वाह, प्रौढ़ि आदि काव्य की विशेषताओं का भी उल्लेख किया है, यद्यपि उन्हें पृथक् गुण नहीं माना।

७. इन्होंने रीतियाँ चार तथा वृत्तियाँ पाँच स्वीकार की हैं।

८. अलंकारों में इन्होंने कतिपय नूतन अलंकार भी उद्भावित किये हैं।

९. ये रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी आदि को पृथक् अलंकार नहीं मानते।

१०. व्यङ्ग्य में इन्होंने वक्तृस्यूत तथा स्वांकुरित के भेद नवीन किये हैं।

११. लक्षणा के भेदों में भी पर्याप्त नवीनता है।

१२. अभिधा का जाति, गुण, क्रिया, वस्तुयोग, संज्ञा तथा निर्देश के आधार पर षड्विधत्व प्रतिपादन किया है।

काव्य तथा अलंकारशास्त्र के प्रयोजन

सर्वप्रथम अलंकारशास्त्र में प्रायः काव्य के प्रयोजन निरूपित किये जाते हैं, क्योंकि यदि काव्य ही निष्प्रयोजन है तो उसके सम्बन्ध में विचार करने वाला अलंकारशास्त्र भी व्यर्थ हो जाता है। विभिन्न आचार्यों ने काव्य के भिन्न-भिन्न प्रयोजन वर्णित किये हैं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्यरूप काव्य के धर्म, यश, आयुष्य, हित, बुद्धिवर्धन, लोकोपदेशजनन तथा दुःखार्त, श्रमार्त एवं शोकार्त लोगों को विश्राम-प्रदान ये प्रयोजन कहे हैं[1]। भामह धर्मार्थकाममोक्ष, कला-नैपुण्य तथा कीर्ति और प्रीति को काव्य-प्रयोजन मानते हैं।[2] वामन एवं भोजराज प्रीति और कीर्ति[3] को तथा आनन्दवर्धन सहृदयमनःप्रीति[4] को काव्य-प्रयोजन स्वीकार करते हैं। कुन्तक काव्य-प्रयोजनों में प्रीति के साथ व्यवहारौचित्य तथा अन्तश्चमत्कार की भी गणना करते हैं[5]। मम्मट ने यश, अर्थप्राप्ति, व्यवहारज्ञान, अमंगलक्षति, सद्यः परमानन्द की प्राप्ति तथा कान्तासंमिततया उपदेश-प्रदान ये काव्य के प्रयोजन कहे

---

१. दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ ना० शा० १.११४, ११५

२. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ काव्यालं० भा० १.२

३. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्। काव्यालं० सू० १.१.५
कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति। सर० कण्ठा० १.२

४. तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्। ध्वन्या० १.१

५. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ व० जी० १.३–५

हैं[६]। जयदेव से उत्तरवर्ती आलंकारिकों में विश्वनाथ चतुर्वर्गफलप्राप्ति[७] को तथा जगन्नाथ कीर्ति, परमाह्लाद और गुरु, राजा एवं देवता के प्रसाद[८] आदि को काव्य का प्रयोजन मानते हैं। जयदेव ने काव्य-प्रयोजनों का निम्न श्लोक में निर्देश किया है—

युक्त्यास्वाद्यलसद्रसैकवसतिः साहित्यसारस्वत-
क्षीराम्भोधिरगाधतामुपदधत् सेव्यः समाश्रीयताम्।
श्रीरस्माद्दुपदेशकौशलमयं पीयूषमस्माज्जग-
ज्जाग्रद्भासुरपद्मकेशरयशःशीतांशुरस्माद् बुधाः॥ च० १.३

इसमें बुधजनों को प्रेरित किया गया है कि आप लोग 'साहित्यसारस्वत-क्षीराम्भोधि' का समाश्रय लें। लेखक को यहाँ 'काव्यरूपी क्षीरसागर' तथा 'अलंकार-शास्त्ररूपी क्षीरसागर' ये दोनों ही अर्थ अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। इससे पूर्व के श्लोक में वह अपने चन्द्रालोक की रचना की सूचना दे चुका है। उस चन्द्रालोक की रचना से अलंकारशास्त्र का साहित्य अगाध हो गया है तथा उसे पढ़कर मर्मज्ञ कविजन भी अगाध काव्य-साहित्य की सृष्टि करेंगे, इस अभिप्राय से यहां 'अगाधतामुपदधत्' कहा गया है।

टीकाकारों ने प्रस्तुत श्लोक का प्रायः सामान्य अलंकारशास्त्रपरक या चन्द्रा-लोकपरक अर्थ किया है[९]। किन्तु साहित्य शब्द प्राचीन काल में काव्य तथा अलंकार-शास्त्र दोनों के लिये प्रचलित था[१०]। प्रसन्नराघव में जयदेव ने वाल्मीकि के काव्य को सारस्वतसागर कहा है[११]। जैसे यहाँ 'साहित्यसारस्वतक्षीराम्भोधि' का विशेषण 'लसद्रसैकवसतिः' दिया है, वैसे ही प्रसन्नराघव में कवियों की काव्यवाणियों को 'अमृतस्यन्दोद्गारा गिरः'[१२] कहा है तथा स्वयं अपने काव्य को 'असमरसनिष्यन्दमधुरः'[१३] बताया है। इस साम्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यपरक अर्थ भी यहाँ लेखक को अभिमत है। बुध से यहाँ कवि, काव्यशास्त्री और विज्ञ पाठक तीनों गृहीत हो

---

६. काव्यं यशसेऽर्थविदे व्यवहारकृते शिवेतरक्षतये।
सद्यः परतरनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे॥ का० प्र० १-२

७. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥ सा० द० १.२

८. कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनस्य काव्यस्य।
र० गं० आनन १

९. सामान्यतोऽलङ्कारशास्त्रप्रयोजनकथन द्वारा अत्र पण्डित प्रवृत्त्यौपयिकमेतवदध्यय-नस्य फलं तादृशं दर्शयति। रमा०

१०. द्रष्टव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : पी० वी० काणे, १९६६, पृ० ४२३

११. प्र० १.९ तथा उसके बाद का गद्य।

१२. प्र० १.२१

१३. प्र० १.१४

सकते हैं। कवि और काव्यशास्त्री रसागार गम्भीर काव्य एवं अलंकारशास्त्र का सर्जन करें तथा विज्ञ पाठक उसका श्रवण, पठन एवं मनन करें।

इस सरस गम्भीर काव्य या अलंकारशास्त्र के सर्जन तथा श्रवण-पठन-मनन से क्या प्रयोजन-सिद्धि सम्भव है, यह श्लोक के उत्तरार्ध में बताया गया है। यहां निम्न तीन प्रयोजन वर्णित हुए हैं।

१. **श्री की प्राप्ति**—जैसे क्षीरसागर का आश्रय लेने से देवों को लक्ष्मी की प्राप्ति हुई थी, वैसे ही काव्य या अलंकारशास्त्र की रचना से तथा रचित के पठन-मनन से बुधजनों को श्री अर्थात् धन, कान्ति आदि का लाभ होता है[१४]।

२. **उपदेश-कौशल रूप अमृत की प्राप्ति**—जैसे क्षीरसागर से देवों ने अमृत प्राप्त किया था, वैसे ही कवि काव्यप्रणयन से तथा सहृदय पाठक काव्य के मनन से सरस उपदेश देने की कला में प्रवीण हो जाता है। इसी प्रकार अलंकारशास्त्र का प्रणेता भी गुण-दोष, अलंकार, रसादि के समीचीन वर्णन से उपदेश में सिद्ध-हस्तता प्राप्त कर लेता है तथा अध्येता में भी उपदेश या समालोचना-शक्ति का चरम विकास हो जाता है। उपदेश-कौशल से यहां उपदेश-ग्रहण का कौशल अर्थ करें तो पाठक काव्य या अलंकारशास्त्र से उपदेश-ग्रहण भी करता है। उपदेश-कौशल को पीयूष कहने से उसका कान्तासंमित होना सूचित होता है[१५]।

३. **यशरूपी शीतांशु की प्राप्ति**—जैसे क्षीरसागर से देवों ने शीतांशु को पाया था, वैसे ही काव्य या अलंकारशास्त्र के निर्माण से रचयिता को तथा हृदयंगम करने से पाठक को कीर्ति की उपलब्धि होती है। यहां यश को भासुरपद्मकेशरवत् तथा शीतांशु-रूप कहने से उसका सौरभमय तथा पर-सह्य एवं आनन्ददायक होना सूचित होता है।

इस प्रकार श्री, उपदेश-कौशल तथा यश ये तीन प्रयोजन काव्य या अलंकार-शास्त्र के यहां वर्णित हुए हैं। प्राचीन आचार्यों के अभिमत कतिपय इतर प्रयोजनों का यहां स्पष्ट उल्लेख नहीं हो पाया है। प्राचीनों में मम्मट का प्रयोजन-प्रतिपादन सबसे व्यापक तथा सारगर्भित माना जाता है, जिसमें प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों के मतों का समन्वय हो गया है। मम्मट के धनप्राप्ति तथा यशःप्राप्ति प्रयोजनों को जयदेव ने भी श्री तथा यशःशीतांशु शब्दों से स्वीकार किया ही है। मम्मट के व्यवहारज्ञान तथा उपदेशप्राप्ति जयदेव के उपदेश-कौशल के अन्तर्गत हो जाते हैं। अमंगलक्षति श्री से सूचित हो जाती है, क्योंकि श्री मंगलमयी है। श्री शब्द केवल धन का पर्यायवाची न होकर कान्ति, मंगल, प्रीति, उदारता, सम्पत्ति, स्फूर्ति, चेतना आदि का प्रतीक है। मम्मटोक्त मुख्य प्रयोजन 'सद्यः परतरनिर्वृति' अर्थात् तुरन्त परम आनन्द की प्राप्ति भी कुछ अंशों में 'आस्वाद्यलसद्रसैकवसतिः' विशेषण से तथा

१४. श्रीर्धनं सरसनिषेवणेन कान्तिश्च। शरदागम०

१५. उपदेशकौशलस्य पीयूषत्वेन शिष्याणां प्रवृत्तिः कान्तासंमितोपदेशत्वं च व्यज्यते। रमा०

कुछ अंशों में 'श्री' शब्द से भी सूचित हो सकता है। इसके अतिरिक्त इस श्लोक में आनन्दप्राप्ति रूप प्रयोजन पृथक् परिगणित न करने का कारण यह हो सकता है कि लेखक इससे पूर्व के श्लोक में 'हं हो चिन्मयचित्तचन्द्रमणयः संवर्धयध्वं रसान्' के द्वारा स्पष्टतः इसे प्रकट कर चुका है। अभिप्राय यह है कि मेरे द्वारा चन्द्रालोक की रचना करने से अलंकारशास्त्रवारिधि का विकास एवं उल्लास होगा, जिससे कवि-जनों की चित्तरूपी चन्द्रकान्तमणियां काव्यरचना द्वारा शृङ्गारादि रसों को प्रवाहित करने लगेंगी तथा सहृदय पाठकों की चित्तचन्द्रमणियां ब्रह्मानन्द-सहोदर परमानन्द से आप्लुत हो उठेंगी।

काव्यहेतु

प्रायः सभी आचार्यों ने प्रतिभा, श्रुत तथा अभ्यास इन तीनों को किसी न किसी रूप में काव्य का हेतु स्वीकार किया है। प्रतिभा का अर्थ है काव्यनिर्माण की अद्भुत शक्ति। दण्डी आदि के मतानुसार वह नैसर्गिक ही होती है, रुद्रट आदि के मत में उत्पादित भी की जा सकती है। श्रुत का अर्थ है पर्यवेक्षण द्वारा विविध लोकवृत्तों, शास्त्रों एवं काव्यों का ज्ञान। इसे व्युत्पत्ति भी कहते हैं। अभ्यास का अभिप्राय है काव्यज्ञों को गुरु बनाकर पुनः-पुनः काव्य-रचना का अभ्यास करना। इन तीनों के हेतुताप्रतिपादन में आचार्यों के मुख्यतः दो वर्ग हैं। दण्डी, रुद्रट, मम्मट आदि आचार्य प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को संवलित रूप में काव्य का कारण मानते हैं[१६]। किन्तु राजशेखर, वाग्भट, जगन्नाथ आदि प्रतिभा को ही कारण स्वीकार करते हैं तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा के ही संस्कारक कहते हैं[१७]।

जयदेव का मत उक्त दोनों वर्गों का मध्यवर्ती है। वे काव्य का कारण, प्रतिभा, श्रुत तथा अभ्यास तीनों को मानते हुए भी मुख्यता प्रतिभा को देते हैं—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव॥ च० १.६

जैसे बिना बीज के अकेले मिट्टी और जल लता को उत्पन्न नहीं कर सकते, वैसे ही प्रतिभा के बिना अकेले श्रुत तथा अभ्यास भी कविता को उत्पन्न नहीं कर

---

१६. दण्डी : नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ काव्या० १.१०३
रुद्रट : त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः। काव्यालं० रु० १.१४
मम्मट : शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ का० प्र० १.३

१७. राजशेखर : सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः॥ काव्यमी० ६.११
वाग्भट : प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्।
व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ न तु काव्यहेतू॥
अलंकारतिलक
जगन्नाथ : तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा॥ र० गं०

सकते। अतः प्रतिभा कविता की बीजभूत है। वामन ने भी कहा था—'कवित्वबीजं प्रतिभानम्'[18]। परन्तु बीज भी जैसे मृत्तिका और जल से मिलकर ही लता को उत्पन्न करता है, वैसे ही प्रतिभा भी काव्योत्पत्ति के लिए श्रुत और अभ्यास की अपेक्षा रखती है। अतः काव्य के हेतु तीनों ही हैं। पर बीजवत् प्रमुखता प्रतिभा की ही है। जयदेव का यह मत भामह से प्रभावित प्रतीत होता है[19]।

काव्य-लक्षण

काव्य-लक्षण के विषय में आचार्यों में दो वर्ग हैं। भामह, वामन, रुद्रट, कुन्तक, मम्मट, विद्यानाथ, वाग्भट, हेमचन्द्र आदि विशिष्ट शब्दार्थयुगल को काव्य मानने के पक्षपाती हैं, जबकि दण्डी, अग्निपुराणकार, राजशेखर, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि विशिष्ट शब्द को काव्य कहते हैं। जयदेव द्वितीय वर्ग में आते हैं। वस्तुतः जो शब्द को काव्य मानते हैं, उनका आशय अर्थ को तिरस्कृत करना नहीं है, अपितु काव्यप्रयुक्त शब्द अर्थगर्भित ही होने के कारण अर्थ का वे उसमें स्वतः ही अन्तर्भाव मान लेते हैं। शब्द और अर्थ दोनों में काव्यत्व कथन करने की आवश्यकता वे नहीं समझते[20]।

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में मतभेद ने तथा आचार्यों की अपनी-अपनी पृथक् विचारसरणि ने विभिन्न काव्यलक्षणों को जन्म दिया है। अलंकारवाद के प्रवर्तक भामह[21] अलंकृत शब्दार्थयुगल को काव्य मानते हैं। दण्डी[22] एवं रुद्रट[23] की भी ऐसी ही मान्यता है। रीतिवादी वामन[24] इसके साथ गुणों की विशेषता और जोड़ देते हैं। उनके मत में काव्यशोभा के जनक ओज, प्रसाद, श्लेष आदि गुणों से तथा काव्य-शोभा के वर्धक यमकोपमादि अलंकारों से युक्त शब्दार्थ-युगल काव्य है। कुन्तक[25] वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकृत कर वक्रोक्तिमय शब्द और अर्थ को

---

१८. काव्यालं० सू० १.३.१६

१९. काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा. तद्विदुपासनम्॥
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः। काव्यालं०, भा० १.५, १०

२०. द्रष्टव्य : इस सम्बन्ध में रसगंगाधर में जगन्नाथ का काव्यलक्षण तथा उसका विवेचन, जहां रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द को काव्य माना गया है।

२१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। काव्यालं० भा० १.१६

२२. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्या० १.१०

२३. ननु शब्दार्थौ काव्यम्। काव्यालं० रु० २.१

२४. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। काव्यालं० सू० १.१.१

२५. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ व० जी० १.७

काव्य कहते हैं। आनन्दवर्धन[26] ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने हुए सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयता को काव्यलक्षण स्वीकार करते हैं। रस भी ध्वनि होने से इसी में रससम्प्रदाय का भी समावेश हो जाता है। औचित्यवाद के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र[27] काव्य में औचित्य पर बल देते हैं तथा जिसमें पद, वाक्य, प्रवन्ध, अर्थ, गुण, अलंकार आदि का औचित्य विद्यमान रहे उसे ही काव्य की संज्ञा देते हैं। राजशेखर ने गुणयुक्त अलंकृत वाक्य को काव्य कहा है[28]। भोजराज[29] उसे काव्य कहते हैं जो निर्दोष, गुणयुक्त, अलंकारों से अलंकृत तथा रसान्वित हो। मम्मट[30] निर्दोप, गुणयुक्त तथा प्रायः सालंकार एवं क्वचित् स्फुटालंकारविरहित भी शव्दार्थ को काव्य मानते हैं। वाग्भट[31] प्रथम ने मम्मटोक्त काव्यतत्त्वों में रीति और रस को और जोड़ दिया है।

ये सब काव्याचार्य जयदेव से पूर्व हो चुके थे। इनके काव्यलक्षणों में उत्तरोत्तर विस्तार की प्रवृत्ति की ओर जयदेव का ध्यान अवश्य गया होगा। अतः उन्हें ऐसा काव्यलक्षण वनाने की प्रेरणा मिली जिसमें काव्यगत सभी प्रवृत्तियों का उल्लेख हो तथा भोज, मम्मट, वाग्भट आदि के लक्षणों में जो काव्यतत्त्व छूट गये हैं उनका भी संकलन हो जाये। तदनुरूप इन्होंने निम्न काव्यलक्षण लिखा है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥ च० १.७

"उस वाणी का नाम काव्य है, जिसमें दोष न हों तथा जो लक्षणों से युक्त, रीतियों से युक्त, गुणों से भूपित, अलंकार और रस से युक्त तथा अनेक वृत्तियों से अन्वित हो।"

लेखक ने अपने चन्द्रालोक में जिन पद-दोपों, वाक्य-दोपों तथा अर्थ-दोषों का उल्लेख किया है (मयूख २), वे काव्य में नहीं होने चाहियें। निम्न तत्त्व होने उचित हैं—

अक्षरसंहति आदि लक्षण (मयूख ३); पांचाली, लाटी, गौडी एवं वैदर्भी रीतियाँ (मयूख ६); श्लेष, प्रसाद, समता आदि आठ गुण (मयूख ४); शब्दालंकार तथा अर्थालंकार (मयूख ५); श्रृंगारादि नवरस तथा भावादि (मयूख ६), मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता एवं भद्रा वृत्तियाँ (मयूख ६)।

---

२६. काव्यस्यात्मा ध्वनिः। सहृदयहृदयाह्लादिशव्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। ध्वन्या० १.१

२७. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्यं जीवितम्। औ० वि० च० ५

२८. गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम्। काव्य मी०, अ० ६

२९. निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥ सर० कण्ठा० १.२

३०. तददोषौ शव्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। का० प्र० १.४

३१. साधुशव्दार्थसन्दर्भगुणालंकारभूषितम्।
स्फुट रीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥ वा० भ० १.२

विद्वत्सम्प्रदाय में प्राचीन आचार्यों में मम्मट का काव्यलक्षण विशेष आदर के साथ देखा जाता है। उसकी अपेक्षा जयदेव के इस लक्षण में निम्न अन्तर है—

१. मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में लक्षणों, रीतियों तथा वृत्तियों का उल्लेख नहीं किया, किन्तु जयदेव ने किया है।

२. मम्मट ने रस का भी स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया, पर क्योंकि उसके मत में गुणरसाश्रित ही होते हैं, अतः गुणों के माध्यम से रस भी गृहीत समझ लिया गया है। पर जयदेव ने स्पष्ट रूप से रस का नाम लिया है।

३. मम्मट ने भामह आदि के अनुसार शब्दार्थयुगल को काव्य कहा था, किन्तु जयदेव ने शब्द को काव्य माना है।

४. मम्मट ने अपने लक्षण में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कहकर क्वचित् अनलंकृत या स्फुटालंकाररहित शब्दार्थ को भी काव्य माना है, पर जयदेव अलंकाररहित काव्य की रचना को ऐसा ही समझते हैं, जैसे कोई अग्नि को अनुष्ण माने। वे मम्मट पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ च० १.८

जयदेव ने सभी सम्प्रदायों के तत्त्वों को अपने लक्षण में समाविष्ट कर सबका सामंजस्य करने का यत्न किया है। अपनी ओर से उन्होंने अलंकारवादियों की अलंकार-दृष्टि, रसवादियों की रस-दृष्टि, रीतिवादियों की गुण-रीति-दृष्टि, वक्रोक्तिवादियों की वक्रोक्ति-दृष्टि, ध्वनिवादियों की ध्वनि-दृष्टि औचित्यवादियों की औचित्य-दृष्टि तथा अन्य भी काव्यशास्त्रियों की जो मान्यताएँ हैं उन सबका विनिवेश अपने लक्षण में कर दिया है। परन्तु लक्षण की दृष्टि से परीक्षा की जाये तो जयदेव का काव्यलक्षण बहुत समीचीन नहीं कहा जा सकता। इन्होंने अपने लक्षण में जो तत्त्व परिगणित किये हैं वे सभी काव्य के लिए अनिवार्य नहीं हैं। लक्षण, रीतियाँ, वृत्तियाँ आदि किसी रचना में न भी हों, किन्तु काव्य की अन्य विशेषताएँ हों तो वह काव्य माना ही जायेगा। ऐसा काव्य दुर्लभ होगा, जिसमें उक्त सभी विशेषताएँ एक-साथ प्राप्त होती हों। अतएव उत्तरवर्ती आचार्यों की प्रवृत्ति काव्यलक्षण में संक्षेप की ओर रही है तथा कविराज विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और पण्डितराज जगन्नाथ के 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' जैसे लक्षणों का प्रादुर्भाव हुआ है। पंडितराज तो काव्यलक्षण में गुण, अलंकार, रसादि का उल्लेख भी उचित नहीं समझते, क्योंकि इससे अनेक वाक्य, जिनका काव्यत्व सर्वसम्मत है, काव्य नहीं रहते[32]। ऐसी स्थिति में गुण, अलंकार और रस के साथ लक्षण, रीति तथा वृत्तियों

---

३२. लक्षणे गुणालङ्कारादिनिवेशोऽपि न युक्तः 'उदितं मण्डलं विधोः' इति काव्ये··· 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्तेः। ···यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्य-दर्पणे निर्णीतं, तन्न, वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात्।
र० गं० प्रथम आनन, काव्यलक्षण प्रकरण

को भी जोड़ देना काव्यत्व को दुर्लभ बना देना ही होगा। अतः जयदेव के काव्य-लक्षण को इसी रूप में लेना उपयुक्त होगा कि इसमें काव्य में पायी जाने वाली विशेषताओं का उल्लेख मात्र है।

एक प्रश्न यह है कि जयदेव की दृष्टि में काव्य की आत्मा क्या है। यद्यपि अलंकाररहित काव्य की मान्यता से ही ये निषेध करते हैं, तथापि विशुद्ध अलंकार-वादी ये नहीं हैं। अलंकारों को ये शरीर में हारादि के समान काव्य का शोभावर्धक ही मानते हैं।[३३] तो फिर अलंकार जिसकी शोभा बढ़ाते हैं वह काव्य का आत्मभूत तत्त्व क्या है? रसादिध्वनि ही इनके मत में काव्य का आत्मतत्त्व है। तदनुसार ही इन्होंने काव्य के ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद किये हैं। रसादिव्यङ्ग्य-विहीन चित्र-काव्य को ये स्वीकार नहीं करते। इन्होंने काव्य को 'आस्वाद्यलसद्रसैकवसतिः'[३४] कहा है, जो काव्य में रस की महत्ता का ही सूचक है। प्रसन्नराघव में ये अपने काव्य को 'असमरसनिष्यन्दमधुरः'[३५] कहने में गौरव अनुभव करते हैं। आदर्श नाटक की विशेषताएँ बताते हुए ये उसे गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि से युक्त न कहकर 'प्रत्यङ्कमङ्कुरितसर्वरसावतारम्' तथा 'वक्रतयातिरम्यम्'[३६] ही कहते हैं। इससे रस के प्रति इनकी भक्ति सुतरां स्पष्ट है। रसादि ही इनके मत में वह केन्द्रविन्दु है, जिसकी लक्षण, रीतियाँ, गुण, अलंकार तथा वृत्ति परिक्रमा करते हैं। पर ये इस पर भी विशेष बल देते हैं कि कवि को वह रसादिव्यङ्ग्य अलंकारादि से सजाकर ही प्रकट करना चाहिये। भामह की अलंकार-विषयक मान्यता की छाप इन पर अवश्य है[३७]। ये उन ध्वनिवादियों से सहमत नहीं हैं, जो अलंकार को काव्य का अपरिहार्य तत्त्व नहीं मानते।

शब्द-विचार

शब्द दो प्रकार का होता है, एक शास्त्रीय शब्द, दूसरा शास्त्रबाह्य शब्द। शास्त्र में जो प्रयुक्त होता है वह शास्त्रीय शब्द है। भेरी-शब्द, विद्युद्गर्जना का शब्द, नदी का कल-कल शब्द, पशु-पक्षियों की ध्वनियाँ आदि शास्त्रबाह्य शब्द हैं, क्योंकि शास्त्र में उनका व्यवहार नहीं होता। काव्य में शास्त्रबाह्य शब्द का प्रयोजन न होने से शास्त्रीय शब्द की ही परिभाषा तथा उसके भेद जयदेव ने दर्शाये हैं।

परिभाषा

"विभक्त्युत्पत्तये योग्यः शास्त्रीयः शब्द इष्यते।" च० १.९

शास्त्रीय शब्द वह कहलाता है, जिसके परे विभक्तियां लगाई जा सकें[३८]।

---

३३. च० ४.११ तथा ५.१

३४. वही १.३

३५. प्र० १.१४

३६. वही १.७

३७. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्। काव्यालं०, भा० १.१३

३८. यहां शब्द की जो परिभाषा दी है, उसके अतिरिक्त 'शब्द' सामान्यतः पद और वाक्य के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है—द्विविधो हि शब्दः पदवाक्यभेदात्तु; व्यक्तिवि० विमर्श १। तदनुसार ही शब्ददोष, शब्दालंकार आदि की व्याख्या होती है। स्वयं जयदेव ने भी दोष-प्रकरण में पद एवं वाक्य को शब्द माना है।

विभक्ति 'सुप्' और 'तिङ्' का नाम है[३९]। देव, ब्राह्मण आदि इस कारण शास्त्रीय शब्द हैं, क्योंकि इनके परे सुप् की उत्पत्ति हो सकती है। इसी प्रकार भू आदि धातुएँ तिङ् की उत्पत्ति के योग्य होने से शास्त्रीय शब्द की कोटि में आ जाती हैं।

भेद-प्रभेद

शब्द-शक्ति तीन प्रकार की होती है, रूढि, योग तथा योगरूढि। पंडितराज जगन्नाथ ने इन्हें क्रमशः केवलसमुदायशक्ति, केवलावयवशक्ति तथा समुदायावयवोभयशक्ति कहा है[४०]। इनके आधार से शब्द भी त्रिविध होता है:—रूढ, यौगिक तथा तन्मिश्र। रूढि के बल से या केवल समुदायशक्ति से जो अर्थ का बोध कराता है वह शब्द रूढ कहाता है, जैसे डित्थ आदि नाम या भू आदि धातुएँ, जिनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि विभाग कुछ नहीं होता। यौगिकता के बल से या केवलावयवशक्ति से अर्थ का बोधक शब्द यौगिक होता है, जैसे पाचक शब्द जिसमें पकाने अर्थ में पच धातु तथा कर्त्ता अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय है। रूढि तथा योग दोनों की अपेक्षा रखते हुए या समुदायावयवोभयशक्ति से अर्थ का बोध कराने वाला शब्द तन्मिश्र या योगरूढ कहा जाता है, जैसे पङ्कज शब्द। 'पङ्कात् जायते इति पङ्कजम्'—पंक से उत्पन्न होने के कारण कमल को पंकज कहते हैं, अतः यौगिकता है। पर पंक से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु को पंकज नहीं कहते, यह कमल अर्थ में ही रूढ है, अतः रूढि भी है।

रूढ के भेद

फिर इन रूढ, यौगिक तथा तन्मिश्र में से रूढ के तीन भेद होते हैं—अव्यक्तयोग, निर्योग तथा योगाभास।

१. **अव्यक्तयोग**—जो शब्द यौगिक होते हुए भी यौगिकता के अव्यक्त होने के कारण योग के बल से नहीं, किन्तु रूढि से ही अर्थ का बोध कराता है, वह अव्यक्तयोग कहलाता है। इसका उदाहरण 'वृक्ष'[४१] शब्द है। यद्यपि 'वृश्चति आतपम् इति वृक्षः' अथवा 'वृश्च्यते छिद्यते इति वृक्षः' यह यौगिकता यहाँ है, तथापि वृक्ष

---

३९. पा० १.४.१०४

४०. सेयमभिधा त्रिविधा, केवलसमुदायशक्तिः केवलावयवशक्तिः, समुदायावयवशक्तिसंकरश्चेति। ...एता एव विधा रूढि-योग-योगरूढिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते।
र० गं० २य आनन

४१. यहां यह शंका हो सकती है कि वृक्षादि शब्दों को रूढ न मानकर तन्मिश्र क्यों न माना जाये। जैसे सामान्य अर्थ का विशेष में परिवर्तन होने से पंकज शब्द तन्मिश्र है, वैसे ही वृक्ष भी हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि तब तो प्रायः सभी शब्द तन्मिश्र हो जायेंगे, क्योंकि शास्त्र के अधिकतर शब्द आख्यातज हैं, यह विद्वत्सिद्धान्त है। अतः तन्मिश्र उन्हें ही माना है जो व्यक्तयोग हैं। अव्यक्तयोगों की गणना रूढ में की है।

शब्द का 'पेड़' अर्थ इस यौगिकता से नहीं, प्रत्युत रूढि से ही सूचित होता है। अतः अव्यक्तयोग रूढ माना जाता है।

२. **निर्योग**—जिसमें यौगिकत्व होता ही नहीं, वह शब्द निर्योग रूढ कहलाता है। जैसे 'भू' आदि धातुएँ सत्ता आदि अर्थ की प्रतीति विशुद्ध रूढि द्वारा ही कराती हैं। इनमें प्रकृति-प्रत्ययादि का विभाग न होने से अवयव-शक्ति नहीं है।

३. **योगाभास**—जिसमें यौगिकता सम्भव तो होती है, पर वास्तविक अर्थ से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं होता, वह शब्द योगाभास कहाता है, जैसे 'मण्डप' शब्द। 'मण्डं पिबतीति मण्डपः'—'जो मांड को पिये' यह यौगिक अर्थ होते हुए भी इसका प्रकृत अर्थ से कुछ सम्बन्ध न होने के कारण मण्डप शब्द यौगिक नहीं, प्रत्युत योगाभास रूढ ही है[४२]।

यौगिक के भेद

यौगिक भी तीन प्रकार का होता है—शुद्ध, तन्मूल तथा संभिन्न।

१. **शुद्ध**—जहाँ (सार्थक प्रकृति के साथ अर्थ-विशेष में प्रत्यय का योग होने से) अर्थप्रतीति होती है, वह शुद्ध यौगिक शब्द होता है, जैसे भ्रान्ति शब्द। यहाँ भ्रमवाचक 'भ्रमु' धातु से भाव में क्तिन् प्रत्यय होने से 'भ्रम' अर्थ का बोध होता है।

२. **तन्मूल**—यहाँ तत् शब्द 'शुद्ध यौगिक' का परामर्श करता है, अतः तन्मूल का अर्थ हुआ शुद्धयौगिकमूल। तन्मूल वह यौगिक शब्द होता है, जहाँ दो या अधिक शुद्ध यौगिक शब्दों का समास करने पर अर्थप्रतीति होती हो, जैसे स्फुरत्कान्ति शब्द। चमकने अर्थ वाली स्फुर धातु से शतृ प्रत्यय करने पर स्फुरत् शब्द निष्पन्न होता है तथा कान्त्यर्थक कमु धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर कान्ति शब्द। अतः स्फुरत् तथा कान्ति दोनों शब्द पृथक्-पृथक् शुद्ध यौगिक हैं। इन दोनों का समास करने पर 'स्फुरत्कान्ति' शब्द तन्मूल हुआ, जिसमें बहुव्रीहि तथा कर्मधारय दोनों समास हो सकते हैं। 'स्फुरन्ती कान्तिर्यस्य'—चमकीली कान्ति वाला अथवा 'स्फुरन्ती च सा कान्तिश्च'—चमकीली कान्ति।

३. **संभिन्न**—संभिन्न वह यौगिक शब्द होता है जो यौगिक तथा रूढ से मिलकर बनता है, जैसे कौन्तेय शब्द। अयौगिक कुन्ति शब्द से 'कुन्ति राजा की कन्या' इस अर्थ में अपत्यप्रत्यय ञ्यङ् तथा स्त्रीप्रत्यय ङीष् करने पर यौगिक कुन्ती शब्द बनता है[४३]।

४२. मण्डप शब्द योगाभास रूढ तभी माना जायेगा, जब वह 'शामियाना' अर्थ में प्रयुक्त होगा। 'मांड पीने वाला' इस अर्थ में प्रयुक्त करने पर यह यौगिक ही होगा। द्रष्टव्य नागेश भट्ट : परमलघुमंजूषा—'मण्डपपदं गृहविशेषे रूढं, मण्डपानकर्तरि यौगिकम्।

४३. वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् पा० ४.१.१७१ से अपत्य-प्रत्यय ञ्यङ् होकर 'स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च' पा० ४.१.१७६ से उसका लुक् हो जाता है। पुनः स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् होकर कुन्ती बनता है।

पुनः इससे ग्रपत्यार्थ में ढक्[44] प्रत्यय होकर कौन्तेय शब्द बनता है, 'कुन्त्याः ग्रपत्यं पुमान् कौन्तेयः', जिसका ग्रर्थ है कुन्ती का पुत्र। इसमें कुन्ती शब्द यौगिक है तथा ढक् प्रत्यय ग्रयौगिक। एवं यौगिक तथा ग्रयोगिक के मिश्रण से बना होने के कारण कौन्तेय शब्द संभिन्न हुग्रा।[45]

तन्मिश्र के भेद

तन्मिश्र सामान्य तथा विशेष ग्रर्थ के परस्पर परिवर्तन से होता है। इसके निम्न भेद होते हैं[46]—

१. सामान्यस्य विशेषे परिवर्तनम्—सामान्य ग्रर्थ का विशेष ग्रर्थ में परिवर्तन हो जाना। इसके उदाहरण जयदेव ने नीरधि, पंकज, सौध, सागर, भूरुह ग्रौर शशी दिए हैं। नीरधि का सामान्य ग्रर्थ है जल को धारण करने वाला। पर जल को धारण करने वाले तो कूप, सरोवर, पात्र ग्रादि ग्रनेक हो सकते हैं। नीरधि शब्द जलाधार-सामान्य ग्रर्थ का त्याग कर जलाधार-विशेष समुद्र का बोधक हो जाता है। इसी-प्रकार सामान्य योगार्थ को लें तो पंकज शब्द पंक से उत्पन्न होने वाले प्रत्येक पदार्थ का, सागर शब्द सगर से सम्बद्ध प्रत्येक पदार्थ का, भूरुह शब्द भूमि पर उत्पन्न होने वाले प्रत्येक पदार्थ का तथा शशी शब्द खरगोश को धारण करने वाली प्रत्येक वस्तु का बोधक होना चाहिए। प्ररन्तु ये शब्द ग्रपने-ग्रपने सामान्य ग्रर्थ के बोधक होते हैं। पंकज शब्द कमल का, सौध शब्द गृह का, सागर शब्द समुद्र का, भूरुह शब्द वृक्ष का तथा शशी शब्द चन्द्रमा का बोध कराता है।

२. विशेषस्य सामान्ये परिवर्तनम्—विशेष ग्रर्थ का सामान्य ग्रर्थ में परिवर्तन हो जाना। इसके उदाहरण हैं क्षीरनीरधि तथा ग्राकाशपंकज। क्षीरनीरधि में 'क्षीर का समुद्र' ग्रर्थ लेना ग्रभिप्रेत है। 'नीरधि' का विशिष्ट ग्रर्थ 'जल का ग्राधार' लें तो क्षीर के साथ उसकी संगति नहीं लगती। ग्रतः यहाँ विशिष्ट ग्रर्थ न लेकर सामान्य

---

४४. स्त्रीभ्यो ढक् पा० ४.१.१२०।

४५. द्रष्टव्यः रमाटीका—"यौगिकायौगिकयोर्योगेनार्थप्रत्यायकत्वं संभिन्नयौगिकत्वम्। ···राजादिवाचिकुन्तिशब्दात् तद्धितलुकि ङीपि यौगिककुन्तीशब्दस्यायौगिकतद्धित-योगेन निष्पन्नकौन्तेयपदस्यार्जुनादिबोधकत्वात् तथेति बोध्यम्।

संभिन्न के दो भेद किये जा सकते हैं—तद्धितान्त तथा समस्त। कौन्तेय शब्द तद्धितान्त का उदाहरण हुग्रा। समस्त के उदाहरण स्फुरद्वृक्षः, स्फुरन्मण्डपः ग्रादि हो सकते हैं।

४६. शरदागम टीका में तन्मिश्र एक ही प्रकार का माना है—कारणवशेनान्योन्य-सामान्यविशेषपरिवर्तमान एक एवायं भेदः। किन्तु रमा टीका में इसके तीन भेद किये हैं—तन्मिश्रोऽपि त्रिधेत्यनुषङ्गेण त्रिधैवेत्यर्थः। एक एवायं भेद इति तु प्राचः प्रमादः, भेदसम्भवात्। ग्रतएव हेतूक्तिः। क्वचिद् योगस्थाने रुढेरेवाश्रयणं, क्वचिद् रूढिस्थाने योगस्यैव, क्वचिदुभयसत्त्वमिति फलितम्।

'समुद्र' अर्थ लेते हैं।[४७] इस प्रकार विशेष का सामान्य में परिवर्तन हो गया है। यही स्थिति आकाश-पंकज शब्द में है। चन्द्रमा को आकाशपंकज कहा गया है, क्योंकि वह गगन-सरोवर का कमल है। यहाँ पंकज का विशिष्ट अर्थ 'पंक से उत्पन्न' लें, तो आकाश के साथ सामंजस्य नहीं होगा। अतः पंकज को सामान्य कमल का वाची मानकर आकाश-कमल अर्थ हो जाता है। इसी श्रेणी में 'सुरभूरुहः', 'कलधौतसौधः', 'निष्कलङ्कशशलाञ्छनः' आदि शब्द भी आते हैं।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि ऊपर तो 'जल का आधार' या 'पंक से उत्पन्न' इन अर्थों को सामान्य कहा गया है, यहाँ वे ही अर्थ विशेष कैसे हो गये। इसका समाधान यह है कि सामान्यविशेषभाव अपेक्षा से होता है।[४८] क्षीर तथा आकाश के साथ आने से ये विशिष्ट अर्थ कहलाते हैं। 'क्षीर का समुद्र' या 'नीर का समुद्र' ये विशिष्ट अर्थ हैं, इसकी तुलना में समुद्रमात्र यह सामान्य अर्थ है।

यह प्रस्तुत सन्दर्भ की एक व्याख्या है, जो शरदागमटीका का अनुसरण करती है। अन्य टीकाकार इससे सहमत नहीं हैं। राकागम तथा रमा टीका के अनुसार क्षीर-नीरधि तथा आकाशपंकज शब्द विशेष के सामान्य में परिवर्तन के उदाहरण नहीं हैं, क्योंकि सामान्य का अभिप्राय है 'यौगिक' तथा विशेष का अर्थ है 'रूढ'। उनका मत है कि जयदेव ने जो नीरधि, पंकज, सौध, सागर, भूरुह तथा शशी उदाहरण दिये हैं, वे किसी एक भेद के न होकर प्रसंगानुसार सभी भेदों के हो सकते हैं। जहाँ नीरधि आदि पद समुद्र आदि के अर्थ में आते हैं, वहाँ सामान्य का विशेष में परिवर्तन है, जहाँ यौगिक अर्थ में आते हैं, वहाँ विशेष का सामान्य में परिवर्तन है। और कहीं ये सामान्य-विशेष दोनों के वाची भी हो सकते हैं। इसके पश्चात् जो क्षीरनीरधि तथा आकाश-पंकज उदाहरण दिये हैं वे अपनी स्थापना को स्पष्ट करने के लिए दिए हैं तथा सामान्य के विशेष में परिवर्तन के उदाहरण हैं, क्योंकि यहाँ यौगिक अर्थ न लेकर समुद्र तथा कमल ये रूढ़ अर्थ लिये जाते हैं। इनके मत में विशेष के सामान्य में परिवर्तन के उदाहरण होंगे 'नीरधिः कूपः' आदि। कुछ टीकाकारों ने 'आकाशपङ्कज' को विशेष के सामान्य में परिवर्तन का उदाहरण माना है। उनके मत में इसका अर्थ है 'आकाशगंगा के पंक से उत्पन्न' जो चन्द्रमा के लिये कहा गया है।

३. विशेषसामान्योभयसत्त्वम्—जहाँ श्लेष आदि से सामान्य तथा विशेष

---

४७. अत्र नीराणि दधातीति विशेषाश्रयणे क्षीरेति व्याहतं स्यात्। सामान्यसमुद्रग्रहणे तु नानुपपत्तिरित्यर्थः। शरदागम।

४८. तुलना कीजिए, चन्द्रालोक के दोष-प्रकरण में उक्त सामान्यपरिवृत्ति तथा विशेष-परिवृत्ति दोष (च० २.३६)। वहां सुवर्ण तथा कुण्डल में सुवर्ण को सामान्य तथा वनिता और वल्लभा में वनिता को सामान्य माना गया है। धातुओं में सुवर्ण विशेष धातु है तथा मनुष्य जाति में वनिता विशेष, पर ये ही कुण्डल एवं वल्लभा की अपेक्षा से सामान्य हो जाते हैं।

दोनों अर्थ क्रमशः गृहीत हो सकते हैं, वहाँ यह तीसरा भेद संभव है[४९]। इसका पृथक् उदाहरण जयदेव ने नहीं दिया है। 'असौ राजा समुद्र इव नीरधिः गुणानाम्', इस वाक्य में समुद्र-पक्ष में नीरधि का सामान्य अर्थ गृहीत होता है जल का आधार तथा राजा-पक्ष में 'सागर' रूप विशेष अर्थ। नलचम्पू का नलविषयक निम्न वर्णन भी इसका अच्छा उदाहरण है—"यश्च कोऽप्यन्यादृश एव लोकपालः। तथाहि, अपूर्वो विबुधपतिः, अदण्डकरो धर्मराजः, अजघन्यः प्रचेताः, अनुत्तरो धनदः[५०]।" यहाँ विबुधपति, धर्मराज, प्रचेता और धनद शब्दों के दो-दो अर्थ लिये जायेंगे। एक पक्ष में इन्द्र, यम, वरुण तथा कुबेर तथा दूसरे नल के पक्ष में विद्वत्पति, धार्मिकों में श्रेष्ठ, प्रकृष्ट चित्त वाला तथा धन का दाता। प्रथम पक्ष में सामान्य का विशेष में परिवर्तन हो जाता है तथा द्वितीय पक्ष में विशेष का सामान्य में। संस्कृत-साहित्य में ऐसे उदाहरण पर्याप्त मिलते हैं।

इस प्रकार शास्त्रीय शब्द के कुल मिलाकर नौ भेद हुए—तीन रूढ के, तीन यौगिक के तथा तीन तन्मिश्र के[५१]। चन्द्रालोक में उपर्युक्त विवेचन निम्न कारिकाओं में प्रकट किया गया है:—

> रूढ-यौगिक-तन्मिश्रैः प्रभेदैः स पुनस्त्रिधा ॥
> अव्यक्तयोग-निर्योग-योगाभासैस्त्रिधादिमः।
> ते च वृक्षादि-भूवादि-मण्डपाद्या यथाक्रमम् ॥
> शुद्ध-तन्मूल-संभिन्नप्रभेदैर्यौगिकस्त्रिधा।
> ते च भ्रान्ति-स्फुरत्कान्ति-कौन्तेयादिस्वरूपिणः ॥
> तन्मिश्रोऽन्योन्यसामान्यविशेष-परिवर्तनात्।
> नीरधिः पङ्कजं सौधं सागरो भूरुहः शशी ॥
> क्षीरनीरधिराकाशपङ्कजं तेन सिध्यति। च० १.६–१३

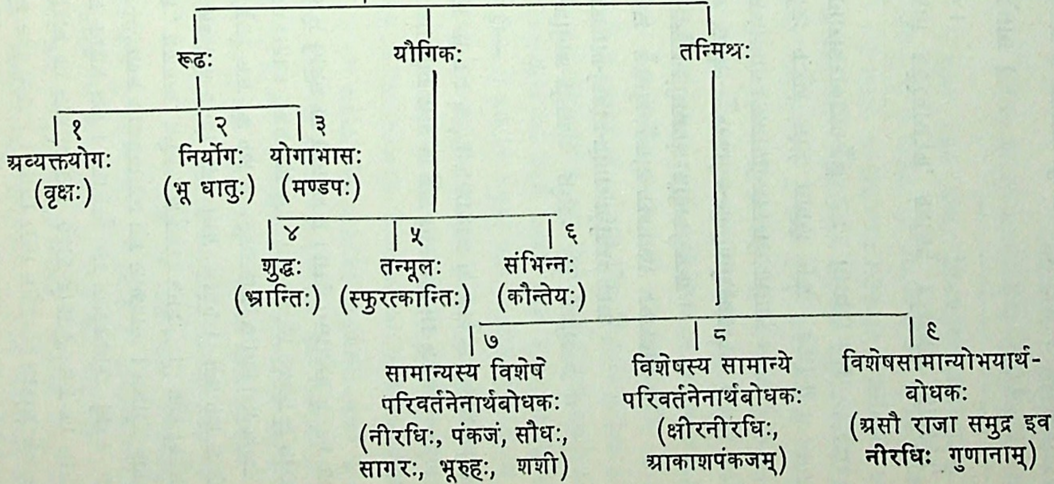
---

४९. क्वचिद् योगस्थाने रूढेरेवाश्रयणं, क्वचिद् रूढिस्थाने योगस्यैव, क्वचिदुभय-सत्त्वम्। रमा०।

५०. न० चं०, उच्छ्वास १

५१. जगदीश तर्कालंकार के अनुसार भी शब्द नौ प्रकार का है, किन्तु उनके भेद इस प्रकार हैं—रूढ (१. नैमित्तिक—जैसे, गोचैत्र, २. पारिभाषिक—जैसे, आकाश-डित्थ, ३. औपाधिक—जैसे, भूतदूत)। यौगिक (१. सामासिक—जैसे, पुरुष-सिंह, २. तद्धितान्त—जैसे, पाराशर्य, ३. कृदन्त—जैसे, पाचक)। योगरूढ (१. सामासिक—जैसे, कृष्णसर्प, २. तद्धितान्त—जैसे, वासुदेव, ३. कृदन्त—जैसे, पंकज)।

जयदेव वर्णित शब्द के उक्त भेद-प्रभेदों को तालिका द्वारा निम्न रूप से प्रदर्शित किया जा सकता है :—



पद-वाक्य-विचार

पद—शास्त्रीय शब्द के भेद दर्शाने के अनन्तर जयदेव पद और वाक्य के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार करते हैं। 'विभक्त्यन्तं पदम्'[52] विभक्ति अर्थात् सुप् और तिङ् जिसके अन्त में जुड़े हों उस शब्द की पदसंज्ञा होती है। उदाहरणार्थ सुबन्त होने से ब्राह्मणः, धार्मिकः आदि तथा तिङन्त होने से पचति, द्रक्ष्यति आदि पद कहलाते हैं। इन्हीं पदों का काव्य में प्रयोग किया जाता है। इन पदों के किन्हीं के मत में नाम और आख्यात रूप दो भेद, अन्यों के मत में नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात रूप चार भेद, इतरों के मत में इनके साथ कर्मप्रवचनीय को भी सम्मिलित कर पांच भेद होते हैं[53], जिन पर चन्द्रालोक में विचार नहीं किया गया है।

वाक्य—पदों के उस व्यूह (गुम्फन) को वाक्य कहते हैं, जिससे अर्थ पूर्ण हो जाता हो, अर्थात् आकांक्षा अवशिष्ट न रहती हो—वाक्यं तद्व्यूहोऽर्थसमाप्तितः[54]। जैसे 'कविः काव्यं करोति' यहाँ तीन पदों का व्यूह है तथा अर्थ भी पूर्ण हो जाता है, अतः यह वाक्य है। परन्तु 'कविः काव्यम्' यहाँ अर्थ पूरा नहीं होता तथा किसी क्रिया की आकांक्षा बनी रहती है, अतः वाक्य नहीं है। वैयाकरणों, दार्शनिकों तथा किन्हीं अलंकारशास्त्रियों ने भी योग्यता, आकांक्षा तथा आसक्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा है[55]। वन्हि में सेचन की योग्यता न होने से 'वन्हिना सिञ्चति' यह वाक्य नहीं है। 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादि परस्पर आकांक्षा न होने से वाक्य नहीं माने जाते। 'गिरिर्भुक्तम् अग्निमान् देवदत्तेन' इत्यादि आसत्ति के विरह के कारण वाक्य नहीं कहलाते। जयदेव के 'अर्थसमाप्तितः' में उक्त तीनों का

---

५२. तुलना : पाणिनि—सुप्तिङन्तं पदम् १.४.१४; गौतम, न्यायसूत्र—ते विभक्त्यन्ताः पदम् २.२.५७; भामह, काव्यालंकार—अर्थवान् वर्णसंघातः सुप्तिङन्तं पदं पुनः ४.३ तथा विश्वनाथ, सा० द० वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः। २.२

५३. द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पंचधाऽपिवा। वाक्य० प० ३.१

५४. तथा च विशिष्टैकार्थप्रतिपादकनिराकाङ्क्षपदसमूहो वाक्यमिति फलितम्—रमा०। तुलना कीजिये—"वात्स्यायन-पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्तौ, न्यायसूत्र २.१.५६ का भाष्य। भर्तृहरि, वा० प०—सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता। राजशेखर, काव्यमी०—पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्, अ० ६। भामह, काव्यालं०—पदानामेव संघातः सापेक्षाणां परस्परम्। निराकांक्षं च तद् वाक्यमेकवस्तुनिबन्धनम्। ४.४। रुद्रट, काव्यालं०—वाक्यं तत्राभिमतं परस्पर-सव्यपेक्षवृत्तीनाम्। समुदायः शब्दानामेकपराणामनाकांक्षः।" २.७

५५. द्रष्टव्य : नागेशभट्टः परमलघुमंजूषा; विश्वनाथपंचाननः न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि (शब्दप्रकरण), तथा विश्वनाथ, सा० द० 'वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।' २.१

अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है, क्योंकि जहाँ पदों में परस्पर योग्यता, आकांक्षा तथा आसत्ति नहीं रहती वहाँ अर्थ परिसमाप्त नहीं होता।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि कहीं-कहीं वाक्य कई पदों का समूह न होकर एक पदात्मक भी होता है। जैसे 'पर्वतोऽयं वह्निमान्, धूमत्वात्।' यहाँ 'धूमत्वात्' यह पंचम्यन्त एक पद भी पूर्ण अर्थ देने के कारण स्वतन्त्र वाक्य है।[५६]

खण्डवाक्य—जहाँ प्रयुक्त अनेक शब्दों के अर्थ परस्पर सम्बद्ध तो हों, किन्तु अर्थ-परिसमाप्ति न होती हो उसे खण्डवाक्य कहते हैं—'युक्तार्थानां तां च विना खण्डवाक्यं स इष्यते।' उदाहरणार्थ 'कविः काव्यम्' यहाँ कवि और काव्य में परस्पर सम्बन्ध है, पर अर्थपूर्ति नहीं हो रही, अतः यह खण्डवाक्य होगा। खण्डवाक्य के लक्षण में 'युक्तार्थानाम्' का समावेश इसलिए आवश्यक है, जिससे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादि अयुक्तार्थ पदों के समूह को खण्डवाक्य न मान लिया जाये। वाक्य के समान खण्डवाक्य भी कहीं-कहीं एक-पदात्मक भी होता है, जैसे 'देव' यह सम्बोधनान्त पद।

वाक्यकदम्बक— अनेक वाक्य जो परस्पर मिलकर किसी अर्थ को देते हों वाक्यकदम्बक कहलाते हैं— वाक्यान्येकार्थविश्रान्तान्याहुर्वाक्यकदम्बकम्। इसके अनुसार एक से अधिक वाक्यों का श्लोक, ग्रन्थ का कोई प्रकरण-विशेष तथा रामायण, महाभारत आदि सम्पूर्ण ग्रन्थ भी वाक्यकदम्बक कहलाते हैं।[५७]

उपर्युक्त पद-वाक्यादि के विचार पर जयदेव की निम्न कारिकाएँ हैं—

विभक्त्यन्तं पदं वाक्यं तद्व्यूहोऽर्थसमाप्तितः।
युक्तार्थानां[५८] ता च विना खण्डवाक्यं स इष्यते॥
वाक्यं च खण्डवाक्यं च पदमेकमपि क्वचित्।
धुमवत्त्वादिति यथा देवेत्यामन्त्रण यथा।
वाक्यान्येकार्थं विश्रान्तान्याहुर्वाक्यकदम्बकम्॥

च० १.१३-१५

शब्दादि के विचार की आवश्यकता

शब्द, पद, वाक्यादि का विचार अलंकारशास्त्र में कम किया गया है। संभवतः इसका कारण यह हो कि यह मुख्यतः भाषा-विज्ञान, व्याकरण या दर्शनशास्त्र का विषय है। परन्तु वस्तुतः जैसे अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि का विचार इतर शास्त्रों में होते हुए भी यह अलंकारशास्त्र का भी प्रमुख विषय बना हुआ है, वैसे ही पदादि-

---

५६. हेत्वाकांक्षानिवर्तकविशिष्टार्थप्रतिपादकतया वाक्यत्वम्। शरदागम

५७. तुलना : विश्वनाथ, सा० द० : 'वाक्योच्चयो महावाक्यम्। महावाक्यम् यथा रामायणमहाभारतरघुवंशादि', २.१ तथा उसकी वृत्ति।

५८. शरदागमटीकाकार ने युक्तार्थानां के स्थान पर युक्तार्थतां पाठ मानकर यह व्याख्या की है कि अलुक्समास भी खण्डवाक्य नहीं माना जायेगा—तामर्थ-समाप्ति विना, समासस्थलीयां युक्तार्थतां च विना। तथा च अलुक्समासोऽपि न खण्डवाक्यमित्येषामाशयः। समासान्तरे पदसमूहत्वाभावात्।

विचार का भी अलंकारशास्त्र में स्थान है। शब्द के रूढ, यौगिक आदि भेदोपभेदों के विवेचन के बिना अभिधा शक्ति का पूर्णतः स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। रूढि, योग आदि की प्रक्रियाएं संकेतित अर्थ को बताने में सहायक होती हैं। लक्षणा और व्यंजना को हृदयंगम करने के लिए भी रूढि आदि का बोध आवश्यक है। सुकवि एवं सुसमालोचक बनने के लिए, पद-वाक्यादि का भी ज्ञान अपेक्षित है। इनके सम्यक् ज्ञान से पद-दोषों एवं वाक्य-दोषों के स्वरूप के स्पष्ट होने में भी सहायता मिलती है, क्योंकि 'पद और वाक्य किसे कहते हैं ?' इसी का ज्ञान न हो तो तद्गत गुण-दोषों की मीमांसा कैसे हो सकती है ? वस्तुतः वर्ण, पद, वाक्य इनमें ही सारा वाङ्मय ओतप्रोत है[५९]। आनन्दवर्धन ने भी अर्थ के साथ शब्द का ज्ञान भी महाकवि के लिए आवश्यक बताया है[६०]। अतएव जयदेव ने शब्द, पद, वाक्यादि के स्वरूप का पर्यालोचन किया है।

---

५९. ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद् वाङ्मयं मतम् ।
शास्त्रेतिहासकाव्यानां त्रयं यत्र समाप्यते ।। अग्नि पु० ३३६।१

६०. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ।। ध्वन्या० १.८

दोष

प्राचीनों का दोष-विचार

अनौचित्य अथवा दोष के सम्बन्ध में अलंकारशास्त्र में प्रारम्भ से ही विचार होता रहा है। अलंकारशास्त्र का मुख्य प्रयोजन यही है कि आदर्श काव्य की सृष्टि हो और काव्य आदर्श होने के लिए उसका निर्दुष्ट होना आवश्यक है। अतएव स्व-भावतः अलंकारशास्त्र दोषों का भी विवेचन करता है।

साहित्यशास्त्र के प्रथम आचार्य **भरतमुनि** ने अपने नाट्यशास्त्र में दस काव्य-दोषों का विवेचन किया है[1]। इन्होंने दोषों का शब्दगत, अर्थगत आदि विभाजन न कर उन्हें काव्यदोषमात्र कहा है। साथ ही ये दोषों को गुणविपर्ययात्मक न मानकर भावात्मक मानते हैं, यहाँ तक कि गुणों को ही दोषविपर्ययात्मक स्वीकार करते हैं[2]। इन्होंने दोष का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं किया है।

इनके अनन्तर **भामह** भी अपने काव्यालंकार में दोषों की मीमांसा करते हैं। वे काव्य में निर्दोष रचना के प्रति पर्याप्त जागरूक हैं। उनका कथन है कि कवि को अपने काव्य में एक पद भी दूषित नहीं प्रयुक्त करना चाहिए[3]। वे कुकवित्व को साक्षात् मरण वतलाते हैं[4]। भामह ने दोषों के विषय में दो स्थलों पर विचार किया है। प्रथम परिच्छेद में वक्रोक्ति के प्रसंग में नेयार्थ, क्लिष्ट आदि दस दोष सोदाहरण परिगणित किये गये हैं[5]। पुनः चतुर्थ परिच्छेद में अपार्थ, व्यर्थ प्रभृति ११ काव्यदोषों का निरूपण है[6]।' दोषों का पद, वाक्य आदि के आधार पर विभाजन भरत के समान

---

१. गूढ़ार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः॥ ना० शा० १७.८८

२. गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः। वही १७.९५

३. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। काव्यालं०, भा० १.११

४. कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः। वही १.१२

५. नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।
गूढशब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जते॥
श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्॥ वही १.३७,४७

६. अपार्थं व्यर्थमेवार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते॥ वही ४.१,२

इन्होंने भी नहीं किया है। भामह भरत के विरुद्ध दोषों को भावात्मक न मानकर गुणाभावरूप मानते हैं, अतएव यह भी विधान करते हैं कि कोई दोषविशेष क्वचित् गुण-रूप में भी परिणत हो सकता है।

दण्डी काव्य में दोष-निराकरण के प्रति और भी अधिक सचेत हैं। उनका कथन है कि काव्य में थोड़ा सा भी दोष हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह सारे काव्य-सौन्दर्य को ऐसे ही विकृत कर देता है, जैसे सर्वांगसुन्दर शरीर को कुष्ठ का छोटा सा दाग[7]। इन्होंने दस दोषों का प्रतिपादन किया है, जो भामहोक्त ११ दोषों में से ही प्रथम दस हैं—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धिक और देशकालकलालोकन्यायागमविरोधी[8]। भामह-सम्मत ११वें दोष प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानि को इन्होंने यह कहकर छोड़ दिया है कि इसके दोषादोषत्व का विचार रूक्षप्राय होने से निष्प्रयोजन है[9]।

अब तक दोषों का विभाजन पद, वाक्यादि के रूप में पृथक्-पृथक् नहीं हुआ था। सर्वप्रथम **वामन** ने दोषों को चार वर्गों में विभक्त किया है—पददोष, वाक्य-दोष, पदार्थदोष तथा वाक्यार्थदोष। इनके अनुसार पददोष पाँच हैं—असाधु, कष्ट, ग्राम्य, अप्रतीत तथा अनर्थक[10]। पदार्थदोष भी पाँच ही हैं—अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढार्थ, अश्लील तथा क्लिष्ट[11]। वाक्यदोष तीन हैं—भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट तथा विसन्धि[12]। वाक्यार्थदोष सात हैं—व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम, लोकविरुद्ध तथा विद्याविरुद्ध[13]। वामन स्पष्ट रूप में दोषों को गुणाभाव रूप प्रतिपादित करते हैं[14]।

रुद्रट ने दोषों का वामन की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तार से वर्णन किया है। इनके काव्यालंकार ग्रन्थ के ६ ष्ठ तथा ११ श अध्यायों में दोषों का ही विवेचन है। इनके मत में दोष द्विविध हैं, शब्ददोष तथा अर्थदोष। शब्ददोष के अन्तर्गत ये पदगत तथा वाक्यगत दोषों को लेते हैं। इनके अनुसार असमर्थ, अप्रतीत, विसन्धि, विपरीत-कल्पन, ग्राम्य तथा अव्युत्पत्ति ये ६ पदगत दोष हैं[15]। संकीर्णत्व, गर्भितत्व और

---

७. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ काव्या० १.७

७. वही ३.१२६

६. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचारः कर्कशप्रायस्तेनालीढेन किं फलम्॥ वही ३.१२७

१०. दुष्टं पदमसाधु कष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थकं च। काव्यालं० सू० २.१.४

११. अन्यार्थनेयगूढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च। वही २.१.१०

१२. भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि वाक्यानि। वही २.२.१

१३. व्यर्थैकार्थसन्दिग्धाप्रयुक्तापक्रमलोकविद्याविरुद्धानि च। वही २.२.९

१४. गुणविपर्ययात्मानो दोषाः। वही १.१.१

१५. असमर्थमप्रतीतं विसन्धि विपरीतकल्पनं ग्राम्यम्।
अव्युत्पत्ति च देश्यं पदमिति सम्यग् भवेद् दुष्टम्॥ काव्यालं० रु० ६.२

गतार्थत्व ये तीन वाक्यदोषों के अन्तर्गत आते हैं[१६]। इनके अतिरिक्त द्वितीय अध्याय में वाक्यगुण के प्रसंग में न्यूनपद, अधिकपद, अवाचकपद, अक्रम तथा अपुष्टार्थ नामक वाक्यदोषों का भी संकेत रुद्रट ने किया है।[१७] अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाधयन्, असम्बद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वान् और अतिमात्र ये ९ दोष अर्थगत कहे हैं[१८]।

ध्वनिकार **आनन्दवर्धन** ने यद्यपि दोषों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन नहीं किया है, तथापि काव्य में अनौचित्य नहीं करना चाहिए, इस पर उन्होंने पर्याप्त बल दिया है। अनौचित्य को वे रसभंग का सर्वप्रधान कारण बताते हैं[१९]। कवि के द्विविध दोष अव्युत्पत्तिकृत तथा अशक्तिकृत की भी उन्होंने चर्चा की है[२०] **क्षेमेन्द्र** ने भी अपनी औचित्यविचारचर्चा में पद, वाक्य, प्रबन्ध, अर्थ, गुण, अलंकार, रस आदि के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए तद्‌गत अनौचित्य या दोष को भी स्पष्ट कर दिया है।

महिमभट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श में काव्य-दोषों का विस्तरशः उपस्थापन किया है। जो विवक्षित रसादि की प्रतीति में विघ्न उपस्थित करे उसे वे दोष कहते हैं। उन्होंने रसभंग के साक्षात् हेतु को अंतरंग दोष तथा परम्परया हेतु को बहिरंग दोष नाम दिया है[२१]। अन्तरंग दोष उसे कहा है जो रसों में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के अनुचित विनियोग से होता है। अन्तरंग तथा बहिरंग दोषों को ही क्रमशः अर्थदोष तथा शब्ददोष नाम दिया है। प्रथम का विवेचन उन्होंने यह कहकर छोड़ दिया है कि इसका वर्णन पूर्ववर्ती आनन्दवर्धन आदि आचार्य कर चुके हैं। दूसरे बहिरंग या शब्दगत दोष के पांच प्रकार कहे हैं— विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यावचन[२२]। आगे इनका वैदुष्यपूर्ण विवेचन किया है। वे कहते हैं कि यद्यपि वृत्त का दुःश्रवत्व भी शब्दानौचित्य

१६. वाक्यं भवति तु दुष्टं संकीर्णं गर्भितं गतार्थं च। वही ६.४०

१७. अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम्।
क्षोदक्षममक्षूणं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत॥ वही २.८

१८. अपहेतुरप्रतीतो निरागमो बाधयन्नसंबद्धः।
ग्राम्यो विरसस्तद्वानतिमात्रश्चेति दुष्टोऽर्थः॥ वही ११.२

१९. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ ध्वन्या० ३.७० वृत्ति

२०. द्विविधो हि दोषः कवेः, अव्युत्पत्तिकृतोऽशक्तिकृतश्च। वही ३.६२ वृत्ति

२१. एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीति विघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्। अन्तरङ्ग-बहिरङ्गभावश्चानयोः साक्षात् पारम्पर्येण च रसभङ्गहेतुत्वादादिष्टः। व्यक्तिवि०, २य विमर्श।

२२. इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम् अर्थविषयं शब्दविषयं चेति। तत्र विभावानुभाव-व्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरंगमाद्यैरेवोक्त-मिति नेह प्रतन्यते। अपरं पुनर्बहिरङ्गं बहुप्रकारं संभवति। तद्यथा विधेया-विमर्शः प्रक्रमभेदः क्रमभेदः, पौनरुक्त्यं वाच्यावचनं चेति। वही.

ही है, तथापि शब्ददोषों में उसका परिगणन इस कारण नहीं किया गया, यतः वृत्त की रसानुगुण ही प्रवृत्ति होने से वह केवल शब्दाश्रित न होकर रसाश्रित भी होता है।

भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में दोषों का विभाजन शब्ददोष, वाक्य-दोष तथा वाक्यार्थदोष इन तीन रूपों में किया है तथा प्रत्येक के १६-१६ भेद वर्णित किये हैं। उनके मत में असाधु, अप्रयुक्त, कष्ट आदि सोलह पद-संश्रित दोष[२३], शब्दहीन, क्रमभ्रष्ट, विसंधि आदि सोलह वाक्यगत दोष[२४] तथा अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ प्रभृति सोलह वाक्यार्थज[२५] दोष हैं।

मम्मट के काव्यप्रकाश का दोष-विवेचन पूर्वभावी इतर आचार्यों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित तथा विस्तीर्ण है। वे दोष उसे कहते हैं जो मुख्यार्थ अर्थात् रस में अपकर्ष लाये[२६]। इस दृष्टि से उन्होंने दोषों के पदगत, वाक्यगत, पदांशगत, अर्थ-गत तथा रसगत ये भेद किये हैं। इनमें से प्रथम तीन शब्ददोष कहलाते हैं। इन दोषों में से रसदोष रस में साक्षात् अपकर्ष लाते हैं तथा शेष शब्द या अर्थ के द्वारा। मम्मटप्रोक्त दोष निम्नलिखित हैं—

पददोष—श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, व्रीडा-जुगुप्सा-अमंगलरूप त्रिविध अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश तथा विरुद्धमतिकृत्—ये १६ पदगत

---

२३. असाधु चाप्रयुक्तं च कष्टं चानर्थकं च यत्।
अन्यार्थकमपुष्टार्थमसमर्थं तथैव च।
अप्रतीतमथ क्लिष्टं गूढं नेयार्थमेव च।
सन्दिग्धं च विरुद्धं च प्रोक्तं यच्चाप्रयोजकम्॥
देश्यं ग्राम्यमिति स्पष्टा दोषाः स्युः पदसंश्रयाः। सर० कण्ठा० १.४–६

२४. शब्दहीनं क्रमभ्रष्टं विसन्धि पुनरुक्तिमत्।
व्याकीर्णं वाक्यसंकीर्णमपदं वाक्यगर्भितम्॥
द्वे भिन्नलिङ्गवचने द्वे च न्यूनाधिकोपमे।
भग्नच्छन्दोयती च द्वे अशरीरमरीतिमत्॥
वाक्यस्यैते महादोषाः षोडशैव प्रकीर्तिताः। वही १.१८–२०

२५. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
खिन्नं चैवातिमात्रं च परुषं विरसं तथा॥
हीनोपमं भवेच्चान्यदधिकोपममेव च।
असदृशोपमं चान्यदप्रसिद्धोपमं तथा॥
निरलंकारमश्लीलं विरुद्धमिति षोडश।
उक्ता वाक्यर्थजा दोषाः॥ वही १.४४–४६

२६. मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः। का० प्र० ७.४६

दोष हैं[२७]। मम्मट का कथन है कि इनमें से अप्रयुक्त आदि कतिपय दोष यद्यपि असमर्थ के ही भेद ठहरते हैं, तो भी अन्य आलंकारिकों का अनुसरण करते हुए तथा असमर्थ के भी भेद होने से उदाहरण तो देने ही होंगे, इस कारण पृथक् प्रदर्शित कर दिये हैं।[२८]

वाक्यदोष—उपर्युक्त दोषों में से च्युतसंस्कृति, असमर्थ तथा निरर्थक इन तीन को छोड़कर शेष १३ दोष वाक्य में भी होते हैं[२६]। इनके अतिरिक्त निम्न २१ दोष भी वाक्यगत होते हैं, जो केवल वाक्य के ही दोष हैं, अन्यों के नहीं। प्रतिकूलवर्ण, उपहतविसर्ग, लुप्तविसर्ग, विसन्धि, हतवृत्त, न्यूनपद, अधिकपद, कथितपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्तपुनरात्त, अर्धान्तरैकवाचक, अभवन्मतयोग, अनभिहितवाच्य, अपदस्थपद, अपदस्थसमास, संकीर्ण, गर्भित, प्रसिद्धिहत, भग्नप्रक्रम, अक्रम तथा अमतपरार्थ[३०]।

पदांशदोष—परिगणित १६ पददोषों में से ही कुछ पदांश के भी दोष होते हैं[३१], यह कहकर मम्मट ने श्रुतिकटु, निहतार्थ, अवाचक, त्रिविध अश्लील सन्दिग्ध तथा नेयार्थ इन सात के पदांशगत उदाहरण दिये हैं। अतः पदांशगत दोष ये सात ही मम्मट को अभिप्रेत प्रतीत होते हैं।

अर्थदोष—निम्न निर्दिष्ट २३ दोष मम्मट ने अर्थगत प्रतिपादित किये हैं। अपुष्ट, कष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, सन्दिग्ध, निर्हेतु, प्रसिद्धिविरुद्ध, विद्याविरुद्ध, अनवीकृत, सनियमपरिवृत्त, अनियमपरिवृत्त, विशेषपरिवृत्त, अविशेषपरिवृत्त, साकांक्ष, अपदयुक्त, सहचरभिन्न, प्रकाशितविरुद्ध, विध्ययुक्त, अनुवादायुक्त, व्यक्तपुनःस्वीकृत तथा अश्लील[३२]।

रसदोष—रसदोष तेरह कहे गये हैं—व्यभिचारी, रस तथा स्थायीभावों की शब्दवाच्यता, अनुभावों और विभावों की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण, पुनः पुनः एक ही रस की दीप्ति, अकाण्ड में प्रथन या विच्छेद, अंगभूत का अतिविस्तार, अंगी की उपेक्षा, प्रकृतिविपर्यय, अनंग अर्थात् रस के अनुपकारक का वर्णन[३३]। रस-दोषों की संख्या, इन तेरह में ही परिसमाप्त है, यह मम्मट का आशय नहीं है, क्योंकि अन्त में उन्होंने स्वयं कह दिया है कि यह रस-दोषों के प्रकारमात्र का निर्देश है[३४]।

---

२७. वही ७.५०, ५१

२८. यद्यप्यसमर्थस्यैवाप्रयुक्तादयः केचन भेदास्तथाप्यन्यैरालङ्कारिकैर्विभागेन प्रदर्शिता इति भेदप्रदर्शनेनोदाहर्तव्या इति च विभज्योक्ताः। वही ७.५२ वृत्ति

२९. वही ७.५२

३०. वही ७.५३–५५

३१. पदस्यांशेऽपिकेचन। वही ७.५२

३२. वही ७.५५–५७

३३. वही ७.६०–६२

३४. रसे दोषाः स्युरीदृशाः। ईदृशा इति नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम्। वही ७.६२ तथा वृत्ति

यह संक्षेप से जयदेव से पूर्ववर्ती प्रमुख आलंकारिकों की दोषविचारणा उपस्थित की गई है, जिसके प्रकाश में जयदेव का दोषविचार देखा जा सकता है।

जयदेव का दोषनिरूपण

दोष का स्वरूप—जयदेव ने दोष का स्वरूप निम्न कारिका में प्रकट किया है—

स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता।
शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम् ॥ च० २.१

जो चित्त में प्रविष्ट होकर रमणीयता की क्षति करे उसे दोष कहते हैं, तथा वह शब्द और अर्थ में झलकता है। यहाँ रमणीयता का आशय है काव्य से उत्पन्न होने वाली चमत्कारिता[३५]। जयदेव ने काव्य द्विविध माना है—ध्वनि तथा गुणीभूत-व्यंग्य। इनमें वस्तु, अलंकार एवं रसादि की व्यंजना से सहृदय को चमत्कार का अनुभव हुआ करता है। उस चमत्कारानुभूति में जो वाधा डाले, वह दोष है। मम्मट एवं विश्वनाथ के दोषलक्षणों[३६] की अपेक्षा जयदेव का यह दोषलक्षण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें केवल रसध्वनि काव्य के ही दोष नहीं, प्रत्युत सभी काव्यों के दोष अन्तर्भूत हो जाते हैं। राकागम तथा रमा टीकाओं में जयदेव के इस दोषलक्षण का यह अभिप्राय लिया गया है कि जो अर्थ या रस का प्रतिबन्धक हो वह दोष है[३७]। जयदेव ने दोष को वामनादि के विरुद्ध एवं मम्मटादि के अनुरूप गुण-विपर्ययात्मक न मानकर भावात्मक माना है।

दोषों का वर्गीकरण—जयदेव ने दोषों के दो ही भेद कहे हैं—शब्दगत एवं अर्थगत। इनमें शब्दगत पद, पदांश, वाक्य, वाक्यांश तथा वाक्यसमूह के भेद से पंचविध है। गागाभट्ट 'शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं' के 'च' पद से रसदोष तथा अलंकार-दोषों का भी ग्रहण कर लेते हैं[३८]। परन्तु रमाटीकाकार इसके विरुद्ध हैं, तथा वे 'च' पद को शब्द और अर्थ का समुच्चयबोधक ही मानते हैं, रसादिदोषों का ग्राहक नहीं[३९]। वस्तुतः जयदेव को शब्दगत एवं अर्थगत दो ही भेद अभिप्रेत प्रतीत होते हैं, क्योंकि रसदोषों की इन्होंने कहीं चर्चा नहीं की। सब दोषों का प्रतिपादन करने के उपरान्त ये लिखते हैं—

---

३५. रमणीयता द्राक् अर्थरसाद्यभिव्यञ्जकता। रमा०

३६. मुख्यार्थहतिर्दोषः, का० प्र० ७.४९। रसापकर्षका दोषाः, सा० द० ७.१

३७. द्राक् अर्थरसाद्यन्यतरधीप्रतिबन्धकत्वं तदवच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेषो वा दोषत्वमिति भावः। रमा०

३८. चकाराद् रसेऽलंकारे च। राकागम०

३९. चाद् रसालंकारयोः समुच्चय इति कश्चित्। वस्तुतश्चो मिथ एव समुच्चायको न रसादेः। तथा च शब्दार्थगतत्वेन दोषद्वैविध्यमत एव लक्षणसङ्गतिरपीति बोध्यम्। रमा०

पदे तदंशे वाक्यांशे वाक्ये वाक्यकदम्बके ।
यथानुसारमभ्यूहेद् दोषान् शब्दार्थसम्भवान् ॥ च० २.३६

यहां भी रसगत दोषों का कोई उल्लेख नहीं है। इनसे पूर्व मम्मट सुविशद रूप से रसदोष निरूपण कर चुके थे, फिर भी इनके द्वारा रसदोष का नामोल्लेख तक न किया जाना इसी बात का सूचक है कि ये रसदोषों को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं समझते, जैसे मम्मट आदि ने अलंकारदोषों को पृथक् स्वीकार नहीं किया है। यह प्रतीत होता है कि रस के समुचित निरूपण से, जैसा कि आनन्दवर्धन ने किया है, काव्य में रस का त्रुटिपूर्ण प्रयोग नहीं होना चाहिए यह स्वतः सिद्ध हो जाता है, अतः पृथक् रसदोषों की कल्पना जयदेव को स्पृहणीय प्रतीत नहीं हुई।

उक्त दोषों में कुछ दोष नित्य होते हैं, कुछ अनित्य[४०]। जो हर अवस्था में दोष रहते हैं ऐसे च्युतसंस्कृति आदि दोष नित्य दोष हैं। इसके विपरीत ग्राम्यत्व आदि अनित्य दोष हैं, यतः वे हास्यरसादि में गुण हो जाते हैं।

पदादिगत दोष—चन्द्रालोक में पद, पदांश आदि के दोष विभागशः उनका नाम लेकर वर्णित नहीं हुये हैं। सब दोषों को क्रमशः लक्षित तथा उदाहृत कर अन्त में कह दिया गया है कि कौन-कौन किस-किस के दोष हैं, यह यथानुसार समझ लें। तदनुसार यहां दोष व्याख्यात किये जा रहे हैं।

(१) **श्रुतिकटु**—(पद, पदांश, वाक्य)। कर्णोद्वेजक वर्ण प्रयुक्त हों तो श्रुतिकटु दोष होता है—भवेच्छ्रुतिकटुर्वर्णः श्रवणोद्वेजने पटुः (च० २.२)[४१]। यह दोष पद, पदांश, वाक्य, वाक्यांश, वाक्यसमूह सबमें हो सकता है। यथा उक्त लक्षण में ही 'भवेच्छ्रुतिः' यहां च्, छ्, र् वर्णों का संयोग कर्णोद्वेजक होने से पदांशगत श्रुतिकटुत्व है। मम्मट ने पदांशगत श्रुतिकटुत्व के उदाहरण 'अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात्' तथा 'तद् गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यम्' दिये हैं, जिनमें क्रमशः त्वात् तथा द्ध्यै पदांश श्रुतिकटु हैं। यहां जयदेव ने केवल पदांशगत का उदाहरण दिया है। पदादिगत के उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। मम्मट ने पदगत तथा वाक्यगत श्रुतिकटु के क्रमशः निम्न उदाहरण दिये हैं—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥
सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनतार्प्सीत् सममंस्त बन्धून्।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च ॥

४०. द्रष्टव्य : दोषांकुशप्रकरण, २.४०–४४

४१. राकागम टीका में श्रुतिकटु की व्याख्या इस प्रकार की है—श्रुतिकटुत्वं कठिनवर्णत्वम्। तच्च शब्दश्रवणोत्तरार्थावगमप्राक्कालीनदुःखविशेषजनकशब्दवत्त्वमित्यर्थः।

श्रुतिकटु दोष को ही वामन तथा भोज ने कष्ट नाम से अभिहित किया है[४२]।

२. **च्युतसंस्कृति (पदगत)**। व्याकरणविरुद्ध प्रयोग करने पर च्युतसंस्कृति दोष होता है—संविन्दते[४३] व्याकरणविरुद्धं च्युतसंस्कृति (च० २.२)। यह दोष केवल पदगत ही होता है। प्रस्तुत लक्षण में 'जानन्ति' इस अर्थ में 'संविन्दते' यह व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग है, क्योंकि 'समोगम्यृच्छि-प्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः'[४४], इस सूत्र से सं पूर्वक अकर्मक विद् धातु में ही आत्मनेपद होता है, जब कि यहां सकर्मक है। इसके कुछ अन्य उदाहरण निम्न हैं—

भोज : भूरिभारभराक्रान्त बाधति स्कन्ध एष ते।

मम्मट : दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः।

विश्वनाथ : गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्या-
माजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः।

३. **अप्रयुक्त**—(पद, वाक्य)। व्याकरण, कोशादि शास्त्र से संमत होते हुए भी कवियों द्वारा जो अप्रयुक्त है, उसका प्रयोग करने पर अप्रयुक्त दोष होता है—

अप्रयुक्तं दैवतादिशब्दे पुंल्लिङ्गतादिकम् च० २.३[४५]।

यह दोष पद तथा वाक्य एवं वाक्यसमूह में संभव है। यथा दैवत शब्द यद्यपि कोश[४६] द्वारा पुल्लिग तथा नपुंसकलिग दोनों में संमत है, तथापि कविसम्प्रदाय में इसका पुल्लिग में प्रयोग नहीं होता, अतः वैसा प्रयोग करना दोष है। मम्मट ने इसके पदगत तथा वाक्यगत उदाहरण निम्न दिये हैं—

पदगत : यथायं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथवा॥

वाक्यगत : स रातु वो दुश्च्यवनो भावुकानां परम्पराम्।
अनेडमूकताद्यैश्च द्यतु दोषैरसम्मतान्॥

वाक्यसमूहगत अप्रयुक्त का भोजप्रदत्त निम्न उदाहरण हो सकता है, यद्यपि भोज ने इस दोष को वाक्यगत में परिगणित नहीं किया तथा यह उदाहरण पदगत का ही दिया है—

कामचीकमथाः केऽमी त्वामजिह्वायकीयिषन्।
स सस्ति किं बचन्तीमे कम्बः शम्बं घरिष्यति॥

---

४२. श्रुतिविरसं कष्टम्। काव्यालं० सू० २.१.६, पदं श्रुतेरसुखदं कष्टमित्यभि-शब्दितम् सर० कण्ठा० १.८

४३. अन्यत्र 'संविद्रते' पाठ मिलता है। वेतेविर्भाषेति रुडागमः—राकागम।

४४. पा० १.३.२९

४५. कविभिर्न प्रयुक्तं यदप्रयुक्तं तदुच्यते। सर० कण्ठा० १.७
अप्रयुक्तं तथाम्नातमपि कविभिर्नादृतम्। का० प्र०

४६. दैवतानि पुंसि वा। अमर० १.९

४. असमर्थ (पदगत)। जो पद किसी अर्थ में पठित होने पर भी अप्रचलन के कारण उस अर्थ को बताने में समर्थ न हो, उसका प्रयोग करना असमर्थं दोष कहलाता है[४७], जैसे गमन अर्थ में हन् धातु को प्रयुक्त करना।

असमर्थं तु हन्त्यादेः प्रयोगो गमनादिषु।

स हन्ति हन्त कान्तारे कान्तः कुटिलकुन्तलः॥ च० २.३,४

'हन् हिंसागत्योः' इस धातुपाठ के अनुसार हन् धातु हिंसा तथा गत्यर्थ में पठित होने पर भी केवल हिंसा अर्थ को ही अभिहित करने में समर्थ है। अतः 'स हन्ति हन्त कान्तारे' आदि में गमन अर्थ में हन्ति का प्रयोग असमर्थदोषदुष्ट माना जाता है। असमर्थ केवल पदगत दोष माना गया है, मम्मट ने इसके वाक्यगतत्व का निषेध किया है[४८]।

यद्यपि यह असमर्थ दोष पूर्वोक्त अप्रयुक्त के ही अन्तर्गत हो सकता है, तथापि दोनों में भेद यह है कि अप्रयुक्तत्व तो एकार्थशब्दनिष्ठ होता है तथा असमर्थत्व अनेकार्थशब्दनिष्ठ[४९]। जैसे अप्रयुक्त के पूर्वोक्त उदाहरण 'दैवत' शब्द का अर्थ एक ही है, तथा असमर्थ का उदाहरण 'हन्ति' पद द्व्यर्थक है।

भोजकृत असमर्थ का लक्षण यह है—असंगतं पदं यत् तदसमर्थमिति स्मृतम् (सर० कण्ठा० १.१०)। उनका उदाहरण निम्न है, जिसमें जलधर, वारिधि, बृंहित तथा ह्रेषते पद क्रमशः समुद्र, मेघ, अश्व-ध्वनि तथा वृषभ-ध्वनि के लिए प्रयुक्त हुए हैं, जो उन अर्थों में संगत नहीं हैं—

जलं जलधरे क्षारमयं वर्षति वारिधिः।

इदं बृंहितमश्वानां ककुद्मानेष ह्रेषते॥

५. निहतार्थ (पद, वाक्य)। कोई द्व्यर्थक शब्द यदि अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त किया जाये तो निहतार्थ दोष होता है[५०], यथा शोणित शब्द को लाल अर्थ में प्रयुक्त करना—निहतार्थं लोहितादौ शोणितादिप्रयोगतः (च० २.४)। शोणित शब्द के दो अर्थ हैं, रुधिर और लाल, परन्तु लाल अर्थ अप्रसिद्ध है। प्रसिद्धि प्राप्त रुधिर अर्थ अप्रसिद्ध लाल अर्थ को निहत कर देता है। शोणित शब्द के प्रयोग का ही मम्मट ने निम्न उदाहरण दिया है—

यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन।

मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा॥

काव्यप्रकाश में इस दोष के वाक्यगतत्व का उदाहरण निम्न है—

सायकसहायबाहोर्मकरध्वजनियमितक्षमाधिपतेः।

अब्जरुचिभास्वरस्ते भातितरामवनिप श्लोकः॥

---

४७. असमर्थं यत् तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः। का० प्र०

४८. अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्। का० प्र० ७.५२

४९. अप्रयुक्तत्वमेकार्थशब्दविषयम्, असमर्थत्वमनेकार्थविषयम्। सा० द०

५०. निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम्। का० प्र०

निहतार्थ तथा असमर्थ में अन्तर यह है कि निहतार्थ में विलम्ब से अर्थोपस्थिति होती है, जब कि असमर्थ में अर्थोपस्थिति सर्वथा होती ही नहीं[51]। विश्वनाथ इनमें यह अन्तर बताते हैं कि किसी शब्द का ऐसे अर्थ में प्रयोग किया जाये, जिसमें उसे कभी प्रयुक्त किया ही नहीं जा सकता, तब असमर्थ दोष होता है, और उस शब्द का उस अर्थ में विरल प्रयोग होता हो, अर्थात् कहीं श्लेषादि में प्रयोग संभव हो तो निहतार्थ होता है[52]।

६. **अनुचितार्थ** (पद, वाक्य)। जहां किसी अनुचित अर्थ का व्यंजक पद प्रयुक्त किया जाये वहां अनुचितार्थ दोष होता है।

व्यनक्त्यनुचितार्थं यत् पदमाहुस्तदेव तत्।
इयमद्भुतशाख्यग्रकेलिकौतुकवानरी ॥ च० २.५

यहां उत्तरार्ध में उदाहरण है, जिसमें किसी कामिनी के विषय में यह कहा गया है कि यह अद्‌भुत रस रूपी वृक्ष के अग्रभाग पर क्रीडाकौतुक करने वाली वानरी है। यहां वानरीत्व के आरोप से कामिनी में वन्दरियों जैसी विरूपता है, इस अनुचित अर्थ की व्यंजना होने से पदगत अनुचितार्थ दोष है। वाक्यगत का मम्मटोक्त उदाहरण निम्न है—

कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि च **नग्नास्तव** विभो।
शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा ।
तथापि त्वत्कीर्तिर्भ्रमति **विगताच्छादनमिह** ॥

७. **निरर्थक** (पदगत)। जहाँ कवि अशक्तिवश केवल छन्दःपूर्ति के लिए तु, हि, च वै, खलु, किल आदि का प्रयोग करता है, वहाँ निरर्थक दोष होता है।

निरर्थकं तु हीत्यादि पूरणैकप्रयोजनम् ॥ च० २.६

भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में इसे अनर्थक नाम दिया है, तथा इसका निम्न उदाहरण दिया है जिसमें च, हि, वै, खलु तथा तु पद निरर्थक हैं—

विभर्ति य**श्च** देहार्धे प्रियामिन्दुं **हि** मूर्धनि।
स **वै** देवः **खलु** त्वां **तु** पुनातु मदनान्तकः॥

मम्मट[53] इस दोष को पदांशगत भी मानते हैं, जबकि विश्वनाथ[54] ने केवल पदवृत्ति माना है।

८. **अवाचक** (पद, पदांश, वाक्य)। जो पद आदि जिस अर्थ का वाचक न

---

५१. विलम्बेन प्रकृतार्थोपस्थापकत्वम् अस्य (निहतार्थस्य) दूषकताबीजम्। अतएव नासमर्थसङ्करः, तत्रार्थानुपस्थितेरेव दूषकताबीजत्वात्। रमा०

५२. इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम्। विरलप्रयोगे निहतार्थत्वम्। सा० द०

५३. "आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां······सन्तापितानां दृशाम्······कामं कुरङ्गेक्षणा" अत्र दृशामिति बहुवचनं निरर्थकं कुरङ्गेक्षणाया एकस्या एवोपादानात्। का० प्र०

५४. पदे परे निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा। सा० द० ७.४

हो उस अर्थ में उसे प्रयुक्त करना अवाचक दोष कहाता है, जैसे विदधत् के अर्थ में दधत् का प्रयोग ।

अर्थे विदधदित्यादौ दधदाद्यमवाचकम् ।।

धत्ते नभस्तलं भास्वानरुणं तरुणैः करैः ।

एकाक्षरं विना भूभ्रूक्ष्मादिकं खतलादिवत् ।। च० २.६, ७

'धत्ते नभस्तलं' आदि वाक्य इसका उदाहरण है, जिसमें विधत्ते (करोति) के अर्थ में धत्ते का प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार प्रयोगपरम्परा में एकाक्षर शब्दों में भू, भ्रू, क्ष्मा आदि के साथ तो तल, युग आदि संयुक्त किये जाते हैं, एवं भूतल, क्ष्मातल, भ्रूयुग, भ्रूलता आदि का व्यवहार होता है, परन्तु खतल आदि व्यवहृत नहीं होते । अतः आकाश आदि के अर्थ में खतल आदि अवाचक होने से तद्दोषदुष्ट माने जाते हैं ।

मम्मटानुसार यह दोष वाक्य तथा पदांश में भी होता है । वाक्यगत का उदाहरण निम्न दिया है, जिसमें प्राभ्रभ्राट्, विष्णुधाम, विषमाश्व, निद्रा तथा पर्ण शब्द क्रमशः प्रकृष्ट जलद, गगन, सप्ताश्व, संकोच तथा पत्र के अवाचक हैं—

प्राभ्रभ्राड्विष्णुधामाप्य विषमाश्वः करोत्ययम् ।

निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम् ।।

इसी प्रकार "चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः" यहाँ विजेयः में कृत्य-प्रत्यय क्त प्रत्यय के अर्थ का अवाचक होने से पदांशगत अवाचकत्व दोष है ।

९. **अश्लील** (पद, पदांश, वाक्य, अर्थ) । व्रीडाव्यंजक, जुगुप्साव्यंजक तथा अमंगलव्यंजक के भेद से अश्लील दोष त्रिविध होता है ।

अश्लीलं त्रिविधं व्रीडाजुगुप्सामंगलात्मना ।

आह्लादसाधनं वायुः कान्तानाशे भवेत् कथम् ।। च० २.८

'कान्ता के विरह में पवन आह्लाददायक कैसे हो सकता है' इस भाव को सूचित करने के लिए 'आह्लादसाधनं' आदि वाक्य प्रयुक्त किया गया है । यहाँ साधन शब्द पुरुषलिंग का व्यंजक होने से व्रीडाजनक, वायु शब्द अपानवायु का व्यंजक होने से जुगुप्साजनक तथा नाश शब्द मृत्यु का व्यंजक होने से अमंगलजनक है । अतः इस एक ही वाक्य में अश्लील के तीनों भेद आ गये । एवं सामान्य अश्लीलत्व की दृष्टि से यह वाक्यगत अश्लील का उदाहरण हुआ । एक ही पद दुष्ट होने पर पदगत होगा । यथा—'आह्लादकः समीरोऽयं कान्तानाशे भवेत् कथम्' यह अमंगलजनक पदगत अश्लील है । 'अतिपेलवम्', 'यः पूयते', 'तदभिप्रेतपदं समागतः' ये मम्मटप्रदत्त उदाहरण क्रमशः पदांशगत व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमंगलव्यंजक अश्लील के हैं । इस प्रकार पद, पदांश, वाक्य, वाक्यांश तथा महावाक्यगत पृथक्-पृथक् तीनों भेदों तथा उनके परस्पर सांकर्य से यह दोष अनेकविध हो सकता है । भोज ने अश्लील को ग्राम्य दोष[55] नाम दिया है तथा इसके कई भेद दर्शाये हैं । अर्थगत अश्लील का उदाहरण मम्मट तथा विश्वनाथ ने यह दिया है—

---

५५. अश्लीलामङ्गलघृणावदर्थं ग्राम्यमुच्यते । सर० कण्ठा० १.१४–१७

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥[५६]

१०. संदिग्ध (पद, पदांष, वाक्य) । जहाँ दो अर्थ निकल सकते हों, पर किसी एक अर्थ का निर्णायक हेतु विद्यमान न हो वहाँ संदिग्ध दोष होता है ।

स्याद् द्व्यर्थमिह संदिग्धं नद्यां यान्ति पतत्त्रिणः ॥ च० २.६

उदाहरणार्थ 'नद्यां यान्ति पतत्त्रिणः' इस वाक्य में 'पक्षी नदी में (नद्यां) जा रहे हैं' तथा 'पक्षी आकाश में नहीं (न द्यां) जा रहे हैं' इन दोनों अर्थों में से कौनसा अर्थ विवक्षित है, इसका सन्देह बना रहने से पदगत सन्दिग्ध दोष है । वाक्य में अनेक पद संदिग्धार्थक हों तो वाक्यगत दोष होगा । यथा 'नद्यां यान्ति पलाशिनः' यहाँ नद्यां के समान 'पलाशिनः' के भी दो अर्थ होंगे, वृक्ष तथा राक्षस । पदांशगत का 'अयं साधु-चरः' यह मम्मटप्रदत्त उदाहरण है, क्योंकि यहाँ 'चरः' इस पदांश के अर्थ में सन्देह है कि भूतपूर्व अर्थ में चरट् प्रत्यय है या चर् धातु से ट प्रत्यय होकर (साधुओं में) विचरने वाला यह अर्थ है । दण्डी ने इस दोष को 'ससंशय' कहा है ।

११. अप्रतीत (पद, वाक्य) । किसी सांख्य, योगादि शास्त्रविशेप से ही सम्बद्ध, अतएव उसी से वोध्य अर्थ वाले पद का काव्य में प्रयोग करना अप्रतीत दोष होता है ।

स्यादप्रतीतं शास्त्रैकगम्यं वीतानुमादिवत् ॥ च० २.६

जैसे 'वीत'[५८] यह अनुमान का एक भेद सांख्यशास्त्र में प्रसिद्ध है । काव्य में इसका प्रयोग करने पर सांख्यशास्त्र से अभिज्ञ सहृदय ही अर्थबोध कर सकेंगे, इतरों को अर्थप्रतीति नहीं होगी, अतः अप्रतीत दोष होगा । इसी प्रकार योगशास्त्रादि में प्रसिद्ध वासनाद्यर्थक आशयादि शब्दों के प्रयोग में यही दोप होता है । किसी वाक्य में अनेक पद ऐसे प्रयुक्त करने पर यही दोष वाक्यगत कहलायेगा, जिसका काव्यप्रकाश में निम्न उदाहरण है—

तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगताजुषः ।
दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः सः फलितः सखे ॥

१२. शिथिल (पद, पदांश, वाक्य) । जहाँ श्रवण तथा उच्चारण में शिथिलता प्रतीत हो वहाँ शिथिल दोष होता है ।

शिथिलं शमने लिल्ये मच्चित्तं ते शशिश्रियि ॥ च० २.१०

अर्थात् मेरा शिथिल चित्त तेरी चाँद सी सेज पर लीन हो गया है । उक्त वाक्य ही इस दोष का उदाहरण है । इसमें 'शशिश्रियि' पद में विशेष शिथिलता है । अन्य शयने, लिल्ये आदि पद भी अत्यन्त विजातीय होने से वन्ध में शैथिल्य प्रतीत

---

५६. अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीतिः । का० प्र०

५७. सन्दिग्ध अर्थगत भी होता है, जिसका उल्लेख आगे अर्थदोषप्रकरण में पुनः किया गया है ।

५८. अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम् । व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकम-वीतम् । सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ५

होता है। किसी ग्रंश में यह दोष श्लेषगुणाभाव रूप भी कहा जा सकता है[५९], क्योंकि श्लेष में सजातीय बन्ध भी सुखावह होता है[६०]। उक्त उदाहरण वाक्यगत शैथिल्य का है। एक ही पद शिथिल होने पर पदगत शैथिल्य एवं पदांश शिथिल होने पर पदांशगत शैथिल्य होगा। इस दोष का उल्लेख पूर्वाचार्यों ने पृथक् नहीं किया है। न ही उत्तरवर्ती विश्वनाथ ने इसे माना है। भोज ने ग्ररीतिमत् नामक काव्यदोष के ग्रन्तर्गत शैथिल्य की चर्चा की है[६१]।

१३. **ग्राम्य[६२] (पद, वाक्य)**। कविसम्प्रदाय में ग्रनादृत ग्राम्य शब्दों का प्रयोग करने पर ग्राम्य दोष होता है।

मस्तपिष्टकटीलोष्ठगल्लादि ग्राम्यमुच्यते ॥ च० २.१०

उदाहरणार्थ मस्त, पिष्ट, कटी, लोष्ठ एवं गल्ल शब्द क्रमशः उन्मत्त, चूर्णित नितम्ब, मृत्पिण्ड, तथा कपोल ग्रर्थों में ग्राम्य हैं। इनका प्रयोग ग्राम्य दोष होगा। यथा—कटिस्ते हरते मनः। वाक्यगत का काव्यप्रकाश में निम्न उदाहरण है—

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥

१४. **नेयार्थ (पद, पदांश, वाक्य)**। लक्षणा की ग्रतिमात्रा के कारण ग्रमनोहरता उत्पन्न होने पर नेयार्थ दोष होता है। यहाँ रूढि ग्रौर प्रयोजन के विना ही लक्षणा का प्रयोग किया जाता है[६३], तथा उसके लिए ग्रनेक शब्दों का ग्राश्रय लिया जाता है[६४]।

नेयार्थं लक्षणात्यन्तप्रसरादमनोहरम्।
हिमांशोर्हारधिक्कारजागरे यामिकाः कराः ॥ च० २.११

कवि यह कहना चाहता है कि कामिनी का हार चन्द्रमा से ग्रधिक सुन्दर है। उसे इस रूप में कहा है कि चन्द्रकिरणें उज्ज्वल मुक्ताहार से प्राप्त तिरस्कार के कारण होने वाले चन्द्रमा के जागरण में पहरेदार बनती हैं। यहाँ ग्रसुन्दरत्व ग्रर्थ वताने के लिए रूढि ग्रौर प्रयोजन के विना ही हार, धिक्कार ग्रादि पद प्रयुक्त किये गए हैं तथा वास्तविक ग्राशय वड़ी कठिनाई से उन्नेय होता है, ग्रतः नेयार्थ दोष है। मम्मट ने यह दोष पद, पदांश, वाक्य तीनों में माना है। पदांशगत का उदाहरण उसने देवता ग्रर्थ में गीर्वाण के स्थान पर 'वचोवाण' प्रयुक्त करना दिया है, जिसमें वचः इस पदांश में नेयार्थता है।

---

५९. तच्च श्लेषरूपगुणाभावः। राकागम

६०. स तु शाब्दः सजातीयैः शब्दैर्बन्धः सुखावहः। च० ४.१

६१. विपर्ययेण श्लेषस्य सन्दर्भः शिथिलो भवेत्। सर० कण्ठा० १.३१

६२. ग्राम्य ग्रर्थगत भी होता है, जिसका उल्लेख ग्रर्थदोषों के साथ पुनः किया जायेगा।

६३. लक्षणाया ग्रत्यन्तप्रसरः परम्परितत्वं निषिद्धलाक्षणिकत्वम्। रूढिप्रयोजनाभ्यां विना लक्षणा निषिद्धा, तद्वत्त्वम्। राकागम

६४. ग्रत्यन्तप्रसरश्च लक्षणाया बहुपदाश्रयणम्। धिक्कारजागरे यामिका इत्यनेन मनोहरत्वमात्रलाभात्। शरदागम

१५. क्लिष्ट (समासगत)। जहां अभीष्ट अर्थ लम्बी अर्थपरम्परा के बाद निकले वहां क्लिष्ट दोष होता है[६५]।

क्लिष्टमर्थो यदीयोऽर्थश्रेणिनिःश्रेणिमृच्छति।
हरिप्रियापितृवधूप्रवाहप्रतिमं वचः॥ च० २.१२

हरि की प्रिया लक्ष्मी, उसका पिता समुद्र, उसकी वधू गंगा, उस गंगा के प्रवाह के तुल्य वचन है। यहां गंगा रूप अभीष्ट अर्थ इतनी लम्बी अर्थ-परम्परा के पश्चात् सूचित हुआ है, अतः क्लिष्ट दोष है। यह दोष तथा इससे अगले अविमृष्ट-विधेयांश और विरुद्धमतिकृत् समासगत ही होते हैं।

मम्मट ने क्लिष्टान्वय होने पर वाक्यगत क्लिष्ट दोष भी माना है।

१६. अविमृष्टविधेयांश (समासगत)। यदि विधेय समास में पड़कर गौण हो जाये तो यह दोष होता है[६६]।

अविमृष्टविधेयांशः समासपिहिते विधौ।
विशन्ति विशिखप्रायाः कटाक्षाः कामिनां हृदि॥ च० २.१३

यहां 'विशिखवद् विशन्ति' यह अर्थ प्रवेश की तीव्रता बताने के लिए विवक्षित है। परन्तु 'विशिखप्रायाः कटाक्षाः' से कटाक्षों की बाणतुल्यतामात्र प्रतीत होती है, उनका हृदय में प्रवेश वाणप्रवेश के समान है, यह अभिप्राय सूचित नहीं होता। इसके स्थान पर 'विशिखप्रायं' कर दें, तो क्रियाविशेषण होने से अभीष्ट अर्थ सूचित हो जाएगा।

महिमभट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक में इस दोष का विस्तृत विवेचन किया है, जिससे मम्मट एवं विश्वनाथ ने भी सहायता ली है। तदनुसार यह दोष केवल विधेय के समासगत होने पर ही नहीं, अपितु अन्यत्र भी होता है। मम्मट के अनुसार 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' आदि में वाक्यरचना विपरीत होने के कारण यह वाक्यगत है।

१७. विरुद्धमतिकृत् (समासगत)। विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होने पर यह दोष होता है।

अपराधीन इत्यादि विरुद्धमतिकृन्मतम्॥ च० २.१४

जैसे 'अपराधीनः' यहां पराधीन नहीं (अ-पराधीनः) यह अर्थ विवक्षित होने पर भी दूसरे के अधीन (अपर-अधीनः) इस विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होने से यह दोष है। इस दोष के काव्यप्रकाश में कई उदाहरण दिये गये हैं। वाक्यगत का निम्न उदाहरण दिया है—

श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवालिङ्गितमूर्त्तयः।
विग्रहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतासुखाः॥

---

६५. मम्मट ने क्लिष्ट का यह लक्षण किया है—क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता। यह अधिक व्यापक है। इसकी अपेक्षा जयदेव का लक्षण सीमित है।

६६. तुलना : का० प्र०, अविमृष्ट : प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र।

१८. **अन्यसंगत (समासगत)**। कोई पद किसी अन्य का विशेषण हो, पर संगत किसी अन्य के साथ प्रतीत होता हो तो यह दोष होता है।

अन्यसङ्गतमुत्तुङ्गहारशोभिपयोधरौ ॥ च० २.१४

यहां उत्तुंग पद पयोधर का विशेषण होते हुए भी हार से सम्बद्ध प्रतीत हो रहा है। यह दोष भी इतर आचार्यों ने नहीं माना है। मम्मट के अनुसार यह विधेयाविमर्श में अन्तर्भूत हो सकता है। वाक्य में एकाधिक बार आने पर यह वाक्यगत होगा।

केवल वाक्यगत दोष

जयदेव-वर्णित दोषों में निम्नलिखित वीस केवलवाक्यगत दोष हैं—

१. प्रतिकूलाक्षर	११. पतत्प्रकर्ष
२. उपहतविसर्ग	१२. समासपुनरात्त
३. लुप्तविसर्ग	१३. अर्धान्तरपदापेक्षी
४. कुसन्धि	१४. अभवन्मतयोग
५. विसन्धि	१५. अस्थानस्थ-समास
६. हतवृत्त	१६. संकीर्ण
७. न्यून	१७. गर्भित
८. अधिक	१८. भग्नप्रक्रम
९. कथित	१९. अक्रम
१०. विकृत	२०. अमतार्थान्तर

इनमें कुसंधि तथा विकृत ये दो दोष जयदेव ने नवीन माने हैं। मम्मट-सम्मत दोषों में से अनभिहितवाच्य, अपदस्थपद तथा प्रसिद्धिहत जयदेव ने छोड़ दिये हैं। मम्मट ने केवल-वाक्यगत २१ दोष माने थे। उनमें से उक्त तीन दोष कम करके तथा दो नवीन बढ़ाकर जयदेवसम्मत २० दोष हो जाते हैं।

१. **प्रतिकूलाक्षर**—जो वर्ण जिस रस के अनुकूल नहीं हैं, उस रस में उन वर्णों का प्रयोग करना प्रतिकूलाक्षर नामक दोष कहलाता है।

रसाद्यनुचिते वर्णे प्रतिकूलाक्षरं विदुः।
न मामङ्गद जानासि रावणं रणदारुणम् ॥ च० २.१५

रावण अंगद को कह रहा है कि मुझ रणदारुण को जानते नहीं। यहां वीर रस है। नियमानुसार श्रृंगार में कोमल तथा वीरादि में ओजस्विनी रचना होनी चाहिये। किन्तु यहां वीर रस में उसके प्रतिकूल ङ्ग, र, ण, आदि कोमल वर्णों का प्रयोग होने से प्रतिकूलाक्षर दोष है। इससे रसाभिव्यक्ति में वाधा पहुंचती है। यहाँ वाक्य रसाभिव्यक्ति के प्रतिकूल होने से यह वाक्यगत दोष है। इतर रसों के उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। श्रृंगार रस के प्रतिकूल वर्णों का काव्यप्रकाश में निम्न उदाहरण दिया है—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम् ।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर ॥

२-३. उपहतविसर्ग तथा लुप्तविसर्ग—विसर्ग के ओत्व को प्राप्त हो जाने पर उपहतविसर्ग तथा लुप्त होने पर लुप्तविसर्ग दोष होता है। ये दोष तभी होते हैं जब प्रायः अनेक बार और कभी-कभी एक बार भी आकर विरसतापादक होते हों।

यस्मिन्नुपहतो लुप्तो विसर्ग इह तत्तथा ॥ च० २.१६

यही इनका उदाहरण है, जहाँ दो बार विसर्ग ओत्व को प्राप्त हुआ है तथा एक बार लुप्त। साहित्यदर्पण में इनके उदाहरण क्रमशः 'धीरो वरो नरो याति' तथा 'गता निशा इमा बाले' दिये हैं। वहाँ उपहतविसर्ग को आहतविसर्ग कहा है।

४-५. कुसन्धि तथा विसन्धि—जहां सन्धि करने से अश्लीलता या क्लिष्टता[67] आती हो वहां कुसन्धि तथा जहां सन्धि न करने से विरसता उत्पन्न होती हो वहां विसन्धि दोष होता है।

कुसन्धिः पटवागच्छ विसन्धिर्नृपती इमौ ॥ च० २.१६

'पटो आगच्छ' का सन्धिज रूप अश्लीलताव्यंजक होने से कुसन्धि का उदाहरण है। 'उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः, आदि में क्लिष्ट सन्धि के कारण कुसन्धि दोष है। विसन्धि दोष भी दो प्रकार का हो सकता है, एक वह जहाँ प्रकृति-भाव के कारण असन्धि सूत्र-प्राप्त है, दूसरा वाक्य में सन्धि विवक्षाधीन[68] होने के कारण स्वेच्छा से सन्धि न करना[69]।

'नृपती इमौ' यह प्रथम प्रकार का उदाहरण है। द्वितीय प्रकार का उदाहरण होगा—धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गतानि इत्थं सखीषु परिवारजने यथेष्टम्।

वामन[70] एवं तदनुसार मम्मट ने भी कुसन्धि तथा विसन्धि दो पृथक् दोष नहीं माने हैं। उनके 'विसन्धि' दोष में ही कुसन्धि के भी दोनों रूप आ जाते हैं।

---

६७. सन्धावश्लीलता क्लिष्टत्वं च कुसन्धित्वम्। राकागम.

६८. संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

६९. इस विषय में यह नियम है कि स्वेच्छा से सन्धि न करना एक बार भी दोष है, प्रगृह्यादि के कारण सन्धि न करना अनेक बार हो तभी दोष होगा—संहितां न करोमीति स्वेच्छया सकृदपि दोषः, प्रगृह्यादिहेतुकत्वे त्वसकृत्। का० प्र०। इस नियम का अनुसरण करें तो 'नृपती इमौ' में दोष नहीं है। दण्डी प्रगृह्यादि-हेतुक विसन्धि को किसी भी अवस्था में दोष नहीं मानते—

'न संहितां विवक्षामीत्यसन्धानं पदेषु यत्।
तद् विसन्धीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम् ॥ काव्या० ३,१५९।

भोज भी इसी मत के हैं—सर० कण्ठा० १.११३

७०. विरूपपदसन्धिर्विसन्धिः। पदसन्धिवैरूप्यं विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च ॥
काव्यालं० सू० २.२.७, ८

विश्वनाथ एक में ही तीनों का अन्तर्भाव न कर पृथक्-पृथक् तीन दोष मानते प्रतीत होते हैं[७१]।

६. **हतवृत्त**—लक्षण की दृष्टि से दोष न होने पर भी यदि छन्दोदोष प्रतिभासित होता हो तो हतवृत्त दोष कहलाता है।

हतवृत्तमनुक्तोऽपिच्छन्दोदोषश्चकास्ति चेत्।
विशाललोचने पश्याम्बरं तारातरङ्गितम्॥ च० २.१७

यहाँ 'पश्याम्वरं' में अश्रव्यता[७२] के कारण हतवृत्तत्व है।

मम्मट एवं तदनुरूप विश्वनाथ ने भी हतवृत्त के तीन भेद किये हैं—लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु तथा रसाननुगुणं वृत्तम्। चन्द्रालोक का उदाहरण इनमें से प्रथम भेद का है।

७-८. **न्यून तथा अधिक**—वाक्य में किसी पद की न्यूनता होने पर न्यून तथा अधिकता होने पर अधिक दोष होता है।

न्यूनं त्वत्खड्गसम्भूतयशःपुष्पं नभस्तटम्।
अधिकं भवतः शत्रून् दशत्यसिलताफणी॥ च० २.१८

'आकाश तट आपके खड्ग से उत्पन्न यशःपुष्प से युक्त हो गया है', यहाँ खड्ग में लतात्व का आरोप भी करना चाहिए था। अतः 'लता' पद न्यून होने से न्यूनदोष हुआ। वस्तुतः काव्यप्रकाशादि के अनुसार यहाँ न्यूनदोष न होकर एकदेशविवर्ति रूपक अलंकार होगा। काव्यप्रकाश में न्यूनपद का उदाहरण वेणीसंहार नाटक का 'तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पांचालतनयाम्' आदि श्लोक दिया है, जिसमें 'अस्माभिः' तथा 'इत्थं' पद न्यून हैं।

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्ध में 'असिलताफणी' में लता शब्द अनावश्यक होने से अधिक-पदत्व दोष है। इसी कोटि के उदाहरण 'स्फटिकाकृतिनिर्मलः' तथा 'पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी' हैं, जहाँ आकृति पद अधिक है।

९. **कथित**—वाक्य में शब्द पुनरुक्त होने पर कथित दोष होता है। यथा 'श्यामाब्जश्यामलोचना' में श्याम पद पुनरुक्त हुआ है। यहाँ 'श्यामाब्जलोचना' इतना ही पर्याप्त था, क्योंकि इसी से लोचनों का श्यामत्व सूचित हो जाता है।

कथितं पुनरुक्ता वाक् श्यामाब्जश्यामलोचना॥ च० २.१९

वस्तुतः यह उदाहरण अधिक-पद का होना चाहिये। कथित का उदाहरण यह तब हो सकता था यदि 'श्यामाब्जासितलोचना' कथन करने पर दोष न रहता। विश्वनाथप्रदत्त यह उदाहरण अधिक उपयुक्त है—रतिलीलाश्रमं भिन्ते सलीलमनिलोवहन्। 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च' आदि में कथित दोष नहीं माना जाता, यतः दोनों स्थानों पर 'ताम्र' न रखें तो भग्नप्रक्रमदोषापत्ति होती है।

---

७१. सन्धौ विश्लेषाश्लीलकष्टताः। सा० द० ७.६

७२. पश्याम्वरमित्यत्र छन्दोलक्षणाविरुद्धत्वेऽपि पूर्वस्वरेणोत्तरवकारे काचिदश्रव्यता भवति। राकागम.

१०. विकृत—प्रकृति-प्रत्ययादि के विकार से कोई अटपटा सा शब्द बन गया हो तो वाक्य में उसका प्रयोग करने पर विकृत दोष होता है।

विकृतं दूरविकृते[73]रैयरुः[74] कुञ्जराः पुरम्। च० २.१६

'ऐयरुः कुञ्जराः पुरम्' वाक्य में ऐयरुः पद यद्यपि व्याकरण से शुद्ध है, तथापि दूर तक विकार होते-होते क्लिष्ट सा बन गया है। अतः इसका प्रयोग दोषावह है। मम्मट, विश्वनाथ आदि इतर आचार्यों ने इसका पृथक् उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि कथंचित् यह अप्रयुक्त के अन्तर्गत हो सकता है। पर वस्तुतः इसमें अप्रयुक्तता की उतनी बात नहीं जितनी क्लिष्टता या विकृतता की है। अतः जयदेव इसे पृथक् दोष मानने के ही पक्षपाती हैं। जयदेव द्वारा इस दोष को माने जाने का मूल भरत का नाट्यशास्त्र ही प्रतीत होता है[75]।

११. पतत्प्रकर्ष—जहाँ अनुप्रासादि का प्रकर्ष उत्तरोत्तर हीन होता चले वहाँ पतत्प्रकर्ष दोष होता है।

पतत्प्रकर्षं हीनानुप्रासादित्वे यथोत्तरम्।
गम्भीरारम्भदम्भोलिपाणिरेष समागतः॥ च० २.२०

उदाहरणार्थ 'गम्भीरारम्भदम्भोलि' में जो मकार-भकार के अनुप्रास का प्रकर्ष था, वह 'पाणिरेष समागतः' में सहसा भग्न कर दिया गया। अतः उक्त दोष है। इसका विश्वनाथप्रदत्त उदाहरण निम्न है—

प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वालाविकटोरुसटाच्छटः।
श्वासक्षिप्तकुलक्ष्माभृत् पातु वो नरकेशरी॥

१२. समाप्तपुनरात्त—वाक्य का अन्वय समाप्त हो जाने पर पुनः कोई ऐसा विशेषण आदि दे देना जिससे कोई विशेषता उत्पन्न न होती हो, समाप्तपुनरात्त दोष कहलाता है।

समाप्तपुनरात्तं स्यादेष पीयूषभाजनम्।
नेत्रानन्दी तुषारांशुरुदेत्यम्बुधिबान्धवः॥ च० २.२१

यहाँ 'उदेति' पर वाक्यान्वय पूर्ण हो जाने के पश्चात् पुनः 'अम्बुधिबान्धवः' विशेषण दे दिया है। विशेषण के विशेषाधायक होने पर दोष नहीं होता। यथा—'अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनाम्' आदि में मुद्राभञ्जन विशेषण द्वारा मानिनी-

---

७३. शरदागम तथा रम टीका में 'दूरविकृतैः' पाठ है।

७४. दूरविकृतेर्महतो धातुप्रत्ययविकारादुत्पन्नम् जौहोत्यादिकत्वेन श्लुविकरणस्य ऋगतावित्यस्य श्लौ द्वित्वे उरदत्त्वे रेफलोपे अर्तिपिपर्त्योश्चेत्यभ्यासस्येत्वे, अभ्यासस्यासवर्णे इतीयङि सिजभ्यस्तविदिभ्यश्चेति जुसि, जुसि चेति गुणे, आडागमे, आटश्चेति वृद्धौ ऐयरुरिति लङि रूपम्। आपुरित्यर्थः। राकागम

७५. चेक्रीडितप्रभृतिभिर्विकृतैश्च शब्दै—
युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः॥ ना० शा० १७.१२७

मानखण्डनसमर्थत्व रूप विशेष अर्थ सूचित होने से[७६] दोष नहीं है। यह दोष अर्थगत भी होता है, जिसे मम्मट ने पृथक् 'त्यक्तपुनःस्वीकृत' के रूप में स्वीकार किया है। जयदेव ने अर्थदोष रूप में इसका पृथक् उल्लेख नहीं किया, अतः इसी में उसका अन्तर्भाव होगा।

१३. अर्धान्तरपदापेक्षी—जहाँ श्लोक का पूर्वार्द्ध उत्तरार्धगत किसी पद की अपेक्षा रखता हो, या उत्तरार्ध पूर्वार्धगत पद की अपेक्षा करे, उसके बिना वह असंगत प्रतीत हो तब उक्त दोष होता है।

अर्धान्तरपदापेक्षिक्रीडानृत्येषु सस्मितम्।
मोघारम्भं स्तुमः शम्भुमर्धरम्भोरुविग्रहम्॥ च० २.२२

अर्धनारीश्वर शिव का नृत्य में पार्वती साथ नहीं दे रही हैं। वे चरण उठाते हैं, पर पार्वती नहीं उठातीं। परिणामतः अपने प्रयत्न को विफल देख शिव मुस्कराने लगते हैं। यहां पूर्वार्द्ध का 'सस्मितम्' पद द्वितीयार्ध के 'मोघारम्भं' की अपेक्षा करता है, क्योंकि मुस्कराहट का कारण मोघारम्भता ही है।

मम्मट ने इस दोष को अर्धान्तरैकवाचक नाम दिया है, तथा उदाहरणस्वरूप राजशेखर का निम्न पद्य दिया है, जिसमें उत्तरार्धगत 'तद्' शब्द का सम्बन्ध पूर्वार्ध से है—

मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः।
तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः
पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च॥

१४. अभवन्मतयोग—अभीष्ट वाक्यान्वय संगत न होने पर यह दोष होता है।

अभवन्मतयोगः स्यान्न चेदभिमतोऽन्वयः।
येन बद्धोऽम्बुधिर्यस्य रामस्यानुचरा वयम्॥ च० २.२३

यहां 'येन बद्धः' आदि वाक्य में 'यस्य' के स्थान पर 'तस्य' रखने से ही वाक्यान्वय घटित हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः उक्त दोष है।

इस दोष का मम्मटप्रदत्त एक उदाहरण यह है, जिसमें अन्तिम चरण में यत् के साथ तत् और तदानीं के साथ यदा न होने से वाक्यान्वय घटित नहीं होता—

त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा—
मतः शेषं यत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया॥

१५. अस्थानस्थसमास—जहां समास उचित हो वहां न करके अस्थान में समास करना यह दोष कहलाता है।

द्विषां सम्पदमाच्छिद्य यः शत्रून् समपूरयत्।
अस्थानस्थसमासं न विद्वज्जनमनोहरम्॥ च० २.२४

---

७६. द्रष्टव्यः राकागम।

शत्रुओं की सम्पत्ति को छीन कर जिस राजा ने शत्रुओं को ही समृद्ध किया उसका यह अस्थान में सम्पत्तियों को रखना रूपी कृत्य विद्वज्जनों के मनों को रुचने वाला नहीं है। यहाँ पूर्वार्द्ध में वीररसोचित समास न करके उत्तरार्द्ध में, जहाँ आवश्यकता नहीं थी, किया गया है। अतः दोष है।

१६. संकीर्ण—भिन्न वाक्यों के पद यदि एक दूसरे में पड़ जायें तो संकीर्ण नामक दोष होता है।

मिथः पृथग्वाक्यपदैः संकीर्णं यत् तदेव तत्।
वक्त्रेण भ्राजते रात्रिः कान्ता चन्द्रेण राजते॥ च० २.२५

यहाँ 'वक्त्रेण भ्राजते कान्ता, रात्रिश्चन्द्रेण राजते' इन दो पृथक् वाक्यों के कान्ता तथा रात्रिपद एक-दूसरे में आ जाने से उक्त दोष है।

१७. गर्भित—जहाँ एक वाक्य दूसरे वाक्य के अन्दर प्रविष्ट हो जाये वहाँ गर्भित दोष होता है[77]। यथा—

ब्रह्माण्डं त्वद्यशः पूरगर्भितं भूमिभूषण।
आकर्णय पयः पूर्णसुवर्णकलशायते॥ च० २.६

यहां 'भूमिभूषण, आकर्णय' यह वाक्य दूसरे वाक्य में समाविष्ट हो गया है। गर्भित का मम्मटप्रदत्त एक उदाहरण निम्न है—

परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन॥

१८-१९. भग्नप्रक्रम तथा अक्रम—उद्देश्य रूप से आरम्भ किये हुए शब्द का प्रतिनिर्देश्य में निर्वाह न करना भग्नप्रक्रम दोष तथा वाक्य में किसी शब्द का क्रम ठीक न होने पर अक्रम दोष होता है।

भग्नप्रक्रमारब्धशब्दनिर्वाहहीनता।
अक्रमः कृष्ण पूज्यन्ते त्वामनाराध्य देवताः॥ च० २.२७

श्लोक के उत्तरार्ध में दोनों ही दोष आ गये हैं। 'पूज्यन्ते अनाराध्य' इस धातुभेद के कारण भग्नप्रक्रमता है। 'पूज्यन्ते त्वामसम्पूज्य' ऐसा पाठ कर देने पर दोष निराकृत हो सकता है। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि दोनों स्थानों पर एक ही धातु कर देने पर तो कथित दोष हो जायेगा, क्योंकि कथित दोष उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्य से अतिरिक्त स्थलों में होता है। इसी प्रकार 'हे कृष्ण' आपको बिना पूजे इतर देवों' की पूजा की जाती है, यह बात क्रमविरुद्ध है' इस अर्थ को सूचित करने के लिए 'इति अक्रमः' यह वाक्य के अन्त में आना उचित था, 'अक्रमः' को पूर्व रख देने से अक्रम दोष हो गया है[78]।

---

७७. गर्भितं यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति। का० प्र०

७८. शरदागम में यहां भग्नप्रक्रम तथा अक्रम दोनों ही दोष माने गये हैं। राकागम के अनुसार यहाँ केवल भग्नप्रक्रम दोष ही है, अक्रम आदि उसका उदाहरण है। रमा में विकल्प दिया है, तथा प्रथम कृष्ण की पूजा—तदनन्तर इतर देवों की पूजा इस शास्त्रीय क्रम के उल्लंघन के कारण अक्रम माना है।

मम्मट ने अक्रम के लिए कुमारसंभव का निम्न उदाहरण दिया है, जहां 'च' में अक्रम है, क्योंकि उसे 'त्वं' के पश्चात् होना चाहिए था—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।।

२०. **अमतार्थान्तर**—जहां अमुख्य अर्थ मुख्य अर्थ का विरोधी हो वहाँ अमतार्थान्तर दोष होता है, क्योंकि वह अमुख्य अर्थान्तर कवि को अभिमत नहीं होता ।

अमतार्थान्तरं मुख्येऽमुख्येनार्थे विरोधकृत् ।
त्यक्तहारमुरः कृत्वा शोकेनालिङ्गिताङ्गना ।। च० २.२८

यहाँ कवि का आशय यह है कि कामिनी हृदय से मोतियों का हार उतार कर शोक से आलिंगित अर्थात् शोकाभिभूत हो गई । एवं यह करुण रस का प्रसंग है । 'अशोकेन' इस प्रकार सन्धिच्छेद करने से दूसरा यह शृंगारपरक अर्थ भी सूचित हो रहा है कि शोकरहित नायक ने हार उतार कर अंगना का आलिंगन किया । यह शृंगारपरक अर्थ मुख्य करुण रस का विरोधी है । अतः उक्त दोष है[७९] ।

ये बीस केवल वाक्यगत दोष हुए । जयदेव ने मम्मटोक्त अनभिहितवाच्य, अपदस्थपद तथा प्रसिद्धिहत दोष इस कारण छोड़ दिये प्रतीत होते हैं, यतः ये क्रमशः न्यून, अक्रम तथा अप्रयुक्त दोषों के अन्तर्गत हो सकते हैं[८०] ।

अर्थगत दोष

जयदेव प्रतिपादित दोषों में निम्न १४ दोष अर्थगत हैं—

१. अपुष्टार्थ	८. अनौचित्य
२. कष्ट	९. प्रसिद्धिविरुद्ध
३. व्याहत	१०. विद्याविरुद्ध
४. पुनरुक्त	११. सामान्यपरिवृत्त
५. दुष्क्रम	१२. विशेषपरिवृत्त
६. ग्राम्य	१३. सहचराचारु
७. सन्दिग्ध	१४. विरुद्धान्योन्यसंगति

---

७९. गागाभट्ट ने अपनी राकागम टीका में इस उदाहरण को व्यभिचारिरसस्थायिभावों की शब्दवाच्यता, अनुभाव-विभावों की क्लिष्टकल्पना से व्यक्ति, प्रतिकूलविभावादि ग्रह तथा अनुचितवन्धता इन चार रसदोषों का भी उपलक्षण माना है, क्योंकि यहां शोक रूपी स्थायी भाव की शब्दवाच्यता है ।

८०. द्रष्टव्य : राकागम । अत्र काव्यप्रकाशेनानभिहितवाच्यतादूषणमुक्तम् । तन्नयूनपदान्तर्गतमिति चिन्त्यम् (कारिका २३) । अत्र काव्यप्रकाशे प्रसिद्धिहतत्वं दोषान्तरमुक्तम्······तस्याप्रयुक्तमध्येऽन्तर्भावान्मूलेऽनुक्तिः (कारिका २६) । इन्होंने जयदेवोक्त अस्थानस्थसमास को ही अस्थानस्थपद का भी उपलक्षण माना है—इदमुपलक्षणमस्थानस्थपदस्यापि । उदाहरणमपीदमेव (कारिका २४) ।

१. **अपुष्टार्थ**—जहाँ विशेषण से विशेष्य में कोई विशेषता सूचित न होती हो वहां अपुष्टार्थ नामक अर्थदोष होता है।

अपुष्टार्थो[८१] **विशेष्ये चेन्न विशेषो विशेषणात्।**
विशन्ति हृदयं कान्ताकटाक्षाः खञ्जनत्विषः॥ च० २.२९

यहाँ 'कान्ताकटाक्षाः' का विशेषण 'खञ्जनत्विषः' निष्प्रयोजन प्रतीत होता है, क्योंकि प्रवेश क्रिया की तीव्रता को वह सूचित नहीं करता। इसके स्थान पर 'बाण-संनिभाः' विशेषण कर दें तो दोष नहीं रहता। भोज ने इसे व्यर्थ दोष कहा है।

२. **कष्ट**—अर्थ का स्पष्ट बोध न होने पर कष्ट दोष होता है।

कष्टः स्पष्टाववोधार्थमक्षमो वाच्यसंनिभः। च० २.३०

यहाँ 'वाच्यसंनिभः' का सुनते ही प्रतीत होने वाला अर्थ है—वाच्यसदृश, पर वह असंगत है। वास्तविक अर्थ है 'वाचि असत्-निभः', शब्द में असत् तुल्य अथवा 'वाचि-अ-सं-नि-भः' जो शब्द में सम्यक् प्रकार शीघ्र भासित नहीं होता।[८२] ऊपर से देखने पर प्रतीत होता है कि शब्द में वह अर्थ ही नहीं। पर अभिप्रेत अर्थ वही होता है। यही इसका उदाहरण भी है।

इस उदाहरण में स्पष्टतः अर्थाविबोध न होने के कारण शब्दगत जटिलता है। मम्मट आदि ने अर्थकष्टत्व के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें शब्दों में कोई कठिनाई न होकर अभिप्रायबोध में ही कठिनाई है।

३. **व्याहत**—पूर्वापर के अर्थों में परस्पर विरोध होने पर व्याहत दोष होता है।

व्याहतश्चेद् विरोधःस्यान्मिथः पूर्वापरार्थयोः।
सहस्रपत्रमित्रं ते वक्त्रं केनोपमीयते॥ च० २.३०, ३१

यहाँ प्रथम मुख को कमलतुल्य बताकर भी फिर कहा है कि उसका कोई उपमान नहीं हो सकता। यह दोनों अर्थ परस्पर विरुद्ध होने से व्याहत हैं[८३]। वामन ने इस दोष को 'व्यर्थ'[८४] नाम दिया है।

४. **पुनरुक्त**—अर्थ की पुनरुक्ति होने पर पुनरुक्त दोष होता है।

कुतस्तत्रोपमा यत्र पुनरुक्तः सुधाकरः॥ च० २.३१

यहाँ प्रथम ही यह कह दिया गया है कि इस मुख की किसी से उपमा नहीं

---

८१. राकागम में 'अपुष्टोऽर्थो' पाठ है।

८२. आसत्त्यादिसत्त्वेऽपि विलम्बबोध्यत्वं कष्टत्वम्। वाच्यसन्निभ इति लक्षणम्। वाचि वचने न सम्यक् शीघ्रं निभासते इत्यर्थः। वाच्य-सदृश इति प्रतीते—रुक्तार्थबोधे विलम्बः। राकागम

८३. राकागम तथा रमा टीका में पूर्वापर विरोध की यह व्याख्या की है कि पूर्व अर्थ स्तुति या निन्दा रूप हो तथा अपर अर्थ उससे विपरीत हो तब व्याहत दोष होता है। यथा प्रस्तुत उदाहरण में कमल सादृश्य से मुख स्तुत्य है, वही स्तुति 'केनोपमीयते' कथन के पश्चात् निन्दा रूप प्रतीत होने लगती है।

८४. व्याहतपूर्वोत्तरार्थं व्यर्थम्॥ काव्यलं० सू० २.२.१०

हो सकती, इससे सभी उपमानों का निरास हो गया। पुनः यह कहना कि 'इसके सम्मुख चन्द्रमा भी व्यर्थ है' अर्थपुनरुक्ति ही है। वामन ने पुनरुक्त को एकार्थ कहा है[८५] तथा इस पर भी विचार किया है कि धनुर्ज्या, कर्णावतंस, मुक्ताहार आदि में पुनरुक्ति नहीं मानी जाती।

५-७. दुष्क्रम, ग्राम्य तथा सन्दिग्ध—क्रम अनुचित होने पर दुष्क्रम, अर्थ ग्राम्य होने पर ग्राम्य तथा प्रसंग के अभाव से किस अर्थ में परिणति हो इसका सन्देह होने पर सन्दिग्ध दोष होता है।

दुष्क्रम–ग्राम्य-सन्दिग्धास्त्रयो दोषाः क्रमादमी।
त्वद्भक्तः कृष्ण गच्छेयं नरकं स्वर्गमेव वा॥
एकं मे चुम्बनं देहि तव दास्यामि कञ्चुकम्।
ब्रूत किं सेव्यतां चन्द्रमुखीचन्द्रकिरीटयोः॥ च० २.३२, ३३

'हे कृष्ण, मैं आपका भक्त हूँ, नरक जाऊं या स्वर्ग', यहाँ कृष्णभक्त के लिये स्वर्ग अधिक संभावित तथा अभीष्ट होने से उसका पूर्वकथन करना उचित था। अतः क्रम विपरीत होने से दुष्क्रम है। 'एकं मे चुम्बनं देहि' आदि में ग्राम्य अर्थ है। शृंगार का प्रकरण है या शान्त रस का इसका ज्ञान न होने के कारण चन्द्रमुखी तथा चन्द्रशेखर में से किसका सेवन करना चाहिए, इसका सन्देह बना रहने से सन्दिग्ध दोष हुआ।

वामन ने दुष्क्रम को अपक्रम[८६] कहा है तथा उसे दो प्रकार का मानकर ये दो उदाहरण दिये हैं—'कीर्तिप्रतापौ भवतः सूर्याचन्द्रमसोः समौ' तथा 'तुरंगमथ मातङ्गं प्रयच्छास्मै मदालसम्'। सन्दिग्ध का यह उदाहरण दिया है— 'स महात्मा भाग्य-वशान्महापदमुपागतः'[८७] ग्राम्य दोष का वामन ने उल्लेख नहीं किया।

८. अनौचित्य—अयोग्य सम्बन्ध को अनौचित्य कहते हैं।

अनौचित्यं कीर्तिलतां तरङ्गयति यः सदाः। च० २.३४

यहाँ कीर्तिलता का तथा तरंगित होने सम्बन्ध अयोग्य है।[८८] 'कीर्तिलतां पल्लवयति' कहना उपयुक्त होता।

मम्मट ने तथा जयदेव से उत्तरवर्ती विश्वनाथ ने भी अर्थदोषों में इस दोष का उल्लेख नहीं किया है। वस्तुतः इस अनौचित्य को व्यापक रूप में लेना चाहिए। मम्मटोक्त विध्ययुक्त, अनुवादायुक्त आदि दोषों का इसमें समावेश हो सकता है, जिनका उल्लेख जयदेव ने नहीं किया है।

---

८५. उक्तार्थपदमेकार्थम्। काव्यालं० सू० २.२.११

८६. क्रमहीनार्थमप्रक्रमम्। वही २.२.२२

८७. किं भाग्यवशान्महापदमुपागतः, आहोस्विदभाग्यवशान्महतीमापदमिति संशयकृद् वाक्यं प्रकरणाद्यभावे सति। वही २.२.२०, वृत्ति

८८. अनौचित्यम् अयोग्यसम्बन्धः। कीर्तिलतायास्तरङ्गसम्बन्धायोग्यत्वात्। राकागम

९-१०. प्रसिद्धिविरुद्ध तथा विद्याविरुद्ध—कविसम्प्रदायविरुद्ध को प्रसिद्धिविरुद्ध तथा शास्त्रविरुद्ध को विद्या विरुद्ध दोष कहते हैं।

प्रसिद्धया[८९] विद्यया वापि विरुद्धं द्विविधं मतम्।
न्यस्तेयं पश्य कन्दर्प-प्रतापधवलद्युतिः।
केतकी शेखरे शम्भोर्धत्ते चन्द्रकलतुलाम्॥ च० २.३४, ३५

यहाँ प्रताप की धवलता कविसम्प्रदायविरुद्ध है। कविप्रसिद्धि में कीर्ति, हास आदि को ही धवल माना है, प्रताप को नहीं। इसी प्रकार केतकी पुष्प से शिवपूजन पुराणशास्त्र विरुद्ध है, क्योंकि शिवजी ने केतकी को शाप दिया था कि मेरे पूजन में तू निषिद्ध मानी जायेगी।

वामन ने लोकविरुद्ध एवं विद्याविरुद्ध नाम से विरुद्ध के दो भेद किये थे। देश, काल तथा स्वभाव से विरुद्ध को लोकविरुद्ध तथा कला, चतुर्वर्ग एवं शास्त्र से विरुद्ध को विद्याविरुद्ध कहा था[९०]। भोज ने प्रथम प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध तथा आगमविरुद्ध ये तीन भेद करके फिर इनमें से प्रत्येक के कई अवान्तर भेद किये थे[९१]। मम्मट ने उन सभी का समावेश प्रसिद्धिविरुद्ध तथा विद्या विरुद्ध में कर लिया। उसी का अनुसरण जयदेव ने किया है।

११-१२. सामान्यपरिवृत्ति तथा विशेष परिवृत्ति—सामान्य का विशेष में परिवर्तन सामान्यपरिवृत्ति तथा विशेष का सामान्य में परिवर्तन विशेषपरिवृत्ति दोष कहलाता है।

सामान्यपरिवृत्तिः स्यात् कुण्डलच्छविविग्रहा।
विशेषपरिवृत्तिः स्याद् वनिता मम चेतसि॥ च० २.३६

यहां पूर्वार्ध में सामान्य कनक के स्थान पर कनकालंकार विशेष कुण्डल का प्रयोग होने से सामान्यपरिवृत्ति तथा उत्तरार्ध में वल्लभा रूप विशेष के स्थान पर सामान्य वनिता प्रयुक्त करने से विशेषपरिवृत्ति दोष है।

१३-१४. सहचराचारु तथा विरुद्धान्योन्यसंगति—सहचरों की दृष्टि से अचारुता होने पर, अर्थात् उत्कृष्टों के सहचर निकृष्ट तथा निकृष्टों के सहचर उत्कृष्ट रखने पर सहचरारु दोष होता है। विरुद्धों की परस्पर संगति कर देने को विरुद्धान्योन्यसंगति दोष कहते हैं।

द्वौस्तः सहचराचारु-विरुद्धान्योन्यसंगती।
ध्वाङ्क्षाः सन्तश्च तनयं स्वं परं च न जानते॥
सरोजनेत्र पुत्रस्य मुखेन्दुमवलोकय।
पालयिष्यति ते गोत्रमसौ नरपुरन्दरः॥ च० २.३७, ३८

---

८९. कविप्रसिद्ध्येत्यर्थः। तेन कविप्रसिद्धिविरोध एव दोषो न लोकान्तरप्रसिद्धिविरोध इत्याशयः। राकागम

९०. काव्यालं० सू० २.२.२३, २४

९१. सर० कण्ठा० १.५४–५७

प्रथम उदाहरण में अनुत्कृष्ट काक तथा उत्कृष्ट सज्जनों को सहचर बना देने से सहचराचारु दोष है। द्वितीय में परस्पर विरुद्ध सरोज तथा इन्दु की संगति कर दी गई है, तथा इन्द्र का गोत्रपालन भी विरुद्ध है, इन्द्र तो गोत्रभित् कहलाता है। काव्यप्रकाश आदि में विरुद्धान्योन्यसंगति का उल्लेख नहीं है। राकागम तथा रमा टीका में कहा गया है कि इस दोष को ही काव्यप्रकाश में प्रकाशितविरुद्ध कहा है।[६२] पर काव्यप्रकाश एवं साहित्यदर्पण में जो प्रकाशितविरुद्ध के उदाहरण दिये गये हैं उन्हें देखते हुए इन दोनों दोषों में बहुत अन्तर है।

जयदेव ने उपर्युक्त १४ अर्थदोषों को ही लक्षित किया है, जबकि काव्यप्रकाश में २३ अर्थदोष वर्णित हुए हैं। जयदेव ने काव्यप्रकाशोक्त निर्हेतु, अनवीकृत, सनियम-परिवृत्त, अनियमपरिवृत्त, साकांक्ष, अपदयुक्त, प्रकाशितविरुद्ध, विध्ययुक्त, अनुवादा-युक्त, त्यक्तपुनःस्वीकृत तथा अश्लील इन ११ अर्थदोषों को छोड़ दिया है, तथा अनौ-चित्य और विरुद्धान्योन्यसंगति ये दो दोष अपनी ओर से नवीन सम्मिलित कर दिये हैं। परित्यक्त दोषों का उक्त दोषों में अन्तर्भाव इस प्रकार हो सकता है—निर्हेतु और साकांक्ष का न्यूनत्व में, अनवीकृतत्व का कथित में, सनियमपरिवृत्त एवं अनियम-परिवृत्त का सामान्यपरिवृत्ति तथा विशेषपरिवृत्ति में, अपदप्रयुक्त का व्याहत में, प्रकाशितविरुद्ध का विरुद्धमतिकृत में, विध्ययुक्त तथा अनुवादायुक्त का अविमृष्ट-विधेयांश या भग्नप्रक्रम में, त्यक्तपुनःस्वीकृत का समाप्तपुनरात्तत्व में तथा अश्लील[६३] का पूर्वोक्त अश्लील में।[६४]

जयदेव ने सब दोषों को प्रदर्शित करने के पश्चात् यह स्वयं कह दिया है कि उक्त दोषों को पद, पदांश, वाक्यांश, वाक्य, वाक्यसमूह तथा अर्थ में यथातथ समझ लें। अतः उदाहरण चाहे पद, वाक्यादि में से किसी एक का ही दिया हो तो भी यदि वह दोष अन्य में संभव है तो वैसा तर्कित कर लेना चाहिए। कई दोषों की जयदेव ने परिभाषाएँ नहीं दीं, केवल नाम तथा उदाहरण प्रदर्शित कर दिया है[६५] ऐसा प्रायः वहाँ किया है जहाँ नाम से ही लक्षण स्पष्ट हो जाता है।

दोषाङ्कुश

ऊपर जो काव्यदोष प्रदर्शित किये गये हैं उनमें से कुछ नित्य दोष हैं, कुछ अनित्य हैं। जो प्रत्येक स्थिति में दोष ही रहते हैं वे च्युतसंस्कृति आदि नित्य दोष हैं, तथा जो किसी अवस्था में दोष नहीं माने जाते वे श्रुतिकटुत्व, ग्राम्यत्व आदि दोष

६२. अयमेव प्रकाशितविरुद्ध इति काव्यप्रकाशोक्तिः। राकागम

६३. राकागम तथा रमा टीका में कहा गया है कि अश्लील अर्थ का दोष होता ही नहीं। कारिका ३८

६४. इनमें से कतिपय दोषों के अन्तर्भाव के लिए द्रष्टव्यः राकागम, कारिका ३५-३८

६५. यथा—विरुद्धमतिकृत्, कुसन्धि, विसन्धि, न्यून, अधिक, समाप्तपुनरात्त, अस्था-नस्थसमास, अक्रम, दुष्क्रम, ग्राम्य, सन्दिग्ध, अनौचित्य, सामान्यपरिवृत्ति, विशेष-परिवृत्ति, सहचराचारु, विरुद्धान्योन्यसंगति।

अनित्य दोष कहलाते हैं। ऐसी कौनसी स्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें किसी दोष का दोषत्व समाप्त हो जाता हो, इसका विचार जयदेव ने दोषाङ्कुश प्रकरण में किया है। इस विषय की चर्चा कई प्राचीन आलंकारिक भी अपने-अपने अलंकारग्रन्थों में कर चुके हैं।

सर्वप्रथम एतद्विषयक विचार का श्रेय **भामह** को है। इनका कथन है कि सन्निवेशविशेष से दोष भी शोभावह हो जाता है, जैसे पुष्पमाला के बीच-बीच में पिरोये हुए काले पत्ते उसके सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं[९६]। आश्रय के सौन्दर्य से असाधु भी सौन्दर्याधायक हो जाता है, जैसे कान्ता के मनोरम लोचनों में लगा मलिन काजल[९७]। उदाहरण देते हुए इन्होंने कहा है कि गण्ड शब्द यद्यपि श्रुतिकटु है, तथापि 'आपाण्डुगण्डमेतत्ते वदनं वनजेक्षणे' में पाण्डु के संसर्ग में वह साधु ही माना जाता है[९८]। इसी प्रकार भय, शोकादि में पुनरुक्त का भी अदोषत्व बतलाया है[९९]।

दण्डी ने ससंशय तथा पुनरुक्त में दोषापवाद का संकेत किया है। यथा, पुनरुक्त दोष के विषय में कहा है कि यदि अनुकम्पादि का अतिशय विवक्षित हो तो पुनरुक्त दोष न होकर गुण हो जाता है[१००]। **वामन** ने वाक्य तथा वाक्यार्थगत दोषों के विषय में कहा है कि ये सर्वत्र त्याज्य हैं, परन्तु गुणाभाव रूप शब्दार्थदोष सर्वत्र त्याज्य नहीं होते। उदाहरणार्थ पृथक्पदत्व रूप माधुर्य का अभाव दोष है, परन्तु वही वीर-रौद्रादि में गुण हो जाता है[१०१]। **रुद्रट** ने ग्राम्य, पुनरुक्त, असंगति तथा अयुक्ति नामक दोषों की विशेष अवस्थाओं में अदूषकता का उल्लेख किया है[१०२]। **महिमभट्ट** ने विधेयाविमर्श, पौनरुक्त्य आदि की दोषादोषता का विचार किया है[१०३]। **भोजराज** ने सरस्वतीकण्ठाभरण में विस्तार से इसका प्रतिपादन किया है कि कौन-कौन सा दोष कब-कब दोष न रहकर गुण हो जाता है[१०४]। इन्हें वे वैदोषित गुण या दोषगुण कहते हैं। **मम्मट** ने दोषों की अदोषता की तीन स्थितियाँ बताई हैं—१. कहीं दोष दोष नहीं रहता, जैसे ख्यात अर्थ में निर्हेतु दोष नहीं माना जाता एवं अनुकरण में सभी दोष

---

९६. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाविद्धमन्तराले स्रजामिव ॥ काव्यालं०, भा० १.५४

९७. किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ वही १.५५

९८. वही १.५६

९९. वही ४.१४

१००. काव्या० ३.१३७

१०१. एते वाक्यवाक्यार्थदोषास्त्यागाय ज्ञातव्याः। ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते। काव्यालं० सू० २.२.२४

१०२. काव्यालं०, रु० ६.२३, २६, ३८ तथा ११.१८–२३

१०३. व्यक्तिवि०, द्वितीय विमर्श।

१०४. सर० कण्ठा० ५.८६–१५६

दोष नहीं रहते। २. कहीं दोष गुण हो जाता है, यथा, रौद्रादि रस में कष्टत्व, ३. कहीं न दोष होता है, न गुण, जैसे रसविहीन काव्य में कष्टत्व[१०५]। प्रत्येक स्थिति के काव्यप्रकाश में कई-कई उदाहरण दिये गए हैं। इसी प्रकार रस दोषों के प्रसंग में भी दोषों की अदोषता तथा गुणावहता वर्णित की है[१०६]। जयदेव के उत्तरवर्ती **विश्वनाथ** ने भी विस्तार से दोषों की अदोषता पर विचार किया है[१०७]।

जयदेव ने अपने दोषांकुश प्रकरण में पूर्ववर्ती आचार्यों का एतद्विषयक विवेचन संक्षेप से प्रस्तुत कर दिया है। दोषांकुश नाम सर्वथा सार्थक तथा अतिशय उपयुक्त है। इसका लक्षण निम्न शब्दों में किया गया है—

दोषमापतितं स्वान्ते प्रसरन्तं विशृङ्खलम्।
निवारयति यस्त्रेधा दोषांकुशमुशन्ति तम्॥ च० २.४०

मम्मट के अनुसार इन्होंने भी इसके तीन भेद किये हैं—

१. दोष का गुण में परिवर्तित हो जाना—दोषे गुणत्वं तनुते। उदाहरणार्थ 'श्वेत दाढ़ी-मूंछों के बाल रूपी किरणों से मुख चन्द्रमा की शोभा को धारण कर रहा है' यह ग्राम्योक्ति है। परन्तु हास्यरस का प्रसंग होने से यह कथन गुण बन गया है।

मुखं चन्द्रश्रियं धत्ते श्वेतश्मश्रुकरांकुरैः।
अत्र हास्यरसोद्देशे ग्राम्यत्वं गुणतां गतम्॥ च० २.४२

२. दोष में दोषत्व हट जाना—दोषत्वं वा निरस्यति। यथा, 'हे चन्द्र, क्षीर-सागर से उत्पन्न तुममें कलंक कहाँ से आ गया,' इस उक्ति में विद्याविरुद्धता है, क्योंकि पुराणशास्त्र के अनुसार कलंक तो अत्रि के नेत्र से उत्पन्न चन्द्र में है, न कि क्षीर-सागर से उत्पन्न चन्द्र में। परन्तु कविसम्प्रदाय में दोनों चन्द्र समान समझे जाते हैं, तथा दोनों में ही कलंक माना जाता है। अतः कविसमय के कारण यहां विद्याविरुद्धत्व दोष नहीं माना जाता।

तव दुग्धाब्धिसंभूतेः कथं जाता कलङ्किता।
कवीनां समयाद् विद्याविरुद्धोऽदोषतां गतः॥ च० २.४३

३. विद्यमान दोष का अत्याज्य ठहरना—भवन्तमथवा दोषं नयत्यत्याज्यता-मसौ। यथा, 'दधार गौरी हृदये' आदि अधोनिर्दिष्ट वाक्य में निरर्थक 'हि' पद के प्रयोग के कारण निरर्थकत्व दोष है। पर पार्वती ने मकराङ्कित (कामदेव) को तथा हिमकराङ्कित (चन्द्रशेखर शिव) को हृदय में धारण किया इस श्लेष के कारण वह अपरिहार्य है, क्योंकि उसके बिना श्लेष घटित ही नहीं हो सकता।

---

१०५. ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टताऽनुकरणे तु सर्वेषाम्।
वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचित्तोभौ॥ का० प्र० ७.५९

१०६. न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित्।
सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा॥ वही ७.६२

१०७. सा० द० ७.१९–३२

दधार गौरी हृदये देवं हिमकराङ्कितम् ।
अत्र श्लेषोदयान्नैव त्याज्यं हीति निरर्थकम् ।। च० २.४४

मम्मट ने तृतीय भेद किया था—न दोष रहना, न गुण होना। उसी को जयदेव ने विद्यमान दोष की अत्याज्यता कहा है। अत्याज्य का भाव है श्लेषादि के निमित्त उसका उपादेय होना। उपादेय वह इस रूप में होता है कि न उसके प्रयोग से दोष आता है, न ही कोई गुण या चमत्कारविशेष उत्पन्न होता है। भोज का अनुसरण करें तो उक्त उदाहरण प्रथम भेद का होगा, क्योंकि वे यमकादि में अनर्थक दोष को गुण मानते हैं[१०८], और यमकादि में श्लेष को भी सम्मिलित किया जा सकता है।

२. लक्षण

सामान्य विचार

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में गुणों तथा अलंकारों के अतिरिक्त ३६ लक्षणों का भी वर्णन किया है, जिनके सम्बन्ध में इन्होंने लिखा है कि काव्यबन्ध ३६ लक्षणों से युक्त करने चाहियें[१०९]। सत्रहवें अध्याय के आरम्भ में इन्होंने ३६ लक्षणों की सूची देकर प्रत्येक लक्षण की परिभाषा लिखी है, यद्यपि उदाहरण नहीं दिए। इस लक्षणसूची के दो पाठ मिलते हैं, एक पाठ उपजाति छन्द में है, दूसरा अनुष्टुप् छन्द में। दोनों सूचियों में पठित ३६ लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

उपजाति सूची—विभूषण, अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान, गुणकीर्तन, प्रोत्साहन, उदाहरण, निरुक्त, गुणानुवाद, अतिशय, हेतु, सारूप्य, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, पदोच्चय, आक्रन्द, मनोरथ, आख्यान, याच्ञा, प्रतिषेध, पृच्छा, दृष्टान्त, निर्भासन, संशय, आशीः, प्रियोक्ति, कपट, क्षमा, प्राप्ति, पश्चात्ताप, अर्थानुवृत्ति, उपपत्ति, युक्ति, कार्य, अनुनीति, परिदेवन।

अनुष्टुप् सूची—भूषण, अक्षरसंघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्त, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दिष्ट, उपदिष्ट, विचार, विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, पृच्छा, सारूप्य, मनोरथ, लेश, संक्षोभ, गुणकीर्तन, अनुक्तसिद्धि, प्रियवचन।

दोनों सूचियों में भूषण, अक्षरसंहति, शोभा, उदाहरण आदि १७ लक्षण समान हैं, शेष में अन्तर है। अभिनवगुप्त ने उनमें से भी कुछ का एक-दूसरे में अन्तर्भाव करने का यत्न किया है। उत्तरवर्ती आलंकारिकों में लक्षणों का पृथक् निरूपण करने वाले आचार्य अंगुलिगण्य ही हैं। भोजराज ने शृंगारप्रकाश में नाटक में प्रयुक्त किये

---

१०८. यत्पादपूरणाद्यर्थमनर्थकमुदाहृतम् ।
गुणत्वमनुमन्यन्ते तस्यापि यमकादिषु ।। सर० कण्ठा० १.९३

१०९. काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः । ना० शा० १५.२२७

जाने वाले ६४ लक्षणों का वर्णन किया है[११०]। शारदातनय ने ५४ लक्षण निरूपित किये हैं[१११]। शिंगभूपाल लक्षण-विवेचन में प्रायः भरत का ही अनुसरण करते हैं[११२]। कविराज विश्वनाथ भी लगभग भरत के ही अनुसार ३६ लक्षणों का प्रतिपादन करते हैं[११३]।

लक्षणों के स्वरूप तथा गुणालंकारादि से इनके अन्तर के विषय में ऐकमत्य नहीं है। अभिनवभारती में इनके स्वरूपविवेचन के सम्बन्ध में दस पक्षों का उल्लेख किया गया है। सामान्य अन्तर यह है कि लक्षण काव्यशरीर से अपृथक् सिद्ध रहते हैं तथा उसी प्रकार काव्य के शोभावर्धक होते हैं जैसे किसी महापुरुष के पद्मरेखादि चिह्न, जबकि अलंकारादि काव्यशरीर मे पृथक् रहकर उसके सौन्दर्यवर्धक होते हैं। अलंकार तथा गुणों से लक्षणों का भेद अभिनवगुप्त ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

लक्षणानि गुणालंकारमहिमानमनपेक्ष्य स्वसौभाग्येनैव शोभन्ते। लक्षणं महापुरुषस्य पद्मादिरेखादिवत् काव्यशरीरस्य सौन्दर्यदायि। अलंकारस्तु रत्नाभरणादिवदेव, येन विनापि स्वसौन्दर्येण पुरुषः प्रतिभासते। गुणस्तु प्रवृत्तिद्योतितो धैर्यादिवत् काव्यस्य शब्दार्थरचनामाश्रयति। यथा लक्षणरहितः पुरुषो न सुन्दरशब्दवाच्यस्तथा लक्षणवर्जं कथाशरीरं गुणालंकारोज्ज्वलमपि नीरसत्वं भजत् प्रौढकाव्याभिधानं नार्हति[११४]।

भामह, दण्डी, वामन, मम्मट आदि द्वारा लक्षणों के वर्णित न किये जाने का कारण यह है कि वे इन्हें अलंकाराद से अपृथक् मानते थे। दण्डी ने तो स्पष्ट ही कहा है—

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः॥ काव्या० २.३३६

धनंजय भी इसी मत के हैं[११५]। भरतोक्त कई लक्षण हेतु, लेश, आशीः, संशय, दृष्टान्त आदि तो उत्तरवर्ती आलंकारिकों द्वारा अलंकार रूप में स्वीकृत भी किये जा चुके हैं। विश्वनाथ ने यद्यपि ३६ लक्षणों तथा ३३ नाट्यालंकारों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विस्तृत विवेचन किया है, तथापि उनका कथन है कि इनमें से कई गुण, अलंकार, भाव तथा सन्ध्यंगों में अन्तर्भूत हो सकते हैं[११६]। साथ ही लक्षण मुख्यतः

---

११०. लक्षणैश्च चतुः षष्टचा युक्तं कुर्वीत नाटकम्। शृं० प्र० अ० १२
१११. द्रष्टव्य : भा० प्र०, अध्याय ८
११२. द्रष्टव्य : र० सु०, अध्याय ३
११३. द्रष्टव्य : सा० द०, परिच्छेद ६
११४. अभि० भा०, अध्याय १७ अनुष्टुप्सूची की टीका के आरम्भ में।
११५. षट्त्रिंशद् भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः।
लक्ष्यसन्ध्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च॥ दशरू० ४.८४
११६. एषु च केषांचिद् गुणालंकारभावसन्ध्यङ्गविशेषान्तर्भावेऽपि नाटके प्रयत्नतः कर्तव्यत्वाद् विशेषोक्तिः। सा० द० ६.२१२ वृत्ति

नाटक से ही सम्बद्ध हैं। इस कारण भी जो अलंकारग्रन्थ काव्यसामान्य पर विचार करते हैं उनमें लक्षणों की चर्चा नहीं हुई है[११७]।

जयदेव का लक्षण-निरूपण

लक्षण केवल नाटक के धर्म हैं या काव्यशास्त्र के, इस विषय में मतभेद रहा है। अभिनवगुप्त तथा उनके गुरु भट्टतौत लक्षणों को काव्यशोभाकर धर्म ही मानते थे। प्रस्तुत लक्षणों पर विचार करने वाले बाद के भोज, शारदातनय, शिंगभूपाल तथा विश्वनाथ आलंकारिकों द्वारा लक्षणों को नाटकधर्मों के रूप में ही व्याख्यात किया गया है, काव्यधर्मों के रूप में नहीं। एकमात्र जयदेव ही ऐसे आलंकारिक हैं जिन्होंने लक्षणों को इतना महत्त्व दिया है कि काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में काव्य की परिभाषा में समाविष्ट किया है तथा स्पष्टतः काव्यमात्र का धर्म माना है[११८]। इनका तृतीय मयूख लक्षणों पर ही है। इन्होंने अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान, हेतु, प्रतिषेध, निरुक्त, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, युक्ति तथा कार्य इन दस लक्षणों की परिभाषायें उदाहरण सहित दी हैं। ये दसों लक्षण नाटयशास्त्र की उपजाति-सूची में से हैं। यद्यपि लक्षणोदाहरण इन्होंने दस लक्षणों के ही दिये हैं, तथापि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा उक्त इतर लक्षणों को भी ये स्वीकार करते हैं, जैसा कि निम्न उक्ति से सूचित होता है—

> **इत्यादि लक्षणं भूरि काव्यस्याहुर्महर्षयः।**
> **स्वर्णभ्राजिष्णुभालत्वप्रभृतीव महीभुजः॥** च० ३ ११

इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि ये लक्षण काव्यसामान्य के हैं, केवल नाटक के नहीं। 'महर्षयः' से मुख्यतः भरतमुनि की ओर ही संकेत प्रतीत होता है। संभवतः ये ऐसा समझते थे कि भरत के मत में भी लक्षण काव्य-सामान्य के धर्म हैं। सामान्यतः देखा जाये तो भरत ने इन्हें काव्य के लक्षण तथा प्रबन्ध शोभाकर धर्म कहा भी है[११९]।

उपर्युक्त श्लोक में जयदेव ने लक्षणों का स्वरूप भी प्रदर्शित कर दिया है कि जैसे किसी राजा के 'स्वर्ण के समान भ्राजिष्णु भाल वाला होना' आदि महा-पुरुषत्व-सूचक लक्षण होते हैं, वैसे ही ये काव्य के लक्षण हैं। अर्थात् स्वर्णभ्राजिष्णु भाल जैसे शरीर का अंग है, वैसे ही ये लक्षण काव्य-शरीर के अंग होते हुए उसके

११७. लक्षणों के विस्तृत इतिहासादि के लिए द्रष्टव्य : वी० राघवन् : 'सम कन्सेप्ट्स ऑफ दि अलंकारशास्त्र' का प्रथम प्रकरण 'दि हिस्ट्री ऑफ लक्षण'।

११८. The Chandraloka is the only Alankara-work, which treats of Lakshana as a feature like Alankara of श्रव्यकाव्य० V. Raghavan : Some concepts of the Alankara Shastra 1942, P. 14.

११९. एतानि काव्यस्य च लक्षणानि षट्त्रिंशदुद्देशनिदर्शनानि।
प्रबन्धशोभाकरणानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि रसानुरूपम्॥ ना० शा० १७.४२

शोभावर्धक होते हैं[१२०], जबकि अलंकार हारादि के समान काव्यशरीर से पृथक् होकर उसके सौन्दर्यवर्धक होते हैं। तो भी जयदेव लक्षण तथा अलंकार के भेदक तत्त्व के विषय में बहुत स्पष्टमति प्रतीत नहीं होते। पंचम मयूख में इन्होंने अलंकारों में दृष्टान्त, निदर्शना, संशय आदि का नाम भी परिगणित किया है, जिन्हें भरत ने लक्षण कहा है। स्वयं जयदेव ने जो अक्षरसंहति आदि दस लक्षण गिनाये हैं, उनमें से भी युक्ति, प्रतिषेध तथा हेतु का अलंकारों में भी परिगणन किया है।

चन्द्रालोक में निरूपित दस लक्षण परिभाषा तथा उदाहरणसहित निम्न प्रकार हैं—

अक्षरसंहति

अल्पाक्षरा विचित्रार्थख्यातिरक्षरसंहतिः।
उषाकान्तेनानुगतः शूरः शौरिरयं पुनः॥ च० ३.१

अल्प अक्षरों से विचित्र अर्थ को सूचित करना अक्षरसंहति कहलाता है। इसकी नाट्यशास्त्रोक्त परिभाषा भी लगभग इन्हीं शब्दों में है[१२१]। विचित्र अर्थ का अभिप्राय अभिनवगुप्त ने रसोचित विभावादिरूप अर्थ लिया है। उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है—'तथाहि मानिनीत्यक्षराणि ईर्ष्याविप्रलम्भे, तरुणीत्याभिलाषिके, वरतनुरिति संभोगे विभातवां तामेव प्रापयन्ति'। चन्द्रालोक के उपर्युक्त उदाहरण में श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के लिए उषाकान्त शब्द का प्रयोग कर कवि ने उषा तथा अनिरुद्ध की कथा का स्मरण कराते हुए उस प्रसंग में प्रदर्शित श्रीकृष्ण की वीरता को व्यंजित किया है।[१२२]। किन्हीं के मत में यह अक्षरसंहति समासोक्ति का ही एक भेद है[१२३]।

शोभा

शोभा ख्यातोऽपि यद् दोषो गुणकीर्त्या निषिध्यते।
मुधा निन्दन्ति संसारं कंसारिर्यत्र पूज्यते॥ च० ३.२

प्रसिद्ध दोष भी जहां गुणकीर्तन द्वारा निषिद्ध किया जाता हो वहां शोभा नामक लक्षण होता है। यथा, 'जहां कंसरिपु कृष्ण का पूजन होता है उस संसार की निन्दा करना व्यर्थ है', इस वाक्य में कृष्ण-पूजनरूपी गुण के कीर्तन से संसार की

---

१२०. गागाभट्ट तथा वैद्यनाथ पायगुंड ने अपनी टीकाओं में लक्षणों को काव्य का ज्ञापक कहा है—लक्षणं काव्यत्वज्ञापकम्। तेनैतादृशोक्तौ काव्यत्वं ज्ञेयम्। शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे, अद्रावत्र प्रज्ज्वलत्यग्निरुच्चैः इत्यादिषु न काव्यत्वम्। राकागम०

१२१. यत्राल्पैरक्षरैः श्लिष्टैर्विचित्रार्थोपवर्णनम्।
तदप्यक्षरसंघातं विद्याल्लक्षणसंज्ञितम्॥ ना० शा० १७.६

१२२. शोणितपुर के राजा बलिपुत्र बाणासुर की कन्या उषा ने पिता की अनुमति के बिना श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध से विवाह कर लिया था। इस पर श्रीकृष्ण और बाणासुर में भयंकर युद्ध हुआ था, जिसमें बाणासुर का पक्ष लेने वाले शंकर को भी हार माननी पड़ी थी। भागवत, स्कन्ध १०

१२३. अयं समासोक्तिभेद इति कश्चित्। राकागम तथा रमा

निन्दनीयता का निषेध किया गया है। भरत के शब्दों में शोभा वह है जहां सिद्ध (उचित) अर्थों को समकक्ष रखकर असिद्ध (अनुचित) अर्थ को भी उचित ठहराया जाये[१२४]।

अभिमान

अभिमानो विचारश्चेदूहितार्थनिषेधकृत् ।
इन्दुर्यदि कथं तीव्रः सूर्यो यदि कथं निशि ।। च० ३.३

यदि विचार करने पर सोची गई बात का निषेध हो जाता हो तो अभिमान नामक लक्षण होता है। उदाहरणार्थ किसी विरहिणी नायिका को शीतल चन्द्रमा भी उद्दीपक होने से दाहकर प्रतीत होता है। अतः वह कहती है कि गगन में उदित यदि यह चन्द्र है तो तीव्र क्यों होता, और यदि सूर्य है तो रात्रि में कैसे उदित होता। एवं यहां प्रथम इन्दुत्व का तथा पश्चात् सूर्यत्व का भी निषेध होने से दो बार अभिमान लक्षण प्रयुक्त हुआ है। भरत के शब्दों में 'हृदय में किसी रूप में धार्यमाण भी वस्तु यदि कार्य तथा युक्तियों के आधार से खण्डित हो जाती हो तो 'अभिमान' होता है[१२५]।

हेतु

हेतुस्त्यक्त्वा बहून् पक्षान् युक्त्यैकस्यावधारणम् ।
नेन्दुर्नार्कोऽयमौर्वाग्निः सागरादुत्थितो दहन् ।। च० ३.४

उत्थित होते हुए अनेक पक्षों को निषिद्ध कर युक्ति से किसी एक का समर्थन करना हेतु कहलाता है। यथा, 'न यह चन्द्र है, न सूर्य है, किन्तु वाडवाग्नि है, क्योंकि समुद्रोत्पन्न होने के साथ-साथ दाहकारी भी है। चन्द्रमा केवल समुद्रोत्पन्न है, दाहकर नहीं है, सूर्य केवल दाहकर है, समुद्रोत्पन्न नहीं है, दोनों धर्म वडवानल में ही होने से यह वडवानल ही है। इस प्रकार चन्द्रत्व तथा सूर्यत्व का त्याग करके युक्ति से वडवानलत्व का निश्चय किया गया है, अतः यहां हेतु नामक लक्षण है।

अभिमान तथा हेतु में केवल इतना अन्तर प्रतीत होता है कि अभिमान में निषेध्य पक्ष एक ही होता है, किन्तु हेतु में अनेक होते हैं। वस्तुतः जयदेवोक्त हेतु का अन्तर्भाव अभिमान में ही हो सकता है। नाट्यशास्त्र में भी उपजाति सूची वाले पाठानुसार हेतु का लक्षण ऐसा ही है[१२६]। परन्तु द्वितीय पाठ में इसका लक्षण भिन्न है[१२७]। कुछ के मत में हेतु अपह्नुति का ही एक भेद है[१२८]।

---

१२४. सिद्धैरर्थैः समं कृत्वा ह्यसिद्धोऽर्थः प्रसाध्यते ।
यत्र श्लक्ष्णा विचित्रार्था सा शोभेत्यभिसंज्ञिता ।। ना० शा० १७.७

१२५. धार्यमाणस्तु बहुभिर्वचनैः कार्ययुक्तिभिः ।
न यः पर्यवतिष्ठेत सोऽभिमानस्तु संज्ञितः ।। ना० शा० १७.८

१२६. बहूनां भाषमाणानां त्वेकस्यार्थविनिर्णयम् ।
सिद्धोपमानवचनं हेतुरित्यभिसंज्ञितः ।। वही १७.१४

१२७. यत् प्रयोजनसामर्थ्याद्वाक्यमिष्टार्थसाधनम् ।
समासोक्तं मनोग्राहि स हेतुरिति संज्ञितः ।। वही, पाठान्तर १७.१०

१२८. अयमपह्नुतिभेद इति कश्चित् । राकागम तथा रमा

प्रतिषेध

प्रतिषेधः प्रसिद्धानां कारणानामनादरः ।
न युद्धेन भ्रुवोः स्पन्देनैव वीरा निपातिताः ॥ च० ३.५

किसी बात की सिद्धि के प्रसिद्ध कारणों की उपेक्षा कर अप्रसिद्ध कारण बताना 'प्रतिषेध' कहाता है । यथा, शत्रुवीरों के संहार का प्रसिद्ध कारण है युद्ध, उसका प्रतिषेध कर कवि कहता है कि भौंहों के स्पन्दन से ही वीर मार गिराये गये । कुछ के मत में यह हेत्वपह्नुति के अन्तर्गत हो जाता है[१२६] ।

आचार्य भरत का प्रतिषेध-लक्षण इससे भिन्न है । उनके मतानुसार विपरीत कार्य में प्रवृत्त होते हुए किसी को यदि कार्यज्ञ द्वारा निवारण किया जाये तो प्रतिषेध होता है[१३०] । इसके उदाहरण रूप में अभिनवगुप्त ने अमरुक का निम्न पद दिया है—

लग्ना नांशुकपल्लवे भुजलता न द्वारदेशेऽर्पिता
नो वा पादयुगे तथा निपतितं तिष्ठेति नोक्तं वचः ।
काले केवलमम्बुदालिमलिने गन्तुं प्रवृत्तः शठः
तन्व्या बाष्पजलोपकल्पितनदीपूरेण रुद्धः प्रियः ॥[१३१]

निरुक्त

निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं तथानृतम् ।
ईदृशैश्चरितैः राजन् सत्यं दोषाकरो भवान् ॥ च० ३.६

जहां नाम, विशेषण आदि पदों का सत्य या असत्य निर्वचन सूचित किया जाये वहां निरुक्त नामक लक्षण होता है[१३२] । यथा, किसी राजा को कवि कहता है कि 'ऐसे (उज्ज्वल) चरितों से सचमुच आप दोषाकर हैं' । यहां दोषाकर के दो निर्वचन सूचित होते हैं 'दोषा-करः' (चन्द्र) तथा 'दोषआकरः' (दोषों की खान)[१३३] । उज्ज्वल-चरित राजा के पक्ष में प्रथम निर्वचन सत्य है, तथा द्वितीय असत्य । परन्तु यही वाक्य यदि निकृष्ट-चरित राजा के लिये कहा जाएगा तो द्वितीय निर्वचन सत्य होगा तथा प्रथम असत्य । इसी प्रकार राजा का 'प्रजा-रंजन करने वाला' यह निर्वचन प्रथम पक्ष में सत्य है तथा द्वितीय पक्ष में असत्य । नाट्यशास्त्र के पाठान्तर में निरुक्त का लक्षण भिन्न है[१३४] ।

---

१२६. अयं हेत्वपह्नुत्यन्तर्गतः । राकागम

१३०. कार्येषु विपरीतेषु यदि कश्चित् प्रवर्तते ।
निवार्यते च कार्यज्ञैः प्रतिषेधः प्रकीर्तितः ॥ ना० शा० १७.२३

१३१. अत्र तृतीयपादेन विपरीतकार्यप्रवृत्तिरुक्ता । आद्यार्धेन कार्यज्ञत्वं नायिकायाः, तथापि निवारणं तुर्यपादेनोक्तम् । अभि० भा०

१३२. तुलना : निरुक्तं द्विविधं प्रोक्तं तथ्यं चातथ्यमेव च ।
सिद्धिपूर्वं भवेत् तथ्यमतथ्यं चाप्रसाधितम् ॥ ना० शा० १७.१२

१३३. दोषा रात्रिः, तां करोतीति दोषाकरश्चन्द्रः । अन्यत्र, दोषाणामाकरः ।

१३४. निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये ।
यदुच्यते तु वचनं निरुक्तं तदुदाहृतम् ॥ ना० शा० पाठान्तर १७.१६

मिथ्याध्यवसाय

स्यान्मिथ्याध्यवसायश्चेदसती साध्यसाधने ।
चन्द्रांशुसूत्रग्रन्थितां नभःपुष्पस्रजं वह ॥ च० ३.७

विना वास्तविक अस्तित्व वाले कार्य-कारण का उल्लेख होने पर मिथ्याध्यवसाय नामक लक्षण होता है। यथा 'चन्द्रकिरणों के सूत्र में गूंथी हुई आकाश-पुष्प की माला को धारण कर'। यहां चन्द्रकिरणसूत्रग्रथन कारण तथा आकाशपुष्पमाला कार्य है। ये दोनों ही अस्तित्व-विहीन एवं काल्पनिक हैं। नाट्यशास्त्र में इसका लक्षण यह है कि "अभूतपूर्व (अपारमार्थिक) वस्तुओं से जहां तत्तुल्य (अपारमार्थिक) ही वस्तु की रचना वर्णित की जाये वहां मिथ्याध्यवसाय होता है"[१३५]।

सिद्धि

सिद्धिः ख्यातेषु चेन्नाम कीर्त्यते तुल्यतोक्तये ।
युवामेवेह विख्यातौ त्वं बलैर्जलधिर्जलैः ॥ च० ३.८

जहाँ तुल्यता बताने के लिए प्रख्यातों के बीच में किसी का नाम लिया जाये वहां सिद्धि नामक लक्षण होता है[१३६]। यथा, किसी राजा के विषय में यह उक्ति— 'आप दोनों ही जगत् में विख्यात हैं, आप बलों से तथा जलधि जलों से।' यहाँ प्रसिद्ध जलधि के साथ राजा का नाम-कीर्तन किया गया है। कुछ के मत में सिद्धि का अन्तर्भाव तुल्ययोगितालंकार में हो सकता है[१३७]।

युक्ति

युक्तिर्विशेषसिद्धिश्चेद् विचित्रार्थान्तरान्वयात् ।
नवस्त्वं नीरदः कोऽपि स्वर्णैर्वर्षसि यन्मुहुः ॥ च० ३.९

जहाँ विचित्र अर्थान्तर के सम्बन्ध से किसी विशेष अर्थ की सिद्धि की जाये वहाँ युक्ति नामक लक्षण होता है। यथा, किसी दानी राजा के प्रति यह उक्ति "आप कोई अनोखे बादल हैं, क्योंकि बार-बार सुवर्ण की वर्षा करते हैं।" यहाँ सुवर्ण-वर्षा रूप विचित्र अर्थान्तर से राजा के बादल होने रूपी विशेष अर्थ की सिद्धि वर्णित है। किन्हीं के मत में यह व्यतिरेकालंकार का ही एक भेद है[१३८]। भरत का युक्ति का लक्षण कुछ भिन्न प्रकार का है, यद्यपि उसमें चन्द्रालोक का उक्त लक्षण भी समाविष्ट हो जाता है—"जहाँ उत्कृष्टों के परस्परानुकूल समवाय से किसी अन्य अर्थ की

---

१३५. अभूतपूर्वैर्यत्रार्थैस्तत्तुल्यार्थस्य निर्णयः ।
स मिथ्याध्यवसायस्तु प्रोच्यते काव्यलक्षणम् ॥ ना० शा० १७.१६

१३६. तुलनीय : बहूनां च प्रधानानां मध्ये यन्नाम कीर्त्यते ।
एकार्थसाधनकृतं सा सिद्धिरिति कीर्तिता ॥ वही १७.१७

१३७. अयमपि गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचोऽन्या तुल्ययोगितेति तुल्ययोगितालंकारान्तर्गत इति कश्चित् । राकागम

१३८. अयं व्यतिरेकालंकार भेद इति कश्चित् । राकागम

सिद्धि होती हो वहाँ युक्ति होती है"[१३९]। अभिनवगुप्त ने इसका उदाहरण यह दिया है—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटीव यत्र
यत्रापरे कदलकाण्डमृणालदण्डाः ॥[१४०]

कार्य

कार्यं फलोपलम्भश्चेद् व्यापाराद् वस्तुतोऽथ वा।
असावुदेति शीतांशुर्मानच्छेदाय सुभ्रुवाम् ॥ च० ३.१०

जहाँ किसी अन्य के व्यापार से या किसी अन्य वस्तु से अन्य को फल की प्राप्ति वर्णित हो वहाँ कार्य नामक लक्षण होता है[१४१]। यथा, 'सुन्दरियों के मानभंग के लिए वह शीतांशु उदित हो रहा है', यहाँ चन्द्रोदय रूपी व्यापार से या चन्द्ररूपी वस्तु से ही सुन्दरियों का मानभंग रूपी फल वर्णित हुआ है, जिस फल की प्राप्ति नायक को होती है। एवं यह व्यापारकृत तथा वस्तुकृत दोनों का उदाहरण हो सकता है। कुछ के मत में यह परिणामालंकार के अन्तर्गत हो सकता है।[१४२]

---

१३९. साध्यते योऽर्थसम्बन्धो महद्भिः समवायतः।
परस्परानुकूल्येन सा युक्तिः परिकीर्तिता ॥ ना० शा० १७.३६

१४०. अत्र महद्भिरुत्कृष्टैर्नेत्रवदनादिभिः परस्परशोभात्मकानुकूल्योपलक्षितेन समवायेनैकविश्रान्त्यार्थः संबध्यमान उपपद्यमानोऽपूर्वतरङ्गिणीलक्षणः साधित इति योजनादियं युक्तिः। अभि० भा०

१४१. अन्यदीयव्यापारादन्यवस्तुतो वा यदि जातफलानुभवोऽन्यत्र तदा तद् कार्यम्। रमा.

१४२. द्रष्टव्य : राकागम तथा रमा।

संक्षिप्त इतिहास

काव्यशास्त्र में गुणों की चर्चा जब से प्रारम्भ हुई उससे पूर्व ही साहित्यकार वाणी के माधुर्य, अर्थवत्त्व, औदार्य आदि गुणों का प्रकारान्तर से उल्लेख कर चुके थे। वैदिक संहिताओं में कई स्थानों पर देवों के लिए माधुर्य-गुणयुक्त वचनों से प्रार्थनाएं करने का वर्णन मिलता है[1]। रामायण, महाभारत आदि में भी उत्कृष्ट वाणी को श्लक्ष्ण, अर्थवत्, मधुर, लघु, सम प्रभृति विशेषणों से स्मरण किया गया है[2], जो वाणी के गुणों के ही सूचक हैं।

काव्यशास्त्रीय गुणों के रूप में सर्वप्रथम **भरतमुनि** ने अपने नाट्यशास्त्र में दस गुण परिगणित किये हैं। वे दस गुण हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति।[3] भरत ने गुण की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी है, न ही लक्षणों और अलंकारों से इनका भेद प्रदर्शित किया है। ये केवल इतना कहते हैं कि गुण दोषों के विपर्यास रूप हैं।[4] नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त के अनुसार गुणों का दोषविपर्यय-रूप होना सभी गुणों के लिए न होकर केवल माधुर्य तथा औदार्य गुणों के लिए है, क्योंकि उन्होंने जिस पाठान्तर[5] की टीका की है उसमें केवल इन्हीं दो का उल्लेख है[6]। गुणों के विषय

---

१. यथा, 'अवोचाम रहूगणा अग्नये मधुमद् वचः। ऋग् १.७८.५

२. यथा, उवाच वचनं श्लक्ष्णमर्थवन्मधुरं लघु। रा०, युद्ध० १७.५०
निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च।
म० भा०, उद्योग० १.२५

३. श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥
ना० शा० १७.९६

४. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः॥ वही १७.९५

५. गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः।
ना० शा० १७.९५ का पाठान्तर

६. एषां विपर्ययाद् गुणा भवन्ति, एतद्दोषविघात एव गुणो भवतीत्यर्थः। किम् अविशेषेण? नेत्याह। माधुर्यौदार्यलक्षणमङ्गो येषाम्। एतदुक्तं भवति एतद्दोषविहीनं श्रुतिसुखं दीप्तरसं च यदि भवति तावता गुणान्तरैरलंकारैश्च हीनमपि काव्यं लक्षणयोगाव्यभिचारीत्युक्तम्।
ना० शा० १७.९५ पर अभि भा०

में भरत शब्दगत तथा अर्थगत का भेद भी नहीं करते हैं। इन्हें शब्द या अर्थ के गुण न कहकर उन्होंने सामान्य रूप से काव्य के गुण कहा है। तथापि इन गुणों की भरतोक्त परिभाषाओं की परीक्षा करने पर कुछ गुण केवल शब्द के, कुछ केवल अर्थ के, कुछ शब्द-अर्थ दोनों के तथा कुछ काव्य-सामान्य के प्रतीत होते हैं[७]।

भामह अपने काव्यालंकार में गुणों की विशेष चर्चा नहीं करते। द्वितीय परिच्छेद में माधुर्य, प्रसाद तथा ओज का उल्लेख इन्होंने किया है। इनका कथन है कि कुछ मेधावी कवि अपनी रचना में माधुर्य और प्रसाद लाना चाहते हुए अधिक समस्त पदों का प्रयोग नहीं करते, किन्तु दूसरे ओज लाना चाहने वाले कवि अनेक पदों को समस्त करते हैं[८]। श्रुतिसुखद तथा अनतिसमस्तार्थ काव्य माधुर्यगुणयुक्त कहाता है, तथा जिसे विद्वानों से लेकर वनिता और बालक तक समझ सकें वह प्रसादगुणयुक्त[९]। यद्यपि इन्होंने स्पष्टतः माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों का उल्लेख किया है, तो भी ध्वनिकार के इस सिद्धान्त से, कि गुण केवल तीन ही हैं तथा वे रस के धर्म हैं, इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इनके गुण शब्दार्थगत ही ठहरते हैं। इन्होंने गुणों को केवल वैदर्भ मार्ग से संबद्ध भी नहीं कहा है। इनके मत में अलंकारयुक्त, ग्राम्य-दोष-वर्जित, अर्थयुक्त, न्याय्य तथा अनाकूल हो तो गौडी रीति भी अच्छी है; इसके विरीत हो तो वैदर्भी भी अच्छी नहीं है।[१०] गुणों का सम्बन्ध दोनों से ही हो सकता है। रीतियों की उक्त चर्चा करते हुए इन्होंने प्रसाद, ऋजुत्व, कोमलत्व, श्रुतिपेशलत्व, अग्राम्यत्व, सार्थत्व, न्याय्यत्व तथा अनाकुलत्व इन रीतिधर्मों या गुणों का भी उल्लेख किया है। अन्यत्र ये भाविक नामक प्रबन्धगत गुण तथा चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्व, स्वभिनीतता और शब्दानाकुलता नामक कथागत गुणों का भी नाम लेते हैं[११]।

दण्डी अपने काव्यादर्श में उन्हीं दस गुणों का उल्लेख करते हैं जिन्हें भरत ने वर्णित किया था। परन्तु अन्तर यह है कि इनके मत में ये गुण काव्यसामान्य

---

७. While certain Gunas seem to be of Artha only, some of Shabda only, some seem to be of both, and some Gunas of Kavya in general.—V. Raghavan : Bhoja's Shringara Prakash, 1963, P. 270.

८. काव्यालं, भा० २.१,२

९. श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।
आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्॥ वही २.३

१०. अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमपि नान्यथा॥ वही १.३५

११. वही ३.५३, ५४

के न होकर उनके द्वारा स्वीकृत वैदर्भ तथा गौडीय मार्गों में से केवल वैदर्भ[१२] मार्ग के प्राणभूत हैं। गौडमार्ग में इनके कथनानुसार इन गुणों का प्रायः विपर्यय रहता है[१३]। 'प्रायः' शब्द के प्रयोग से सूचित होता है कि कतिपय गुण दोनों मार्गों में ही प्रयुक्त हो सकते हैं। काव्यादर्श के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही आलोचकों का कथन है कि अर्थव्यक्ति, औदार्य तथा समाधि गुण दोनों ही मार्गों के लिए समान हैं, और अर्थगत माधुर्य भी जो ग्राम्यदोष का ही अभाव-रूप है दोनों में पाया जाता है। दण्डी-प्रोक्त गुणों के स्वरूप से यह ज्ञात होता है कि इनके दस गुणों में से श्लेष, प्रसाद, समता, सुकुमारता और ओज शब्दगुण, तथा कान्ति और समाधि अर्थगुण हैं। अर्थ-व्यक्ति मुख्यतः शब्दाधीन होते हुए भी शब्द और अर्थ दोनों का गुण है। माधुर्य गुण के दो रूप हैं, जिनमें अनुप्रासगत रूप शब्दाधीन तथा अग्राम्यता सम्बन्धी रूप अर्थाधीन है। इसी प्रकार उदारता अर्थगत है।

वामन प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने गुणों को स्पष्टतः शब्दगुण और अर्थगुणों में विभाजित किया है। ये रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं, तथा गुणविशिष्ट पदरचना को रीति कहते हैं। अतएव इनकी दृष्टि में गुणों का बहुत महत्त्व है। इन्होंने गुण का लक्षण यह किया है कि जो काव्यशोभा को उत्पन्न करें, वे गुण हैं[१४]। गुणों के नाम इन्होंने वे ही स्वीकार कर लिये हैं जो भरत तथा दण्डी को अभिमत थे, तथापि स्वरूप में बहुत अन्तर है। इनके मत में दस बन्धगुण[१५] हैं, तथा वे ही दस अर्थगुण[१६]। इनका स्वरूप निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

गुण का नाम	बन्धगुण का स्वरूप	अर्थगुण का स्वरूप
१. ओज	बन्ध की गाढता	अर्थ की प्रौढता
२. प्रसाद	बन्ध की शिथिलता	अर्थ की विमलता (जितना अर्थ अपेक्षित हो उतना ही कहना)
३. श्लेष	बन्ध की मसृणता (अनेक पदों का एकपदवत् प्रतीत होना)	घटना (क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्ति का योग)
४. समता	बन्ध में मार्गभेद	अवैषम्य (प्रक्रम का अभेद या सुगमत्व)

१२. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः। काव्या० १.४१,४२

१३. एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि। वही० १.४२

१४. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। काव्यालं० सू० ३.१.१

१५. ओजः-प्रसाद-श्लेष-समता-समाधि-माधुर्य-सौकुमार्य-उदारता-अर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः। वही ३.१.४

१६. त एवार्थगुणाः। वही ३.२.१

गुण का नाम	बन्धगुण का स्वरूप	अर्थगुण का स्वरूप
५. समाधि	बन्ध में आरोह-अवरोह का क्रम	अयोनि तथा अन्यच्छायायोनि अर्थ का दर्शन
६. माधुर्य	पृथक्पदत्व (असमास)	उक्तिवैचित्र्य
७. सौकुमार्य	बन्ध में परुषता न होना	परुष अर्थ को भी सुकुमार रूप में कहना
८. उदारता	बन्ध का विकटत्व (पदों का नृत्य करते हुए से प्रतीत होना)	ग्राम्य अर्थ को भी अग्राम्य रूप में कहना
९. अर्थ व्यक्ति	बन्ध का सद्य: अर्थ-प्रतीतिकर होना।	ऐसा वर्णन करना जिससे वस्तु का स्वभाव स्फुट हो उठे
१०. कान्ति	बन्ध की उज्ज्वलता (नवीनता)	दीप्तरसत्व

स्वसंमत वैदर्भी, गौडीया तथा पांचाली रीतियों में से ये वैदर्भी में उक्त सभी गुण मानते हैं, गौडी में ओज तथा कान्ति ये दो गुण, और पांचाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य नामक दो गुण।

आनन्दवर्धन, अब तक गुणों के सम्बन्ध में जो धारणा बन पायी थी उसके प्रतिकूल, गुणों को शब्दार्थ का धर्म न मानकर रस का धर्म बतलाते हैं। ये काव्य में रसादि को अंगी तथा शब्दार्थ को अंग मानते हुए गुणों को अङ्ग्याश्रित और अलंकारों को अंगाश्रित मानतेहैं[१७]। गुणों को शब्दाश्रित या अर्थाश्रित गौणीवृत्ति से ही कहा जाता है[१८]। गुणों की संख्या भी ये दस के स्थान पर तीन ही कहते हैं। वे तीन गुण हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। माधुर्य संभोग शृंगार में, उसकी अपेक्षा अधिक विप्रलंभ शृंगार में, और उससे भी अधिक प्रकृष्ट रूप में करुण रस में रहता है। ओज रौद्रादि रसों में रहता है तथा प्रसाद सब रसों का साधारण गुण है[१९]। अभिनवगुप्त ने अपनी लोचनटीका में आनन्दवर्धन की स्थापनाओं का समर्थन किया है।

कुन्तक का गुण-विचार भी गुणों के इतिहास में अपनी नवीनता रखता है। ये रीतियों के स्थान पर सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा मध्यम मार्ग की नूतन कल्पना कर इन मार्गों के दो प्रकार के गुण मानते हैं, सामान्य और विशेष। सामान्य गुण दो हैं औचित्य और सौभाय, जो सभी मार्गों में समान रूप से पाये जाते हैं। इनका वर्णन कुन्तक निम्न शब्दों में करते हैं—

---

१७. तदर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा: स्मृता:।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या: कटकादिवत्॥ ध्वन्या० २.६

१८. एतदुक्तं भवति, वस्तुतो माधुर्यं नाम शृंगारादे रसस्यैव गुण: तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयो: शब्दार्थयोरुपचरितम्। मधुरश्रृंगाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्। कारिका २.७ पर लोचनटीका।

१९. द्रष्टव्य : ध्वन्या० २.७–१०

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ।।
यत्र वक्तुः प्रभातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना ।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ।।
इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थं प्रतिभा कवेः ।
सम्यक् संरमते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ।।
सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ।।
व० जी० १.५३–५६

विशेष गुण चार हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य। ये गुण भी यद्यपि सभी मार्गों में रहते हैं तो भी प्रत्येक मार्ग में इनका स्वरूप भिन्न हो जाता है। जैसे, सुकुमार मार्ग के माधुर्य में असमस्त तथा मनोहारी पदविन्यास रहता है, विचित्रमार्ग के माधुर्य में वैदग्ध्य तथा रचना का अशैथिल्य होता है, और मध्यम मार्ग में दोनों का मिश्रण।

भोजराज अलंकार की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि अलंकृत काव्य भी यदि गुणवर्जित हो तो वह श्रव्य नहीं होता[२०]। ये काव्य में त्रिविध गुण मानते हैं—बाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशेषिक। शब्दगत गुण बाह्य और अर्थगत गुण आभ्यन्तर कहाते हैं। वैशेषिक गुण वे हैं जो अन्यत्र दोष होते हुए भी क्वचित् गुण माने जाते हैं[२१], इनका दूसरा नाम दोषगुण भी है। इन्होंने शब्दगुण तथा वाक्यार्थगुण प्रत्येक २४–२४ माने हैं, जिनके स्वरूप में अन्तर होते हुए भी नाम एक ही हैं। इन २४ गुणों के नाम तथा शब्दाश्रित और अर्थाश्रित की दृष्टि से उनका स्वरूप संक्षेप में निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

गुण का नाम	शब्दाश्रित स्वरूप	अर्थाश्रित स्वरूप
१. श्लेष	सुश्लिष्टपदता (विभिन्न पदों की भी एकपदतावत् प्रतीति)	संविधान की सुसूत्रता
२. प्रसाद	प्रसिद्धार्थक पदों का प्रयोग	अनुक्त भी विवक्षित अर्थ का प्रकट हो जाना
३. समता	उपक्रम से समाप्ति तक एक ही बन्ध का निर्वाह	क्रम में विषमता का न होना
४. माधुर्य	पृथक्पदत्व (असमास)	क्रोधादि में भी तीव्रता न होना

---

२०. अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः ।। सर० कंठा० १.५९

२१. बाह्याः शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्थसंश्रयाः ।
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः ।। वही १.६१

गुण का नाम	शब्दाश्रित स्वरूप	अर्थाश्रित स्वरूप
५. सुकुमारता	अनिष्ठुराक्षरप्राय रचना	चित्तद्रुत्यभावरूपी निष्ठुरता का न होना
६. अर्थव्यक्ति	संपूर्णवाक्यता (वाक्य का अधूरा न होना)	वस्तु के स्वरूप का साक्षात् कथन
७. कान्ति	बन्ध की उज्ज्वलता (छायावत्त्व)	दीप्तरसत्व
८. औदार्य	विकटाक्षरबन्ध (पदों का नृत्यत्प्राय होना)	वैभव के उत्कर्ष का कथन
९. उदात्तता	श्लाघ्य विशेषणों का योग	आशय के उत्कर्ष का कथन
१०. ओज	समासभूयस्त्व	किसी विषय में अपने निश्चय को बलपूर्वक कहना
११. और्जित्य	गाढ़बन्धता	प्रौढ़ अहंकार का प्रतिपादन
१२. प्रेयः	चाटूक्ति में प्रियतराख्यान	किसी वस्तु में अभीष्टता का प्रतिपादन
१३. सुशब्दता	सुप्-तिङ् की व्युत्पत्ति (चमत्कारिता)	दारुण अर्थ को अदारुण रूप में कहना
१४. समाधि	अन्य के धर्मों का अन्यत्र अधिरोपण	व्याजालम्बन (बहाने का सहारा लेना)
१५. सौक्ष्म्य	शब्दों की अन्त: संजल्परूपता	सूक्ष्म अर्थ का दर्शन
१६. गाम्भीर्य	शब्दों की ध्वनिमत्ता	शास्त्रीय अर्थ की अपेक्षा करना
१७. विस्तर	संक्षिप्त अर्थ का विस्तृत शब्दों में कथन करना	अर्थविस्तार
१८. संक्षेप	विस्तृत अर्थ का संक्षिप्त शब्दों में कथन करना	अर्थसंक्षेप
१९. संमितत्व	अर्थ के अनुसार तोलकर पद प्रयुक्त करना	शब्द और अर्थ का तुल्य होना
२०. भाविक	हर्ष आदि भाव के वश होकर अनौचित्यपूर्ण वाक्य भी बोल देना	साभिप्राय उक्ति का विन्यास
२१. गति	आरोह-अवरोह का क्रम	अर्थ से अर्थान्तर का अवगम
२२. रीति	उपक्रम का निर्वाह	किसी वस्तु की उत्पत्ति आदि क्रियाओं का क्रमश: कथन करना
२३. उक्ति	विशिष्ट भणिति	अभीष्ट अर्थ का प्रकारान्तर से कथन करना
२४. प्रौढि	वाक्य का प्रौढ परिपाक (नालिकेरीपाक, सहकारपाक आदि)	विवक्षित अर्थ का निर्वाह

इन २४ गुणों में से दस गुण वे ही हैं जो भरत, दण्डी तथा वामन ने कहे थे, यद्यपि स्वरूप में क्वचित् अन्तर है। इनके गुणस्वरूपनिरूपण में कहीं दण्डी का तथा कहीं वामन का प्रभाव है, और कहीं इन्होंने अपनी मौलिक कल्पना की है। शब्दगुणों के रूप में इन्होंने समता, प्रसाद, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, ओज तथा समाधि का स्वरूप दण्डी के अनुसार और श्लेष, माधुर्य, कान्ति तथा औदार्य का स्वरूप वामन के अनुसार वर्णित किया है। अर्थगुणों के रूप में ये श्लेष, समता, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति और कान्ति के स्वरूपदर्शन में वामन का अनुसरण करते हैं, तथा प्रसाद, माधुर्य, ओज, और समाधि का स्वरूप इनकी अपनी कल्पना की उपज है। उदारता और उदात्तता दण्डी द्वारा वर्णित उदात्त अलंकार है तथा और्जित्य दण्डी का ऊर्जस्वी अलंकार।

तीसरे इनके द्वारा अभिमत वैशेषिक गुण हैं, जिन्हें इन्होंने दोषगुण भी कहा है। इन्होंने जो पददोष, वाक्यदोष, तथा वाक्यार्थदोष प्रत्येक १६-१६ प्रकार के कहे थे, उन सबके विषय में विस्तार से यह भी बतलाया है कि किन अवस्थाओं में वे दोष न रहकर गुण हो जाते हैं। उदाहरणार्थ अनर्थकत्व नामक पददोष यमक आदि में, पुनरुक्त नामक वाक्यदोष अनुकम्पाद्यतिशयविवक्षा में तथा ससंशय नामक वाक्यार्थ-दोष संशयोक्ति ही अभिप्रेत होने पर गुण हो जाता है।

इनके अतिरिक्त अपने शृंगारप्रकाश में भोज कतिपय प्रबन्धगुणों का भी निर्देश करते हैं, जिनमें कुछ शब्दगुण, कुछ अर्थगुण तथा कुछ उभयगुण हैं। यथा महाकाव्यादि में असंक्षिप्तग्रन्थत्व, अविषमबन्धत्व, श्रव्यवृत्तत्व आदि शब्दगुण, चतुर्वर्ग-फलायत्तत्व, चतुरोदात्तनायकत्व, रसभावनिरन्तरत्व आदि अर्थगुण तथा रसानुरूप-सन्दर्भत्व, पात्रानुरूपभाषत्व, अर्थानुरूपच्छन्दस्त्व आदि उभयगुण हैं।

मम्मट गुणों के निरूपण में पूर्णतः आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हैं तथा उन्हीं के सिद्धान्त को इन्होंने आगे बढ़ाया है। शौर्यादि जिस प्रकार अंगीभूत आत्मा के गुण होते हैं, न कि शरीर के, उसी प्रकार काव्य में गुण अंगीभूत रस के धर्म होते हैं।[२२] शब्द तथा अर्थ में गुणों की स्थिति गौणी वृत्ति से ही मानी जाती है, जैसे शौर्यादि गौणरूप में शरीर के ही धर्म कह दिये जाते हैं[२३]। इन्होंने गुण तथा अलंकार का भेद भी समीचीन रूप से स्पष्ट किया है तथा इस प्रसंग में भट्टोद्भट और वामन के मन्तव्य का खण्डन किया है। ये माधुर्य, ओज तथा प्रसाद इन तीन[२४] ही गुणों को मानते हुए वामनोक्त दस शब्दगुण तथा दस अर्थगुणों में से कुछ का इन्हीं में अन्तर्भाव कर लेते हैं, कुछ को दोषपरिहार रूप होने के कारण अस्वीकृत कर देते हैं तथा कुछ को क्वचित् दोष होने से गुण रूप में अंगीकृत नहीं करते[२५]। इनके

---

२२. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। का० प्र० ८.६६

२३. गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता। वही ८.७१

२४. माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश। वही ८.६८

२५. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषात्यागात् परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश॥ वही ८.७२

मत में वामनोक्त शब्दगुणों में से श्लेष, समाधि, उदारता, प्रसाद तथा ओज स्वाभिमत ओज में, माधुर्य माधुर्य में और अर्थव्यक्ति प्रसाद में अन्तर्भूत हो जाते हैं। सौकुमार्य तथा कान्ति क्रमशः कष्टत्व और ग्राम्यत्व दोष के अभावरूप ही हैं। मार्गाभेदरूप समता क्वचित् दोष होने से गुण नहीं है। अर्थगुणों में पदार्थ को वाक्य से और वाक्यार्थ को पद से प्रकट करना तथा व्यास और समास, ये ओज के गुण वैचित्र्यमात्र होने से गुण नहीं कहे जा सकते। साभिप्रायत्वरूप ओज, अर्थवैमल्यरूप प्रसाद, उक्तिवैचित्र्यरूप माधुर्य, अपारुष्यरूप सौकुमार्य तथा अग्राम्यत्वरूप उदारता क्रमशः अपुष्टार्थत्व, अधिकपदत्व, अनवीकृतव, अमंगलरूप अश्लील तथा अग्राम्य दोषों के अभावमात्र हैं। अर्थव्यक्ति स्वभावोक्ति अलंकार में तथा दीप्तरसत्वरूप कान्ति रसध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य में समाविष्ट हो जाती है। क्रमकोटिल्यादिघटनारूप श्लेष विचित्रत्वमात्र है, गुण नहीं। अवैषम्यरूप समता प्रक्रमभंग दोष का अभावमात्र है। अयोनि-अन्यच्छायायोनि-अर्थदृष्टिरूप समाधि काव्यस्वरूप का निर्वाहकमात्र है, उत्कर्षाधायक नहीं, अतः गुण नहीं है।

मम्मट ने स्वसंमत प्रत्येक गुण का लक्षण आदिभी दिया है। चित्तद्रवीभाव का कारणभूत आह्लादकत्व ही माधुर्य है, जो क्रमशः संभोगश्रृंगार, करुण, विप्रलंभ-श्रृंगार तथा शान्तरसों में उत्तरोत्तर अधिक पाया जाता है। दीप्तिरूप चित्तविस्तार का हेतु ओज कहाता है, जिसका क्रमशः वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसों में आधिक्य होता है। शुष्क इन्धन में अग्नि के समान तथा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान जो चित्त में व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद है, जो सभी रसों में तथा सभी रचनाओं में रह सकता है[२६]। इन्होंने प्रत्येक गुण के व्यंजक वर्ण, समास तथा रचना का भी प्रतिपादन किया है[२७]। कविराज विश्वनाथ गुण-विचार में प्रायः मम्मट का ही अनुसरण करते हैं।

पण्डितराज **जगन्नाथ** ने आनन्दवर्धन, अभिनव, तथा मम्मटादि की रससम्बन्धी मान्यता में कुछ परिष्कार प्रस्तुत किया है। इनका कथन है कि आत्मा के निर्गुण होने के कारण माधुर्यादि काव्य के आत्मभूत रस के गुण नहीं हो सकते[२८]। यदि यह कहा जाये कि गुण रस के धर्म हैं, इसका तात्पर्य यह है कि वे रस के उपाधिभूत रति आदि स्थायीभावों के धर्म हैं, तो यह भी संगत नहीं हो सकता, क्योंकि रति आदि तो स्वयं सुखरूप होने से गुण हैं, और गुणों में गुणान्तर का होना संभव नहीं। फिर भी 'श्रृंगारो मधुरः' इत्यादि व्यवहार तो होता ही है। उसके लिए ये प्रयोजकता-सम्बन्ध को बीच में लाते हैं। द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्व ही अथवा प्रयोजकता-

---

२६. द्रष्टव्य : वही ८.६८–७१

२७. द्रष्टव्य : वही ८.७४–७६

२८. किं चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्। र० गं०, आनन १।

सम्बन्ध से द्रुति आदि ही माधुर्य आदि हैं[२९]। अतः शृंगार मधुर है, इसका अभिप्राय होगा कि शृंगार माधुर्यप्रयोजक या द्रुतिप्रयोजक है। गुण का यह स्वरूप शब्दार्थ में भी घटित हो सकने से शब्दार्थ में गुणों की स्थिति के लिए गौणीवृत्ति को मानने की आवश्यकता नहीं रहती[३०]। शब्दार्थ भी माधुर्य या द्रुति के प्रयोजक हो सकते हैं। यह प्रयोजकत्व संघटना, शब्द, अर्थ तथा रस सभी में रहता है। इस रूप में वामन के शब्दार्थ-गुणों की भी संगति लग सकती है।

जयदेव का गुण-विचार

गुणों के उपर्युक्त संक्षिप्त इतिहास पर दृष्टिपात करने के पश्चात् अब हम जयदेवप्रोक्त गुण-विचार पर आते हैं, तथा यह देखते हैं कि जयदेव पूर्ववर्ती आचार्यों से कहाँ तक प्रभावित हुए हैं और उनकी दृष्टि में गुण क्या हैं तथा काव्य में उनकी क्या स्थिति है। चन्द्रालोक का चतुर्थ मयूख समग्र गुणविषयक है। इसमें जयदेव ने भरत, दण्डी एवं वामन से स्वीकृत दस गुणों में से आठ गुण स्वीकार किये हैं— श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य और उदारता। ये स्पष्ट रूप में गुणों को न तो आन्दनवर्धन, मम्मट आदि के समान रस के धर्म कहते हैं, न ही वामनादि के समान शब्दार्थ के धर्म। भरत-मुनि के समान इन्होंने भी गुणों को काव्यगत कहा है—गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा[३१]। तथापि गुणों के जो इन्होंने लक्षण और उदाहरण दिये हैं, उनकी परीक्षा करने पर भरतोक्त गुणों के समान ही कुछ गुण शब्दगत, कुछ अर्थगत प्रतीत होते हैं। काव्य में गुणों की स्थिति स्पष्ट करने के लिए उपमा तो इन्होंने भी मम्मट के समान शौर्यादि से ही दी है, पर इतना अन्तर है कि मम्मट ने "शौर्यादय इवात्मनः" कहा था, जबकि ये 'पुंसि शौर्यादयो यथा' कहते हैं, और मम्मट ने 'रसस्याङ्गिनो धर्माः' कहा था, जबकि ये 'गुणाः काव्ये' कहते हैं। नीचे हम जयदेव-प्रदर्शित गुणों की तुलनात्मक समीक्षा दे रहे हैं। इस तुलना में हमने मुख्यतः भरत, दण्डी, वामन तथा भोज को ही लिया है।

१. **श्लेष**—श्लेष जयदेव ने आर्थ तथा शाब्द दोनों प्रकार का वर्णित किया है। जहाँ असम्भव बात को युक्ति से सम्भव बनाया जाये वहाँ अर्थश्लेष होता है, और सजातीय शब्दों से सुखजनक बन्ध में शब्दश्लेष—

श्लेषो विघटमानार्थघटमानत्ववर्णनम्।
स तु शाब्दः सजातीयैः शब्दैर्बन्धः सुखावहः।।च० ४.१।

---

२९. अथ शृंगारो मधुरः इत्यादि व्यवहारः कथमिति चेत्, एवं तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु। वही.

३०. तथा च, शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्यः इति तु मादृशाः। वही.

३१. च० ४.१०, तुलनीय : ना० शा० १७.९६ काव्यस्य गुणा दर्शते।

दोनों प्रकार के श्लेष के उदाहरणस्वरूप चन्द्रालोक में निम्न पद्य दिया गया है—

उल्लसत्तनुतां नीतेऽनन्ते पुलककण्टकैः ।
भीतया मानवत्यैव श्रियाश्लिष्टं हरिं स्तुमः ॥च० ४·२

शेषशय्या पर विष्णु और लक्ष्मी स्थित हैं। लक्ष्मी ने मान धारण किया हुआ है। इतने में ही शेषनाग हरिभक्ति आदि किसी निमित्त से रोमांचित हो उठते हैं। रोमकंटकों से भीत होकर मानवती लक्ष्मी भी विष्णु का आलिंगन कर लेती हैं। यहाँ मानवती के असम्भव आलिंगन को भी युक्ति से सम्भव बना दिया गया है, अतः अर्थश्लेष है। 'तनुतां नीतेऽनन्ते', 'श्रियाश्लिष्टं' आदि में सजातीय बन्ध होने से शब्दश्लेष भी है।

श्लेष के इस स्वरूपनिरूपण में जयदेव ने प्रायः वामन का ही अनुसरण किया है। वामन ने मसृणत्व (सजातीय वर्णों के कारण अनेक पदों की एकपदवत् प्रतीति) को शब्दश्लेष तथा घटना (क्रियासातत्य, विदग्धचेष्टित, अप्रसिद्धवर्णनविरह तथा साधकयुक्तिविन्यास इन सबके योग) को अर्थश्लेष कहा था—

मसृणत्वं श्लेषः। मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति पदान्येकवद् भासन्ते। यथा—अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः। काव्यालं० सू० ३.१.११।

घटना श्लेषः। क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगो घटना, स श्लेषः। यथा—दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे। वही ३.२.४।

भरतोक्त[32] लक्षण की व्याख्या में अभिनवगुप्त भी वामन का ही अनुसरण करते हैं। भोज का श्लेषस्वरूप भी वामनानुसारी ही है। दण्डी के मत में शिथिलता (अल्पप्राण अक्षरों की बहुलता) का न होना श्लेष है[33], एवं यह शब्दगुण है। शिथिल का उदाहरण है 'मालतीमाला लोलालिकलिला' यह गौडमार्ग वालों की शैली है। वैदर्भ-मार्ग की श्लेषगुणयुक्त रचना इस प्रकार होगी—'मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैरिति'।

२. प्रसाद—जैसे स्वच्छ जल के अन्दर स्थित वस्तु स्वयं बाहर से दिखाई दे जाती है, वैसे ही काव्य के अन्दर स्थित अर्थ जिससे स्वयं अवभासित हो जाये उसे प्रसादगुण कहते हैं—

यस्मादन्तः स्थितः सर्वः स्वयमर्थोऽवभासते ।
सलिलस्येव सूक्तस्य स प्रसाद इति स्मृतः ॥च० ४.३

स्वतः अर्थप्रतीति के लिए आवश्यक है कि पद प्रसिद्धार्थक हों। एवं यह शब्दगुण है। उक्त लक्षण-श्लोक ही प्रसाद का उदाहरण भी है। जयदेवोक्त इस

---

३२. ईप्सितेनार्थजातेन संबद्धानां परस्परम् ।
श्लिष्टता या पदानां सलेष इत्यभिधीयते ॥ ना० शा० १७.९७

३३. श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यम्। काव्या० १.४३

प्रसाद गुण पर स्पष्टतः दण्डी की छाया है। दण्डी ने प्रसिद्धार्थक पद-प्रयोग को ही प्रसाद कहा था—

प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति ।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः ॥ काव्या० १.४५

मम्मट ने भी यही कहा था, यद्यपि इतना अन्तर है कि उसकी दृष्टि में यह रसधर्म है—

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥ का० प्र० ८.७६

भरतमुनि ने भी प्रसाद में शब्दार्थसंयोग तो माना था, पर उसके साथ यह भी कहा था कि प्रसाद वह है जहाँ अनुक्त भी अर्थ बुधजनों को प्रतीत हो जाया करता है।

अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दादर्थः प्रतीयते ।
सुखशब्दार्थसंयोगात् प्रसादः परिकीर्त्यते ॥ ना० शा० १७.९९

वामन ने शब्दगुणरूप में प्रसाद ओज और शैथिल्य के मिश्रण को कहा था। यह मिश्रण बराबर तथा कम-अधिक दोनों प्रकार का हो सकता है। कहीं ओज और शैथिल्य बराबर-बराबर होते हैं, कहीं ओज शैथिल्य से अधिक, तथा कहीं शैथिल्य ओज से अधिक होता है[३४]। अर्थगुणरूप में अर्थवैमल्य को प्रसाद कहा था, अर्थात् जितने शब्द अर्थप्रतीति के प्रयोजक हों उतने ही शब्दों का प्रयोग करना, अनावश्यक शब्दों का प्रयोग न करना[३५]। जैसे, 'सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी' यहाँ प्रसाद है। पर 'उपास्तां हस्तो मे विमलमणिकाञ्चीपदमिदम्' यह प्रत्युदाहरण होगा, क्योंकि यहाँ केवल 'कांचीपदम्' से ही नितम्ब अर्थ निकल आने से 'विमलमणि' विशेषण व्यर्थ ठहरता है। भोज ने शब्दप्रसाद में दण्डी का तथा अर्थप्रसाद में भरत का अनुसरण किया है[३६], क्योंकि वह क्रमशः प्रसिद्धार्थपदत्व तथा अनुक्त अर्थ के प्राकट्य को प्रसाद कहता है।

३. समता – समताऽल्पसमासत्वं वर्णाद्यैस्तुल्यताऽथवा ।
श्यामला कोमला बाला रमणं शरणं गता ॥ च० ४.४

जयदेव के मतानुसार समता गुण दो प्रकार का है। प्रथम; अल्पसमासत्व को समता कहते हैं। अल्पसमासत्व का अभिप्राय है समास न्यून होना अथवा सर्वथा न होना अर्थात् बहुल समास का अभाव। यथा उपर्युक्त श्लोक के पूर्वार्ध में, अल्पसमासत्व' तथा 'वर्णाद्यैः' शब्दों में न्यूनसमास तथा उत्तरार्ध में सर्वथा समासाभाव है[३७]।

---

३४. द्रष्टव्य : काव्यालं० सू० ३.१.६-१० तथा वृत्ति।

३५. अर्थवैमल्यं प्रसादः। अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपरिग्रहः प्रसादः। वही ३.२.३ तथा वृत्ति।

३६. प्रसिद्धार्थपदत्वं यत् स प्रसादो निगद्यते। सर० कण्ठा० १.६६
यत्तु प्राकट्यमर्थस्य प्रसादः सोऽभिधीयते। वही १.७९

३७. शरदागम, राकागम तथा रमा तीनों ही टीकाओं में अल्पसमासत्व का अर्थ बहुसमासाभाव किया गया है। पर उदाहरण केवल श्लोक के उत्तरार्ध को ही माना है, जहाँ समास सर्वथा नहीं है। हमने पूर्वार्द्ध को भी लक्षण-उदाहरण दोनों मानकर व्याख्या की है।

पांचाली रीति को भी यद्यपि जयदेव अल्पसमास वाली कहते हैं, तथापि उसमें और इस समता गुण में शरदागम में यह अन्तर बताया गया है कि पांचाली रीति तो तब होती है जब सभी पादों में अल्पसमास हो, और समता गुण एक पाद में भी अल्पसमास रहने पर हो सकता है [३८]। रमा टीकाकार भी यही कहते हैं। यही वैदर्भी रीति तथा समासाभाव वाली समता के विषय में भी कहा जा सकता है। द्वितीय समता कहाती है वर्ण आदि की तुल्यता। वर्ण का अभिप्राय टीकाकारों ने स्वर लिया है। जैसे 'श्यामला कोमला बाला' यहां 'आ' वर्ण का साम्य तथा 'रमणं शरणं' में 'अ' वर्ण के साम्य का चमत्कार है। 'वर्णाद्यैः' में आद्य से संख्यासाम्य, पदसाम्य तथा पाद-साम्य भी गृहीत हो जाता है[३९]। यथा 'श्यामला कोमला बाला' तथा 'रमणं शरणं गता' इन दोनों पादों में दो-दो पद ३-३ अक्षर के तथा तृतीय पद दो-दो अक्षर का होने से संख्यासाम्य, पदसाम्य तथा पादसाम्य भी है। वर्ण से स्वर अर्थ लेने में हेतु यह दिया गया है कि व्यंजनसाम्य तो अनुप्रास से ही गतार्थ हो जाता है। किन्तु वस्तुतः, जैसा कि अनुप्रास-प्रकरण में हम देखेंगे, जयदेव ने स्वरानुप्रास भी माना है। अतः 'वर्णाद्यैः तुल्यता' का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जहाँ पदावृत्ति न होते हुए स्वर, व्यंजन, अक्षर-संख्या आदि कइयों की सम्मिलित तुल्यता हो वहाँ समता गुण होता है। अनुप्रास में अनेक तुल्यताएं होनी आवश्यक नहीं हैं। एवं उक्त उदाहरण में अनुप्रासा-लंकार भी है तथा समता नामक गुण भी।

समता गुण का उक्त स्वरूप जयदेव का अपना मौलिक है तथा इस स्वरूप के अनुसार यह शब्दगुण ठहरता है। भरतमुनि ने समता उसे कहा था जहाँ न अति असमस्त पद हों, न व्यर्थ पद और न दुर्बोध पद। अथवा जहां अलंकार तथा गुण एक-दूसरे के सदृश और एक-दूसरे को भूषित करने वाले हों वह समता होती है।

नातिचूर्णपदैर्युक्ता न च व्यर्थाभिधायिभिः।
दुर्बोधनैश्च न कृता समत्वात् समता मता॥
अन्योन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणाः।
अलङ्कारा गुणाश्चैव समाः स्युः समता तु सा॥ ना० शा० १७.१००, १०१

दण्डी ने मृदु, स्फुट तथा मध्यम बन्धों में से जिस बन्ध से प्रारम्भ करें उसी बन्ध से यदि परिसमाप्ति हो, अर्थात् बन्ध का वैषम्य न हो, उसे समता कहा है। तदनुसार यह शब्दगुण है।

समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धाः मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः॥ काव्या० १.४७

वामन ने शब्द-गुण रूप में मार्गभेद को समता कहते हुए लगभग दण्डी का ही अनुसरण किया है, अर्थात् जिस कोमल या जटिल मार्ग से उपक्रम हो उसका अन्त तक निर्वाह करना[४०]। अर्थगुण के रूप में अवैषम्य को समता माना है और अवैषम्य

---

३८. न च प्रथमं लक्षणं पांचाल्या गतं, तत्र बहुषु पादेषु समासाभावस्येष्टत्वात् एक-पादेऽपि समासाभावे समतानिर्वाहात्। शरदागम०

३९. वर्णशब्देन अत्र स्वराः, आद्येन पदतत्संख्यादिपरिग्रहः। रमा०

४०. मार्गभेद : समता। ...... येन मार्गेणोपक्रमस्तस्याऽत्याग इत्यर्थः। काव्यालं० सू० ३.१.१२ तथा वृत्ति।

का अभिप्राय लिया है प्रक्रम का अभेद अथवा अर्थ की सुगमता[41]। भोज भी दण्डी और वामन के अनुवर्ती हैं।

शब्दसमता : यन्मृदुप्रस्फुटोन्मिश्रवर्णबन्धविधिं प्रति ।
अवैषम्येण भणनं समता साभिधीयते ।। सर० कण्ठा० १.६७

अर्थसमता : अवैषम्यं क्रमवतां समत्वमिति कीर्तितम् ।। वही १.७९

४. **समाधि**—अर्थ की उस महिमा को समाधि गुण कहते हैं, जिसके सान्द्र रस रूप में परिणत होकर चित्त में प्रवेश करने से सहृदयों का शरीर रोमांचित हो उठे[42]—

समाधिरर्थमहिमा लसद्घनरसात्मना ।
स्यादन्तर्विशता येन गात्रमङ्कुरितं सताम् ।। च० ४.५

लक्षण के अनुसार यह अर्थगुण होगा। समाधि गुण का यह रूप जयदेव का अपना मौलिक है। वस्तुतः यह रसध्वनि में अन्तर्भूत हो सकता है। चन्द्रालोक में इसका कोई उदाहरण नहीं दिया गया है। लक्षण-श्लोक को ही उदाहरण मानने में यहाँ संगति नहीं लगती। अपनी शरदागम टीका में प्रद्योतनभट्ट स्वनिर्मित निम्न श्लोक उदाहरणरूप में देते हुए लिखते हैं कि इसके अर्थ की प्रतीति से रोमांच हो जाता है, इसमें सहृदय ही साक्षी हैं।

कैलासाभिमुखेषु केषुचिदुमामालोक्य शंकाकुलां
दर्पाज्जीर्णविषेण भूतपतिना द्वित्रा निगीर्णा हठात् ।
भाले दृष्टिपथेन दुर्जरतया कल्पानलादुल्बणा
भूयः पल्लविता हुताशनमिषाद् यस्य प्रतापांशवः ।।

आचार्य भरत के अनुसार प्रतिभाशाली जन जिस अर्थ मे विशेषता (चमत्कृति-कृता) अनुभव करें, काव्य में उस अर्थ का होना समाधि कहाता है।

अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्येहोपलक्ष्यते ।
तेन चार्थेन संपन्नः समाधिः परिकीर्तितः ।। ना० शा० १७.१०२

दण्डी अन्य के धर्म को अन्य में आरोपित करने को समाधि कहते हैं[43]। जैसे निमीलित होना तथा उन्मिषित होना रूपी नेत्रधर्म का संकोच-विकास-क्रिया में आरोप कर 'कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च' ऐसा प्रयोग कवि करते हैं।

---

४१. अवैषम्यं समता। अवैषम्यं प्रक्रमाभेदः ········ सुगमत्वं वाऽवैषम्यमिति। वही ३.२.५, ६

४२. शरदागम टीका में समाधि का यही स्वरूप व्याख्यात हुआ है, जो सीधा ही कारिका के शब्दों से भी निकलता है। राकागम तथा रमा टीकाएं दण्डी से प्रभावित हैं।

४३. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ।। काव्या० १.९३

वामन ने शब्दगुण के रूप में आरोहावरोहक्रम को समाधि कहा है[४४]। आरोह-पूर्वक अवरोह या अवरोहपूर्वक आरोह दोनों स्थितियाँ हो सकती हैं। 'निरानन्दः कौन्दे मधुनि परिभुक्तोज्झितरसे' में प्रथम स्थिति है, तथा 'नराः शीलभ्रष्टा व्यसन इव मज्जन्ति तरवः' में द्वितीय स्थिति। तीसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि पहले क्रम से शनैः शनैः आरोह हो, फिर उसी प्रकार अवरोह। यथा 'निवेशः स्वः सिन्धोस्तु-हिनगिरिवीथीषु जयति'। अर्थगुण के रूप में इनके अनुसार अर्थदृष्टि अर्थात् अयोनि या अन्यच्छायायोनि रूप अर्थ का दर्शन समाधि है [४५]।

भोज शब्द-समाधि में तो दण्डी का अनुसरण करते हैं[४६] तथा अर्थसमाधि का अपना नवीन स्वरूप बताते हैं · व्याजावलम्बन[४७] अर्थात् बहाने का सहारा लेना। इन्होंने व्याजावलम्बन के उदाहरणरूप में 'दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे' आदि शाकुन्तल का श्लोक उद्धृत किया है।

५. माधुर्य—

माधुर्यं पुनरुक्तस्य वैचित्र्यं चारुतावहम्।
वयस्य पश्य पश्यास्याश्चञ्चलं लोचनाञ्चलम्॥ च० ४.६

पुनरुक्त पद से यदि चारुतावह वैचित्र्य या चमत्कार उत्पन्न होता हो तो माधुर्य नामक गुण होता है। जैसे 'मित्र, देखो-देखो, इस सुन्दरी के लोचनांचल कैसे चंचल हैं'। यहाँ देखो-देखो (पश्य-पश्य) इस पुनरुक्ति से चांचल्य का अतिशय आदि चामत्कारिक अर्थ प्रतीत होने से माधुर्य नामक गुण है[४८]। भामह, दण्डी आदि ने भी इस प्रकार की पुनरुक्ति को दोष न मान कर गुण-कक्षा में निविष्ट किया था, पर इसे माधुर्य गुण नहीं कहा था।

भरत के अनुसार बहुशः श्रुत या उक्त वाक्य भी जिसके होने से उद्वेजक न हो उसे माधुर्य गुण कहते हैं [४९]। भामह ने श्रव्य तथा अनतिसमस्तार्थ काव्य को माधुर्यगुणयुक्त माना है [५०]। दण्डी रसवत्ता अर्थात् रसव्यंजक सानुप्रास पदासत्ति को

---

४४. आरोहावरोहक्रमः समाधिः। काव्यालं० सू० ३.१.१३
४५. अर्थदृष्टिः समाधिः। अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा। वही ३.२.७,८
४६ समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोहणम्। सर० कण्ठा० १.७२
४७. व्याजावलम्बनं यत्तु स समाधिरिति स्मृतः। वही १.८४
४८. राकागम तथा रमा टीकाओं में चन्द्रालोक के लक्षण की दर्पणकार के लक्षण के अनुरूप व्याख्या करके 'ञ्चल' की पुनरुक्ति को भी माधुर्य माना है।
४९. बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम्॥ ना० शा० १७.१०४
५०. श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते। काव्यालं० भा०, २.३

माधुर्य कहते हैं[५१]। वामन ने 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' सदृश पृथक्पदत्व (दीर्घ-समासाभाव) को शब्दमाधुर्य[५२] तथा उक्तिवैचित्र्य (समान अर्थ को प्रत्येक बार भिन्न प्रकार से कहने) को अर्थमाधुर्य[५३] कहा है। जैसे 'रसवदमृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा' आदि में अर्थमाधुर्य है। भोज ने भी शब्दमाधुर्य तो वामन के समान पृथक्-पदत्व[५४] को ही कहा है, किन्तु अर्थमाधुर्य क्रोधादि में भी तीव्रता न होने में माना है[५५]। मम्मट के अनुसार द्रुति के हेतुभूत आह्लादकत्व को माधुर्य कहते हैं[५६]। विश्वनाथ के मत में द्रुति का हेतु नहीं, किन्तु साक्षात् चित्तद्रवीभावरूप आह्लाद माधुर्य है[५७]।

जयदेवप्रोक्त माधुर्य का स्वरूप इन सबकी अपेक्षा नवीन ही है। भरत तथा जयदेव के लक्षण समान से प्रतीत होते हैं, पर दोनों का अभिप्राय एक ही है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यद्यपि जयदेव ने जो लक्षण किया है उसमें वामन का उक्तिवैचित्र्य भी समाविष्ट हो सकता है, पर जो उदाहरण दिया है वह उस कोटि में नहीं आता।

६. ओज—

ओजःस्यात् प्रोढिरर्थस्य संक्षेपो वातिभूयसः।
रिपुं हत्वा यशः कृत्वा त्वदसिः कोशमाविशत्॥ च० ४.७

ओज गुण दो प्रकार का है। एक तो अर्थ की प्रौढि को ओज कहते हैं, दूसरे अतिविस्तृत अर्थ को भी संक्षिप्त शब्दों में कहना ओज कहाता है। टीकाकारों ने प्रथम को अर्थगुण तथा द्वितीय को शब्दगुण कहा है[५८], यद्यपि वामन के अनुसार द्वितीय भी अर्थगुण ही है। प्रौढि का अभिप्राय शरदागम टीकाकार ने यह लिया है कि किसी अविद्यमान उत्कर्षाधायक रूप में वर्णन करने को प्रौढि कहते हैं[५९]। राकागम और

---

५१. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ काव्या० १.५१

५२. पृथक्पदत्वं माधुर्यम्। काव्यालं० सू० ३.१.२१

५३. उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। वही ३.२.११

५४. या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यमिति स्मृतम्। सर० कण्ठा० १.६८

५५. माधुर्यमुक्तमाचार्यैः क्रोधादावप्यतीव्रता। वही १.८०

५६. आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्। का० प्र० ८.६८

५७. चित्तद्रवीभावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते। सा० द० ८.२

५८. अर्थनिष्ठमोजः प्रौढोक्तिरूपं शब्दनिष्ठं संक्षेपरूपम्—राकागम। रमा भी द्रष्टव्य।

५९. अर्थस्य प्रौढिरोजः, सा चाविद्यमानेन केनचिदुत्कर्षाधायकरूपेण वर्णनम्। शरदागम

रमा टीकाओं के अनुसार जो जिसका आश्रय नहीं है उसे उसका आश्रय कथन करना प्रौढि है[६०]। प्रौढ़ि की ये व्याख्याएं उपर्युक्त श्लोक में दिये हुए 'रिपुं हत्वा' आदि उदाहरण के आधार पर हैं। इस उदाहरण में कहा गया है कि तलवार शत्रुओं को मार कर, यश उपार्जित कर, म्यान में प्रविष्ट हो गई। वस्तुतः तलवार इन क्रियाओं का कर्त्ता न होकर करण है। अविद्यमान भी कर्तृत्व का उसे आश्रय वर्णित करने के कारण यहां प्रौढि है। वामन ने भी अर्थगुण के रूप में अर्थ की प्रौढि को ही ओज कहा था। पर प्रौढि को उन्होंने विस्तृत अर्थ में लिया था तथा इसके निम्न पाँच रूप वर्णित किये थे[६१]—

१. पदार्थ में वाक्य की रचना। यथा, चन्द्रपदवाच्य अर्थ में 'नयनसमुत्थं 'ज्योतिः अत्रेः' का प्रयोग।

२. वाक्यार्थ में एक पद का प्रयोग। यथा—'दिव्येयं न भवति किन्तु मानुषी' इस वाक्य के स्थान पर 'निमिषति' पद कहना।

३. संक्षिप्त अर्थ को विस्तार में कहना। यथा, 'सुख-दुःख का अनुभव अनेक प्रकार का होता है' इस संक्षिप्त अर्थ को निम्न श्लोक में विस्तार से कहा गया है—

अयं नानाकारो भवति सुखदुःखव्यतिकरः
सुखं वा दुःखं वा न भवति भवत्येव च ततः
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति सुखदुःखं किमपि तत्।
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति न च दु.खं न च सुखम्॥

४. विस्तृत अर्थ को संक्षेप में कहना। यथा, अनेक वाक्यों में कथन करने योग्य वृत्त को निम्न श्लोक में एक ही वाक्य में समस्त कर दिया गया है—

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः॥

५. अर्थ की साभिप्रायता। यथा, 'रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः' यहां 'सुकेश्याः' की साभिप्रायता है।

वामनोक्त इन रूढि-प्रकारों में से चतुर्थ प्रकार का 'संक्षेपो वातिभूयसः' इन शब्दों से जयदेव ने भी पृथक् उल्लेख किया है। इसका भी 'रिपुं हत्वा' आदि ही उदाहरण है, क्योंकि इसमें अनेक वाक्यों से वर्णित करने योग्य विस्तृत विषय को संक्षेप से एक वाक्य में कथित कर दिया है। प्रौढि के वामनोक्त शेष रूपों को जयदेव गुण न मानकर वैचित्र्यमात्र ही मानते प्रतीत होते हैं।[६२]

---

६०. अनाश्रयस्य आश्रयत्वेन कथनं प्रौढोक्तिः—राकागम। अर्थस्य प्रौढिः, असता केनचिदुत्कर्षकरूपेण वर्णनम्, अनाश्रयाश्रयस्यत्वेन कथनमिति यावत्—रमा।

६१. अर्थस्य प्रौढिरोजः। ...... 'पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च॥' काव्यालं० सू० ३.२.२ तथा वृत्ति।

६२. द्रष्टव्य : च० ४.१२

वामन ने शब्दनिष्ठ ओज का स्वरूप गाढबन्धत्व कहा है[६३] तथा उसका उदाहरण दिया है—'विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति'। इसके स्थान पर यदि 'विलुलितमधुधारा मञ्जरीर्लोलयन्ति' पठित कर दें तो ओज नहीं रहता।

भरत के अनुसार बहुत से समासयुक्त, विचित्र, सानुराग[६४] तथा उदार पदों का प्रयोग करने पर ओज गुण होता है। अथवा यदि निन्दित तथा हीन भी वस्तु शब्दार्थ की संपत्ति से उदात्तताव्यंजक हो जाये तो उसे ओज कहते हैं।

समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्।
सानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते ॥
अवगीतोऽपि हीनोऽपि स्यादुदात्तावभासकः।
यत्र शब्दार्थसंपत्त्या तदोजः परिकीर्तितम् ॥ ना० शा० १७.१०५, १०६

दण्डी समासभूयस्त्व को ओज कहते हैं[६५]। भामह को भी यही अभिप्रेत है[६६] भोज ने भी शब्दगत ओज में दण्डी का ही अनुसरण किया है[६७]। किन्तु उनका अर्थगत ओज नवीन है—ऐसी रचना जिससे किसी विषय में अपने निश्चय की दृढता प्रतीत होती हो[६८]। जैसे—

तान्येव यदि भूतानि ता एव यदि शक्तयः।
ततः परशुरामस्य न प्रतीमः पराभवम् ॥

यहां 'परशुराम अवश्य विजयी होंगे' इस विषय में अपने विचार की दृढता प्रकट होती है। मम्मट दीप्तिरूप चित्तविस्तार के हेतु को ओज गुण कहते हैं, तथा वर्गों के प्रथम और तृतीय वर्णों के साथ द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के संयोग, रेफसंयोग, तुल्यवर्णसंयोग, णकारवर्जित टवर्ग, श, ष, दीर्घसमासत्व तथा विकटबन्ध को उसका व्यंजक मानते हैं[६९]।

७. सौकुमार्य—

सौकुमार्यमपारुष्यं पर्यायपरिवर्तनात्।
स कथाशेषतां यातः समालिङ्ग्य मरुत्सखम् ॥ च० ४.८

जयदेव उस गुण को सौकुमार्य कहते हैं जिसमें परुष अर्थ भी अपरुष पर्याय के प्रयोग से सुकुमार प्रतीत होने लगता है। जैसे 'अग्नौ प्रविश्य मृतः' यह अर्थ अमंगल-

---

६३. गाढबन्धत्वमोजः। काव्यालं० सू० ३.१.५
६४. यत्र वर्णो वर्णान्तरमपेक्षते तत्र सानुरागत्वम्। अभि० भा०
६५. ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्। काव्या० १.८०
६६. केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि। काव्यालं० भा०, २.२
६७. ओजः समासभूयस्त्वम्। सर० कण्ठा० १.७१
६८. ओजः स्वाध्यवसायस्य विशेषोऽर्थेषु यो भवेत्। वही १.८२
६९. दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजः।...'योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः। टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥' का० प्र० ८.६९, ७५

जनक होने से परुष है, इसके स्थान पर 'मरुत्सखं समालिङ्ग्य कथाशेषतां यातः' ऐसा कहने में अर्थ सुकुमार हो जाता है। इस प्रकार यह अर्थगुण है। शरदागम टीका के अनुसार शब्द ही परुष तथा अपरुष होने से यह शब्दगुण ही होगा [७०]। इस मत का उल्लेख 'अन्ये तु' कहकर रमा टीका में भी किया गया है।

इस गुण के प्रतिपादन में आंशिक रूप से जयदेव ने वामन का ही अनुसरण किया है। वामन का अर्थसौकुमार्य यही है—

अपारुष्यं सौकुमार्यम्। परुषेऽर्थे अपारुष्यं सौकुमार्यमिति। यथा, मृतं यशःशेषमित्याहुः, एकाकिनं देवताद्वितीयमिति। गच्छ इति साधय इति च। काव्याल० सू० ३.२.१२ तथा वृत्ति।

इसके अतिरिक्त शब्दगुण के रूप में ये अजरठत्व को सौकुमार्य कहते हैं[७१], अर्थात् पारुष्य के अभाव को। 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' आदि श्लोक इसका उदाहरण है।

भरतमुनि का सौकुमार्य भी इससे मिलता-जुलता है। उनका शब्दसौकुमार्य है सुखप्रयोज्य तथा सुश्लिष्ट संधि वाले शब्दों का प्रयोग करना और अर्थसौकुमार्य है सुकुमार अर्थ का योग—

सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते॥ ना० शा० १७.१०७

दण्डी अनिष्ठुराक्षरप्राय रचना को सुकुमार कहते हैं, तथा यह भी दर्शाते हैं कि रचना में सभी वर्ण अनिष्ठुर या कोमल नहीं होने चाहिएँ, क्योंकि उससे बन्धशैथिल्य दोष उत्पन्न हो जाता है।

अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते।
बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले॥ काव्या० १.६९

भोज शब्दसौकुमार्य में दण्डी का ही अनुसरण करते हैं[७२]। अर्थसौकुमार्य इनका अपना नवीन है। व्यक्ति के हृदय की अनिष्ठुरता जहां प्रकट होती हो अर्थात् सामग्री होने पर चित्तद्रुति हो जाती हो, वहां अर्थसौकुमार्य[७३] होता है। जैसे 'सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी' आदि पद्य में सीता द्वारा थोड़ा सा चलने के बाद 'अभी और कितना चलना है' यह पूछे जाने पर राम की आंखों में आंसू आ जाते हैं, उनकी इस अनिष्ठुरता का वर्णन होने से यहां सौकुमार्य है।

---

७०. वस्तुतस्तु तादृशः शब्द एव परुषः प्रविश्येत्यादिप्रवेशादिति ध्येयम्।
शरदागम

७१. अजरठत्वं सौकुमार्यम्। काव्यालं० सू० ३.१.२२

७२. अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिति स्मृतम्। सर० कण्ठा १.६८

७३. अनिष्ठुरत्वं यत्प्राहुः सौकुमार्यं तदुच्यते। वही १.८०

८. उदारता—

उदारता तु वैदग्ध्यमग्राम्यत्वात् पृथङ् मता ।
मानं मुञ्च प्रिये किञ्चिल्लोचनान्तमुदञ्चय ।। च० ४.६

साधारण बात को भी विदग्धतापूर्वक कहना उदारता नामक गुण कहाता है, जैसे 'मानं मुञ्च' आदि । यहाँ 'मां प्रति पश्य' इस साधारण बात को 'किंचिल्लोचनान्तमुदञ्चय' इस प्रकार विदग्धता के साथ कहा गया है । यह अर्थगुण होगा । मम्मट ने इसे ग्राम्यत्व दोष का अभावमात्र कहकर पृथक् गुण के रूप में अस्वीकृत किया है । उसका उत्तर देते हुए जयदेव कहते हैं कि उदारता अग्राम्यत्वमात्र नहीं अपितु भावात्मक है । यदि 'लोचनान्तमुदञ्चय' के स्थान पर 'विलोकय' कहा जाता तब भी अग्राम्यत्व तो रहता ही, परन्तु इस स्थिति में वैदग्ध्योक्ति न रहने से उदारता गुण नहीं होता । यहां वामनप्रोक्त उदारता के लक्षण पर भी कटाक्ष है, क्योंकि वे भी अग्राम्यत्व को ही उदारता नामक अर्थगुण कहते हैं[७४] । यहां जयदेव का यह संकेत कि दोषाभाव ही गुण नहीं होता, वहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे मम्मट ने अनेक गुणों को जो दोषाभावरूप मानकर अस्वीकृत कर दिया है, उसका निराकरण हो जाता है । वामन ने शब्दगुणरूप में, विकटत्व अर्थात् पदों के नृत्यत्प्रायत्व को उदारता कहा है । जैसे निम्न पंक्तियों में पद नृत्य करते हुए से प्रतीत हो रहे हैं—

स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां ।
झणिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलं च ।।

भरत-प्रोक्त उदारता का लक्षण यह है—

दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गाराद्भुतयोजितम् ।
अनेकभावसंयुक्तमुदारत्वं प्रकीर्तितम् ।।
अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तैः सौष्ठवसंयुतैः ।
उपेतमतिचित्रार्थैरुदात्तं तच्च कीर्त्यते ।। ना० शा० १७.११०, १११

दण्डी ने उदार गुण वहां माना है जहां वर्णित वस्तु में किसी अलौकिक उत्कर्ष की प्रतीति होती हो[७५] । उदाहरणार्थ—

अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतितासकृत् ।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ।।

जो याचक दीनभाव से एक बार आपका मुख देख लेता है, उसे फिर कभी किसी का मुख याचक रूप में नहीं देखना पड़ता, अर्थात् आप उसे इतना धन देते हैं कि उसकी दीनता दूर हो जाती है । इस वर्णन से राजा के दान का अद्भुत उत्कर्ष सूचित होता है । किन्हीं आचार्यों के मत के रूप में दण्डी श्लाघ्यविशेषण-युक्तता को भी

७४. अग्राम्यत्वमुदारता । काव्यालं० सू० ३.२.१३
७५. उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ।। काव्या० १.७६

उदार गुण कहते हैं[७६]। जैसे लीलाम्बुज, क्रीडासर, हेमांगद आदि में लीला, क्रीडा, हेम आदि विशेषणों के योग से विशेष उत्कर्ष आ गया है।

भोज ने शब्दगुण के रूप में वामन के समान विकटाक्षरबन्ध (पदों के नृत्यत्प्रायत्व) को ही औदार्य कहा है[७७]। इनका अर्थौदार्य है किसी वस्तु के वैभवोत्कर्ष का वर्णन[७८], जैसे शाकुन्तल में 'प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता' आदि द्वारा मारीचाश्रम का वैभवोत्कर्ष वर्णित हुआ है। यह स्वरूप दण्डी से मिलता-जुलता है।

कान्ति तथा अर्थव्यक्ति का गुणान्तर न होना

जयदेव प्राचीनोक्त कान्ति तथा अर्थव्यक्ति को पृथक् गुण नहीं मानते। ये कान्ति को श्रृंगार में तथा अर्थव्यक्ति को प्रसाद में अन्तर्भूत करते हैं[७९]। वामन, भोज आदि ने अर्थगुण के प्रसंग में दीप्तरसत्व को कान्ति कहा था[८०]। जयदेव का श्रृंगार में अन्तर्भाव करने का अभिप्राय उसी कान्ति से है। पर क्योंकि वामनादि ने केवल श्रृंगार रस के दीप्तत्व को ही कान्ति नहीं माना था, अपितु सभी रसों के दीप्तत्व को कान्ति कहा था[८१], अतः इसका अन्तर्भाव केवल श्रृंगार में न करके रससामान्य में करना चाहिए था। इनसे पूर्व मम्मट कान्ति को रसध्वनि में अन्तर्भूत कर भी चुके थे। शरदागम तथा रमा टीकाओं के अनुसार 'श्रृंगारे च' के स्थान पर 'श्रृगारादौ' पाठान्तर भी मिलता है[८२]। वह अधिक संगत प्रतीत होता है, क्योंकि उसके अनुसार कान्ति का अन्तर्भाव केवल श्रृंगार में न होकर श्रृंगारादि रस अर्थात् रससामान्य में माना जायेगा। वामन ने शब्दगुण के रूप में बन्ध की उज्ज्वलता को कान्ति कहा था[८३]। अन्तर्भाव दिखाते हुए जयदेव ने उसे ध्यान में नहीं रखा है।

वामन ने शब्दगुणरूप में अर्थव्यक्ति उसे कहा था, जिससे सद्यः अर्थ की प्रतीति हो जाती हो[८४], जैसे 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' आदि में होती है। इसका अन्तर्भाव जैसे मम्मट ने प्रसादगुण में किया था, वैसे ही जयदेव भी करते हैं।

---

७६. श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते।
यथा लीलाम्बुजक्रीडासरोहेमाङ्गदादयः॥ वही १.७९

७७. विकटाक्षरबन्धत्वमार्यैरोदार्यमुच्यते। सर० कण्ठा० १.७०

७८. भूत्युत्कर्ष उदारता। वही १.८१

७९. श्रृंगारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्तिसंग्रहः। च० ४.१०

८०. दीप्तरसत्वं कान्तिः। काव्यालं० सू० ३.२.१५, कान्तिर्दीप्तरसत्वं स्यात्। सर० कण्ठा० १.८०

८१. दीप्तरसत्व का श्रृगार का उदाहरण देकर वामन लिखते हैं—'एवं रसान्तरेष्वप्युदाहार्यम्'। काव्यालं० सू० ३.२.१५ वृत्ति

८२. क्वचित् श्रृंगारादाविति पाठः। शरदागम तथा रमा

८३. औज्ज्वल्यं कान्तिः काव्यालं० सू० ३.१.२५

८४. अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः। वही ३.२.१४

वामनोक्त अर्थगुण[८५] रूप अर्थव्यक्ति के सम्बन्ध में, जिसे मम्मट ने स्वभावोक्ति अलंकार में संनिविष्ट किया था, जयदेव कोई संकेत नहीं करते ।

अन्य गुणों का वैचित्र्यमात्र होना

भरत, दण्डी, वामन आदि से प्रोक्त दस गुणों का अपनी दृष्टि से स्वरूप-निर्धारण या अन्यत्र अन्तर्भाव करने के पश्चात् जयदेव काव्य की कतिपय अन्य विशेषताओं के सम्बन्ध में कहते हैं कि ये वैचित्र्यमात्र हैं, गुण नहीं ।

वैचित्र्यलक्षणं व्यासो निर्वाहः प्रौढिरौचिती ।

शास्त्रान्तररहस्योक्तिः संग्रहो दिक् प्रदर्शिता ॥ च० ४.१२

पदार्थ के वाक्य से कथन को व्यास कहते हैं, जिसे वामन ने अर्थगत ओज में समाविष्ट किया था । निर्वाह का अभिप्राय यह ले सकते हैं कि जिस मार्ग, बन्ध आदि से प्रारंभ हो उसका अन्त तक निर्वाह करना, जिसे दण्डी या वामन ने समता गुण कहा है । जयदेव के मत में यह वैचित्र्यमात्र है, अतएव इन्होंने समता गुण का स्वरूप भिन्न माना है । गागाभट्ट वर्णसमता को निर्वाह कहते हैं । शरदागम टीका में निर्वाह का उदाहरण 'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्' आदि दिया है । 'सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्' (पा० ६.१.१३४) सूत्र में ऊपर के सूत्र से बहुलम् की अनुवृत्ति आने के कारण यह वैकल्पिक है । इसका निर्वाह 'सोऽहम्' में हुआ है । प्रौढि से यहां टीकाकारों के अनुसार आशय है उदाहरण में लक्ष्याभिधायक शब्द का प्रयोग, जैसे 'मन्दाक्रान्ता विसृजति रसं नेक्षुयष्टिः समग्रम्' । वामनोक्त ओज-गुण-रूप प्रौढि के पूर्वोक्त स्वरूप भी यहां प्रौढि से गृहीत हो सकते हैं, जिन्हें जयदेव गुण नहीं मानते । औचिती से काव्यगत विविध औचित्यों का ग्रहण हो सकता है, जो गुण की कोटि में नहीं आते । शरदागम तथा तदनुसार रमा टीका में औचिती के उदाहरण रूप में रघुवंश का 'वागर्थाविव संपृक्तौ' आदि श्लोक दिया है, तथा यह व्याख्या की है कि यहाँ वाक् और अर्थ को नमस्यमान शिव-पार्वती रूप उपमेय का उपमान बनाना सर्वथा उचित है, क्योंकि उन्हीं की प्रतिपत्ति नमन के फल रूप में कवि को अभीष्ट है । शास्त्रान्तररहस्योक्ति का उदाहरण 'ज्याकृष्टिबद्ध-खटकामुखपाणिपृष्ठ' आदि पद्य है, क्योंकि संगीतशास्त्र में अंगुलिविन्यासविशेष के लिए प्रसिद्ध 'खटकामुख' शब्द यहां प्रयुक्त हुआ है । संग्रह का उदाहरण शरदागम में 'शृङ्गारी गिरिजानने' इत्यादि पद्य दिया है, जिसमें शृंगार आदि नवों रसों का संग्रह है । गागाभट्ट संग्रह से समास अर्थ लेते हैं अर्थात् पद से वाक्यार्थभिधान, यथा 'निदाघकालशीतलहिमकालोष्णसुकुमारशरीरावयवा योषित्' के स्थान पर वरवर्णिनी पद का प्रयोग । इन सबको जयदेव गुण नहीं, प्रत्युत वैचित्र्यमात्र मानते हैं । 'इति दिक् प्रदर्शिता' कथन से भरत, दण्डी, वामन, भोजराज आदि वर्णित इतर गुण भी वैचित्र्यमात्र हैं, यह सूचित होता है । जैसे भोज ने जो वाक्य निष्ठ तथा वाक्यार्थनिष्ठ २४–२४ गुण कहे थे, उनमें से जिन्हें चन्द्रालोक में स्वीकार किया गया है वे तो गुण हैं, शेष को इन्हीं में अन्तर्भूत या वैचित्र्यमात्र समझना चाहिये ।

---

८५. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः । वही ३.१.२४

प्रस्तुत कारिका में शरदागम में 'विचित्रलक्षणो न्यासः' पाठ है, तथा वहाँ इस कारिका का ११वीं कारिका से सम्बन्ध जोड़कर यह व्याख्या की गई है कि ये सब अलंकारों के उदाहरण हैं। 'वैचित्र्यलक्षणं व्यासः' यह राकागम का पाठ है, तथा वहां इनकी गुणपरक व्याख्या है। वहीं समीचीन प्रतीत होती है। अतः हमने उसी का अनुसरण किया है। रमा टीका में मूल पाठ शरदागम के अनुसार ही है, किन्तु टीका में आद्य मत के नाम से राकागम-स्वीकृत पाठभेद तथा तदनुसारी व्याख्या भी दे दी गई है।

गुण और अलंकार में अन्तर

प्रारम्भ में अलंकारशास्त्र में गुण तथा अलंकार में कोई सुस्पष्ट भेद प्रतिपादित नहीं किया गया था। भामह के काव्यालंकार पर लिखित अपने 'भामहविवरण' में भट्टोद्भट ने कहा है कि इनका भेद मानना गड्डलिकाप्रवाहमात्र है। लौकिक गुण और अलंकारों में तो भेद है, क्योंकि शौर्यादि गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं तथा कटक-कुण्डलादि अलंकार शरीर में संयोग सम्बन्ध से, पर काव्य में ओजःप्रभृति गुण और अनुप्रासादि अलंकार दोनों हीं समवायवृत्ति से रहने के कारण परस्पर अभिन्न हैं।

दण्डी ने काव्य में शोभा लाने वाले धर्मों को अलंकार कहा है[८६]। गुण भी उनके मत में काव्यशोभाजनक होने से अलंकार ही हैं। इतना अन्तर वे करते हैं कि श्लेष, प्रसाद आदि गुणों को असाधारण अलंकार और शब्द एवं अर्थ के अलंकारों को साधारण अलंकार कहते हैं। गुणरूप अलंकार वैदर्भ तथा गौड मार्ग के विभाजक हैं, जबकि, शेष अलंकार साधारण रूप से सर्वत्र निबद्ध हो सकते हैं[८७]।

सर्वप्रथम वामन ने गुण और अलंकार में स्पष्ट भेद दर्शाने का यत्न किया है। उनके अनुसार काव्यशोभा के जनक धर्म गुण हैं और काव्यशोभा में अतिशय लाने वाले धर्म अलंकार[८८]। ओज, प्रसाद आदि गुणों को काव्यशोभा के उत्पादक इसलिए कहा गया, क्योंकि गुण हों और यमक, उपमादि अलंकार न हों तो भी काव्यशोभा हो सकती है, परन्तु गुण न हों तो अलंकारों के होते हुए भी काव्यशोभा नहीं हो सकती। गुणजनित काव्यशोभा को अलंकार बढ़ाते हैं, गुणजनित शोभा ही नहीं है तो अलंकार व्यर्थ हैं, जैसे सहजरूपलावण्यरहित युवति के लिए अलंकार-धारण। वामन गुणों को काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व मानते हैं, अलंकारों को नहीं[८९]।

---

८६. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। काव्या० २.१

८७. काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणमलङ्कारजातमद्य प्रदर्श्यते ॥ वही २.३

८८. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ॥
काव्यालं० सू० ३.१.१,२

८९. 'पूर्वे नित्याः'। पूर्वे गुणा नित्याः, तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।
वही ३.१३ तथा वृत्ति

इसके पश्चात् आनन्दवर्धन ने गुणालंकार में भेदक तत्त्व यह निर्धारित किया कि गुण काव्य के अंगीरूप रस के धर्म हैं और अलंकार काव्य के अंगीभूत शब्दार्थ के। इसका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है। मम्मट भी इसी दृष्टिकोण को लेकर चले तथा इस दिशा में इन्होंने गुणालंकारविवेक को और अधिक विशदरूप में रखा। इस विषय में इनकी निम्न कारिकाएँ हैं—

> ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
> उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥
> उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
> हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ का० प्र० ८.६६, ६७

इनसे गुण और अलंकार के भेद के विषय में निम्न बातें विदित होती हैं—

१. जिस प्रकार शौर्यादि गुण अंगीभूत आत्मा के धर्म होते हैं, उसी प्रकार काव्य में माधुर्यादि गुण अंगीभूत रस के धर्म होते हैं, और हारादि अलंकार जैसे अंगों के धर्म होते हैं, वैसे ही काव्य में अलंकार अंगभूत शब्दार्थ के धर्म होते हैं।

२. माधुर्यादि गुण रस के धर्म होने से साक्षात् रूप से रस में उत्कर्ष लाते हैं, जबकि अलंकार शब्द और अर्थ में उत्कर्ष लाकर उसके द्वारा रस के उपकारक होते हैं।

३. गुण अनिवार्यतः रसोपकारक होते हैं, परन्तु अलंकारों का रसोपकारक होना आवश्यक नहीं है। वे कभी-कभी विद्यमान भी रस के उपकारक नहीं होते। जैसे शृंगार रस में टवर्गानुप्रास शृंगार का विरोधी होने से उसका उपकारक नहीं होता, केवल शब्दशोभा को ही बढ़ाता है।

४. गुण रस के साथ अचलस्थिति होते हैं, अर्थात् रस के बिना नहीं रह सकते। पर अलंकार चल-स्थिति होते हैं, रस के बिना भी रह सकते हैं।

५. गुणों का काव्य में होना अनिवार्य है। पर अलंकार स्फुट रूप में न भी हों तो भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

दर्पणकार मम्मट का ही अनुसरण करते हैं। गुण और अलंकार के भेद पर उद्भट के काव्यालंकारसार-संग्रह के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने तथा भोज ने भी विचार किया है। प्रतीहारेन्दुराज का कथन है कि गुणरहित काव्य अकाव्य ही है, पर अलंकाररहित काव्य अकाव्य नहीं, क्योंकि अलंकारों का कार्य तो गुणोपजनित शोभा वाले काव्य की शोभा को बढ़ाना है[९०]। वे अमरुक का एक श्लोक उद्धृत करते हुए कहते हैं कि इसमें कोई अलंकार नहीं है, पर माधुर्य और ओज से परिबृंहित प्रसाद गुण की विद्यमानता के ही कारण यह काव्य है। भोज प्रायः वामन से प्रभावित हैं। वे काव्य में गुणों की स्थिति नित्य और अलंकारों की अनित्य मानते हैं, और काव्य में गुणोपादान को अलंकारयोग से भी अधिक महत्त्व देते हैं[९१]। ये प्रसादादि गुणों

---

९०. गुणरहितं हि काव्यमकाव्यमेव भवति, न त्वलंकाररहितम्, अलंकाराणां गुणोपजनितशोभे काव्ये शोभातिशयविधायित्वात्। प्रती०

९१. अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः ॥ सर० कण्ठा० १.५९
अयमेव गुणालंकारयोर्विशेषः यद् गुणोपादाने नियमः, अलंकारयोगे तु कामचार इति। शृं० प्र०

को भी अलंकारों के समान शब्दार्थाश्रित मानते हैं, अन्तर केवल इतना है कि गुण शब्दार्थ के मुख्य शोभाहेतु हैं तथा अलंकार अमुख्य। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कहा है कि माधुर्यादि गुण रस पर ही नहीं, शब्दार्थ पर भी आश्रित होते हैं और यह शब्दार्थाश्रितत्व मुख्य ही है, औपचारिक नहीं[९२]।

जयदेव का गुणालंकारविवेक

चन्द्रालोक में गुणालंकार-विवेक पर निम्न वक्तव्य मिलता है।

अमी दश[९३] गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा।
तिलकाद्यमिव स्त्रीणां विदग्धहृदयङ्गमम्॥
व्यतिरिक्तमलङ्कारं प्रकृतेर्भूषणं गिराम्॥ च० ४.१०,११

इन कारिकाओं पर राकागम टीका इस प्रकार है—

यथा शौर्यकातरत्वादयो नियताः पुरुषधर्मास्तथा श्लेषादयो गुणाः काव्यधर्माः। तान् विना काव्यत्वं नास्तीत्याशयः। तिलकाद्यलंकारस्तु शरीरापेक्षया भिन्नः सकलशरीरशोभाजनको न तु शरीरधर्मः। एवमनुप्रासोपमादयोऽलंकारा इति भावः। यथा स्त्रीणां प्रकृतेः स्त्रीशरीरस्य तथा गिरां प्रकृतेः काव्यस्येत्यक्षरार्थः। एवं च काव्यधर्मत्वं गुणत्वं, काव्यशोभाधायकत्वमलङ्कारत्वमिति भेदः।

इससे जयदेव की दृष्टि में गुण और अलंकार में निम्न भेद परिलक्षित होता है। जैसे शौर्य आदि गुण पुरुष के धर्म होते हैं, वैसे ही श्लेष आदि गुण काव्य के धर्म होते हैं। किन्तु अलंकार काव्य के धर्म न होकर उसके भूषण या शोभावर्धक होते हैं, जैसे तिलक आदि अलंकार स्त्रियों के शरीर से भिन्न होते हुए शरीर के शोभावर्धक होते हैं। अलंकार इनके मत में धर्म शब्दार्थ के हैं, क्योंकि शब्द और अर्थ के मनोहर संनिवेश को ही इन्होंने अलंकार कहा है[९४]। ऊपर राकागम की व्याख्या में जो यह कहा गया है कि गुणों के बिना काव्यत्व नहीं होता, उससे यदि यह अभिप्राय हो कि अलंकारों के बिना काव्यत्व हो सकता है, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि जयदेव अलंकारविहीन काव्य की कल्पना भी करने के लिए उद्यत नहीं हैं, यह हम द्वितीय अध्याय में काव्यलक्षण के प्रसंग में देख चुके हैं। अलंकारजनित शोभा को भी वे काव्यत्व के लिए अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि उससे रहित काव्य विदग्धहृदयंगम नहीं होता। जयदेव वामन के इस मन्तव्य से सहमत नहीं हैं कि गुण काव्य में अनिवार्य हैं, पर अलंकार नहीं। निष्कर्षरूप में कहें तो गुण काव्य के धर्म हैं और अलंकार शब्दार्थ के, तथा काव्य में दोनों की स्थिति अनिवार्य है। ●

---

९२. तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्य इति तु मादृशाः। र० गं०

९३. दशेति वामनाभिप्रायेण स्वरीत्या तु अष्टावेव। रमा०

९४. शब्दार्थयोः···हारादिवदलंकारः संनिवेशो मनोहरः। च० ५.१

काव्य में अलंकार की स्थिति

भामह, दण्डी प्रभृति आचार्यों ने अलंकार को ही काव्य की आत्मा माना है। इनके अनुसार वनिता का सुन्दर मुख भी जैसे अलंकाररहित होने पर शोभित नहीं होता, वैसे ही अनलंकृत काव्य भी शोभास्पद नहीं होता। ये गुण, रस, भाव आदि को भी अलंकार में ही अन्तर्भूत करते हैं। भरतमुनि ने जिन रस, भाव आदि को काव्य या नाट्य में आत्मभूत माना था, भामह उन्हें रसवत्, प्रेय और ऊर्जस्वी अलंकारों में समाविष्ट करते हैं[1]। आचार्य दण्डी भी काव्यशोभाकर सभी धर्मों को अलंकार स्वीकार करते हैं[2]। रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक होते हुए भी वामन ने सौदर्न्य-रूप अलंकार के द्वारा ही काव्य की उपादेयता सिद्ध की है[3]। आचार्य उद्भट ने भी रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वी और समाहित अलंकारों में समस्त रसप्रपंच का अन्तर्भाव कर काव्य में अलंकार का ही अंगित्व निरूपित किया है[4]। रुद्रट ने रस, भाव आदि का रसवत्, प्रेय आदि अलंकारों में अन्तर्भाव न करते हुए भी भाव अलंकार में प्रतीयमान अर्थ का ग्रहण करके अलंकार का अंगित्व माना है[5]। अग्निपुराणकार भी काव्यशोभाकर धर्म को ही अलंकार कहते हैं तथा अर्थालंकार के रहित कविता को विधवा के समान श्रीविहीन कहकर अलंकार को महत्त्व देते हैं[6]। भोजराज भी दण्डी के समान काव्यशोभाकर धर्मों को ही अलंकार कहते हैं, तथा उनका भी मत है कि काव्यशोभाकर होने से जैसे श्लेष, उपमा आदि अलंकार कहे जाते हैं वैसे ही गुण, रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि भी अलंकार ही हैं[7]।

ध्वनिसम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायी अभिनवगुप्त, मम्मट प्रभृति आचार्यों ने, अब तक काव्य के अंगीरूप में अलंकार का जो महत्त्व माना जाता था उसे हटाकर, रसादिध्वनि के अंगरूप में ही अलकारों को मान्यता

---

१. काव्यालं०, भा० ३.१
२. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। काव्या० २.१
३. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। काव्यालं. सू.१.१.१,२
४. का० सा० सं० ४.२-७
५. काव्यालं०, रु० ७.३८–४१
६. अग्नि पु० ३४२.१७ तथा ३४३.१२
७. तत्र अलंकारसंसृष्टेः इत्येव वक्तव्ये नानालंकारग्रहणं गुणरसानामुपसंग्रहार्थम्। तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेन अलंकारत्वात्। सर० कण्ठा० ५.११ की वृत्ति।

दी। आनन्दवर्धन का कथन है कि अलंकारों का विधान रसादि के अंगरूप में होना चाहिए, न कि अंगीरूप से[८]। तदनुसार ध्वनिवादी आचार्यों में अलंकार के लक्षण में ही परिवर्तन हो गया। अलंकार कटक, कुण्डल आदि के समान शब्दार्थरूप काव्यशरीर के, तथा तद्द्वारा काव्य के आत्मभूत रसादि के, शोभावर्धक ही रह गये। पूर्वध्वनिकाल में अलंकार शोभाकारक थे, अब वे शोभावर्धक मात्र माने जाने लगे। पहले गुण भी अलंकार में परिगृहीत थे, पर अब वे अंगी रसादि के आश्रित होकर स्वतन्त्र तथा अलंकार से प्रधान हो गये और अलंकार अंगाश्रित होने से अप्रधान रह गये। अलंकार का जो महत्त्व पहले था वह अमान्य हो गया, और ध्वनिकाल में रसादि के उत्कर्षाधायक होने में ही उसका महत्त्व माना जाने लगा[९]। बाद में अलंकारशास्त्र में प्रायः अलंकार का यही रूप प्रचलित हुआ। राजशेखर, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, केशवमिश्र, अप्पय दीक्षित, जगन्नाथ, विश्वेश्वर आदि आचार्यों ने अलंकार के स्वरूपनिरूपण में प्रायः आनन्दवर्धन एवं मम्मट का ही अनुसरण किया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय के द्वारा अलंकार से गुण का स्थान विशिष्ट प्रतिपादित किये जा चुकने के बाद भी वाग्भट प्रथम ने पुनः भामह का अनुसरण करते हुए अपना मत निरूपित किया कि दोषों से मुक्त एवं गुणों से युक्त होने पर भी अनलंकृत काव्य अलंकाररहित वनिता के रूप के समान मनोहारी नहीं होता[१०]। जयदेव भी मम्मट आदि की अपेक्षा काव्य में अलंकार का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं, यद्यपि उन्हें अलंकारसम्प्रदाय का आचार्य नहीं कहा जा सकता। अलंकार की दृष्टि से उनकी स्थिति अलंकारवादी तथा ध्वनिवादी के मध्य की है। एक ओर जहाँ वे रसध्वनि आदि को काव्य में अधिक महत्त्व देते हैं, वहाँ दूसरी ओर अलंकार को भी काव्य में अपरिहार्य मानते हैं तथा अलंकारविहीन काव्य की कल्पना को उष्णत्वविहीन अग्नि की कल्पना जैसा हास्यास्पद समझते हैं[११]।

अलंकारों का विकास

यद्यपि आलंकारिकों द्वारा अलंकारों का नामकरण बाद में किया गया, तो भी प्राग्वर्ती वेदादि साहित्य में अनेक अलंकारों का प्रयोग पहले से ही उपलब्ध होता है। काव्यशास्त्रियों में सर्वप्रथम भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का उल्लेख किया है[१२]। इनमें यमक शब्दालंकार तथा

---

८. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन। ध्वन्या० २.१६

९. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥ वही २.१७

१०. दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः।
स्त्रीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम् ॥ वाग्भटा० ४.१

११. च० १.८

१२. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ ना० शा० १७.४०

शेष तीनों अर्थालंकार हैं। आचार्य **भामह** ने अपने काव्यालंकार के द्वितीय परिच्छेद के उत्तरार्ध में तथा तृतीय परिच्छेद में अलंकारों का निरूपण किया है। ये अनुप्रास तथा यमक इन दो शब्दालंकारों और रूपक, दीपक, उपमा आदि ३७ अर्थालंकारों का वर्णन करते हैं। इन्होंने वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) को विशेष महत्त्व दिया है तथा उसी को सब अलंकारों का जीवित स्वीकार किया है[१३]। वक्रोक्ति के अभाव के आधार को लेकर ही ये हेतु, सूक्ष्म तथा लेश नामक अलंकारों का निषेध करते हैं[१४], और 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः' सदृश स्वभावोक्ति को वार्तामात्र कहकर उपेक्षित कर देते हैं[१५]।

दण्डी अनुप्रास और यमक इन दो शब्दालंकारों तथा स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक प्रभृति ३७ अर्थालंकारों का विवेचन करते हैं। भामह द्वारा उपेक्षित स्वभावोक्ति को इन्होंने आद्या अलंकृति कहकर गौरव प्रदान किया है[१६]। ये भामहप्रोक्त अनन्वय एवं ससन्देह का उपमा में, उपमारूपक का उपमा में तथा उत्प्रेक्षावयव का उत्प्रेक्षा में अन्तर्भाव करते हैं। उपमेयोपमा की भी ये पृथक् सत्ता नहीं मानते। यथासंख्य को इन्होंने क्रम नाम दिया है। हेतु, सूक्ष्म तथा लेश को, जिन्हें भामह अलंकार नहीं मानते, ये वाणी का उत्तम भूषण कहते हैं[१७]।

उद्भट ने अपने काव्यालंकारसारसंग्रह में ६ वर्गों में पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास), लाटानुप्रास, रूपक, उपमा, दीपक आदि ४० अलंकारों का वर्णन किया है। इनके क्रम, लक्षण आदि में भामह से पर्याप्त साम्य है। इन्होंने यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव आदि भामहप्रोक्त कतिपय अलंकारों को छोड़ भी दिया है, तथा पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यलिंग आदि कुछ नये अलंकार भी जोड़े हैं। निदर्शना के स्थान पर ये विदर्शना शब्द का प्रयोग करते हैं।

वामन अनुप्रास, यमक, उपमा, प्रतिवस्तु, समासोक्ति आदि ३३ अलंकारों का प्रतिपादन करते हैं। इन्होंने श्लिष्ट को श्लेष, ससन्देह को सन्देह तथा प्रतिवस्तूपमा को प्रतिवस्तु कहा है और भामह के उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को संसृष्टि के भेदों में परिगणित किया है। इन्होंने भामह, दण्डी एवं उद्भट से सम्मत प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, उदात्त, भाविक, यथासंख्य, स्वभावोक्ति तथा आशीः को नहीं माना है। केवल दण्डी से सम्मभ आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म एवं लेश को तथा केवल उद्भट से सम्मत पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास एवं अनुप्रास की तीन वृत्तियों तथा दृष्टान्त को भी ये नहीं स्वीकार करते। वक्रोक्ति और व्याजोक्ति ये दो नये अलंकार इन्होंने कल्पित किये हैं।

---

१३. काव्यालं०, भा० २.८५

१४. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥ वही० २.८६

१५. वही २.८७

१६. काव्या० २.८

१७. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्। वही २.२३५

रुद्रट ने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र शब्दालंकार माने हैं और अर्थालंकारों का वर्गीकरण वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष के आधार पर किया है। सहोक्ति, समुच्चय, जाति आदि २३ अलंकार वास्तवमूलक; उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि २१ अलंकार औपम्यमूलक; पूर्व, विशेष, आदि १२ अलंकार अतिशय-मूलक तथा १० श्लेष के रूप इन्होंने वर्णित किये हैं। इस वर्गीकरण के कारण कोई-कोई अलंकार एक से अधिक वार भी आ गया है। यथा सहोक्ति, समुच्चय तथा उत्तर अलंकार वास्तवमूलक भी हैं और औपम्यमूलक भी। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा तथा पूर्व अलंकार औपम्यमूलक भी हैं और अतिशयमूलक भी। उपमेयोपमा और अनन्वय को ये पृथक् न मानकर उपमा के ही भेद मानते हैं। व्याजस्तुति अलंकार को इन्होंने व्याजश्लेष तथा स्वभावोक्ति को जाति कहा है। इन्होंने भाव, विषय, अनुमान, परिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, अवसर, मीलित, एकावली, मत, उभयन्यास, भ्रान्तिवान्, प्रत्यनीक, पूर्व, साम्य, स्मरण, विशेष, तद्गुण, अधिक, विषम, असंगति, पिहित, और व्याघात इन नूतन अलंकारों की उद्भावना की है। श्लेष को इन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकार दो रूपों में वर्णित किया है, जिसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने केवल अर्थालंकार माना था। शब्दगत श्लेष वर्ण, पद, लिंग, भाषा, आदि भेद से आठ प्रकार का तथा अर्थगत श्लेष दस प्रकार का वर्णित किया है। चित्रकाव्य के भी चक्रवन्ध, मुरजबन्ध, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, मात्राच्युतक, प्रहेलिका आदि भेदों का निरूपण किया है। शब्दगत वक्रोक्ति एक नया अलंकार माना है, वामन की वक्रोक्ति इससे भिन्न है। भाविक, निदर्शन, उपमेयोपमा, आवृत्ति, आशीः, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, उदात्त, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, प्रतिवस्तूपमा, उपमारूपक, अनन्वय, क्रम, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता इन प्राचीनाभिमत अलंकारों को इन्होंने नहीं माना।

भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा आदि २४ शब्दालंकार, जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध आदि २४ अर्थालंकार तथा उपमा, रूपक, साम्य, संशयोक्ति, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि २४ उभयालंकार वर्णित किये हैं। इनका अलंकार का क्षेत्र बहुत व्यापक है। ये वैदर्भी आदि रीतियों, कैशिकी प्रभृति वृत्तियों, श्रव्यत्व, प्रेक्ष्यत्व, अभिनय, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति एवं अभाव आदि को भी अलंकार के अन्तर्गत करते हैं। उपमा, रूपक आदि को जिन्हें प्रायः अर्थालंकार माना गया है ये उभयालंकार मानते हैं। इनके परिगणित अलंकारों में कई अलंकार नवीन हैं।

मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश के नवम तथा दशम उल्लासों में अलंकारों का वर्णन किया है। नवम उल्लास में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास इन शब्दालंकारों का चित्रण है। पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार भी माना है। दशम उल्लास में उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, ससन्देह, रूपक, अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना प्रभृति ६१ अर्थालंकार वर्णित हुए

हैं। मालादीपक को दीपक से पृथक् मानें तो इनकी संख्या ६२ हो जाती है। मम्मट ने विनोक्ति, पर्याय, सम, सामान्य और अतद्गुण ये पाँच अलंकार नवीन कल्पित किये हैं। प्राचीनों से स्वीकृत हेतु, परिणाम आदि अलंकारों को इन्होंने स्वीकार नहीं किया। अलंकारों के शब्दगतत्व, अर्थगतत्व या उभयगतत्व के निर्णय के लिए इन्होंने अन्वय-व्यतिरेक को ही नियामक माना है।

रुय्यक अपने अलंकारसर्वस्व में पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक, लाटानुप्रास तथा चित्र इन ६ शब्दालंकारों और उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम आदि ७३ अर्थालंकारों तथा संसृष्टि एवं संकर रूप दो संश्लेषसमुत्थापित अलंकारों का निरूपण करते हैं। इनके मत में लाटानुप्रासादि एवं संसृष्टि-संकरों के कतिपय रूप उभयालंकार भी हैं। इन्होंने उद्भट आदि द्वारा निर्दिष्ट परिणाम, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसंधि और भावशवलता[१८] अलंकारों का भी विवेचन किया है, जिन्हें मम्मट ने छोड़ दिया था। विकल्प और विचित्र नामक दो नवीन अलंकार भी उद्भावित किये हैं।

वाग्भट प्रथम अपने वाग्भटालंकार में चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक इन चार शब्दालंकारों का तथा जाति, उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा प्रभृति ३५ अर्थालंकारों का वर्णन करते हैं। प्राचीनों से उक्त अन्य अलंकारों को इन्होंने यह कहकर छोड़ दिया है कि उनमें या तो कोई चमत्कारविशेष नहीं है अथवा अस्मदुक्त अलंकारों में ही उनका अन्तर्भाव हो सकता है[१९]।

हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन नामक ग्रन्थ में अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति तथा पुनरुक्तवदाभास इन छः शब्दालंकारों का और उपमा, उत्प्रेक्षा प्रभृति २९ अर्थालंकारों का विवेचन किया है। ये संसृष्टि को संकर में ही अन्तर्भूत कर लेते हैं। इनके दीपक के लक्षण में तुल्ययोगिता का, तथा परिवृत्ति के लक्षण में मम्मटोक्त पर्याय का भी समावेश हो जाता है। इन्होंने रसवदादि अलंकारों को गुणीभूतव्यङ्ग्य के ही प्रकार माना है। अनन्वय और उपमेयोपमा को उपमा के ही प्रकार के रूप में वर्णित किया है। इनके निदर्शन अलंकार में प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा निदर्शना तीनों का अन्तर्भाव हो जाता है। स्वाभावोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा को इन्होंने क्रमशः जाति तथा अन्योक्ति कहा है। परिकर की अपुष्टार्थदोषाभाव से तथा यथासंख्य की भग्नप्रक्रमताभाव से गतार्थता कर ली है। विनोक्ति को विशेष चमत्कृत्याधायक न होने से स्वीकार नहीं किया। उदात्त अलंकार को अतिशयोक्ति या जाति से भिन्न न होने के कारण पृथक् निर्दिष्ट नहीं किया। आशीः को गुणीभूत व्यङ्ग्य में तथा प्रत्यनीक को प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में संनिविष्ट कर लिया है।

जयदेव-प्रदर्शित अलंकार

इन आलंकारिकों के पश्चात् पीयूषवर्ष जयदेव आते हैं। पूर्वोक्त आचार्यों

---

१८. रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धे रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितानि। भावोदयसन्धिशबलताश्च पृथगलंकाराः। अ० स० ८३, ८४

१९. अचमत्कारिता वा स्यादुक्तान्तर्भाव एव च।
अलंक्रियाणामन्यासामनिबन्धे निबन्धनम्॥ वाग्भटा० ४.१४८

की अलंकारसमीक्षा को देखने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रारम्भ में अलंकारों की संख्या कम थी, धीरे-धीरे वह बढ़ती गई। किन्तु उसके पश्चात् फिर कुछ अलंकारों को विशेष चमत्कृतिजनक न होने से छोड़ देने की तथा कुछ का अन्यों में अन्तर्भाव करके संख्या कम करने की ओर प्रवृत्ति हो चली थी। जयदेव इस प्रवृत्ति के विरुद्ध फिर अलंकारों की संख्या अधिक करने की ओर प्रवृत्त हुए। इन्होंने निम्नलिखित अलंकारों की चन्द्रालोक में व्याख्या की है—

शब्दालंकार—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास, पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक, चित्र।

अर्थालंकार—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीपोपमा, ललितोपमा, स्तत्रकोपमा, सम्पूर्णोपमा, रूपक, सोपाधिरूपक, सादृश्यरूपक, आभासरूपक, रूपितरूपक, परिणाम, उल्लेखिता, अपह्नुति, पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति, कैतवापह्नुति, उत्प्रेक्षा, गूढोत्प्रेक्षा, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, अनुमान, अर्थापत्ति, काव्यलिङ्ग, परिकर, परिकराङ्कुर, अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, प्रौढोक्ति, सम्भावना, प्रहर्षण, विषादन, तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्तिदीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, खण्डश्लेष, भङ्गश्लेष, अर्थश्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, गूढाक्षेप, विरोध, विरोधाभास, असम्भव, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, उदारसार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, उल्लास, तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगुण, अवज्ञा, प्रश्नोत्तर, पिहित, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक. भाविकच्छवि, उदात्त, अत्युक्ति।

इनके अतिरिक्त रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी आदि सात अलंकारों का भी जयदेव ने उल्लेख किया है, परन्तु वह परमत के रूप में ही है, स्वमत के रूप में नहीं। जयदेव-प्रतिपादित अलंकारों की गणना के सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है। सब भेदों को भी पृथक् गिनने पर ८ शब्दालंकार तथा १०४ अर्थालंकार होते हैं। किन्तु अनुप्रास, उपमा, रूपक, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि सभी के अथवा इनमें से कुछ के भेदों का एक ही एक अलंकार परिगणित करने पर अलंकार-संख्या न्यूनाधिक हो जाती है। चन्द्रालोक में पी० वी० काणे[२०] के अनुसार कुल लगभग १०० अलंकार, सुशील कुमार दे[२१] के अनुसार १०० या १०८ अलंकार, भोलाशंकर व्यास[२२] की गणनानुसार कुल १०४ अलंकार (८ शब्दालंकार और ९६ अर्थालंकार), तथा बलदेव

२०. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९६६, पृ० ३६३

२१. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, सन् १९६०, पृ० २०१

२२. कुवलयानन्दः हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा वाराणसी, सन् १९५६ भूमिका पृ० १२

उपाध्याय[२३] के मत में १०५ अलंकार (५ शब्दालंकार तथा १०० अर्थालंकार) हैं।

मम्मट द्वारा स्वीकृत अलंकारों में से संसृष्टि, संकर और सूक्ष्म को छोड़कर शेष सब जयदेव ने परिगृहीत कर लिये हैं। रुय्यक द्वारा उद्भावित उल्लेख, विचित्र, विकल्प, परिणाम और अर्थापत्ति को भी ग्रहण कर लिया है। दण्डी के आवृत्ति अलंकार तथा रुद्रट के पिहित अलंकार को भी माना है। निम्न अलंकार जयदेव ने नवीन कल्पित किये हैं—शब्दालंकारों में स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास तथा अर्थालंकारों में उन्मीलित, परिकरांकुर, प्रौढोक्ति, संभावना, प्रहर्षण, विषादन, विकस्वर, असंभव, उल्लास, पूर्वरूपता, अनुगुण, अवज्ञा, पिहित तथा अत्युक्ति। पूर्ववर्ती रुद्रट तथा भोज द्वारा निरूपित कतिपय अलंकार अस्वीकृत भी किये गये हैं, जिनमें उभयन्यास, अभाव, अवसर, अहेतु, पूर्व, भाव, मत, वितर्क, साम्भव और संभव आते हैं।

अप्पय दीक्षित का प्रयास

अप्पय दीक्षित के अलंकारशास्त्र पर तीन ग्रन्थ हैं—वृत्तिवार्तिक, चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द। इनमें से अन्तिम दो में अलंकारों का वर्णन उपलब्ध होता है। दोनों में ही शब्दालंकारों का वर्णन न होकर केवल अर्थालंकारों का विवरण मिलता है। चित्रमीमांसा कुवलयानन्द से पूर्व लिखी जा चुकी थी। इसमें उपमा से लेकर अतिशयोक्ति पर्यन्त केवल १२ अलंकारों का विशद ववेचन किया गया है। कुवलयानन्द जयदेव के चन्द्रालोक को ही आधार बनाकर लिखा गया है। चन्द्रालोक के ही लक्ष्यलक्षण श्लोकों को लेकर क्वचित् किंचित् परिवर्तन से उनका परिमार्जन, क्वचित् नवीन उदाहरण-प्रदर्शन, क्वचित् तत्तत अलंकार के नवीन भेदोपभेदों का प्रकल्पन किया गया है। दीक्षित ने स्वयं कहा है—

येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते॥ कु० ५

[आगे चन्द्रालोक के प्रत्येक अलंकार पर पृथक्-पृथक् विचार करते हुए हम यथास्थान दीक्षित के परिवर्तन-परिवर्धनों का उल्लेख करेंगे।] कुवलयानन्द में निम्नलिखित नूतन अलंकारों का भी वर्णन किया गया है जो चन्द्रालोक में नहीं हैं—प्रस्तुतांकुर, अल्प, कारकदीपक, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, विशेषक, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध और विधि। इनमें से कारकदीपक का विश्वनाथ, लेश का दण्डी और मुद्रा तथा युक्ति का भोज इनसे पूर्व किसी रूप में वर्णन कर चुके थे। शेष अलंकार इनके स्वकल्पित हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में सात रसवदादि अलंकारों को भी स्वीकार किया गया है, जिन्हें जयदेव ने परमत कहकर उपेक्षित कर दिया था। जयदेव से अस्वीकृत आठ प्रमाणालंकार तथा संसृष्टि और संकर को भी दीक्षित ने माना है। एक प्रकार से दीक्षित का कुवलयानन्द चन्द्रालोक के अर्थालंकारप्रकरण का पूरक एवं अलोचनात्मक व्याख्यारूप ग्रन्थ है। अतः चन्द्रालोक की मीमांसा के लिए इसका अध्ययन अनिवार्यप्राय ही है। दीक्षित की अपनी ही गणना के अनुसार इसमें कुल ११५

---

२३. भारतीय साहित्यशास्त्र, १ म खंड, सन् १९६३, पृ० ९४

अलंकार तथा संसृष्टि और संकर को पृथक् गिनें तो ११७ अलंकार वर्णित हुए हैं। चन्द्रालोक के विरोध, प्रश्नोत्तर तथा भाविकच्छवि अलंकारों को दीक्षित ने पृथक् रूप से स्वीकार नहीं किया है।

जयदेव से उत्तरवर्ती कुछ अन्य विद्याधर, विद्यानाथ, वाग्भट द्वितीय, विश्वनाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि, विश्वेश्वर पण्डित, केशवमिश्र, पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति आलंकारकों ने भी अपने काव्यशास्त्रों में अलंकारों का वर्णन किया है, जिसका विवरण यहाँ विशेष उपयोगी न होने से हम नहीं दे रहे हैं। इनमें से किसी ने भी अलंकार निरूपण में जयदेव को अपना आदर्श नहीं माना है, अपितु प्रायः मम्मट, रुय्यक आदि का ही अनुसरण किया है तथा इनकी प्रवृति अलंकार-संख्या को बढ़ाने को नहीं रही है।

चन्द्रालोक में प्रतिपादित अलंकारों का विवेचन

अलंकार-स्वरूप

जयदेव हारादि के समान शब्द और अर्थ के मनोहर संनिवेश को अलंकार कहते हैं। जैसे हार में विविध पुष्पों का मनोहर संनिवेश होने से वह स्वयं भी आकर्षक होता है तथा जो उसे धारण करता है, उसकी शोभा को बढ़ाता है, वैसे ही शब्दों और अर्थों का मनोहर गुम्फन स्वयं भी चमत्कारक होता है तथा वह काव्य की शोभा का वर्धक भी होता है। शब्द का मनोहार संनिवेश, अर्थ का मनोहर संनिवेश या शब्द और अर्थ का सम्मिलित मनोहर संनिवेश इस भेद से शब्दगत, अर्थगत तथा शब्दार्थगत त्रिविध अलंकार हो सकते हैं। हारादि की उपमा इन्होंने मम्मट से ही ली है[२४]। जयदेव का कथन है कि कुछ अलंकार प्रसिद्धि से होते हैं तथा कुछ कवि अपनी प्रौढि से नूतन भी कल्पित कर सकता है। तदनुसार ही इन्होंने कुछ अलंकार पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों से लिये हैं तथा कुछ नवीन लिखे हैं। इन्होंने अपना अलंकार-स्वरूप निम्न शब्दों में उपस्थिनि किया है—

शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढिवशेन[२५] वा।
हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः॥ च० ५.१

अर्थ का मनोहर संनिवेश कहीं पदार्थगत (यथा उपमादि अलंकार में), कहीं वाक्यार्थगत (यथा दृष्टान्त आदि में) और कहीं वाक्यार्थसमूहगत (यथा निदर्शना आदि में) होता है। साथ ही अलंकार स्वभावतः अतिशयात्मक होते हैं अर्थात् सभी अलंकारों में कविप्रौढोक्तिजन्य चमत्कारिता या अतिशयोक्ति रहती है।

शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे वाक्यार्थस्तबके तथा।
एते भवन्ति विन्यासाः स्वभावातिशयात्मकाः॥ च० ५.१२२

आचार्य भामह ने भी इस अतिशयोक्ति की सभी अलंकारों में स्थिति बताते हुए कहा था—

---

२४. हारादिवदलङ्काराः। का० प्र० ८.६७

२५. एवं च केचिदलङ्कारत्वेन प्रसिद्धयाऽलङ्काराः, केचिदतथाभूता अपि प्राचोक्ताः केचिन्ययापि प्रौढया उपनिबद्धा इति भावः। रमा

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ।।

काव्यालं० भा० २.८५

आनन्दवर्धन[26] तथा मम्मट[27] ने भी इससे अपनी सहमति प्रकट की थी। जयदेव का कथन है कि इस आधार को लेकर कुछ लोग सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति से अभिन्न मानते हैं, पर वस्तुतः सभी में अतिशयोक्तिरूप साम्य होने पर भी पार्थक्य भी स्पष्ट भासित होता ही है, जैसे सभी व्यक्तियों के मुख समान होने पर भी परस्पर विलक्षण प्रतीत होते हैं[28]।

शब्दालंकार

१. अनुप्रास

जयदेव ने अनुप्रास ५ प्रकार का माना है—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास तथा अर्थानुप्रास। इनमें से अन्तिम दो इनके अपने उद्भावित हैं। इनसे पूर्व भामह ग्राम्यानुप्रास तथा लाटीयानुप्रास का, दण्डी अनुप्राससामान्य का, उद्भट छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास और लाटानुप्रास का, वामन वर्णानुप्रास तथा पादानुप्रास का, रुद्रट वृत्त्यनुप्रास का, भोज श्रुत्यनुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, वर्णानुप्रास, पदानुप्रास, नामद्विरुक्त्यनुप्रास और लाटानुप्रास का, मम्मट छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास का, रुय्यक छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास का, वाग्भट (प्रथम) छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास का और हेमचन्द्र व्यंजनानुप्रास तथा लाटानुप्रास का वर्णन कर चुके थे। इनके उत्तरभावी विश्वनाथ ने छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास ये ५ भेद कहे हैं, जिनमें अन्त्यानुप्रास जयदेव कास्फुटानुप्रास ही है।

भामह[29] ने सरूपवर्णविन्यास को, दण्डी[30] ने वर्णावृत्ति को, रुद्रट[31] ने स्वरों की चिन्ता न करते हुए व्यंजनों की व्यवहित या अव्यवहित आवृत्ति को, भोज[32] ने वर्णों की अनतिदूरस्थित आवृत्ति को तथा मम्मट[33] ने स्वरवैसादृश्य होने पर भी

---

२६. ध्वन्या० ३.३७ वृत्ति

२७. का० प्र० १०.१३६ विशेषालंकार, वृत्ति

२८ च० ५.१२३, १२४

२९. सरूप वर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते ।
किन्तया चिन्तया कान्ते नितान्तेति यथोदितम् ।। काव्यालं०, भा० २.५

३०. वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च ।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ।। काव्या० १.५५

३१. एकद्वित्रान्तरितं व्यंजनमविवक्षितस्वरं बहुशः ।
आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः ।। काव्यलं०, रु० २.१८

३२. आवृत्तिर्या तु वर्णानां नातिद्वरान्तरस्थिता ।
अलंकारः स विद्वद्भिरनुप्रासः प्रदर्श्यते ।। सर० कंठा० २.७०

३३. वर्णसाम्यमनुप्रासः । स्वरवैसादृश्येऽपि व्यंजनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् ।
का० प्र० ९.७९ तथा वृत्ति

व्यंजनों की समानता को अनुप्रास कहा है। निष्कर्ष रूप में अनुप्राससामान्य का लक्षण, जो अनुप्रास के सभी भेदों में घटित हो सके, यह हुआ कि व्यंजनों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं, उसमें स्वरों की आवृत्ति हो भी सकती है और नहीं भी। पर वह यमक-भिन्न होनी चाहिए। जयदेव ने अनुप्राससामान्य का कोई लक्षण न देकर विशिष्ट भेदों को ही लक्षित किया है[३४]।

छेकानुप्रास

छेद का अर्थ विदग्ध[३५] है। विदग्धजनों को प्रिय होने के कारण इसे छेकानुप्रास कहा गया है। मम्मट ने एक से अधिक व्यंजनों के एक बार साहश्य को छेकानुप्रास कहा था[३६], यथा 'परिस्पन्दमन्दीकृतवपुः' में न् और द् की एक बार आवृत्ति है। यह आवृत्ति उसी क्रम से होनी अभिप्रेत है, इस बात को विश्वनाथ ने अपने लक्षण में स्पष्ट कर दिया है—छेको व्यंजनसंघस्य सकृत् साम्यमनेकधा। सा० द० १०.३। अनेकधा का अभिप्राय है स्वरूपतः और क्रमतः दोनों प्रकार से। अतएव 'रसः, सरः' में क्रम वही न होने से छेकानुप्रास नहीं होगा। रुय्यक के अनुसार संख्यानियम में अर्थात् दो व्यंजनसमुदायों का परस्पर अनेकधा साहश्य होने पर छेकानुप्रास होता है[३७]। यथा—

> **किं नाम दर्दुर दुरध्यवसाय सायं**
> **कायं निपीड्य निनदं कुरुषे रुषेव।**
> **एतानि केलिरसितानि सितच्छदाना-**
> **माकर्ण्य कर्णमधुराणि न लज्जितोऽसि॥**

यहाँ दुर-दुर, साय-सायं, रुषे-रुषे, तानि-तानि, सिता-सित, कर्ण्-कर्ण, ये दो-दो व्यंजनसंघ उसी क्रम से आवृत्त हुए हैं। जयदेव का छेकानुप्रास का लक्षण, जिसमें उदाहरण भी संनिविष्ट है, नम्न है—

> **स्वरव्यंजनसन्दोहव्यूहा मन्दोहदोहदा।**
> **गौर्जगज्जाग्रदुत्सेका छेकानुप्रासभासुरा॥** च० ५.२

उस वाणी (गौ) को छेकानुप्रास से शोभित कहते हैं जिसमें १. समान स्वर की आवृत्ति हो, अथवा २. समान व्यंजनों की आवृत्ति हो, अथवा ३. स्वर-व्यंजन-

---

३४. रमा टीका के अनुसार मूल में द्वितीय श्लोक के पश्चात् 'वर्णसाम्यमनु- प्रास इति सामान्यलक्षणम्' ऐसा अधिक पाठ भी कहीं-कहीं उपलब्ध होता है। उस पाठ को प्रामाणिक माना जाये तो जयदेव ने भी अनुप्राससामान्य का लक्षण कर दिया है, यद्यपि इसकी प्रमाणिकता में सन्देह है।

३५. छेका विदग्धाः। का० प्र० ९.७९ वृत्ति, तथा अ० स० ४ की वृत्ति

३६. सोऽनेकस्य सकृत् पूर्वः अनेकस्य अर्थात् व्यंजनस्य सकृदेकवारं साहश्यं छेकानुप्रासः। का० प्र० ९.७९

३७. संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः। द्वयोर्व्यंजनसमुदाययोः परस्परमनेकधा साहश्यं संख्यानियमः। पूर्वं व्यंजनसमुदायाश्रितम्। अ० स० ४ तथा वृत्ति

समूह की आवृति हो[३८]। उदाहरणार्थ, 'स्वरव्यंजनसं' में एक स्वर 'अ' की तथा सेका-छेका में दो स्वर ए-आ की आवृत्ति है। दोह-व्यूहा में एक व्यंजन ह् की और जगज्-जाग्रद् में दो व्यंजनों ज्-ग् की आवृत्ति है 'न्दोह-न्दोह, दोह-दोह तथा एका-एका में स्वरव्यंजनसमूह की आवृत्ति है। यहाँ अमन्दोहदोहदा तथा मन्दोहदोहदा[३९] इस प्रकार द्विविध पदच्छेद से असकृत् और सकृत् अर्थ लेने उचित हैं। अर्थात् समान स्वर की आवृत्ति में यह अनुप्रास तभी होगा यदि वह अनेक बार हो, किन्तु व्यंजन तथा स्वरव्यंजनसमूह की आवृत्ति एक बार ही होनी चाहिए।

अन्य आचार्यो ने स्वरसाम्य में अनुप्रास नहीं माना है। रुय्यक का कथन है कि अकेले स्वर की पुनरुक्ति में चारुता न होने से उसका अलंकार में परिगणन नहीं किया जाना चाहिए[४०]। विश्वनाथ ने भी ऐसा ही कहा है[४१]। इसी से प्रभावित होने के कारण गागाभट्ट जयदेव के उक्त लक्षण-श्लोक की टीका में लिखते हैं कि यहाँ स्वर यद्यपि पठित है, पर उसकी विवक्षा नहीं है, अतः व्यंजनसाम्य को ही छेकानुप्रास कहते हैं[४२]। पर शरदागम और रमा टीकाकारों ने यहाँ स्वर को अविवक्षित नहीं कहा, तभी स्वरावृति में भी छेकानुप्रास माना है।

एक प्रश्न यह उठता है कि यदि दोह-दोह आदि स्वरव्यंजनसमूह की आवृत्ति में भी अनुप्रास माना जायेगा तो यमक से इसका क्या विशेषभेद होगा? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि यमक में स्थानादि का नियम विशिष्ट होता है। भामह ने भी पूर्वोद्धृत 'किन्तया चिन्तया कान्ते नितान्ते०' में स्वरव्यंजनसमूह की आवृत्ति में भी अनुप्रास कहा है, तथा आदिमध्यान्त प्रभृति की विशेषता के साथ स्वरव्यंजन-समूह की आवृत्ति को यमक माना है।[४३] भोजराज भी यमक तथा लाटानुप्रास से भिन्न एक पदानुप्रास मानते हैं, जिसकी रूपरेखा कई स्थलों में यमक जैसी ही होती है—

समग्रमसमग्रं वा यास्मिन्नावर्तते पदम्।
पदाश्रयेण स प्रायः पदानुप्रास उच्यते॥
विसर्गबिन्दुसंयोगस्वरस्थानाविवक्षया।
अनिर्वाहाच्च स प्रायो यमकेभ्यो विभिद्यते॥

सर० कंठा० २.९३, ९४

---

३८. एवं च स्वरावृत्तिर्व्यञ्जनावृत्तिस्तत्समूहावृत्तिश्च यत्र तत्रायम्। रमा

३९. अमन्दो य ऊहस्तद्दोहदेति। शरदागम
मन्दः सकृत् यं ऊहो ज्ञानं तद्दोहरूपा तज्जनिका। रमा

४०. अलंकारप्रस्तावे केवलस्वरपौनरुक्त्यमचारुत्वान्न गण्यते। अ० स०, सूत्र ४ की भूमिका।

४१. स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम्। सा० द० १०.३ वृत्ति

४२. अत्र स्वरेत्यविवक्षितम्। तेन व्यंजनसाम्यं छेकानुप्रास इत्याशयः। राकागम.

४३. काव्यालं०, भा० २.५, ९

उदाहरणार्थ—

अप्येहि कान्ते वैदेहि देहि प्रतिवचो मम।
अरविन्दाक्षि दाक्षिण्यमलंकारोहि योषिताम् ॥

ऊपर जो रुय्यक का छेकानुप्रास का उदाहरण दिया जा चुका है, उसमें भी प्रायः स्वरव्यंजनसमूह की आवृत्ति है।

वृत्त्यनुप्रास

वृत्त्यनुप्रास का यह नाम वृत्तियों के आधार पर पड़ा है, जिनकी चर्चा आगे वृत्तियों के अध्याय में की जायेगी। सर्वप्रथम उद्भट ने वृत्त्याश्रित अनुप्रास का उल्लेख किया है। उन्होंने परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या नामक तीन वृत्तियाँ स्वीकार करके उनके आधार पर त्रिविध वृत्त्यनुप्रासों की उद्भावना की है[४४]। रुद्रट, भोजराज, मम्मट आदि ने भी वृत्तियों के आधार पर इस अनुप्रास का वर्णन किया है। मम्मट के अनुसार एक या अनेक व्यंजनों के दो या अधिक बार सादृश्य होने पर वृत्त्यनुप्रास होता है, तथा इसमें उपनागरिका, परुषा एवं कोमला (ग्राम्या) वृत्तियों का निर्वाह होता है[४५]। जयदेव ने वृत्तियों का उल्लेख अनुप्रास से पृथक् स्वतन्त्र रूप में षष्ठ मयूख में किया है, जहां वे मधुर, प्रौढा, परुषा और ललिता नामक चार वृत्तियाँ मानते हैं। चन्द्रालोक में वृत्त्यनुप्रास का लक्षण तथा उदाहरण निम्न है—

आवृत्तवर्णसंपूर्णं वृत्त्यनुप्रासवद् वचः।
अमन्दानन्दसन्दोहस्वच्छन्दास्पदमन्दिरम् ॥ च० ५.३

जो वचन आवृत्त वर्णों से भपपूर हो वहाँ वृत्त्यनुप्रास माना जाता है। आवृत्त वर्ण एक हो या अनेक यह लक्षण में स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वर्ण शब्द समास में पड़ गया है। 'आवृत्तवर्णेन आवृत्तवर्णाभ्याम् आवृत्तवर्णैः वा सम्पूर्णम्' इस विग्रह के अनुसार तथा प्राचीन परम्परानुसार आवृत्त वर्ण एक भी हो सकता है, तथा दो या अधिक भी। वर्ण से व्यंजन अभिप्रेत है। भरपूर (सम्पूर्णम्) से यह सूचित होता है कि वह आवृत्ति केवल एक बार न होकर अनेक बार होनी चाहिए। यथा, उक्त श्लोक के पूर्वार्द्ध में व् यह अकेला व्यंजन तथा उत्तरार्ध में न् और द् ये दो सम्मिलित व्यंजन अनेक बार आवृत्त हुए हैं।

भरतमुनि माला-यमक के रूप में नाट्यशास्त्र में इस अनुप्रास की आंशिक चर्चा कर चुके थे। उन्होंने जहाँ एक व्यंजन नानारूप स्वरों से युक्त होकर आवृत्त होता है उसे माला-यमक कहा था[४६]। उनके द्वारा प्रदत्त माला-यमक के उदाहरणों में से एक यह है—

---

४४. सरूपव्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥ का० सा० सं० १.१२

४५. का० प्र० ९.७९, ८०

४६. नानारूपैः स्वरैर्युक्तं यत्रैकं व्यञ्जनं भवेत्।
तन्मालायमकं नाम विज्ञेयं काव्यकोविदैः ॥ ना० शा० १७.८३

सपुष्कराक्षः क्षतजोक्षिताक्षः, क्षरत्क्षतेभ्यः क्षतजं दुरीक्षम् ।
क्षतैर्गवाक्षैरिव संवृताङ्गः, साक्षात् सहस्राक्ष इवावभाति ॥

जयदेव से उत्तरवर्ती विश्वनाथ ने एक तथा अनेक वर्णों की एक बार (सकृत्) आवृत्ति में भी वृत्त्यनुप्रास माना है[47]। 'व्याधूतचूताङ्कुर' में त् की एक बार आवृत्ति है। अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास से इसका अन्तर यह होता है कि छेक में उन वर्णों का क्रम वही होना आवश्यक है, पर वृत्त्यनुप्रास में क्रम भिन्न होता है। यथा 'रसोल्लासैरमी' यहाँ रसोसैर में र् और स् की एक बार आवृत्ति भिन्न क्रम में होने से वृत्त्यनुप्रास है।

लाटानुप्रास

लाटानुप्रास का वर्णन जयदेव से पूर्व भामह, उद्भट, भोज, मम्मट आदि कर चुके हैं। भामह ने लक्षण न देकर केवल उदाहरण से इसे स्पष्ट किया था।

लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा ।
दृष्टिं दृष्टिसुखां धेहि चन्द्रश्चन्द्रमुखोदितः ॥ काव्यालं०, भा० २.८

उद्भट ने इसका निम्न लक्षण दिया है, तथा इसके कतिपय भेदों का भी सोदाहरण वर्णन किया है—

स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात् ।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते ॥ का० सा० सं० १.१३

अर्थात् स्वरूपतः और अर्थतः सादृश्य होने पर भी जहाँ तात्पर्यभेद होता है ऐसी शब्दों या पदों की पुनरुक्ति को लाटानुप्रास कहते हैं।

भोज ने लाटीय अनुप्रास के अव्यवहित तथा व्यवहित ये दो मुख्य भेद करके फिर उनके व्यस्त, समस्त, उभय आदि अनेक अवान्तर भेद किये तथा इस अनुप्रास का सामान्य लक्षण यह किया—

अर्थाभेदे पदावृत्तिः प्रवृत्त्या भिन्नयेह या ।
स सूरिभिरनुप्रासो लाटीय इति गीयते ॥ सर० कंठा० २.१०२

मम्मट ने दो भेद पदगत के—अनेकपदगत तथा एकपदगत, और तीन भेद प्रातिपदिकगत के—एकसमासगत, भिन्नसमासगत तथा समस्तसमासगत, एवं कुल ५ भेद दर्शाये—

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥
पदानां स पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।
नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च तदेवं पञ्चधा मतः ॥ का० प्र० ९.८१, ८२

जयदेवकृत लक्षणोदाहरण निम्न हैं—

लाटानुप्रासभूर्भिन्नाभिप्राया पुनरुक्तता ।
यत्र स्यान्न पुनः शत्रोर्गर्जितं तज्जितम् जितम् ॥ च० ५.४

अर्थात् भिन्न अभिप्राय वाली पुनरुक्ति लाटानुप्रास की जननी होती है। 'भिन्नाभिप्राया' से यह स्वतः सूचित हो जाता है कि दोनों आवृत्त पदों का वाच्यार्थ

---

४७. सा० द० १०.४

भिन्न न होकर एक ही होना चाहिये। उदाहरण में 'जितं' पद पुनरुक्त है। 'वही विजय विजय है जहाँ शत्रु की गर्जना पुनः न हो', यहाँ द्वितीय विजय (जितम्) पद का भी वाच्यार्थ तो प्रथम विजय पद के समान 'जीत' ही है, किन्तु द्वितीय 'विजय' पद का अभिप्राय निकलता है 'सफल'। एवं अभिप्राय भेद के कारण यहाँ लाटानुप्रास है। जयदेव ने इस अनुप्रास के पदगत, प्रातिपदिकगत आदि भेद पृथक् नहीं दर्शाये हैं। प्राचीनों के अनुसार उक्त उदाहरण एकपदगत का होगा।

स्फुटानुप्रास

यह अनुप्रास जयदेव का ही उद्भावित है। प्राचीनों ने इस भेद का उल्लेख नहीं किया। इसे तुक मिलाना कह सकते हैं। चन्द्रालोक में इसका लक्षणोदाहरण निम्न है—

श्लोकस्यार्धे तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा।
तदा मता मतिमतां स्फुटानुप्रासता सताम् ॥ च० ५.५

यह दो प्रकार का होता है—१. श्लोकार्धगत तथा २. तदर्धगत अर्थात् पादगत। श्लोक के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध के अन्त में समान वर्णों की आवृत्ति होने पर श्लोकार्धगत स्फुटानुप्रास माना जाता है। इस भेद का उदाहरण जयदेव ने नहीं दिया। किन्तु उक्त श्लोक में ही 'सताम्' के स्थान पर नवा' कर देने पर, यही श्लोक इसका उदाहरण हो सकता है। पादगत का उदाहरण यथालिखित उक्त श्लोक है, यतः प्रथम और द्वितीय चरण दोनों के अन्त में 'वा' आवृत्त हुआ है तथा तृतीय और चतुर्थ चरण के अन्त में 'ताम्'। चारों चरणों के अन्त में समान वर्णावृत्ति होने पर भी पादगत स्फुटानुप्रास होगा, यथा, उक्त श्लोक में 'मतिमतां' तथा 'सताम्' के स्थान पर क्रमशः 'मतिभुवा' तथा 'नवा' कर देने से चारों चरणों के अन्त में 'वा' हो जाने पर। इसी प्रकार श्लोक के अष्टमांशों में भी वर्णावृत्ति होने पर स्फुटानुप्रास हो सकता है[४८]। रमाटीकाकार के मत में एक पाद में आदि से अन्त तक समान वर्णों की आवृत्ति होने पर भी यह अनुप्रास होता है, यथा, 'तदा मता मतिमतां' इस तृतीय चरण में त् और म् वर्णों की आवृत्ति है[४९]। प्रथम चरण में 'र्धे' की आवृत्ति में भी इसे माना जा सकता है।

दर्पणकार ने अन्त्यानुप्रास नाम से जयदेव के इस अनुप्रास को स्वीकार किया है। उन्होंने वर्णावृत्ति को भी स्पष्ट कर दिया है कि पूर्व स्वरसहित व्यंजन की आवृत्ति होनी चाहिये—

व्यंजनं चेद् यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥ सा० द० १०.६

वे इसके पादान्तग तथा पदान्तग दो भेद करते हैं, जिनके उदाहरण उन्होंने क्रमशः निम्न दिये हैं—

---

४८. एवमष्टमांशेऽपि प्रान्तवर्णसाम्येन भेदो द्रष्टव्यः। शरदागम
४९. पादे अत्र तकारमकारयोस्तथावृत्त्या लक्ष्यत्वम्। रमा

केशः काशस्तबकविकासः कायः प्रकटितकरभविलासः ।
चक्षुर्दग्धवराटककल्पं त्यजति न चेतः काममनल्पम् ।।
मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः गोष्ठीं श्रयन्तश्चषकं पिवन्तः ।
रतिं नयन्तः सुविकाशमन्तः प्रियां स्पृशन्तः स्वरिवावसन्तः ।।

अर्थानुप्रास

अर्थानुप्रास भी जयदेव ने स्वतः कल्पित किया है । उपमेय-उपमान आदि में समानवर्णावृत्ति होने पर यह अनुप्रास होता है । आदि पद से रमाटीकाकार रूपकादि का ग्रहण करते हैं ।

उपमेयोपमानादावर्थानुप्रास इष्यते ।
चन्दनं खलु गोविन्दचरणद्वन्द्ववन्दनम् ।। च० ५.६

गोविन्द का चरणद्वन्द्ववन्दन मानो चन्दन है, यहाँ उपमेय वन्दन तथा उपमान चन्दन में सदृश वर्णों के होने से यह अलंकार है। यहाँ वर्णावृत्ति ही उपमानोपमेयभाव रूप अर्थ की प्रतीति में प्रथम कारण वनती है, अतः इसे अर्थानुप्रास कहा गया है[५०] । वन्दन को चन्दन होना ही चाहिये, क्योंकि नामसाम्य है। चन्दन के समान तापनाशक, आह्लादक तथा शैत्यकारक होने से वन्दन चन्दन है, इस अर्थ का अनुसंधान तो वाद में होता है। अर्थ का सूचक होने से इसे अर्थानुप्रास कहा गया है, वस्तुतः है यह शब्द-परिवृत्त्यसह होने से शव्दालंकार ही ।

रमाटीकाकार का कथन है कि इसे छेकानुप्रास से भिन्न इस कारण माना गया है, क्योंकि छेकानुप्रास के समान यहाँ आवृत वर्णों का सामीप्यकृत चमत्कार नहीं है, अपितु चन्दनं तथा वन्दनं शब्द पर्याप्त दूरी पर स्थित हैं । साथ ही स्फुटानुप्रास में इसका अन्तर्भाव इस कारण सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ नियत वर्णों की आवृत्ति से ही चमत्कार उत्पन्न होता है, जव कि यहाँ अर्थसान्निध्य से चारुता प्रतीति होती है।

इस अनुप्रास को अन्य आलंकारिकों ने इस कारण स्वीकार नहीं किया प्रतीत होता, क्योंकि इस प्रकार भेद करने पर तो अनन्त भेद हो सकते हैं ।

२. पुनरुक्तप्रतीकाश

सर्वप्रथम उद्‌भट ने पुनरुक्तवदाभास नाम से इसका उल्लेख किया था ।

पुनरुक्तवदाभासमभिन्नवस्त्विवोद्‌भासिभिन्नरूपपदम् ।
ततः प्रभृति निःसङ्गो **नागकुञ्जरकृत्तिभृत्** ।
शितिकण्ठः कालगलत्सतीशोकानलव्यथः ।। का० सा० सं० १.४

मम्मट ने भी इसे पुनरुक्तवदाभास नाम से ही व्याख्यात किया है ।

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम् ।। का० प्र० ९.९६

जहाँ शब्द ऐसे हों जिनसे अर्थपुनरुक्ति वस्तुतः न होने पर भी प्रतीत होती हो, वहाँ यह अलंकार होता है । किन्तु लाटानुप्रास और यमक भी इसके अन्तर्गत न

---

५०. अत्र चन्दनवन्दनयोर्बहुतुल्यवर्णकपदबोध्यत्वसादृश्येनैवोपमानोपमेयभावः । तेनावृत्ते स्तादृशार्थबोधकत्वादर्थानुप्रासत्वम् । रमा

हो जायें, इसलिये कहा गया है कि वे शब्द विभिन्न आकार वाले होने चाहियें। मम्मट के अनुसार यह शब्दमात्रगत तथा शब्दार्थगत भेद से द्विविध होता है। शब्दमात्रगत के भी दो भेद हैं, सभंगशब्दमात्रगत तथा अभंगशब्दमात्रगत। काव्यप्रकाश में इन तीनों भेदों के उदाहरण क्रमशः निम्न हैं—

सभंगशब्दगत : अरिवधदेह शरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः॥

अभंगशब्दगत : चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः।
तस्य राज्ञः सुमनसो बिबुधाः पार्श्ववर्तिनः॥

शब्दार्थगत : तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः।
तेजोधाम महः पृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः॥

जयदेव ने इसे पुनरुक्तप्रतीकाश कहा है, तथा इसके भेदों की चर्चा नहीं की है। उनके अनुसार इसका लक्षण एवं उदाहरण निम्न है—

पुनरुक्तप्रतीकाशं पुनरुक्तार्थसंनिभम्।
अंशुकान्तं शशी कुर्वन्नम्बरान्तमुपैत्यसौ॥ च० ५.७

लक्षण अपने आप में अपूर्ण है, यतः केवल पुनरुक्तार्थसंनिभता से ही यह अलंकार नहीं होता। इन्होंने संकेतमात्र किया है, जो प्राचीनों के लक्षणों से मिलाकर ही पूर्ण होता है। उदाहरण में अंशुकान्तं तथा अम्बरान्तं इन विभिन्नाकार शब्दों से वस्त्राञ्चल रूप पुनरुक्तार्थता का आभास होता है। पर 'चन्द्रमा आकाशप्रान्त को (अम्बरान्तं) किरणों से रमणीय (अंशु-कान्तं) करता हुआ उदित हो रहा है', इस अर्थ से पुनरुक्तार्थता का निराकरण हो जाता है। यहाँ दोनों ही शब्द परिवृत्त्यसह होने से यह केवल शब्दगत का उदाहरण है।

पुनरुक्तवदाभास का विश्वनाथकृत लक्षण अधिक स्पष्ट है—

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम्।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः॥ सा० द० १०.२

इन्होंने भी इसे शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्व की दृष्टि से उभयालंकार माना है, तथा इसके कई रूपों को एक ही उदाहरण में प्रस्तुत कर दिया है—

भुजङ्गकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः।
जगन्त्यपि सदापायादव्याच्चेतोहरः शिवः॥

३. यमक

अलंकार रूप में यमक का वर्णन आचार्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी मिलता है, यद्यपि उनके यमक में अनुप्रास भी अन्तर्भूत है। वे शब्दाभ्यास को यमक कहते हैं[51], तथा उन्होंने नाटकाश्रित यमक के दस भेदों का लक्षण तथा उदाहरण-पुरस्सर निरूपण किया है। वे दस यमक हैं—पादान्त, कांची, समुद्गक, विक्रान्त, चक्रवाल, संदष्ट, पादादि, आम्रेडित, चतुर्व्यसित और माला।

५१. शब्दाभ्यासस्तु यमकम्। ना० शा० १७.५९

भामह भिन्नार्थक, सुनने में समान प्रतीत होने वाले वर्णों की पुनरुक्ति को यमक कहते हैं[५२]। ये उत्कृष्ट यमकों के लिये प्रतीतशब्दता, ओजस्विता, सुशिष्टपद-सन्धिता, प्रसादिता तथा स्वभिधानता को आवश्यक बताते हैं[५३]। इन्होंने आदि, मध्यान्त, पादाभ्यास, आवली तथा समस्तपादगत ये पाँच ही भेद यमक के कहे हैं, इनके मत में सन्दष्ट, समुद्गक आदि भेद इन्हीं में अन्तर्भूत हो सकते हैं[५४]।

दण्डी के अनुसार वर्णसंहति (स्वरव्यंजन-समुदाय) की अव्यवहित या व्यवहित आवृत्ति को यमक कहते हैं, जो पादों के आदि, मध्य या अन्त होती है[५५]। इस यमक के वे एकपादगत, द्विपादगत, त्रिपादगत, चतुष्पादगत तथा उनके भी आदि, अन्त, आदिमध्य, आद्यन्त आदि रूप से विविध भेद करके, फिर उनका भी परस्पर मिश्रण कर असंख्यात भेद बतलाते हैं। उनमें से बहुतों के उन्होंने उदाहरण भी दिये हैं[५६]। वामन, रुद्रट, भोज आदि ने भी यमक पर विस्तृत विचार किया है। जयदेव से पूर्ववर्ती कतिपय इतर आलंकारिकों के यमक-लक्षण निम्न हैं—

वामन : **पदमनेकार्थमक्षरं वावृत्तं स्थाननियमे यमकम् ॥** काव्यालं० सू० ४.१.१

रुद्रट : **तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम् ।**
पुनरावृत्तिर्यमकम् ॥ काव्यालं० रु० ३.१

भोज : **विभिन्नार्थैकरूपाया या वृत्तिर्वर्णसंहतेः ।**
अव्यपेतव्यपेतात्मा यमकं तन्निगद्यते ॥ सर० कण्ठा० २.५८

रुय्यक : **स्वरव्यंजनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम् ॥** अ० स० ६

इन लक्षणकारों ने यह तो कहा है कि आवृत्त पद या वर्णसमूह भिन्नार्थक होने चाहियें, किन्तु आवृत्त वर्णसमूहों में दोनों निरर्थक होने पर या दोनों में से एक के निरर्थक होने पर भी यमक होता है, यह लक्षण में स्पष्ट नहीं किया गया, यद्यपि उदाहरण इन्होंने इस प्रकार के भी दिये हैं। इसे मम्मट ने अपने लक्षण में 'अर्थे सति' लगाकर स्पष्ट कर दिया है। मम्मट एवं तदनुकूल विश्वनाथ के लक्षण निम्न हैं—

मम्मट : **अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।**
यमकम् । का० प्र० ९.८३

विश्वनाथ : **सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः ।**
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ सा० द० १०.८

यमक का जयदेवकृत लक्षण-उदाहरण यह है—

---

५२. तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ॥ काव्यालं०, भा० २.१७

५३. वही २.१८

५४. वही २.९–१६

५५. अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः ।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ काव्या० ३.१

५६. वही ३.२–७७

आवृत्तवर्णस्तबकं स्तवकन्दाङ्कुरं कवेः ।
यमकं प्रथमा धुर्यमाधुर्यवचसो विदुः ॥ च० ५.८

लक्षण सर्वथा अपूर्ण है, क्योंकि इसमें केवल इतना कहा गया है कि वर्णसमूह की आवृत्ति होने पर यमक होता है । 'अर्थे सत्यर्थभिन्नानां' की बात इन्होंने स्पष्ट नहीं की । वर्ण से स्वरव्यंजनसंहति अभिप्रेत है । यही पद्य उदाहरण भी है, क्योंकि इसमें 'स्तवकं' तथा 'माधुर्य' की आवृत्ति है । इनमें प्रथम 'स्तवकं' सार्थक तथा द्वितीय निरर्थक है । 'माधुर्य' में प्रथम निरर्थक तथा द्वितीय सार्थक है । स्तवक-स्तवक में ब–व का अन्तर होने पर भी 'यमकादौ भवेदैक्यं डलयो रलयोर्बवोः' के सर्वसम्मत नियमानुसार यहाँ अन्तर नहीं माना गया है ।

४. चित्र

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार के पंचम अध्याय में चित्रालंकार का भेद-प्रभेद सहित सोदाहरण विस्तृत वर्णन किया है । इन्होंने चित्र का लक्षण यह किया है—

भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि ।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम् ॥ काव्यालं० रु० ५.१

अर्थात् चित्रालंकार वह है जिसमें श्लोकस्थ वर्णों से चक्र, खड्ग, मुसल, धनुष्, शक्ति, शूल, हल आदि वस्तुओं की आकृतियाँ रची जा सकती हों, तथा अन्य भी सर्वतोभद्र, अनुलोम, प्रतिलोम आदि विचित्र रचनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हों । जिस वस्तु की आकृति बनती है या जैसा वैचित्र्य प्रस्तुत किया जाता है उसी के आधार पर चित्र का नामकरण होता है, यथा चक्रबन्ध, खड्गबन्ध आदि ।

भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में ६ प्रकार के चित्रों का वर्णन किया है—वर्णचित्र, स्थानचित्र, स्वरचित्र, आकारचित्र, गतिचित्र और बन्धचित्र[५७] । एकव्यंजन, द्विव्यंजन, त्रिव्यंजन आदि वर्णचित्र हैं; निष्कण्ठ्य, निस्तालव्य, निर्दन्त्य आदि स्थानचित्र हैं । एकस्वर, द्विस्वर, त्रिस्वर आदि स्वरचित्र हैं । अष्टदल, चतुष्पत्र, षोडशपत्र आदि आकारचित्र हैं । गतप्रत्यागत, तुरंगपद, अर्धभ्रम आदि गतिचित्र हैं । चक्र, शृंगाटक, व्योम, मुरज, गोमूत्रिका आदि बन्धचित्र हैं ।

मम्मट ने संक्षेप में ही चित्रालंकार का वर्णन किया है । इसका हेतु वे इसका क्लिष्ट होना तथा काव्यरूप न होकर शक्तिमात्रप्रकाशक होना बतलाते हैं । उनके अनुसार—"तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता । का० प्रा० ९.८५", जहाँ संनिवेशविशेष में न्यस्त वर्ण खड्ग, मुरज, पद्म आदि आकार को स्फुरित करते हों वहाँ चित्रालंकार होता है । दिग्दर्शन रूप में उन्होंने केवल खड्गबन्ध, मुरजबन्ध, पद्मबन्ध तथा सर्वतोभद्र के उदाहरण दिये है ।

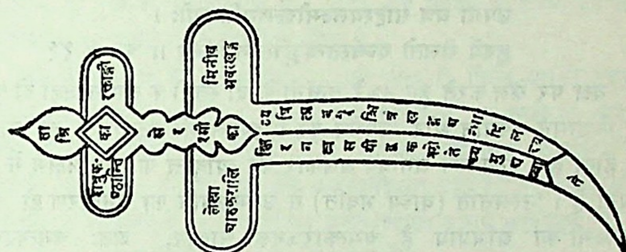
---

५७. वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान् प्रतीह यः ।
नियमस्तद् बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते ॥ सर० कण्ठा० २.१०९

जयदेवकृत चित्रालंकार का संक्षिप्त लक्षण तथा उदाहरण निम्न है—

काव्यवित्प्रवरैश्चित्रं खड्गबन्धादि लक्ष्यते ।
तेष्वाद्यमुच्यते श्लोकद्वयी सज्जनरञ्जिका ।।
कामिनीव भवत्खड्गलेखा चारुकरालिका ।
काश्मीरसेका रक्ताङ्गी शत्रुकण्ठान्तिकाश्रिता ।। च० ५.९,१०

इन दोनों श्लोकों से मिलकर निम्न प्रकार खड्गबन्ध बनता है —



अर्थालंकार

१. उपमा

उपमा का प्रयोग आदि काव्य वेदों से लेकर आज तक होता रहा है। काव्यशास्त्रियों ने भी प्रारम्भ से ही इसकी व्यापकता, लक्षण एवं भेदोपभेदों की चर्चा की है। भरतमुनि ने उपमा का निम्न लक्षण प्रस्तुत करते हुए इसके प्रशंसोपमा, निन्दोपमा, कल्पितोपमा, सदृशी उपमा तथा किंचित्सदृशी उपमा ये पांच भेद किये हैं—

यत्किंचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमा नाम सा ज्ञेया वर्णाकृतिगुणाश्रया ।। ना० शा० १७.४१

आगे आने वाले आचार्यों में उपमा का स्वरूप निरूपण करने में किसी ने उपमान-उपमेय के साम्य[५८] को, किसी ने सादृश्य[५९] को, किसी ने साधर्म्य[६०] को उपमा कहा है। भामह ने उपमा के तीन भेद बताये हैं। सर्वाधिक भेदोपभेदप्रपंच दण्डी ने किया है, जिसमें ३२ उपमाभेद वर्णित हैं। इनके इन उपमाभेदों में प्रतीप, उपमेयोपमा, भ्रन्तिमान्, प्रतिवस्तूपमा आदि कई सादृश्यमूलक अलंकार भी अन्तर्भूत हो गये हैं। मम्मट ने परस्पर भिन्न उपमान-उपमेय के साधर्म्य को उपमा कहा है—साधर्म्यमुपमा भेदे। इन्होंने २५ प्रकार की उपमायें मानी हैं, ६ पूर्णोपमाएं और १९ लुप्तोपमाएं। विश्वनाथ ने लुप्तोपमाएं १९ के स्थान पर २१ मानकर उपमा के

---

५८. भामह, काव्यालं० २.३०; वामन, काव्यालं० सू० ४.२.१; कुन्तक, व० जी० ३.३०; विश्वनाथ, सा० द० १०.१४

५९. दण्डी, काव्या० २.१४

६०. उद्‌भट, का० सा० सं० १.३२; मम्मट, का० प्र० १०.८७; रुय्यक, अ० स० ११

कुल भेद २७ कहे हैं। पंडितराज जगन्नाथ मम्मटोक्त २५ उपमाओं में से प्रत्येक के पांच-पांच भेद मानते हैं—१. व्यंग्यवस्तु की उपस्कारक, २. व्यंग्य अलंकार की उपस्कारक, ३. रस की उपस्कारक, ४. वाच्य वस्तु की उपस्कारक, ५. वाच्य अलंकार की उपस्कारक। इस प्रकार कुल भेद १२५ हो जाते हैं। उन्होंने ३२ उपमाभेद मानने वाले भी एक मत का निर्देश किया है। तदनुसार प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद करने पर कुल १६० भेद होते हैं। उपमा का जयदेवकृत लक्षणोदाहरण निम्न है—

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।
हृदये खेलतो रुच्चैस्तन्वङ्गीस्तनयोरिव॥ च० ५.११

वक्ष पर खेल करते हुए उभरे तन्वंगी के दो स्तनों के समान जहां दो पृथक्-पृथक् रूप में विद्यमान उपमान और उपमेय की सादृश्यलक्ष्मी उल्लसित हो वहां उपमालंकार होता है। वक्ष्यमाण अनन्वय अलंकार की व्यावृत्ति के लिए लक्षण में 'द्वयोः' पद रखा गया है। 'उल्लसति (वाच्यं भवति) से उपमाध्वनि का निवारण हो जाता है। सादृश्यलक्ष्मी का अभिप्राय है चमत्कारजनक सादृश्य, अतः चमत्कारानाधायक केवल वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि का सादृश्य होने पर उपमा नहीं होती[11]। उपमा का उदाहरण भी उक्त श्लोक ही है। यहां 'द्वयोः' उपमेय 'तन्वङ्गीस्तनयोः' उपमान, हृदय में तथा हृदय (वक्ष) पर क्रीड़ा करना एवं सादृश्यलक्ष्मी का उल्लसित होना समानधर्म और 'इव' वाचक शब्द है। अतः पूर्णोपमा है।

यहाँ जो उपमालक्षण में तन्वंगी के स्तनों के समान उपमान-उपमेय में चमत्काराधायक सादृश्य होना कहा गया है, वह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि स्तनों के समान पूर्ण सादृश्य उपमानोपमेय में सामान्यतः नहीं हुआ करता, जैसे मुख और चन्द्र में। साथ ही उक्तलक्षण करने पर शब्दगत सादृश्य में उपमा नहीं हो सकेगी। अतएव कुवलयानन्द में अप्पय दीक्षित ने उत्तरार्ध को इस रूप में परिवर्तित कर दिया है—हंसीव कृष्ण ते कीर्तिः स्वर्गंगामवगाहते। ऐसा करने पर लक्षण पूर्वार्द्ध तक ही सीमित हो जाता है,[12] तथा 'हंसीव' आदि उदाहरण होता है। अपनी ओर से दूसरा उदाहरण दीक्षित ने निम्न दिया है, जिसमें शब्दगत सादृश्य है—

गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति॥

साथ ही इन्होंने लुप्तोपमा के ८ भेद भी कहे हैं, जिनका जयदेव ने उल्लेख नहीं किया।

---

६१. अत्र द्वयोरिति 'सागरः सागरोपमः' इत्याद्यनन्वयव्यावृत्तये। उल्लसतीति अलङ्कारध्वनिव्यावृत्तये। लक्ष्मीरिति चमत्कारानाधायकवस्तुत्वप्रमेयत्वादिना सादृश्य-व्यावृत्तये। राकागम, रमा

६२. यत्रोपमानोपमेययोः सहृदयहृदयाह्लादकत्वेन चारुसादृश्यम् उद्भूततयोल्लसति व्यङ्ग्यमर्यादां विना स्पष्टं प्रकाशते तत्रोपमालंकारः। कु०

वर्ण्योपमानधर्माणामुपमावाचकस्य च ।
एकद्वित्र्यनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा ।। कु० ७

२. अनन्वय

अनन्वय अलंकार में एक ही वस्तु को उपमेय और उपमान दोनों बनाया जाता है। 'चन्द्र चन्द्र के समान हैं' यह कहना कुछ विचित्र सा लगता है, अतएव अन्वय अर्थात् सम्बन्ध ठीक घटित न होने से इसे अनन्वय नाम दिया गया है। पर इस वैचित्र्य में ही इसका अलंकारत्व है। यही इसे उपमा से भिन्न भी करता है। इसमें अनन्यसदृशत्व बताना ही विवक्षित होता है।

भरत ने अनन्वय को पृथक् अलंकार नहीं माना है, किन्तु उनकी सदृशी उपमा में इसका अन्तर्भाव हो जाता है[६३]। भामह इसे मानते हैं[६४]। दण्डी ने अपनी असाधारणोपमा में इसका संग्रह कर लिया है[६५]। उद्भट इसे पृथक् मानते हैं[६६]। रुद्रट ने इसे अपनी वाक्योपमा का ही एक भेद अनन्वयोपमा कहा है[६७]। मम्मट आदि इसे अलंकार रूप में स्वीकार करते हैं। इसका एकवाक्यगत होना आवश्यक है—

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे।
अनन्वयः। का० प्र० १०.९१

जयदेवकृत लक्षण तथा उदाहरण निम्न है—

उपमानोपमेयत्वे यत्रैकस्यैव जागृतः।
इन्दुरिन्दुरिवेत्यादौ भवेदेवमनन्वयः ।। च० ५.१२

उपमानोपमेय में अर्थैक्य के साथ-साथ शब्दैक्य भी होना चाहिए, यह सूचित करने के लिए यहां 'एव' शब्द रखा है[६८]। अन्यों के अनुसार 'इन्दुश्चन्द्र इव' में भी अनन्वयत्व सम्भव है, यद्यपि अनन्वय का चमत्कार शब्दैक्य में ही भासित होने से औचित्य शब्दैक्य में ही होता है[६९]। लाटानुप्रास से इसका यही अन्तर बताया गया है—

६३. यत् त्वयाद्य कृतं कर्म परचित्तानुरोधिना।
सदृशं तत् तवैव स्यादिति मानुषकर्मणः ।। ना० शा० १७.५०

६४. यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ।। काव्यालं०, भा० ३.४५

६५. चन्द्रारविन्दयोः कान्तिमतिक्रम्य मुखं तव।
आत्मनैवाभवत् तुल्यमित्यसाधारणोपमा ।। काव्या० २.३५

६६. का० सा० सं० ६.७, ८

६७. सा स्यादनन्वयाख्या यत्रैकं वस्त्वनन्यसदृशमिति।
स्वस्य स्वयमेव भवेदुपमानं चोपमेयं च ।। काव्यालं० रु० ८.११

६८. एवकारेण भिन्नशब्दबोध्यत्वव्यवच्छेदः। अतोऽस्या वदनमिव वक्त्रमित्यादौ नानन्वयः। रमा

६९. राजीवमिव पाथोजम् इति चास्य लाटानुप्रासाद् विविक्तो विषयः। किन्त्वन्नोचितत्वादेकशब्दप्रयोग एव श्रेयान्। सा० द० १०.२६ वृत्ति

अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम् ।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् ।।

लक्षण में 'जागृतः' पद से उपमान-उपमेय की एकता का स्फुट होना विवक्षित है[७०] । अतएव 'इन्दुर्नान्यसदृशः' में अनन्वय नहीं होगा ।

अप्पय दीक्षित ने जयदेव की कारिका में निम्न प्रकार संशोधन किया है—

उपमानोपमेयत्वं यदेकस्यैव वस्तुनः ।
इन्दुरिन्दुरिव श्रीमानित्यादौ तदनन्वयः ।। कु० १०

इससे एक तो उदाहरण में श्रीमत्त्वरूप सामान्य धर्म का विनिवेश हो गया है, दूसरे यत्र के साथ तत्र न होने से जयदेव का वाक्य असंगत था, यह दोष भी हट गया है । तीसरे, 'एकस्य' विशेषण का विशेष्य अस्पष्ट था तथा अध्याहृत करना पड़ता था । यह कमी 'वस्तुनः' पद से दूर हो गई है । चौथे, 'उपमानं च उपमेयं च उपमानोपमेये, तयोर्भावः उपमानोपमेयत्वम्', इस प्रकार द्विवचनान्त त्वे की अपेक्षा एकवचनान्त त्वं रखना ही अधिक संगत है, यद्यपि समाधान द्विवचनान्त का भी हो सकता है[७१] ।

दीक्षित ने 'श्रीमान्' पद के योग से जयदेवप्रोक्त उदाहरण को साधारणधर्म सहित बनाकर स्वयं तद्रहित का निम्न उदाहरण दिया है—

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ।।

३. उपमेयोपमा

इसमें दो वाक्य होते हैं । प्रथम वाक्य में जो उपमेय था वह द्वितीय वाक्य में उपमान तथा प्रथम में जो उपमान था वह द्वितीय उपमेय में बन जाता है । सर्वप्रथम इसका संकेत भामह ने किया है[७२] । दण्डी इसे अन्योन्योपमा नाम से उपमा के ही अन्तर्गत करते हैं[७३] । उद्भट[७४] और वामन[७५] ने भी इसे माना है । रुद्रट[७६] इसे अपनी वाक्योपमा का ही एक भेद उभयोपमा नाम से मानते हैं । मम्मट[७७], रुय्यक[७८] आदि इतर आलंकारिकों ने भी प्रायः उपमेयोपमा को पृथक् अलंकार

---

७०. जागृत इत्यस्य स्फुटं स्तः इत्यर्थः । तेनेन्दुर्नान्यसदृश इत्यादौ नातिप्रसंगः । रमा०

७१. द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य प्रत्येकं सम्बन्धः एतदर्थध्वननायैव द्विवचनम् । तथा चोपमानत्वोपमेयत्वे इत्यर्थः । रमा

७२. उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत् ।
उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदिताम् ।। काव्यालं०, भा० ३.३७

७३. तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम् ।
इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी ।। काव्या० २.१८

७४. का० सा० सं० ५.२७, २८

७५. काव्यालं० सू० ४.३, १५

७६. काव्यालं०, रु० ८.६, १०

७७. विपर्यास उपमेयोपमा तयोः । का० प्र० १०.९१

७८. द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा । अ० स० १३

स्वीकार किया है। पण्डितराज इसे उपमा का ही भेद मानकर निरूपित करते हैं[७९]।

जयदेव का लक्षणोदाहरण निम्न है—

पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता।
धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीरर्थो धर्म इव त्वयि॥ च० ५.१३

दोनों में बारी-बारी से उपमानोपमेयत्वकल्पन का प्रयोजन होता है उपमानान्तर ही सम्भवता का निवारण, अर्थात् यह बताना कि ये स्वयं ही एक दूसरे के उपमान वन सकते हैं, तीसरा कोई उपमान नहीं हो सकता। दीक्षित का कथन है कि 'धर्म अर्थ के समान है' इतना कहने से ही यह स्वतः सिद्ध है कि 'अर्थ धर्म के समान है', तथापि पुनः कथन तृतीयसदृशवस्तु के व्यवच्छेद को ही सिद्ध करता है[८०]। कारिकोक्त उदाहरण में पूर्णश्रीत्व रूप साधारण धर्म उपात्त है। साधारणधर्म के अनुपादान का दीक्षित उदाहरण देते हैं—

खमिव जलं जलमिव खं, हंस इव चन्द्रश्चन्द्र इव हंसः।
कुमुदाकारास्तारा:, ताराकाराणि कुमुदानि:॥

दीक्षित कहते हैं कि उक्त दोनों उदाहरणों में उपमानोपमेयत्वकल्पना प्रकृतों में ही हुई है। पर एक प्रकृत और दूसरा अप्रकृत होने पर भी यह अलंकार हो सकता है। यथा निम्न उदाहरण में गजराज तथा मद्धारा प्रकृत हैं, किन्तु गिरि तथा निर्झर अप्रकृत—

गिरिरिव गजराजोऽयं गजराज इवोच्चकैर्विभाति गिरिः।
निर्झर इव मदधारा मदधारेवास्य निर्झरः स्रवति॥

४. प्रतीपोपमा

विख्यातस्योपमानस्य यत्र स्यादुपमेयता।
इन्दुर्मुखमिवेत्यादौ स्यात् प्रतीपोपमा तदा॥ च० ५.१४

किसी विख्यात उपमान को उपमेय रूप में प्रस्तुत करने पर प्रतीपोपमा अलंकार होता है। यथा—'इन्दुः मुख मिवं' चाँद मुख के समान है। यहाँ चाद को, जो उपमान रूप में प्रसिद्ध है, उपमेय बना दिया गया है। स्वकल्पित उपमान को उपमेय रूप में प्रकट करने पर यह अलंकार नहीं होगा। यथा—'दुग्धं रजतधवलम्' तथा 'रजतं दुग्धधवलम्' इन दोनों में सामान्य उपमालंकार ही है, प्रतीपोपमा नहीं।

जयदेव ने प्रतीप तथा प्रतीपोपमा दो पृथक्-पृथक् अलंकार माने हैं। किन्तु अन्य आचार्यों के मतानुसार प्रतीप में ही उक्त प्रतीपोपमा भी अन्तर्भूत हो जाती है। जयदेव से पूर्ववर्ती मम्मट, रुय्यक आदि तथा परवर्ती विश्वनाथ आदि ने ऐसा ही किया है। यथा, विश्वनाथ ने प्रतीप का प्रथम भेद किया है—प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्व-

---

७९. अथास्य एव भेद उपमेयोपमा निरूप्यते। तृतीयसदृशव्यवच्छेदकबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूतं परस्परमुपमानोपमेयभावमापन्नयोरर्थयोः सादृश्यं सुन्दरमुपमेयोपमा। र० ग०

८०. द्वयोः पर्यायेणोपमानोपमेयत्वकल्पनं तृतीयसदृशव्यवच्छेदार्थम्। कु०

प्रकल्पनम् (सा० द० १०.८७); जिसका उदाहरण दिया है—यत् त्वन्नेत्रसमान-कान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्। अप्पय दीक्षित ने भी कुवलयानन्द में प्रतीपोपमा की पृथक् व्याख्या नहीं की, अपितु प्रतीपालंकार के ही ५ भेदों में से प्रथम भेद का निम्न स्वरूप बतलाया है—

प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः ।। कु० १२

दण्डी ने जयदेव के प्रतीपोपमालंकार के स्थान पर विपर्यासोपमा मानी थी, जो उनके अनुसार उपमा का ही एक भेद था।

त्वदाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति ।
सा प्रसिद्धिविपर्यासाद् विपर्यासोपमेष्यते ।। काव्या० २.१७

५. ललितोपमा

उपमाने तु लीलादिपदाढ्ये ललितोपमा ।
त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनोः ।। च० ५.१५

"तुम्हारे नेत्रयुगल नीलकमलों की लीला को धारण कर रहे हैं", इत्यादि प्रकार से जब उपमान के साथ लीला आदि पदों को जोड़कर उपमान के धर्म को उपमेय में आरोपित किया जाता है, तब ललितोपमालंकार होता है। आदि पद से यहाँ शोभा, छाया, कान्ति, लक्ष्मी, वैदग्धी, अभिख्या प्रभृति अभिप्रेत हैं।

कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु की लीला को कैसे धारण कर सकती है, वह अपनी ही लीला को धारण करेगी। अतः 'इसकी लीला तल्लीलासदृशी है' इस रूप में उपमा में पर्यवसान हो जाने के कारण इतर आचार्यों ने इसे निदर्शनालंकार के अन्तर्गत माना है। सर्वप्रथम उद्भट[८१] ने निदर्शना का यह रूप कल्पित किया था तथा निम्न उदाहरण दिया था—

विनोचितेन पत्या च रूपवत्यपि कामिनी ।
विधुवन्ध्यविभावर्याः प्रबिभर्ति विशोभताम् ।।

उसके पश्चात् मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने भी इसे मान लिया। मम्मट ने माघ के रैवतकपर्वतवर्णन का निम्न उदाहरण दिया है—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ।।

रुय्यक ने इसे पदार्थवृत्ति निदर्शना कहा था। दीक्षित ने भी उदाहरण जयदेव का ही रखते हुए इसे पदार्थवृत्ति निदर्शना माना है—

पदार्थवृत्तिमप्येके वदन्त्यन्यां निदर्शनाम् ।
त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनोः ।। कु० ५४

---

८१. का० सा० सं० ५.१८, १९

६. स्तबकोपमा

अनेकस्यार्थयुग्मस्य[८२] सादृश्यं स्तबकोपमा ।
श्रितोऽस्मि चरणौ विष्णोर्भृङ्गस्तामरसं यथा ।। च० ५.१७

एक से अधिक उपमानोपमेयरूप अर्थयुगल का सादृश्य विवक्षित होने पर स्तवकोपमा होती है । यथा—मैंने विष्णु के चरणों का आश्रय लिया है, जैसे भ्रमर कमल का आश्रय लेता है । यहाँ उपमेय 'मैं' का उपमान भ्रमर तथा उपमेय चरण का उपमान कमल है । इस प्रकार उपमेय-उपमान के दो जोड़े हो जाते हैं ।

अन्य आचार्य इस प्रकार के वैचित्र्य को पृथक् नाम न देकर उपमासामान्य के ही अन्तर्गत करते हैं । भरतमुनि ने निन्दोपमा का जो उदाहरण दिया है उसमें यह वैचित्र्य भी विद्यमान है—

सा तं सर्वगुणैर्हीनं सस्वजे कर्कशच्छविम् ।
वने कण्टकिनं वल्ली दावदग्धमिव द्रुमम् ।। ना० शा० १७.४८

जयदेव की स्तबकोपमा दण्डी की वाक्यार्थोपमा[८३] के अन्तर्गत भी हो सकती है, जिसके उदाहरण हैं—

त्वदाननमधीराक्षम् आविर्दशनदीधिति ।
भ्रमद्भृङ्गमिवालक्ष्यकेसरं भाति पङ्कजम् ।।
नलिन्या इव तन्वङ्ग्यास्तस्याः पद्ममिवाननम् ।
मया मधुव्रतेनेव पायं पायमरम्यत ।।

यहाँ प्रथम उदाहरण में आनन-पंकज, अधीरनेत्र-भ्रमद्भृंग, दशनदीधिति-केसर तथा द्वितीय में तन्वङ्गीनलिनी, आनन-पद्म और अहम्-मधुव्रत इस प्रकार तीन-तीन उपमेयोपमानयुगल हैं ।

मम्मट के वाक्यगा श्रौती उपमा के निम्न उदाहरण में यह वैचित्र्य भी विद्यमान है, किन्तु इसके आधार पर पृथक् नामकरण नहीं किया गया है—

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति ।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ।।

कुवलयानन्द में दीक्षित ने भी स्तवकोपमा का वर्णन इसी प्रकार से छोड़ दिया प्रतीत होता है कि यह सामान्य उपमा से भिन्न नहीं है ।

७. संपूर्णोपमा

स्यात् संपूर्णोपमा यत्र द्वयोरपि विधेयता ।
पद्मानीव विनिद्राणि नेत्राण्यासन्नहर्मुखे ।। च० ५.१७

जहाँ उपमान और उपमेय दोनों में ही विधेयत्व अर्थात् प्रस्तुत क्रिया का अन्वय होता हो वहाँ संपूर्णोपमा अलंकार होता है । इसमें उपमेय और उपमान दोनों

---

८२. यह शरदागम का पाठ है । राकागम तथा रमा में 'अनेकार्थस्य युग्मस्य' पाठ मिलता है ।

८३. काव्या० २.४३–४५

ही प्रस्तुत होते हैं। जैसे 'प्रभात होने पर कमलों के समान नेत्र विनिद्र हो गये', यहाँ विनिद्र होने रूप विधेय का सम्बन्ध कमल और नेत्र दोनों के साथ है। अभिप्राय यह है कि प्रभात होते ही जैसे कमल विकसित हो गये, वैसे ही प्रसुप्त प्राणियों के नेत्र भी विकसित हो गये (निद्रा को छोड़कर खुल गये)। यहां विनिद्र पद में श्लेष है।

सामान्य पूर्णोपमा से यह अलंकार इस रूप में भिन्न है कि वहां केवल उपमेय प्रस्तुत होता है तथा उपमान का ग्रहण साम्य बताने के लिए ही किया जाता है, किन्तु यहां दोनों प्रस्तुत होते हैं। उदाहरणार्थ, 'मुखं चन्द्र इवाभाति' इस पूर्णोपमा का अभिप्राय केवल इतना ही है कि जैसे चन्द्र शोभित हुआ करता है, वैसे ही इस समय मुख शोभित हो रहा है। यह आशय नहीं है कि इस समय चन्द्र और मुख दोनों शोभित हो रहे हैं। प्रस्तुत केवल मुख ही है[८४]।

नलचम्पू का निम्न श्लोक संपूर्णोपमा का ही उदाहरण होगा—

देशः पुण्यतमोद्देशः कस्यासौ न प्रियो भवेत्।
युक्तोऽनुक्रोशसंपन्नैर्यो जनैरिव योजनैः॥ १.२८

अर्थात् वह आर्यावर्त देश जैसे कृपालु (अनुक्रोश-सम्पन्न) जनों से युक्त था, वैसे ही हर कोस में समृद्ध (अनु-क्रोश-सम्पन्न) योजनों से युक्त था। यहां उपमान जन और उपमेय योजना दोनों ही प्रस्तुत हैं।

अन्य आलंकारिकों ने संपूर्णोपमा को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में या उपमा के भेद के रूप में भी पृथक् स्वीकार नहीं किया है। कुवलयानन्द में दीक्षित ने भी इसे छोड़ दिया है। राकागम टीकाकार ने लिखा है कि इसे कुछ लोग उपमेयोपमा का भेद मानते हैं[८५]। वैसे इसे उपमामूलक तुल्ययोगिता कहना अधिक उपयुक्त हो सकता है।

उपमा से लेकर सम्पूर्णोपमा तक सातों अलंकार जयदेव को उपमा के भेद के रूप में विवक्षित हैं अथवा स्वतन्त्र अलंकार के रूप में, यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं है।

८.१२. रूपक-प्रपञ्च

भरतमुनि ने रूपक का सामान्य वर्णन किया था। भामह ने इसके दो भेद दिखाये, समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति, तथा रूपक का निम्न लक्षण दिया[८६]—

उपमानेन यत् तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद् विदुः॥

दण्डी ने कहा कि उपमा ही तव रूपक हो जाती है जब उसमें उपमान और उपमेय का भेद तिरोहित हो जाता है[८७]। इन्होंने रूपक के असमस्त, समस्त, समस्त-

---

८४. इयं च पूर्वोक्तपूर्णोपमातो भिन्ना। तत्रोपमानधर्मत्वेन ज्ञातस्योपमेयनिष्ठत्वबोधः। इह तु श्लेषेण एकदैव उभयनिष्ठत्वबोध इति। राकागम

८५. अयं चोपमेयोपमाभेद इति केचित्। वही

८६. काव्यालं०, भा० २.२१-२४

८७. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।
यथा वाहुलता पाणिपद्मं चरणपल्लवः॥ काव्या० २.६६

व्यस्त, सकल, अवयव, अवयवी, एकांग, युक्त, अयुक्त, आदि २० भेद भी प्रदर्शित किये हैं। उद्‌भट ने भामह के ही दोनों भेद माने हैं, साथ ही समस्तवस्तुविषय को मालारूपक भी कहा है। वामन ने रुय्यक का लक्षण भामह के समान ही लिखा है, किन्तु भेद प्रदर्शित नहीं किये[८८]। रुद्रट रूपक के वाक्यरूपक और समासरूपक ये दो भेद दर्शा कर फिर तीन भेद करते हैं—सावयव, निरवयव तथा संकीर्ण। इन्होंने निरवयव रूपक के शुद्ध, माला, रशना और परम्परित ये चार भेद भी दर्शाये हैं। मम्मट का वर्गीकरण रुद्रट पर ही आधारित है। मम्मट का लक्षण है—

तद् रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। का० प्र० १०.९३

साथ ही अपह्नुति से व्यावृत्त करने के लिए उन्होंने वृत्ति में 'अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोः' भी जोड़ दिया है, जिसे रुय्यक ने लक्षण में ही समाविष्ट कर लिया—

अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्। अ० स० १५

मम्मट एवं रुय्यक कृत भेदोपभेद ही प्रायः बाद के आचार्यों ने स्वीकार कर लिए हैं। इनके अनुसार रूपक की भेदगणना इस प्रकार है—

सांग (सावयव) रूपक—१. समस्तवस्तुविषय, २. एकदेशविवर्ति।
निरंग (निरवयव) रूपक—३. शुद्ध (केवल), ४. माला।
परम्परितरूपक—श्लिष्ट : ५. शुद्ध (केवल), ६. माला।
अश्लिष्ट : ७. शुद्ध (केवल), ८. माला।

जयदेव ने एक तो रूपकसामान्य का लक्षण किया है, उसके अतिरिक्त सोपाधिरूपक, साहृश्यरूपक, आभासरूपक तथा रूपितरूपक ये चार प्रकार के अन्य रूपक माने हैं।

रूपक

यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते।
उपमेयमयी भित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते॥ च० ५.१८

जहां उपमानरूपी चित्र से उपमेयरूपी दीवार सर्वथा उपरंजित हो जाती हो, वहां रूपक होता है। अभिप्राय यह है कि जैसे दीवार के चित्र द्वारा ढक जाने से चित्र ही प्रधान रूप में झलकता है, वैसे ही रूपक में उपमान की ही प्रधानता होती है, तथा दोनों का अभेद प्रतीत होता है। उपमेय के दो उदाहरण इस श्लोक में ही आ गये हैं—उपमानचित्र तथा उपमेयमयी भित्ति। प्रथम में समस्त रूपक है तथा द्वितीय में व्यस्त। प्राचीनों के वे भेद जो जयदेव के अगले चार रूपकों में नहीं आते, इसी सामान्य रूपक में अन्तर्भूत हो सकते हैं।

सोपाधि-रूपक

समानधर्मयुक्साध्यारोपात् सोपाधिरूपकम्।
उत्सिक्तक्षितिभृल्लक्ष्यपक्षच्छेदपुरन्दरः॥ च० ५.१९

जहां किसी वस्तु के अन्य वस्तु में आरोप के साथ उस आरोप का साधक

---

८८. उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम्। काव्यालं० सू० ४.३.६

उभयसाधारण धर्म भी कथित कर दिया जाये वहां सोपाधि रूपक होता है। जैसे इसी श्लोक के उत्तरार्ध में किसी राजा में पुरन्दरत्व (इन्द्रत्व) का आरोप किया गया है, साथ ही किस समानधर्म के कारण वह राजा पुरन्दर है यह भी कह दिया है। दोनों ही उत्सिक्त क्षितिभृतों के लक्ष्य पक्षों का छेद करते हैं। यहां उत्सिक्त, क्षितिभृत् तथा पक्ष शब्द श्लिष्ट हैं। इन्द्र ने ऊपर उठे हुए पर्वतों के दिखाई देने वाले पंखों को काटा था, तथा यह राजा गर्वित शत्रुनृपतियों के दिखाई देने वाले सहायकों का उच्छेद करता है।

उत्सिक्तक्षितिभृल्लक्ष्यपक्षच्छेद में उत्सिक्तक्षितिभृल्लक्ष्यपक्षच्छेद का तथा राजा में पुरन्दर का आरोप होने से तथा प्रथम आरोप के दूसरे आरोप में कारण होने से, अन्यों के मतानुसार यह परम्परित रूपक होगा[८९]। उक्त सोपाधिरूपक समासगत का उदाहरण है। 'पक्षच्छेदे पुरन्दरः' ऐसा कर देने पर यही असमासगत का उदाहरण हो सकेगा।

सादृश्यरूपक

पृथक्कथितसादृश्यं दृश्यं सादृश्यरूपकम्।
उल्लसत्पञ्चशाखस्ते राजते भुजभूरुहः॥ च० ५.२०

जहां मुख्य आरोप के कारण रूप में नहीं, प्रत्युत पृथक् स्वतन्त्र रूप में सादृश्य कथित किया गया हो वहा सादृश्यरूपक होता है। यथा 'आपका भुजवृक्ष शोभित हो रहा है, जिसमें पांच अंगुलिरूपी शाखायें उल्लसित हो रही हैं।' यहां भुजा में वृक्षत्व के आरोप के पश्चात् ही पांच अंगुलियों में शाखात्व का आरोप सम्भव है, ऐसा नहीं है कि अंगुलियों में शाखात्व का आरोप पहले हो जाता हो तथा वह भुजा में वृक्षत्व के आरोप का कारण बनता हो। सोपाधिरूपक में यह स्थिति नहीं होती। वहां तो प्रथम आरोप होने पर ही द्वितीय आरोप सम्भव था। रमाटीका के अनुसार यही दोनों में भेद है। कुछ के अनुसार भेदक तत्त्व यह भी है कि सोपाधिरूपक में तो समानधर्म आरोप्यमाण के बिल्कुल निकट एकसमासनिष्ठ ही है, किन्तु सादृश्यरूपक में वह पृथक् व्यवहित रूप में पठित है[९०]। किन्तु यह भेद तो केवल प्रस्तुत उदाहरणों में लागू हो सकता है, सर्वत्र नहीं। सादृश्यरूपक ही अन्य आचार्यों के मत में सावयव या सांग रूपक है। प्रस्तुत उदाहरण समस्तवस्तुविषयक सावयवरूपक का है[९१]।

आभास तथा रूपित रूपक

स्यादङ्गयष्टिरित्येवंविधमाभासरूपकम्।
अङ्गयष्टिधनुर्वल्लीत्यादि रूपितरूपकम्॥ च० ५.२१

जयदेव ने इन दोनों का लक्षण न देकर उदाहरणों से ही इन्हें स्पष्ट किया

---

८९. अत्र क्षितिभृत एव क्षितिभृतः, पक्ष एव पक्षः इत्यप्रकृतारोप एकवाचकानुप्रविष्टः प्रकृतपुरन्दरत्वारोपनिर्वाहकः। एतदेव परम्परितम्। राकागम

९०. अत्र पंचशाखत्वं साधर्म्यं पृथगुच्यते, न तु सोपाधिरूपक इव पदनिकटे। शरदागम

९१. इदमेव समस्तवस्तुविषयं सावयवम्। राकागम, रमा

है। आभासरूपक वहां होता है जहां उपमान उपमेय में प्रत्यक्षतः आभासित होता हो। यथा, पतले लम्बे शरीर में क्योंकि साक्षात् यष्टि का आभास होता है, अतः अंग (शरीर) में यष्टि का आरोप करना आभासरूपक है। वैसा आभास मुखादि में चन्द्रादि का नहीं होता, अतः 'मुखचन्द्र' आदि को आभासरूपक नहीं माना जायेगा। यह रूपक समासगत होने पर ही चमत्कारजनक होता है। रमाटीका के अनुसार यह अरम्य होने के कारण रूपक न होकर रूपकाभास है, अतः इसे आभास-रूपक कहते हैं।[९२] परन्तु यदि ऐसा है तब तो इसे अलंकारकोटि में ही नहीं गिनना चाहिए था।

जहां एक आरोप करके बने हुए पद में दूसरा आरोप और जोड़ दिया जाये वहां रूपितरूपक होता है। यथा अंग में यष्टि का आरोप करने से अंगयष्टि पद बना, यह स्वयं एक रूपक हुआ। फिर उस अंगयष्टि में धनुर्वल्ली का आरोप करने से एक रूपक में दूसरा रूपक जुड़ गया। सभी रूपकों में रूपान्तर का योग नहीं हो सकता, जैसे 'कुचकलशकोकयुगलम्' ऐसा द्विरूपक प्रयोग रम्य न होकर 'कुचकलश-युगलम् या कुचकोकयुगलम् ऐसा एकरूपक प्रयोग ही रमणीय है। इसके विपरीत अंगयष्टिधनुर्वल्ली द्विरूपक ही सुन्दर प्रतीत होता है, अंगधनुर्वल्ली ऐसा एकरूपक प्रयोग वैरस्यावह है[९३]—

अंगयष्टिधनुर्वल्लीमादाय कुसुमायुधः।
जगज्जयति यासां ताः कथं न सरसाः स्त्रियः॥

दण्डी ने इसी को रूपकरूपक कहा था—

मुखपङ्कजरंगेऽस्मिन् भ्रूलतानर्तकी तव।
लीलानृत्यं करोतीति रम्यं रूपकरूपकम्॥ काव्या० २.९३

यहां प्रथम मुख में पंकजत्व का आरोप, फिर मुखपंकज में रंगस्थलत्व का आरोप हुआ है। इसी प्रकार प्रथम भ्रू में लतात्व का आरोप, फिर भ्रूलता में नर्तकीत्व का आरोप है।

कुवलयानन्द में दीक्षित ने जयदेव के इस रूपकप्रपंच को स्वीकार न कर रूपक पर स्वतन्त्र विचार किया है तथा कारिकाएँ भी नवीन लिखी हैं। उन्होंने रूपक का लक्षण तथा भेद निम्न प्रकार किया है—

विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत्।
रूपकं तत् त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभिः॥ कु० १७

अर्थात् जहाँ विषय (उपमेय) में विषयी (उपमान) का अभेद एवं ताद्रूप्य वर्णित किया जाये, वहां रूपक अलंकार होता है। इस दृष्टि से पहले रूपक द्विविध हुआ—अभेदरूपक और ताद्रूप्यरूपक। फिर प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—आधिक्योक्तिमूलक, न्यूनत्वोक्तिमूलक तथा अनुभयोक्तिमूलक। इस प्रकार रूपक के ६ भेद हुए। इनके अतिरिक्त मम्मट या रुय्यक द्वारा वर्णित सावयव, निरवयव तथा

९२. अत्र अंगे यष्टित्वारोपो न रम्य इत्याभासत्वम्। रमा
९३. द्रष्टव्य : शरदागम

परम्परित भेदों वाले अष्टविध रूपकों को भी दीक्षित स्वीकार करते हैं, जिनका वर्णन उनकी चित्रमीमांसा में हुआ है[६४]।

१३. परिणाम

इस अलंकार की उद्भावना रुय्यक ने की थी। तदनुसार अधिकतर उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने भी इसे स्वीकार कर लिया। रुय्यक का लक्षण यह है—

आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः। अ० स० १६

जब आरोप्यमाण उपमान का प्रकृत उपमेय में उपयोग होता है तब परिणाम अलंकार होता है। एवं इसमें प्रकृत आरोप्यमाण के रूप में परिणत होकर कार्य करता है। इसके रुय्यक ने दो भेद किये हैं—समानाधिकरण और व्यधिकरण। रुय्यक ने रूपक से परिणाम का यही भेद बताया है कि रूपक में अप्रकृत प्रकृत का उपयोगी न होकर प्रकृत का उपरंजकमात्र होता है, जबकि परिणाम में उपयोगी होना आवश्यक है[६५]। मम्मट ने इस अलंकार को नहीं माना है। उत्तरवर्ती आलंकारिक जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, दीक्षित, जगन्नाथ आदि इसे मानते हैं। जयदेव का लक्षण-उदाहरण निम्न है—

परिणामोऽनयोर्यस्मिन्नभेदः पर्यवस्यति।
कान्तेन पृष्टा रहसि मौनमेवोत्तरं ददौ॥ च० ५.२२

जब उपमान और उपमेय या आरोप्यमाण तथा आरोपविषय परस्पर अभिन्न होकर क्रिया से सम्बद्ध होते हैं तब परिणाम अलंकार होता है। यथा, 'एकान्त में कान्त द्वारा पूछने पर रमणी ने मौन ही उत्तर दिया।' 'वह मौन रही' इसी बात को कवि ने मौन में उत्तर का आरोप करके 'मौन ही उत्तर दिया' इस रूप में कहा है। यहां मौन आरोपविषय तथा उत्तर आरोप्यमाण (विषयी) है। मौन उत्तर रूप में परिणत होकर ही 'ददौ' क्रिया से अन्वित हो सकता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि मौन तो दिया नहीं जाता, उत्तर ही दिया जाता है। पर वास्तव में रमणी ने उत्तर तो दिया नहीं है, वह मौन रही है, अतः संगति तब तक नहीं लग सकती, जब तक उत्तर मौन रूप में परिणत न हो। इस प्रकार परिणाम में दोनों का परस्पर अभेद होता है।

इस सम्बन्ध में आलंकारिकों में मतभेद है कि परिणाम में विषयी विषय के रूप में परिणत होता है या विषय विषयी के रूप में। रुय्यक के अनुसार विषय (प्रकृत) विषयी (आरोप्यमाण) के रूप में परिणत होता है। किन्तु विश्वनाथ, विद्यानाथ, अप्पय दीक्षित तथा जगन्नाथ के मत में विषयी की विषय के रूप में परिणति होती है। जयदेव अपने लक्षण में इस विवाद से बच गये हैं। उनके

---

६४. रूपकस्य सावयवत्व निरवयत्वादिभेदप्रपंचनं तु चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यम्। कु०

६५. आरोप्यमाणं रूपके प्रकृतोपयोगित्वाभावात् प्रकृतोपरंजकत्वेनैव केवलेनान्वयं भजते। परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाण-रूपत्वेन परिणमति। अ० स० १६ वृत्ति

अनुसार दोनों ही एक-दूसरे में परिणत होते हैं[९६]। उपमान और उपमेय का अभेद तो रूपक में भी होता है, पर परिणाम में उसका क्रिया के साथ भी सम्बद्ध होना विशेष है—'पर्यवस्यति'[९७]।

दीक्षित ने जयदेव की कारिका को बदल कर लक्षण और उदाहरण अपना स्वतन्त्र दिया है—

परिणामः क्रियार्थश्चेद् विषयी विषयात्मना ।
प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा ।। कु० २१

अर्थात् जहां विषयी (आरोप्यमाण) विषय के रूप में परिणत होकर प्रकृत कार्य का निर्वाहक हो वहां परिणाम अलंकार होता है। जैसे 'मादक नेत्रों वाली नायिका प्रसन्न नेत्रकमल से देख रही है', यहां विषयी कमल विषय नेत्र के रूप में परिणत होकर ही वीक्षण रूप कार्य को करने में समर्थ है।

दूसरा उदाहरण इन्होंने उपहृतवान् के स्थान पर उपकृतवान् करके रुय्यकप्रदत्त ही दिया है, यद्यपि उसमें परिणाम अलंकार कैसे है इसकी व्याख्या भिन्न है।

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनासौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपकृतवानातरं नाविकाय ।।

राम ने सीता-लक्ष्मण सहित गंगा को पार कर उस नाविक को लक्ष्मण-मैत्री रूपी उतराई देकर उसका उपकार किया। यहां आरोप्यमाण उतराई लक्ष्मण-मैत्री रूप में परिणत होकर ही केवट के उपकार रूप कार्य में उपयोगी होती है, क्योंकि केवट वेतनार्थी नहीं था, प्रत्युत राम की कृपा का ही अभिलाषी था। रुय्यक की व्याख्यानुसार प्रकृत लक्ष्मणमैत्री ही आरोप्यमाण उतराई में परिणत हुई है, क्योंकि केवट को पार उतारने की मजदूरी मिलनी चाहिए थी, लक्ष्मणमैत्री ही मजदूरी हो गई[९८]।

---

९६. टीकाकारों ने जयदेव के लक्षण की ऐसी व्याख्या नहीं की है। रमा टीका के अनुसार जयदेव को विषय का विषयी रूप में परिणत होना ही अभिप्रेत है—आरोपविषयस्य आरोप्यमाणात्मनैव क्रियान्वयः स इति यावत्। राकागम के मत में जयदेव को आरोप्यविषयो की आरोपविषय रूप में परिणति अभीष्ट है—आरोप्यस्य आरोपविषयात्मनैव क्रियान्वय इति भावः। वे यहाँ मौन को आरोप्यमाण तथा उत्तर को प्रकृत मानकर व्याख्या करते हैं—मौनस्य उत्तरवचनात्मनैव दानक्रियान्वयात्।

९७. पर्यवस्यति क्रियान्वये फलितो भवतीत्यर्थः। राकागम

९८. डा० भोलाशंकर व्यास ने दोनों मतों का समन्वय करने का यत्न किया है। द्रष्टव्य : भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार, १९६५, पृ० १८७। उस दृष्टिकोण से जयदेव का लक्षण अधिक उपयुक्त है, यद्यपि वह पूर्णतः स्पष्ट नहीं है।

१४. उल्लेखिता

अन्य आचार्यों ने इसे उल्लेख कहा है। उल्लेख की उद्भावना का श्रेय भी रुय्यक को ही है। बाद के आलंकारिकों ने इसे स्वीकार कर लिया है। रुय्यक का लक्षण है—

एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः। अ० स० १९

एक वस्तु का भी, किसी निमित्त से, अनेक रूप में वर्णन करना उल्लेख अलंकार कहाता है। यह उस वस्तु का अनेक धर्मों से योग होने के कारण किया जाता है, जिसमें व्यक्ति की अपनी रुचि, अर्थिता तथा व्युत्पत्ति निमित्त बनते हैं[९९]। यह दो प्रकार का है—ग्रहीतृभेदमूलक तथा विषयभेदमूलक। जयदेवकृत लक्षणोदाहरण इस प्रकार है—

बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेखिता मता।
स्त्रीभिः कामः प्रियैश्चन्द्रः कालः शत्रुभिरैक्षि सः॥ च० ५.२३

अनेक व्यक्तियों द्वारा एक वस्तु के अनेक रूपों में उल्लेख को उल्लेखिता अलंकार कहते हैं। यथा—उस राजा को स्त्रियों ने काम के रूप में, प्रियजनों ने चन्द्र के रूप में तथा शत्रुओं ने काल के रूप में देखा। एक ही व्यक्ति द्वारा किसी वस्तु के अनेक रूप में वर्णन को सम्भवतः चामत्कारिक न होने से जयदेव पृथक् अलंकार न मानकर रूपक में ही अन्तर्भूत करते हैं। अतः द्वितीय भेद का निर्देश उन्होंने नहीं किया। अथवा यहां यदि 'बहुभिः' पद से 'बहुभिः ग्रहीतृभिः' तथा 'बहुभिः विषयैः' दोनों अर्थ लें, तो लक्षण में रुय्यककृत दोनों भेद आ जाते हैं, यद्यपि उदाहरण प्रथम का ही दिया गया है[१००]।

दीक्षित ने चन्द्रालोक के उक्त श्लोक में केवल इतना परिवर्तन किया है कि 'उल्लेखिता मता' के स्थान पर 'उल्लेख इष्यते' तथा 'प्रियैश्चन्द्रः' के स्थान पर 'अर्थिभिः स्वद्रुः' कर दिया है। 'याचक उसे कल्पवृक्ष रूप में देखते हैं', यह कहने में वर्णनीय राजा की महत्ता बढ़ जाती है, अतः उक्त संशोधन ग्राह्य है। कुवलयानन्द में इसका दूसरा उदाहरण 'गजत्रातेति वृद्धाभिः' आदि दिया है। प्रथम उदाहरण रूपकसंकीर्ण है तथा द्वितीय शुद्ध, ऐसा दीक्षित ने स्वयं विश्लेषण किया है। उल्लेख का द्वितीय भेद भी दर्शाने के लिए दीक्षित ने इस प्रकरण में एक नवीन कारिका भी जोड़ दी है—

एकेन बहुधोल्लेखेऽप्यसौ विषयभेदतः।
गुरुर्वचनस्यर्जुनोऽयं कीर्तौ भीष्मः शरासने॥ कु० २३

---

९९. यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसंधानसाधिते॥

१००. द्रष्टव्य : भोलाशंकर व्यास, भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार, पृ० २२१-जयदेव की चन्द्रालोकगत परिभाषा सामान्य जान पड़ती है, जो दोनों भेदों में घटित हो सकती है।

विश्वनाथ[१०१] आदि भी उल्लेख के दोनों भेदों की चर्चा करते हैं। उल्लेख रूपकगर्भित भी हो सकता है तथा शुद्ध भी।

१५–१६. अपह्नुति-प्रपञ्च

अपह्नुति रूपक के समान आरोपमूलक है, किन्तु रूपक से इसमें भेदक तत्त्व यह है कि इसमें अपह्नवपूर्वक आरोप होता है। इसका सर्वप्रथम निर्देश भामह ने किया है[१०२]। उनका उदाहरण है—

नेयं विरौतिभृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः॥ काव्यालं०, भा० ३.२२

आगे आने वाले सभी आचार्यों ने इसे किसी न किसी रूप में माना है। दण्डी अपह्नुति अलंकार के अतिरिक्त, जिसके ये विषयापह्नुति तथा स्वरूपापह्नुति दो भेद करते हैं, तत्त्वापह्नवरूपक भी मानते हैं, जो वस्तुतः अपह्नुति ही है[१०३]। अपह्नुति का लक्षण इन्होंने यह किया है—अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्। इसी को भोज ने भी ले लिया है[१०४]। वामन के अनुसार तुल्य वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु का निषेध करना अपह्नुति है[१०५]। वृत्ति में वस्तु का अर्थ वाक्यार्थ लिया है तथा यह उदाहरण दिया है—

न केतकीनां विलसन्ति सूचयः प्रवासिनो हन्त हसत्ययं विधिः।
तडिल्लतेयं न चकास्ति चञ्चला पुरः स्मरज्योतिरिदं विवर्तते॥

रुद्रट के लक्षण में अधिक स्पष्टता है, तथा मम्मट आदि ने उसे आधार बनाया है—

अतिसाम्यादुपमेयं यस्यामसदेव कथ्यते सदपि।
उपमानमेव सदिति च विज्ञेयापह्नुतिः सेयम्॥ काव्यालं०, रु० ८.५७

मम्मट के अनुसार प्रकृत (उपमेय) का निषेध करके उसमें उपमान की स्थापना करना अपह्नुति है[१०६]। यह निषेध शाब्द तथा आर्थ दोनों प्रकार से हो सकता है। रुय्यक ने इसकी तीन प्रकार की बन्धच्छाया मानी है—अपह्नवपूर्वक आरोप, आरोपपूर्वक अपह्नव तथा छलादि शब्दों के द्वारा अपह्नव[१०७]। अधिकांश

---

१०१. क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखः यः स उल्लेख उच्यते॥ सा० द० १०.३७

१०२. अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः॥ काव्यालं० भा० ३.२१

१०३. नैतन्मुखमिदं पद्मं न नेत्रे भ्रमराविमौ।
एतानि केसराण्येव नैता दन्तार्चिषस्तव॥ काव्या० २.९४

१०४. काव्या० २.३०४, सर० कण्ठा० ४.४१

१०५. समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः। काव्यालं० सू० ४.३.५

१०६. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः। का० प्र० १०.९६

१०७. अ० स० २० वृत्ति।

आचार्यों ने अपह्नुति को साधर्म्यमूलक ही माना है, किन्तु दण्डी, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित आदि इतर सम्बन्धों में भी अपह्नुति मानते हैं।

जयदेव की अपह्नुतियां

जयदेव ने चन्द्रालोक में अपह्नुति के पांच प्रकार कहे हैं—अपह्नुति, पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति और कैतवापह्नुति। इनका स्वरूप क्रमशः निम्न प्रकार है—

अपह्नुति

अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपह्नुतिः ।
नायं सुधांशुः किं तर्हि व्योमगङ्गासरोरुहम् ।। च० ५.२४

असत्य का आरोप करके सत्य का निषेध करना अपह्नुति कहाता है।। जैसे—यह चन्द्र नहीं है, अपितु आकाश-गंगा का कमल है। दीक्षित ने इसी को शुद्धापह्नुति कहा है तथा लक्षण में यह संशोधन कर दिया है—शुद्धापह्नुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिह्नवः। इससे अपह्नुति का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है, क्योंकि केवल सत्य का निषेध करने पर ही नहीं, अपितु औत्प्रेक्षिक धर्म का निषेध होने पर भी अपह्नुति हो सकती है, जिसका दीक्षित ने 'अंकं केऽपि शशंकिरे जलनिधेः पंकं परे मेनिरे' इत्यादि उदाहरण भी दिया है।

पर्यस्तापह्नुति

पर्यस्तापह्नुतिर्यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते ।
नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम् ।। च० ५.२५

जहां वस्तु का निषेध न करके तद्‌गत धर्ममात्र का निषेध होता है तथा उस धर्म का अन्यत्र आरोप किया जाता है, वहां पर्यस्तापह्नुति होती है। जैसे—यह चन्द्रमा नहीं है, प्रेयसी का मुख चन्द्रमा है। यहां चन्द्र में चन्द्रत्व धर्म का निषेध करके उसका आरोप प्रेयसी के मुख में किया गया है। जयदेव ने धर्म-निषेध की बात तो कह दी है, पर उसका अन्यत्र आरोप नहीं कहा। एवं लक्षण में अपूर्णता है। अतएव दीक्षित ने लक्षण को निम्न रूप में संशोधित कर दिया है—अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः। यहां 'सः' पद से धर्मनिह्नव का ग्रहण होता है। पंडितराज इसे अपह्नुति का भेद न मानकर रूपक के ही अन्तर्गत रखते हैं[१०८]।

भ्रान्तापह्नुति

भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शङ्कया तथ्यनिर्णये ।
तापं तनोति[१०९] सोत्कम्पं ज्वरः किं न सखि स्मरः ।। च० ५.२६

अन्य वस्तु की शंका होने पर उसे निवारण कर तथ्य निर्णीत किया जाये तो भ्रान्तापह्नुति अलंकार होता है। यथा, नायिका के शरीर में कम्पयुक्त ताप को देखकर सखी शंका करती है कि क्या ज्वर है? नायिका उसकी शंका को दूर करती

---

१०८. नायं सुधांशुः······इत्यत्र दृढारोपं रूपकमेव भवितुमर्हति नापह्नुतिः। र० गं०

१०९. यह शरदागम और राकागम का पाठ है। रमा में 'तापं तनोति' के स्थान पर 'शरीरे तव' पाठ है।

हुई उत्तर देती है कि—नहीं, स्मर है। भ्रान्तिमूलक होने के कारण इसका यह नाम है। अन्य अपह्नुतियों में भ्रान्ति नहीं होती, किन्तु केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कवि 'यह चन्द्र नहीं, व्योमगंगा का कमल है' इत्यादि कथन करता है। अपह्नुति में तथ्य का निषेध कर अतथ्य की स्थापना की जाती है, किन्तु यहां अतथ्य का निषेध तथा तथ्य की स्थापना होती है। इस अलंकार में भ्रान्ति वास्तविक भी हो सकती है तथा कविकल्पित भी। दीक्षित ने लक्षण में निम्न संशोधन कर दिया है—भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शंकायां भ्रान्तिवारणे। उन्होंने कल्पित भ्रान्ति का भी उदाहरण दिया है—

जटा नेयं वेणीकृतकचकलापो न गरलं
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम्।
इयं भूतिर्नाङ्गे प्रियविरहजन्मा धवलिमा
पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर किं मां प्रहरसि।।

दण्डी ने इसे तत्त्वाख्यानोपमा कहा था—

न पद्मं मुखमेवेदं न भृंगौ चक्षुषी इमे।
इति विस्पष्टसादृश्यात् तत्त्वाख्यानोपमैव सा।। काव्या० २.३७

विश्वनाथ इसे निश्चयालंकार की संज्ञा देते हैं[११०]। वे प्रस्तुत का निषेध न होने के कारण इसे अपह्नुति नहीं मानते[१११]। उदाहरण रूप में उनका स्वरचित निम्न श्लोक है—

वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते।
इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर मुदा किं परिभ्रमसि।।

छेकापह्नुति

छेकापह्नुतिरन्यस्य शङ्कया तथ्यनिह्नवे।
प्रजल्पन् मत्पदे लग्नः कान्तः किं नहि नूपुरः।। च० ५.२७

जहां अन्य वस्तु की शंका होने पर तथ्य को छिपाकर अतथ्य की स्थापना की जाये वहां छेकापह्नुति होती है। छेक का अर्थ है चतुर। इसमें चतुरता के साथ तथ्य का गोपन किया जाता है, इसलिए इसका यह नाम पड़ा है। जैसे, कोई नायिका अपनी अन्तरंग सहेली को नायक का वृत्त सुना रही है—प्रजल्पन् पदे लग्नः। अकस्मात् वहां पहुंची हुई कोई अन्य सखी इन शब्दों को सुनकर पूछती है कि क्या वह तुम्हारा कान्त था। उससे तथ्य को छिपाती हुई वह उत्तर देती है—'नहीं, नूपुर। यह भ्रान्तापह्नुति से उल्टी है। वहां अतथ्य का निषेध कर तथ्य प्रकट किया जाता है, यहां तथ्य का निषेध कर अतथ्य प्रकट करते हैं।

इस अपह्नुति को विश्वनाथ ने भी माना है, यद्यपि नाम यह नहीं दिया

---

११०. अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः। सा० द० १०.३९

१११. न चापह्नुतिः, प्रस्तुतस्यानिषेधात्। वही, वृत्ति

है[११२]। वे इसके दो भेद करते हैं—श्लेषमूलक तथा अश्लेषमूलक। उनका अश्लेषमूलक का उदाहरण निम्न है—

इह पुरोऽनिलकम्पितविग्रहा, मिलति का न वनस्पतिना लता।
स्मरसि किं सखि कान्तरतोत्सवं, नहि घनागमरीतिरुदाहृता॥

दीक्षित ने चन्द्रालोक की कारिका में केवल इतना संशोधन किया है कि 'शंकया' के स्थान पर 'शंकातः' पाठ कर दिया है। साथ ही वृत्ति में 'इसके आर्थ तथा शाब्द दो भेद करके स्वयं 'पद्मे त्वन्नयने स्मरामि' आदि शब्दयोजना वाला उदाहरण भी दिया है। विषयैक्य में भी अवस्थाभेद होने पर यह अलंकार माना है, जिसका निम्न उदाहरण दिया है—

वदन्ती जारवृत्तान्तं पत्यौ धूर्ता सखीधिया।
पतिं बुद्ध्वा सखि ततः प्रबुद्धास्मीत्यपूरयत्॥

कैतवापह्नुति

कैतवं व्यज्यमानत्वे व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदैः[११३]।
निर्यान्ति स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात्॥ च० ५.२८

व्याज, छल, मिष, कैतव आदि पदों से अपह्नव को व्यक्त किया जाये तो कैतवापह्नुति अलंकार होता है। जैसे—कान्ता के कटाक्षपात के कैतव (बहाने) से कामदेव के वाण निकल रहे हैं। अभिप्राय यह हो जाता है कि ये कान्ता के कटाक्ष नहीं हैं, अपितु कामदेव के वाण हैं। इस प्रकार प्रथम अपह्नुति का रूप निखर आता है। उसमें और इसमें अन्तर यह है कि वहां निषेध शाब्द था, यहां आर्थ है। अतएवं इसे आर्थी अपह्नुति भी कहा जाता है। दीक्षित ने लक्षण-वाक्य में निम्न संशोधन कर दिया है—कैतवापह्नुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदैः।

चन्द्रालोक की उपर्युक्त पांच अपह्नुतियों के अतिरिक्त कुवलयानन्द में दीक्षित ने एक छठी हेत्वपह्नुति भी मानी है, जिसे उन्होंने शुद्धापह्नुति के पश्चात् रखा है—

स एव युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपह्नुतिः।
नेन्दुस्तीव्रो न निश्यर्कः सिन्धोरौर्वोऽयमुत्थितः॥ कु० २७

अर्थात् धर्म का निह्नव यदि युक्तिपूर्वक हो तो हेत्वपह्नुति होती है। जैसे, कोई विरहिणी, जो चन्द्रमा की जलन अनुभव कर रही है, कहती है—यह चन्द्र नहीं है, क्योंकि तीव्र है; सूर्य भी नहीं है, क्योंकि सूर्य रात्रि में नहीं होता; यह तो समुद्र की वाडवाग्नि जल रही है। यहां तीव्रता तथा रात्रिसंबद्धता रूप दो हेतुओं को देकर

---

११२. गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथंचन।
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् साप्यपह्नुतिः॥ सा० द० १०.३८, ३९

११३. यह पाठ राकागम और रमा का है। शरदागम में निम्न पाठ है—
कैतवापह्नुतिर्व्यक्तं व्याजाद्यैर्निह्नवे पदैः।

क्रमशः चन्द्रत्व तथा सूर्यत्व रूप धर्मों का निह्नव किया गया है, अतः हेत्वपह्नुति है। यह जयदेव के हेतु नामक लक्षण में अन्तर्भूत हो सकती है[114]। संभवतः इसीलिए उन्होंने चन्द्रालोक में इसका पृथक् अलंकार के रूप में उल्लेख नहीं किया।

२०, २१. उत्प्रेक्षा-द्वयी

भामह ने उत्प्रेक्षा के विषय में यह कहा था कि इसमें समानधर्म की विवक्षा नहीं होती, कुछ-कुछ उपमा की झलक रहती है, और जो गुण या क्रिया उत्प्रेक्षित की जाती है, वह वस्तुतः उस वस्तु में होती नहीं तथा यह उत्प्रेक्षा अतिशयोक्तिमूलक होती है[115]। इन्होंने इसके भेद नहीं किये। दण्डी ने चेतन या अचेतन की अन्यथा-स्थिति वृत्ति को अन्यथा उत्प्रेक्षित करना उत्प्रेक्षा माना था[116]। भोज ने बताया कि वह अन्यथास्थित वस्तु द्रव्य भी हो सकती है, गुण भी और क्रिया भी—

अन्यथा वा स्थितं वस्तु यस्यामुत्प्रेक्ष्यतेऽन्यथा।
द्रव्यं गुणः क्रिया चापि तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते॥ सर० कंठा० ४.५०

इस प्रकार इनके अनुसार द्रव्योत्प्रेक्षा, गुणोत्प्रेक्षा और क्रियोत्प्रेक्षा ये त्रिविध उत्प्रेक्षा हुईं। इनसे पूर्व उद्भट इनके वाच्या, गम्या और भावाभिमाना, अभावाभिमाना भेद वता चुके थे। मम्मट ने उपमेय में उपमान की संभावना करने को उत्प्रेक्षा कहा—

संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। का० प्र० १०.९२

उदाहरण इन्होंने हेतूत्प्रेक्षा तथा क्रियोत्प्रेक्षा के दिये हैं, यद्यपि इन भेदों को लिखा नहीं है। सर्वप्रथम रुय्यक ने इसके बहुत से भेदों का संकेत किया है। उनके मत में ९६ भेद तो वाच्योत्प्रेक्षा के ही हैं। विश्वनाथ ने इस भेदगणना को और आगे बढ़ाकर ११२ प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षा तथा ६४ प्रकार की प्रतीयमानोत्प्रेक्षा बताई है।

जयदेव दो ही उत्प्रेक्षाओं की चर्चा करते हैं—वाच्योत्प्रेक्षा तथा गम्योत्प्रेक्षा, यद्यपि इन नामों से नहीं। प्रथम को इन्होंने उत्प्रेक्षा तथा द्वितीय को गूढ़ोत्प्रेक्षा कहा है, तथा इनके मत में ये दोनों पृथक्-पृथक् दो अलंकार प्रतीत होते हैं।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षोन्नीयते यत्र हेत्वादिर्निह्नुतिं विना।
त्वन्मुखश्रीकृते नूनं पद्मैर्वैरायते शशी॥ च० ५.२९

जहां प्रस्तुत के अपह्नव (निषेध) के बिना ही हेतु आदि का उन्नयन (संभावन) किया जाता है, वहां उत्प्रेक्षालंकार होता है। आदि पद से फल एवं स्वरूप का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, स्वरूपोत्प्रेक्षा तीनों इसमें आ जाती

---

११४. द्रष्टव्य : च० ३.४

११५. अविवक्षितसामान्या किंचिच्चोपमया सह।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता॥ काव्यालं०, भा० २.९१

११६. अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा॥ काव्या० २.२२१

हैं। उत्तरार्ध में उदाहरण है। चन्द्रमा के उदय होने पर कमल निमीलित हो जाते हैं। जब कमल खिले हुए थे तब नायिका के मुख की शोभा वे प्राप्त कर रहे थे। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि चन्द्रमा कमलों से मानो इसलिए वैर करता है कि तुम्हारे मुख की शोभा वह स्वयं प्राप्त कर सके। नूनं शब्द यहां उत्प्रेक्षावाचक है[११७]। यहां वैर का हेतु उत्प्रेक्षित किया गया है। राकागम और रमा टीकाओं के अनुसार यहां कान्तावदनकान्ति-प्राप्ति जो वस्तुतः फल नहीं है उसकी फलत्वरूप में तथा चन्द्रमा के वास्तव में वैर-कर्ता न होने पर भी उसकी वैर-कर्तृत्व रूप में संभावना होने के कारण हेतु के साथ-साथ फल और स्वरूप की उत्प्रेक्षा भी है।

गूढोत्प्रेक्षा

इवादिकपदाभावे गूढोत्प्रेक्षां प्रचक्षते ।
यत्कीर्तिर्विभ्रमश्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम् ।। च० ५.३०

जहां उत्प्रेक्षा का लक्षण विद्यमान हो, किन्तु वाचक पद इवादि का प्रयोग न किया गया हो, वहां गूढोत्प्रेक्षा होती है। इसी को इतर आलंकारिकों ने गम्या या प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा कहा है। उत्तरार्ध उदाहरण है। 'आपकी कीर्ति स्वर्गलोक तक फैल गई', इस बात को कवि इस रूप में कहता है—'आपकी कीर्ति विचरण से थक कर आकाश-गंगा में प्रविष्ट हो गई'। कीर्ति कोई चेतन प्राणी नहीं है जो थक जाये, अतः यहां उत्प्रेक्षा माननी पड़ती है—'मानो विचरण से थक जाने के कारण'। अतः हेतूत्प्रेक्षा है। इवादि वाचक पद का प्रयोग न होने से गूढोत्प्रेक्षा है। साथ ही आकाश-गंगा में कीर्ति वस्तुतः प्रविष्ट नहीं हुई है, अतः प्रवेश न होने पर भी प्रवेश की उत्प्रेक्षा से स्वरूपोत्प्रेक्षा भी है। आकाशगंगाप्रवेश का फल थकान मिटाना सूचित होने से फलोत्प्रेक्षा भी हो सकती है।

दीक्षित ने उत्प्रेक्षा पर चन्द्रालोक का अनुसरण न कर स्वतन्त्र विचार किया है। उनका उत्प्रेक्षा का लक्षण है—संभावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मना। वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा ये तीन भेद करके इन्होंने प्रथम के उक्तविषया और अनुक्तविषया दो भेद, तथा शेष दोनों के सिद्धविषया और असिद्धविषया ये दो-दो भेद किये हैं। इस प्रकार ६ भेद दर्शाये हैं। फिर इन छहों भेदों को वाच्योत्प्रेक्षा और गम्योत्प्रेक्षा दोनों में बताकर उत्प्रेक्षा के कुल १२ भेद माने हैं।

२२-२४. स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह

जयदेव ने इन तीनों अलंकारों को एक साथ निम्न श्लोकों में दर्शाया है। स्पष्ट लक्षण न देकर केवल इतना कहा है कि स्मृति, भ्रान्ति तथा सन्देह मूलक होने से इनके ये नाम हैं। उदाहरण प्रत्येक का पृथक् दिया है—

स्यात् स्मृतिभ्रान्तिसन्देहैस्तदेवालंकृतित्रयम् ।
पंकजं पश्यतस्तस्या मुखं मे गाहते मनः ।।

---

११७. मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्येत शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः ।। काव्या० २.२३४

अयं प्रमत्तमधुपस्त्वन्मुखं वेद पंकजम् ।
पंकजं वा सुधांशुर्वेत्यस्माकं तु न निर्णयः ।। च० ५.३१, ३२

स्मृति और भ्रान्ति अलंकारों का नामतः प्रथम उल्लेख रुद्रट के काव्यालंकार में स्मरण और भ्रान्तिमान् रूप में मिलता है। उनके पश्चात् भोज, मम्मट, रुय्यक आदि प्रायः सभी आचार्यों ने इन्हें माना है। सन्देह अलंकार की मान्यता भामह से ही चली आ रही है।

स्मृति

स्मरणालंकार रुद्रट के अनुसार वहां होता है जहां किसी वस्तुविशेष को देखकर बोद्धा उसके सदृश कालान्तरानुभूत किसी अन्य वस्तु का स्मरण करता है[११८]। इनका उदाहरण यह है—

तव भवने पश्यन्तः स्थूलस्थूलेन्द्रनीलमणिमालाः ।
भूभृन्नाथ मयूराः स्मरन्त्यमी कृष्णसर्पाणाम् ।।

भोज सदृशदर्शन, अदृष्ट, चिन्ता आदि से पूर्वानुभूत ज्ञान को स्मरण कहते हैं, तथा प्रत्यभिज्ञा और स्वप्न को भी इसी के अन्तर्गत करते हैं[११९]। मम्मट पूर्वानुभूत के सदृश कोई वस्तु देखकर उस पूर्वानुभूत की स्मृति को स्मरण कहते हैं—

यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः। स्मरणम्। का० प्र० १०.१३२

जयदेव के उदाहरण में पूर्वानुभूत कान्ता-मुख से सादृश्य रखने वाली वस्तु कमल को देख कर उस मुख की स्मृति हो रही है, अतः स्मृत्यलंकार है।

भ्रान्ति

इस अलंकार का बीज दण्डी की मोहोपमा में मिलता है[१२०]। रुद्रट के अनुसार जहां किसी वस्तुविशेष को देखकर बोद्धा को उसके सदृश अन्य वस्तु की सन्देहरहित प्रतीति होती हैं वहां भ्रान्तिमान् अलंकार होता है[१२१]। भोज ने विपर्ययज्ञान को भ्रान्ति अलंकार कहा है[१२२], तथा इसके अतत्व में तत्त्वरूप, तत्त्व में अतत्त्वरूप आदि भेदोपभेद दर्शाये हैं। मम्मट ने अप्रस्तुत वस्तु से तुल्यता रखने वाली प्रस्तुत वस्तु का दर्शन होने पर उस प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु के ज्ञान को भ्रान्तिमान् कहा है[१२३]। रुय्यक के मत में सादृश्य के कारण किसी वस्तु में वस्त्वन्तर की प्रतीति

११८. वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम् ।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम् ।। काव्यालं०, रु० ८.१०९

११९. सर० कण्ठा० ३.४२

१२०. काव्या० २.२५

१२१. अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम् ।
निःसंदेहं यस्मिन् प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति ।। काव्यालं०, रु० ८.८७

१२२. भ्रान्तिर्विपर्ययज्ञानम् । सर० कण्ठा० ३.३५

१२३. भ्रान्तिमान् अन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने। का० प्र० १०.१३२

भ्रान्तिमान् है[१२४]। उन्होंने यह भी कहा कि भ्रान्ति कवि-प्रतिभोत्थित ही होनी चाहिए, शुक्तिका में रजत की लोकसिद्ध भ्रान्ति के वर्णन में यह अलंकार नहीं होगा।

जयदेव के उदाहरण में भ्रमर ने पहले कमल देखा हुआ है, उसके सदृश किसी रमणी का मुख देखने पर उसे उसमें कमल की भ्रान्ति हो जाती है। अतः भ्रान्ति अलंकार है। कुवलयानन्द में दीक्षित ने अपनी ओर से भ्रान्ति का एक और उदाहरण दिया है, जिसमें अन्योन्यविषयक भ्रान्ति है—

पलाशमुकुलभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलिः।
सोऽपि जम्बूफलभ्रान्त्या तमलिं धर्तुमिच्छति॥

सन्देह

भामह, उद्भट, मम्मट आदि ने इसे ससन्देह कहा था। दण्डी की संशयोपमा में यह गृहीत हो जाता है। रुद्रट और भोज इसे संशय नाम देते हैं। वामन, रुय्यक आदि ने सन्देह कहा है। भामह ने इसका यह लक्षण लिखा था, जो उद्भट ने वैसा का वैसा ले लिया—

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससंदेहं वचः स्तुत्यै ससंदेहं विदुर्बुधाः॥ काव्यालं०, भा० ३.४३

रुद्रट ने इसके तीन भेद किये थे—अनिश्चयपर्यवसायी, निश्चयगर्भ और निश्चयान्त। मम्मट ने भेदोक्ति तथा भेदानुक्ति की दृष्टि से इसे द्विविध कहा था[१२५]। इन्होंने अपने भेदोक्ति वाले भेद में निश्चयगर्भ और निश्चयान्त दोनों का समावेश किया है, साथ ही निश्चयान्त संदेह में निश्चय के वाच्य हो जाने के कारण चारुता नहीं रहती, इसका उल्लेख भी भट्टोद्भट का नाम लेकर किया है। रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित (चित्रमीमांसा) आदि ने इन भेदों को शुद्ध, निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त नाम से कहा है।

जयदेव ने जो उदाहरण दिया है वह शुद्ध सन्देह का है। कोई व्यक्ति कान्ता के मुख को देखकर कह रहा है कि मैं निर्णय नहीं कर पा रहा, यह कमल है या चांद।

दीक्षित ने यद्यपि अपनी चित्रमीमांसा में उक्त तीनों अलंकारों पर विशद विचार किया है, तथापि कुवलयानन्द में एक-एक उदाहरण अधिक देने के अतिरिक्त अन्य कोई नवीनता नहीं की है। चन्द्रालोक की कारिकायें भी दो-तीन शब्द मात्र परिवर्तित करके वैसी की वैसी ले ली हैं।

२५–२७. मीलित, सामान्य और उन्मीलित

ये तीनों अलंकार परस्पर सम्बद्ध हैं। मीलित के उद्भावक रुद्रट हैं। सामान्य का उल्लेख सर्वप्रथम मम्मट ने किया। उन्मीलित के प्रवर्तक स्वयं जयदेव ही हैं। मीलित और सामान्य मिलते-जुलते से हैं। उन्मीलित इनके विपरीत है।

---

१२४. सादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान्। अ० स० १८
१२५. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः। का० प्र० १०.९२

मीलित

रुद्रट ने मीलित वहां माना था जहां किसी नित्य या आगन्तुक, समान चिह्न वाली अन्य वस्तु से हर्ष, कोप आदि छिप जाते हों[१२६]। नित्य (स्वाभाविक) और आगन्तुक दोनों के उन्होंने उदाहरण भी दिये थे। भोज के अनुसार वस्तु से वस्त्वन्तर का तिरस्कार मीलित कहाता है[१२७]। उन्होंने इसके पिहित, अपिहित, तद्गुण और अतद्गुण ये चार भेद भी किये हैं। मम्मट ने लक्षण किया है—

समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्॥ का० प्र० १०.१३०

अर्थात् जहां कोई वस्तु दूसरी वस्तु को अपने सहज या आगन्तुक समान चिह्न से बलवत्तर होने के कारण सचमुच ही छिपा लेती है, वहां मीलित अलंकार होता है। जैसे, 'नायिका के नेत्रों की स्वाभाविक चंचलता के कारण मधुपानजन्य मद का पता नहीं लगा'। यहां सहज चपलता ने मदजनित चंचलता को छिपा लिया है।

जयदेव का लक्षण-उदाहरण निम्न है—

मीलितं बहुसादृश्याद् भेदवच्चेन्न लक्ष्यते।
रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजारुणे॥ च० ५.३३

भिन्न भी वस्तु बहुत अधिक सादृश्य के कारण यदि दिखाई न दे तो मीलित अलंकार होता है। जैसे, 'स्वभाव से ही लाल नायिका के चरण में लाल लाक्षारस नहीं दिखाई दिया'।

सामान्य

इसका मम्मट ने यह लक्षण प्रस्तुत किया था—

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम्॥ का० प्र० १०.१३४

अर्थात् जहाँ गुणसाम्य की विवक्षा से प्रस्तुत वस्तु की उससे भिन्न, किन्तु उससे संयुक्त अप्रस्तुत वस्तु के साथ एकात्मता निबद्ध की जाती है, वहाँ सामान्यालंकार होता है। यहाँ गुणसाम्य वस्तुतः होता नहीं, किन्तु कवि बताना चाहता है[१२८]। उदाहरणार्थ—

मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः।
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः॥
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः।
प्रियवसतिं प्रयांति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः॥

---

१२६. काव्यालं०, रु० ७.१०६

१२७. वस्त्वन्तरतिरस्कारो वस्तुना मीलितं स्मृतम्। सर० कण्ठा० ३.४१

१२८. अतादृशमपि तादृशतया विवक्षितुम्। का० प्र० १०.१३४ वृत्ति

वस्तुतः जयदेव के अनुसार यह उदाहरण मीलित का होगा। इसका विवेचन कुवलयानन्द में एतत्-सदृश एक अन्य पद्य लेकर दीक्षित ने किया है।

जयदेव का लक्षण उदाहरण निम्न है—

सामान्यं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते।
पद्माकरप्रविष्टानां मुखं नालक्षि सुभ्रुवाम्॥ च० ५.३४

जहाँ दोनों वस्तुएं तो पृथक्-पृथक् दिखाई दें, किन्तु सादृश्य के कारण उनमें भेद या अन्तर ज्ञात न हो सके, वहाँ सामान्य अलंकार होता है। जैसे, 'पद्मपूर्ण सरोवर में प्रविष्ट हुई सुन्दरियों का मुख पता नहीं चला'। यहाँ मुख दीख तो रहा है, किन्तु कमलों के साथ एकाकार हो जाने से उसकी इस रूप में प्रतीति नहीं हो रही कि यह मुख है।

जयदेव के अनुसार मीलित तथा सामान्य में अन्तर यह है कि प्रथम में तो वस्तु का स्वरूप ही तिरोहित हो जाता है, जबकि द्वितीय में वस्तु तिरोहित न होकर उसका व्यावर्तक धर्म तिरोहित होता है।

दीक्षित ने इसे निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

"मीलितालंकारे एकेनापरस्य भिन्नस्वरूपानवभासरूपं मीलनं क्रियते, सामान्यालंकारे तु भिन्नस्वरूपावभासेऽपि व्यावर्तनविशेषो नोपलक्ष्यत इति भेदः।" १कु० ४७ वृत्त।

दीक्षित ने यद्यपि चन्द्रालोक में सामान्य का जो लक्षण था उसे मीलित का कर दिया है तथा सामान्य के लक्षण में 'भेद एव न लक्ष्यते' के स्थान पर 'विशेषो नोपलक्ष्यते' कर दिया है, तो भी दोनों अलंकारों के स्वरूप में इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ा है, तथा उदाहरण भी वे ही रहे हैं। यह संशोधन उन्होंने केवल स्पष्टता लाने के उद्देश्य से किया है।

उन्मीलित

यह अलंकार प्रमुखतः जयदेव तथा अप्पय दीक्षित ने ही माना है। पंडितराज जगन्नाथ इसे अनुमान में अन्तर्भूत कर लेते हैं[१२९]। इसका चन्द्रालोक प्रतिपादित स्वरूप इस प्रकार है—

हेतोः कुतोऽपि वैशिष्ट्यात् स्फूर्तिरुन्मीलितं मतम्।
लक्षितान्युदिते चंद्रे पद्मानि च मुखानि च॥ च० ५.३५

उपमान और उपमेय का जो भेद लक्षित नहीं हो रहा था, वह यदि किसी हेतुविशेष से परिस्फूर्त होने लगता है, तो उन्मीलित अलंकार होता है। जैसे, 'चन्द्रमा के उदित होने पर कमल और मुख पहचान में आ गये।' पहले सादृश्य के कारण दोनों का अन्तर प्रतीत नहीं हो रहा था, किन्तु चन्द्रोदय होने पर कमल तो निमीलित हो गये और मुख विकसित रहा। अतः दोनों पृथक्-पृथक् पहचान लिये गये।

१२९. अनुमानालंकारेणैव गतार्थत्वाद् अनयोः (उन्मीलितविशेषकयोः) अलंकारान्तरत्वायोगात्। र० गं०, सामान्यालंकार प्रकरण

यहाँ चन्द्रोदय ही विशिष्ट हेतु है। इस अलंकार में उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष सूचित होता है। यह अलंकार पूर्वोक्त मीलित तथा सामान्य अलंकार का उल्टा है। सामान्य से विपरीतता तो उदाहरण से ही स्पष्ट है। मीलित से विपरीतता मीलित के उदाहरण को इस रूप में परिवर्तित कर देने से स्पष्ट हो जाती है—

रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजारुणे।
कुट्टिमे चरणन्यासादुभयं तदलक्षि नः॥

अर्थात् फर्श पर पैर रखते ही प्रकट हो गया कि यह लाक्षा की लाली है, और यह पैर की स्वाभाविक लाली है, क्योंकि लाक्षा की लाली फर्श पर लग गई, पर पैर की लाली पैर में ही रही।

दीक्षित ने इसके स्थान पर दो अलंकार कल्पित किये हैं, उन्मीलित और विशेषक। उनके मतानुसार मीलित की स्थिति में किसी हेतु से भेदस्फूर्ति हो जाने पर उन्मीलित अलंकार होता है, तथा सामान्य की स्थिति में अनुपलक्षित विशेष किसी हेतु से स्फुरित हो जाये तो विशेषक अलंकार। अतएव जयदेव ने उन्मीलित का जो उदाहरण दिया है वह उनके मत में विशेषक का उदाहरण बनता है। उन्मीलित का उदाहरण वे यह देते हैं—

हिमाद्रिं त्वद्यशोमग्नं सुराः शीतेन जानते। कु० १४८

एक पद्य उन्होंने निम्नलिखित दिया है, जो उनके मतानुसार विशेषक का उदाहरण है, किन्तु जयदेव के अनुसार उन्मीलित का ही होगा—

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः।
वसंतसमये प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः॥

२८, २९. अनुमान और अर्थापत्ति

ये दोनों प्रमाणालंकार हैं। अनुमान का सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने तथा अर्थापत्ति का भोजराज ने किया है। भोज ने प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों को अलंकार स्वीकार किया है। अनुमान अलंकार को उत्तरवर्ती आलंकारिकों में से अधिकतर मानते हैं। अर्थापत्ति को मम्मट ने नहीं माना, किन्तु रुय्यक, जयदेव, अप्पयदीक्षित, विश्वनाथ आदि इसकी चर्चा करते हैं।

अनुमान

रुद्रट ने साधन के द्वारा परोक्ष वस्तु के सिद्ध करने को अनुमान कहा था। प्रथम साध्य को उपन्यस्त कर पश्चात् साधन का उल्लेख करना अथवा पहले साधन को उल्लिखित कर फिर साध्य को कहना, इस आधार से इसे द्विविध कहा था। साथ ही इन्होंने एक और प्रकार का भी अनुमान बताया था—किसी बलवान् कारण को देखकर अघटित को घटित (भूत) या भविष्य में घटित होने वाला (भावी) कहना।

यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति।
भावीति वा तथान्यत् कथ्येत् तदन्यदनुमानम्॥ काव्यालं०, रु० ७.५९

इस भूत और भावी के फिर पूर्वोक्त प्रकार से दो-दो भेद कर इसे चतुर्विधि

कहा। एवं दो भेद पूर्वोक्त तथा चार ये, कुल मिलाकर ६ भेद इन्होंने सोदाहरण वर्णित किये। वामन इस अलंकार का उल्लेख नहीं करते। भोज ने पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट भेद किये हैं। मम्मट का लक्षण यह है—

अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः। का० प्र० १०.११७

इन्होंने साध्य-साधन के पौर्वापर्यविकल्प में कोई वैचित्र्य न देखकर उन भेदों को उपेक्षितकर दिया है। रुय्यक का लक्षण भी इन्हीं जैसा है[१३०]। साथ ही इन्होंने इस ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि विच्छित्ति-विशेष होने पर ही यह अलंकार माना जायेगा, अन्यथा काव्यानुमान और तर्कानुमान में क्या अन्तर रहेगा[१३१]। विश्वनाथ ने विच्छित्ति को लक्षण में ही समाविष्ट कर लिया है[१३२]।

जयदेव ने कार्य आदि से कारण आदि के निश्चय को अनुमान कहा है। लक्षणोदाहरण निम्न है—

अनुमानं च कार्यादेः कारणाद्यवधारणम्।
अस्ति किञ्चिद् यदनया मां विलोक्य स्मितं मनाक्॥ च० ५.३६

उत्तरार्ध में कार्य से कारण के अनुमान का उदाहरण दिया गया है—'क्योंकि यह मुझे देख कर हंसी, अतः अवश्य इसके मन में कुछ है'। यहाँ हसित रूप कार्य से मन में कुछ होना रूपी कारण अनुमित हुआ है। अन्यों की परिभाषा के अनुसार यहाँ हसित साधन ही है, जिससे साध्य का अनुमान हुआ है। कारिका में आये आदि पद से कारण द्वारा कार्य का अनुमान भी गृहीत हो जाता है। उक्त उदाहरण को ही इस रूप में परिवर्तित कर दें तो कारण से कार्य का अनुमान होगा—'भावि किंचिद् यदनया मां विलोक्य स्मितं मनाक्', अर्थात् कुछ होने वाला है, जो कि यह मेरी ओर देख कर हंसी।

दीक्षित ने कुवलयानन्द के अन्त में प्रमाणालंकारों में अनुमान का उल्लेख किया है, किन्तु लक्षण कुछ नहीं दिया। उदाहरण भी चन्द्रालोक का नहीं है। चार उदाहरण दिये हैं, जिनमें एक रूपकसंकीर्ण का, एक अतिशयोक्ति संकीर्ण का तथा दो शुद्ध अनुमान के हैं।

अर्थापत्ति

भोज के अनुसार प्रत्यक्ष अनुमान आदि से प्रतीत अर्थ यदि सामान्यतः उत्पन्न न होता हो तथा अर्थान्तर को सूचित करता हो तो अर्थापत्ति अलंकार होता है[१३३]। जैसे प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति का इन्होंने यह उदाहरण दिया है—

---

१३०. साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम्। अ० स० ५८

१३१. विच्छित्तिविशेषश्चात्रार्थादाश्रयणीयः। अन्यथा तर्कानुमानात् किं वैलक्षण्यं स्यात्। वही, वृत्ति

१३२. अनुमानं तु विच्छित्त्यो ज्ञानं साध्यस्य साधनात्। सा० द० १०.६३

१३३. प्रत्यक्षादिप्रतीतोऽर्थो यस्तथा नोपपद्यते।
अर्थान्तरं च गमयत्यर्थापत्तिं वदन्ति ताम्॥ सर० कण्ठा० ३.५२

एतदालोक्य लोलाक्षि रूपमप्रतिमं तव ।
कल्पयामः कलातत्त्वगुरुतामाविवेधसः ॥

पर यह अर्थापत्ति इतर आचार्यों के अनुमान में ही अन्तर्भूत हो जाती है। रुय्यक ने दण्डापूपिका न्याय से अर्थान्तर के आपादन को अर्थापत्ति कहा है[134]। अर्थात् जैसे चूहे ने डंडे को खा लिया, यह कहने पर यह स्वतः गृहीत हो जाता है कि उसके साथ रखा मालपुआ भी उसने खा लिया, वैसे ही एक अर्थ से अर्थान्तर का आपतन अर्थापत्ति में होता है। जैसे प्राकरणिक् अर्थ से अप्राकरणिक अर्थान्तर के आपतन का उदाहरण अलंकारसर्वस्व में उन्होंने यह दिया है—

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥

जयदेव का लक्षण-उदाहरण यह है—

अर्थापत्तिः स्वयं सिध्येत् पदार्थान्तरवर्णनम् ।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्ता सरसीरुहाम् ॥ च० ५.३७

रुय्यक ने जो लक्षण किया था उसी को प्रकारान्तर से इन्होंने कह दिया है। जहाँ एक बात के कथन से दूसरी बात स्वतः सिद्ध हो जाती हो, वहाँ अर्थापत्ति होती है। जैसे 'तुम्हारे मुख ने चन्द्रमा को जीत लिया' यह कहने से 'कमलों का तो कहना ही क्या ?' यह अर्थ स्वतः सिद्ध हो गया। जब कमलविजयी चन्द्र जीता गया तब कमल किस गिनती में रहते हैं। लक्षण में 'पदार्थान्तर' के स्थान पर 'अर्थान्तर' होना अधिक उचित था।

दीक्षित ने मीमांसकों के अर्थापत्ति प्रमाण से व्यावृत्त करने के लिए इस अलंकार को काव्यार्थापत्ति नाम दिया है, तथा उक्त लक्षण को इस रूप में संशोधित कर दिया है—कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते (कु० १२०), अर्थात् कैमुत्य न्याय के द्वारा जहां किसी अर्थ की संसिद्धि हो वहां काव्यार्थापत्ति अलंकार होता है। उदाहरण इन्होंने चन्द्रालोक का ही रखा है, यद्यपि दो उदाहरण अतिरिक्त भी दिये हैं। एक अर्थापत्ति इन्होंने प्रमाणालंकारों में भी दर्शायी है। पंडितराज इनके लक्षण में यह त्रुटि बताते हैं कि कैमुत्यन्याय तो न्यूनार्थविषयक ही होता है, अतः अधिकार्थापत्ति इससे गृहीत नहीं हो सकेगी।

३०. काव्यलिंग

काव्यलिंग नाम से इस अलंकार का उल्लेख सर्वप्रथम उद्भट ने किया है[135]। उनसे पूर्व हेत्वलंकार के अन्तर्गत यह माना जा चुका था। काव्यलिंग का जो रूप आगे चलकर स्वीकार्य हुआ, उसके प्रवर्तक मम्मट हैं। इन्होंने काव्यलिंग उसे कहा जहां वाक्यार्थ या पदार्थ किसी अनुपपन्न अर्थ के हेतु बनते हों—

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता । का० प्र० १०.११४

---

१३४. दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः । अ० स० ६४

१३५. का० सा० सं० ६.१४

पदार्थहेतुक के ये दो भेद करते हैं—अनेकपदार्थमूलक तथा एकपदार्थमूलक। रुय्यक ने भी इसी का अनुसरण किया[१३६]। इन्होंने वाक्यार्थहेतुक के भी अनेकवाक्यार्थ-हेतुक तथा एकवाक्यार्थहेतुक दोनों रूप प्रदर्शित किये हैं। इनका यह भी कथन है कि तर्क के व्याप्ति-पक्षधर्मता-उपसंहार आदि से युक्त लिंग से भेद करने के लिए इसके साथ काव्य शब्द जोड़ा गया है।

जयदेव का लक्षण भी मम्मट और रुय्यक के लक्षणों से मेल खाता है, यद्यपि वहाँ वाक्यार्थ और पदार्थ को पृथक्-पृथक् न कहकर सामान्य रूप से 'वागर्थ' ही कह दिया गया है।

स्यात् काव्यलिंगं वागर्थो यत्र हेतुसमर्थकः[१३७]।
जितोऽसि मन्द कन्दर्प मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः॥ च० ५.३८

जहाँ वागर्थ (वाक्यार्थ या पदार्थ) किसी कथित अर्थ में हेतु और समर्थक बनता हो वहाँ काव्यलिंग होता है[१३८]। जैसे, 'मेरे चित्त में भगवान् त्रिलोचन वास करते हैं', यह वाक्यार्थ कन्दर्प के जीते जाने में हेतु बन रहा है, क्योंकि त्रिलोचन अपने तृतीय नेत्र से उसे भस्म कर देंगे।

दीक्षित ने उक्त लक्षण में निम्न संशोधन किया है—समर्थनीयस्यार्थस्य काव्य-लिंगं समर्थनम् (कु० १२१)। इन्होंने चन्द्रालोक के उदाहरण के अतिरिक्त काव्यलिंग की विविध स्थितियों के अन्य भी कई उदाहरण दिये हैं, तथा परिकर अलंकार से काव्यलिंग का भेद भी स्पष्ट किया है।

३१, ३२. परिकर और परिकरांकुर

परिकर की सर्वप्रथम चर्चा रुद्रट ने की थी। वामन एवं भोज ने इसका उल्लेख नहीं किया। मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने इसे माना है। किन्तु परिकुरांकुर के उद्भावक जयदेव ही हैं। अप्पय दीक्षित ने इसकी पुष्टि की है। अन्य किसी आलंका-रिक ने इसे नहीं माना।

परिकर

रुद्रट ने कहा था कि जहां वस्तु साभिप्राय विशेषणों से विशिष्ट हो वहां परि-कर अलंकार होता है, तथा उन्होंने इसे द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति के भेद से चतुर्विध माना था[१३९]। मम्मट ने भी इसी आशय का लक्षण किया है, यद्यपि वे भेदों की चर्चा नहीं करते—

विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः। का० प्र० ११८

---

१३६. हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गम्। अ० स० ५७

१३७. यह पाठ राकागम का है। पाठान्तर—नूतनार्थसमर्थकः। शरदागम, नूतनार्थ-समर्पकः। रमा

१३८. यत्र वाच्य एव वाक्यार्थः पदार्थो वा प्रस्तुतवाक्यार्थे हेतुभूतस्तत्र काव्यलिंगा-लंकारः। राकागम

१३९. काव्यालं०, रु० ७.७२–७६

इनका कथन है कि यद्यपि अपुष्टतार्थत्व दोष के निराकरण से ही 'साभिप्राय-विशेषणता या पुष्टार्थता होनी चाहिये' यह गृहीत हो जाता है, तथापि अनेक साभिप्राय विशेषणों के उपन्यास में वैचित्र्य होता है, अतः इसे अलंकार माना गया है। रुय्यक ने भी विशेषण-साभिप्रायत्व को ही परिकर कहा है[१४०]। विशेषणों के साभिप्रायत्व होने का अभिप्राय लिया है, उनका प्रतीयमान अर्थ को गर्भित करना। ये कहते हैं कि प्रसन्न और गम्भीर पदों से युक्त होने के कारण यह ध्वनि का विषय नहीं है।

जयदेव का लक्षण उक्त लक्षणों का ही अनुवाद है—

अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे।
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः॥ च० ५.३९

उदाहरण में 'सुधांशुकलितोत्तसः' विशेषण साभिप्राय है, यतः चन्द्रशिरोधारी होने से शिव की तापहारकता की चमत्कृति अनुभव होने लगती है। विशेषण अनेक न होने से मम्मट के मत में यहां परिकर नहीं होगा। किन्तु अप्पय दीक्षित साभिप्राय एक विशेषण होने पर भी परिकर के औचित्य का समर्थन करते हैं। पंडितराज का भी यही मत है। दीक्षित ने परिकर और काव्यलिंग में यह भेद बताया है कि परिकर में तो पदार्थ एवं वाक्यार्थ के बल से प्रतीयमान अर्थ वाच्य का उपस्कारक होता है, जबकि काव्यलिंग में पदार्थ और वाक्यार्थ स्वयं ही हेतु बनते हैं[१४१]।

परिकरांकुर

विशेष्य के साभिप्राय होने पर जयदेव परिकरांकुर अलंकार मानते हैं। जैसे, 'भगवान् चतुर्भुज चारों पुरुषार्थों के दाता हैं।' यहाँ विशेष्य चतुर्भुज एक-एक भुजा से एक-एक करके चारों पुरुषार्थों को अनायास दे सकने के सामर्थ्य को सूचित करने के कारण साभिप्राय है।

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकरांकुरः।
चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः॥ च० ५.४०

दीक्षित ने बिना किसी संशोधन के चन्द्रालोक की कारिका को कुवलयानन्द में इसी रूप में स्वीकार कर लिया है। साथ ही निम्न उदाहरण अधिक दिया है—

फणीन्द्रस्ते गुणान् वक्तुं, लिखितुं हैहयाधिपः।
द्रष्टुमाखण्डलः शक्तः, क्वाहमेष क्व ते गुणाः॥

यहाँ फणीन्द्र, हैहयाधिप तथा आखण्डल के विशेष्यपद क्रमशः सहस्रवदनत्व, सहस्रबाहुत्व तथा सहस्रनेत्रत्व की प्रतीति कराने से साभिप्राय हैं।

३३-३८. अतिशयोक्ति-प्रपञ्च

अतिशयोक्ति का रूप क्रमशः विकसित हुआ है। भामह और दण्डी के समय

---

१४०. विशेषणसाभिप्रायत्वं परिकरः। अ० स० ३२

१४१. परिकरे पदार्थवाक्यार्थबलात् प्रतीयमानार्थौ वाच्योपस्कारकतां भजतः। काव्यलिंगे तु पदार्थवाक्यार्थाविव हेतुभावं भजतः। कु०, काव्यलिंगप्रकरण

इसका क्षेत्र बहुत व्यापक था, तथा सामान्यतः लोकातिक्रान्तगोचर लोकसीमातिवर्ती वचन को अतिशयोक्ति कहते थे।

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा॥ काव्यालं० भा० २.८१

उद्भट ने भी लक्षण तो भामह का ही ले लिया है, पर इतनी विशेषता है कि सर्वप्रथम इन्होंने भेदे अभेदरूपा, अभेदे भेदरूपा, यद्यर्थरूपा तथा कार्यकारणविपर्यय-रूपा इन अतिशयोक्ति के चार प्रकारों को सोदाहरण स्पष्ट किया है। मम्मट ने निगीर्याध्यवसान-रूपा अतिशयोक्ति के नवीन भेद को प्रथम स्थान पर रखा तथा उद्भट के प्रथम दो भेदों के स्थान पर एक भेद 'प्रस्तुतस्य यदन्यत्वम्' माना। उद्भट के अन्तिम दो भेदों को उसने वैसा ही स्वीकार कर लिया। इस प्रकार मम्मटप्रतिपादित भी चार ही भेद हुए। रुय्यक ने अध्यवसान के साध्य होने पर उत्प्रेक्षा तथा सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति मानी है। इस अतिशयोक्ति के इन्होंने ५ भेद इस प्रकार दर्शाये हैं—

अध्यवसितप्राधान्ये चातिशयोक्तिः। अस्याश्च पंच प्रकाराः। भेदेऽभेदः, अभेदे भेदः, सम्बन्धेऽसम्बन्धः, असम्बन्धे सम्बन्धः, कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसश्च। अ० स० २२ वृत्ति।

उद्भट और मम्मट की यद्यर्थोक्तिरूपा को ये संभावनाजन्य सम्बन्ध के आधार से अपनी असम्बन्धे सम्बन्धरूपा में ले आते हैं।

जयदेव ने ६ प्रकार की अतिशयोक्ति लिखी है—अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्ता-तिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, और रूपकाति-शयोक्ति। इनमें से प्रथम तीन भेद प्राचीनों के कार्यकारणविपर्ययातिशयोक्ति में आ जाते हैं, चतुर्थ भेद असम्बन्धे सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति है, पंचम भेद अभेदे भेदरूपा तथा षष्ठ भेद निगीर्याध्यवसानरूपा है। यद्यर्थातिशयोक्ति को इन्होंने नहीं माना, क्योंकि यह उनके सम्भावनालंकार में आ जाती है। अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द में रूपका-तिशयोक्ति को प्रमुख मानकर प्रथम स्थान दिया है तथा इसका एक भेद सापह्नवा अतिशयोक्ति भी लिखा है। एक असम्बन्धातिशयोक्ति भी मानी है। क्रम इन्होंने यह रखा है—रूपकातिशयोक्ति, सापह्नवातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, असम्बन्धातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति। क्वचित् स्वल्प परिवर्तन के साथ प्रायः लक्षणोदाहरण चन्द्रालोक के ही रखे हैं। चन्द्रालोक की अतिशयोक्तियों का परिचय नीचे दिया जा रहा।

अक्रमातिशयोक्ति

अक्रमातिशयोक्तिश्चेद् युगपत् कार्यकारणे।
आलिंगन्ति समं देव ज्यां शराश्च पराश्च ते॥ च० ५.४१

कारण-कार्य के पौर्वापर्य-क्रम की उपेक्षा कर जहाँ कारण-कार्य युगपत् वर्णित हों, वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है। यथा, हे राजन्, आपके बाण तथा शत्रु एक साथ ज्या (क्रमशः प्रत्यंचा तथा भूमि) का आलिंगन करते हैं। प्रत्यक्ष में क्रम है कि प्रथम

वाण प्रत्यंचारूढ़ होते हैं, तत्पश्चात् शत्रुनिपात होता है। कार्य की ग्राशुभाविता बताने के लिए कवि ने कारण-कार्य का युगपत् होना वर्णित किया है।

दीक्षित ने 'युगपत् कार्य-कारणे' के स्थान पर 'सहत्वे हेतुकार्ययोः' पाठ कर दिया है, तथा निम्न उदाहरण ग्रधिक दिया है—

मुञ्चति मुञ्चति कोशं भजति च भजति प्रकम्पमरिवर्गः।
हम्मीरवीरखड्गे त्यजति त्यजति क्षमामाशु॥

ग्रत्यन्तातिशयोक्ति

ग्रत्यन्तातिशयोक्तिस्तत्पौर्वापर्यव्यतिक्रमे।
ग्रग्रे मानो गतः पश्चादनुनीता प्रियेण सा॥ च० ५.४२

कारण-कार्य के पौर्वापर्य के विपरीत जहां कार्य कारण से पूर्व वर्णित हो वहां ग्रत्यन्तातिशयोक्ति होती है। जैसे, नायिका का मान पहले चला गया, प्रिय ने मनाया उसे पीछे।

उद्भट ने यह उदाहरण दिया था—

मन्ये च निपतन्त्यस्याः कटाक्षा दिक्षु पृष्ठतः।
प्रायेणाग्रे तु गच्छन्ति स्मरबाणपरम्पराः॥

चपलातिशयोक्ति

चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे।
यामीति प्रियपृष्टाया वलयोऽभवदूर्मिका॥ च० ५.४३

जहां कारण के उपस्थित विना हुये, उसकी चर्चामात्र से, त्वरित ही कार्य घटित हो जाना वर्णित हो वहां चपलातिशयोक्ति होती है। जैसे, प्रिय ने पूछा ही था कि 'जाऊँ', नायिका की ग्रंगूठी कंगन बन गई। यहां पति के प्रवास करने रूप कारण की चर्चामात्र से उसका कार्य विरहजनित कृशता उत्पन्न हो गयी है।

इतर ग्रालंकारिकों की दृष्टि में बिना कारण के ही कार्योत्पत्ति होने से विभावनालंकार में इसका ग्रन्तर्भाव हो सकता है। दीक्षित ने उदाहरण में 'यामीति प्रियपृष्टायाः' के स्थान पर 'यास्यामीत्युदिते तन्व्याः' संशोधन किया है। किन्तु उसकी ग्रपेक्षा जयदेव के पाठ में ही ग्रधिक चमत्कृति है। 'यस्यामि' में तो जाने का निश्चय है, जबकि 'यामि' में ग्रभी पूछा ही है, हेतु का संस्पर्शमात्र हुग्रा है। जयदेव के पाठ में विरह की ग्रसह्यता ग्रधिक तीव्र रूप में प्रकट होती है।

सम्बन्धातिशयोक्ति

सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यात् तदभावेऽपि तद्वचः।
पश्य सौधाग्रसंसक्तं विभाति विधुमण्डलम्॥ च० ५.४४

किसी वस्तु का किसी वस्तु के साथ वस्तुतः सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध वतलाना सम्बन्धातिशयोक्ति कहाता है। जैसे—'देखो, प्रासाद के शिखर से सटा हुग्रा चन्द्रमा शोभित हो रहा है।' यहां चन्द्रमा का प्रासादाग्र से सम्बन्ध न होने पर भी वर्णित किया गया है।

कुवलयानन्दकार ने सम्वन्धातिशयोक्ति के अतिरिक्त रुय्यक की सम्वन्धे असम्वन्धरूपा के अनुसार असम्वन्धातिशयोक्ति भी मानी है। दोनों का स्वरूप उनकी निम्न कारिकाओं में स्पष्ट है—

सम्बंधातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम्।
सौधाग्राणि पुरस्यास्य स्पृशन्ति विधुमण्डलम्॥
योगेऽप्ययोगोऽसम्बंधातिशयोक्तिरितीर्यते।
त्वयि दातरि राजेन्द्र स्वद्रुमान्नाद्रियामहे॥ कु० ३९, ४०

भेदकातिशयोक्ति

भेदकातिशयोक्तिश्चेदेकस्यैवान्यतोच्यते।
अहो अन्यैव लावण्यलीला बालाकुचस्थले॥ च० ५.४५

किसी वस्तु के विषय में यदि यह कहा जाये कि वह अन्य ही है (अर्थात् अपने से भिन्न वर्णित की जाये) तो भेदकातिशयोक्ति होती है। यथा, इस बाला के कुचों की लावण्यलीला अन्य ही है।

इसी को उद्‌भट ने 'अन्यत्र नानात्वं', मम्मट ने 'प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं' तथा रुय्यक ने 'अभेदे भेदेरूपा' कहा था। दीक्षित ने चन्द्रालोक की कारिका को इस रूप में परिवर्तित कर दिया है—

भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम्।
अन्यदेवास्य गाम्भीर्यमन्यद् धैर्यं महीपतेः॥ कु० ३८

रूपकातिशयोक्ति

रूपकातिशयोक्तिश्चेद् रूप्यं रूपकमध्यगम्।
पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निःसरन्ति शिताः शराः॥ च० ५.४६

जहां उपमेय (रूप्य) उपमान (रूपक) के अन्तर्गत हो जाये वहां रूपकातिशयोक्ति होती है। जैसे, 'उसके नेत्रयुगल रूपी नीलोत्पलद्वन्द्व से कटाक्ष रूपी तीक्ष्ण बाण निकल रहे हैं' इसके स्थान पर नेत्रयुगल तथा कटाक्ष इन उपमेयों को उपमान में निगीर्ण करके इस प्रकार कहना कि 'देखो, नीलोत्पलद्वन्द्व से तीक्ष्ण बाण निकल रहे हैं'।

यही उद्‌भट तथा रुय्यक की 'भेदे अभेदरूपा' तथा मम्मट की निगीर्याध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति है। मम्मट तथा रुय्यक ने इसका निम्न उदाहरण दिया है—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥

दीक्षित ने चन्द्रालोक के लक्षण को बदलकर मम्मट के अनुरूप कर दिया है— रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः (कु० ३६)। साथ ही इन्होंने इसका सापह्नवरूप एक अन्य भेद भी दर्शाया है—

यद्यपह्नुतिगर्भत्वं सैव सापह्नवा मता।
त्वत्सूक्तिषु सुधा राजन् भ्रांताः पश्यन्ति तां विधौ॥ कु० ३७

३९, ४०. प्रौढोक्ति और संभावना

ये दोनों अलंकार जयदेव द्वारा ही उद्भावित हैं। प्रौढोक्ति को अप्पय दीक्षित तथा पंडितराज ने भी माना है। संभावना इतर आचार्यों के मत में पृथक् अलंकार न होकर यद्यर्थरूपा अतिशयोक्ति ही है। रमाटीकाकार ने प्रौढोक्ति के विषय में भी यही लिखा है कि काव्यप्रकाश में इसका उल्लेख इस कारण नहीं हुआ कि यह अतिशयोक्ति के अन्तर्गत हो सकती है।

प्रौढोक्ति

प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनम् ।

कलिन्दजातीररुहाः श्यामलाः सरलद्रुमाः ।। च० ५.४७

जिस कार्य में जो अशक्त है, उसकी उस कार्य में शक्त होने की कल्पना प्रौढोक्ति कहलाती है। कारिका का उत्तरार्ध इसका उदाहरण है। कालिन्दी का जल यद्यपि श्यामल होता है तथापि वह अपने तट पर उगे वृक्षों को श्यामल करने में अशक्त है, पर उसमें वैसी शक्ति कवि ने कल्पित कर ली है।

कुवलयानन्द में लक्षण और उदाहरण को परिवर्तित करके इस रूप में प्रस्तुत किया गया है—

प्रौढोक्तिरुत्कर्षाहेतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनम् ।

कचाः कलिन्दजातीरतमालस्तोममेचकाः ।। कु० १२५

पंडितराज ने प्रौढोक्ति का यह लक्षण किया है—कस्मिंश्चिदर्थे किंचिद्धर्मकृतातिशयप्रतिपिपादयिषया प्रसिद्धतद्धर्मवता संसर्गस्योद्भावनं प्रौढोक्तिः। संसर्ग के सत्, असत् और साक्षात् या परम्परया होने से इसके चार प्रकार बताये हैं।

संभावना

अन्य कार्य की सिद्धि के लिए 'यदि ऐसा हो जाये, तब ऐसा हो सकता है' इस प्रकार तर्क करना संभावना अलंकार कहलाता है—संभावनं यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यप्रसिद्धये। यथा—

सिक्तं स्फटिककुम्भान्तः स्थितिश्वेतीकृतैर्जलैः ।

मौक्तिकं चेल्लतां सूते तत्पुष्पैस्ते समं यशः ।। च० ५.४८, ४९

स्फटिक के घड़े के अन्दर रखने से श्वेत किये हुए जलों से सिक्त होकर मोती यदि लता को उत्पन्न करे तो उसके फूलों के समान आपकी कीर्ति होगी।

वस्तुतः यह उदाहरण प्रौढोक्ति का भी है, क्योंकि स्फटिक के घड़े में रखने से जल श्वेत नहीं हो सकता, जिसका कथन किया गया है। एवं यहां दोनों अलंकार हैं।

यह अलंकार उद्भट, मम्मट आदि की यद्यर्थोक्तिरूपा अतिशयोक्ति में तथा रुय्यक की असंबन्धे संबन्धरूपा अतिशयोक्ति में आ जाता है, अतः उन्होंने इसे पृथक् नहीं माना।

दीक्षित ने उदाहरण में परिवर्तन करके कारिका का यह रूप कर दिया है—

संभावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये ।

यदि शेषो भवेद् वक्ता कथिताः स्युर्गुणास्तव ।। कु० १२६

४१, ४२. प्रहर्षण और विषादन

इन दोनों अलंकारों के जन्मदाता भी जयदेव ही हैं। अप्पय दीक्षित तथा पंडितराज ने भी इन्हें माना है। ये दोनों अलंकार परस्पर विरोधी हैं, जैसा कि इनके नाम से भी स्पष्ट है।

प्रहर्षण

वांछितादधिकप्राप्तिरयत्नेन प्रहर्षणम्।

दीपमुद्द्योतयेद् यावत् तावदभ्युदितो रविः॥ च० ५.४९, ५०

विना यत्न के ही वांछित से अधिक की प्राप्ति वर्णित होने पर प्रहर्षण अलंकार होता है। यथा, 'दीपक को प्रज्वलित कर ही रहा था कि सूर्य उदित हो गया'। यहां प्रकाशप्राप्ति के लिए दीपक की इच्छा थी, पर उससे भी अधिक प्रकाशदायक सूर्य के निकल आने से वांछित से अधिक की प्राप्ति हो गई है।

दीक्षित ने प्रहर्षण के तीन भेद कर दिये हैं। प्रथम है विना यत्न के उत्कंठित अर्थ की संसिद्धि। जैसे, कोई नायक किसी का ध्यान कर ही रहा था कि वही उसके पास दूती के रूप में भेज दी गई। दूसरा भेद जयदेव वाला ही है। तीसरा भेद है किसी विशेष वस्तु को प्राप्त करने के साधन की खोज करते हुए अकस्मात् उस वस्तु का ही प्राप्त हो जाना। जैसे, खजाना देखने के लिए अंजन औषधी की जड़ खोदते हुए खजाना ही मिल गया[१४२]।

पंडितराज ने उक्त तीनों भेदों का एक सामान्य लक्षण कर दिया है—

साक्षात् तदुद्देश्यकयत्नमन्तरेणापि अभीष्टफललाभः प्रहर्षणम्।

विषादन

इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम्॥

दीपमुद्द्योतयेद् यावत् तावन्निर्वाण एव सः। च० ५.५१

अभीष्ट से विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति होने पर विषादन अलंकार होता है। जैसे, दीपक को तेज कर ही रहा था, कि वह बुझ गया।

दीक्षित ने 'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्' आदि उदाहरण अधिक दिया है। पंडितराज का लक्षण है—अभीष्टार्थविरुद्धलाभो विषादनम्। इन्होंने विषमालंकार से इसका भेद भी स्पष्ट कर दिया है।

४३. तुल्ययोगिता

भामह, दण्डी, वामन, भोज आदि के समय तुल्ययोगिता का यह रूप नहीं था जो बाद में हो गया। उन्होंने अपने-अपने ढंग से स्तुति या निन्दा के लिए उत्कृष्ट और निकृष्ट में समानधर्मयोग की बात कही थी। आधुनिक तुल्ययोगिता के प्रथम उद्भावक उद्भट कहे जा सकते हैं। उनका लक्षण है—

उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः।

साम्याभिधायिप्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता॥ का० सा० सं० ५.११

---

१४२. द्रष्टव्य : कु० १२९–१३१

उद्भट के ही लक्षण की छाया में मम्मट ने अपना यह लक्षण लिखा—

नियतानां सकृद् धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।। का० प्र० १०.१०४

नियत से उनका अभिप्राय था केवल प्राकरणिक या केवल अप्राकरणिक। रुय्यक ने इसमें 'औपम्यस्य गम्यत्वे' और जोड़ दिया तथा प्रस्तुतों के या अप्रस्तुतों के पदगत एवं अर्थगत की दृष्टि से चार भेद कर दिये[१४३]।

जयदेव का लक्षण है—क्रियादिभिरनेकस्य तुल्यता तुल्ययोगिता। अनेक वस्तुओं की क्रिया आदि से तुल्यता बताने पर तुल्ययोगिता अलंकार होता है। अनेक वस्तुएं सभी प्रस्तुत या सभी अप्रस्तुत होनी चाहिएं, यह यद्यपि लक्षण में कहा नहीं, तो भी आगे प्रोक्त दीपक अलंकार के लक्षण के साथ देखने पर स्पष्ट हो जाता है। क्रियादि में आदि पद से गुण का ग्रहण होता है। अतः अभिप्राय हुआ समान क्रिया से या समान गुण से अनेक प्रस्तुतों या अनेक अप्रस्तुतों का योग। उदाहरण निम्न है, जिसमें सरोज तथा स्वैरिणीवदन दोनों की एक ही संकोचक्रिया के कारण तुल्यता विवक्षित है, जो दोनों यहां प्रस्तुत ही समझे जा सकते हैं तथा अप्रस्तुत भी—

संकुचन्ति सरोजानि स्वैरिणीवदनानि च ।
प्राचीनाचलचूडाग्रचुम्बिबिम्बे सुधाकरे ।।

दीक्षित ने जयदेव के लक्षण को इस रूप में संशोधित कर स्पष्ट कर दिया है—वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता (कु० ४४)। इसके अतिरिक्त इन्होंने दो तुल्ययोगिताएं और मानी हैं। १. मित्र और शत्रु से प्रति श्लेष से समान व्यवहार प्रकट करना, जैसे आप सुहृत् और शत्रु दोनों को पराभूति (परम ऐश्वर्य तथा पराभव) प्रदान करते हैं। २. उत्कृष्ट गुण वालों के साथ तुल्यता का कथन, जैसे, हे राजन्, यमराज, वरुण, कुवेर, इन्द्र और आप भी लोकपाल हैं।

४४. दीपक

दीपक का उल्लेख भरत मुनि ने भी किया है। इसका नाम दीपक इस कारण है, यतः यह एक स्थान पर स्थित होकर अनेकों को प्रकाशित करता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार एक वाक्य में नानाधिकरणार्थ शब्दों के संप्रदीपक को दीपक अलंकार कहते हैं[१४४]। वहां उदाहरण दिया है—

सरांसि हंसैः कुसुमैश्च वृक्षा मत्तैर्द्विरेफैश्च सरोरुहाणि ।
गोष्ठीभिरुद्यानवनानि चैव तस्मिन्नशून्यानि सदा क्रियन्ते ।।

भामह ने आदिमध्यान्तविषयक त्रिधा दीपक की चर्चा की है[१४५]। दण्डी के अनुसार जाति, क्रिया, गुण या द्रव्य का वाची कोई शब्द एक स्थान पर स्थित होकर सारे वाक्य को उपकृत करे तो दीपक होता है[१४६]। उन्होंने इसके अनेक भेदों को भी

---

१४३. औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसंबन्धे तुल्ययोगिता। अ० स० २३

१४४. ना० शा० १७.५३

१४५. काव्यालं०, भा० २.२५-२६

१४६. काव्या० २.९२

सोदाहरण दर्शाया है। आगे रुद्रट, वामन, भोज, मम्मट आदि सभी ने दीपक पर विचार किया है। रुद्रट ने कहा है कि जहां अनेक वाक्यार्थों में एक क्रियापद हो या अनेक क्रियाओं में एक कारकपद हो वहां दीपक होता है[१४७]। एवं क्रियादीपक और कारकदीपक की बात इन्होंने रखी, जिसका प्रभाव मम्मट के लक्षण पर भी है। दीपक प्रकृत-अप्रकृतों में होता है। इसका स्पष्टतः संकेत सर्वप्रथम मम्मट ने किया। एवं दीपक का आधुनिक रूप मम्मट के लक्षण से आरम्भ हुआ—

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥ का० प्र० १०.१०३

जयदेव ने इन द्विविध भेदों की पृथक् चर्चा न कर अपने लक्षण को सामान्य बनाया है, जिसमें सब भेद आ सकते हैं। इनका लक्षण रुय्यक[१४८] का अनुसरण करता है—

प्रस्तुताप्रस्तुतानां च तुल्यत्वे दीपकं मतम् ।
मेधां बुधः सुधामिन्दुर्विभाति वसुधां भवान् ॥ च० ५.५३

दीक्षित ने इसका इस रूप में संशोधन कर दिया है—

वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः ।
मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः ॥ कु० ४८

इन्होंने रुय्यक का अनुसरण करते हुए तुल्ययोगिता और दीपक का भेद भी दर्शाया है। एक तो प्रस्तुताप्रस्तुतसम्बन्धी भेद है, दूसरा यह कि यद्यपि दोनों में उपमालंकार गम्य होता है तथापि दीपक में तो अप्रस्तुत उपमान हुआ और प्रस्तुत उपमेय, इस प्रकार उपमानोपमेयभाव व्यवस्थित है, जबकि तुल्ययोगिता में ऐच्छिक होता है। पंडितराज दोनों अलंकारों को एक मानने के पक्ष में है[१४९]। दीक्षित ने कारकदीपक अलंकार पृथक् दर्शाया है—

क्रमिकैकगतानां तु गुम्फः कारकदीपकम् ।
गच्छत्यागच्छति पुनः पान्थः पश्यति पृच्छति ॥ कु० ११७

४५. आवृत्तिदीपक

दण्डी ने दीपक के प्रकरण में त्रिविध आवृत्तिदीपक लिखा था[१५०]। भोज ने भी दीपक के भेदों में इसे लिया है। उस समय तक दीपकालंकार के साथ प्रस्तुताप्रस्तुत की बात नहीं जुड़ी थी, अतः आवृत्तिदीपक को भी दीपक कहा जा सकता था।

---

१४७. काव्यालं०, रु० ७.६४

१४८. प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु (समानधर्माभिसंबन्धे) दीपकम्। अ० स० २४

१४९. तुल्ययोगितातो दीपकं न पृथग्भावमर्हति, धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात्। विच्छित्तिवैलक्षण्यस्यैवालंकारविभागहेतुत्वात्। र० ग०

१५०. अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च ।
दीपकस्थान एवेष्टमलंकारत्रयं यथा ॥ काव्या० २.११६

परन्तु जयदेव के मत में तो यह पृथक् ही होगा, क्योंकि इसमें दीपक का ही रूप हो यह ग्रावश्यक नहीं है, तुल्ययोगिता का रूप भी हो सकता है[१५१]।

ग्रावृत्ते दीपकपदे भवेदावृत्तिदीपकम् ।
दीप्त्याग्निर्भाति भातीन्दुः कान्त्या भाति रविस्त्विषा ।। च० ५.५४

दीपक-पद की ग्रर्थात् उस पद की जो सबके साथ समान रूप से जुड़े, ग्रावृत्ति होने पर ग्रावृत्तिदीपक ग्रलंकार होता है। कारिका का उत्तरार्ध इसका उदाहरण है। इसमें 'भाति' दीपकपद है, जो तीन बार ग्राया है। इस ग्रलंकार में ग्रावृत्त पद क्रियावाचक भी हो सकता है ग्रौर गुणवाचक या कारकरूप भी। 'भाति' में पदावृत्ति ग्रौर ग्रर्थावृत्ति दोनों हैं, ग्रतः दण्डी के ग्रनुसार यह उभयावृत्ति का उदाहरण हुग्रा। साथ ही दीप्त्या, कान्त्या ग्रौर त्विषा में ग्रर्थावृत्ति है। ग्रतएव राकागम तथा रमा टीकाग्रों में पद से ग्रर्थ भी गृहीत किया गया है[१५२]। किन्तु लक्षण में ग्रर्थ का स्पष्ट उल्लेख न होने से ग्रन्थकार को ग्रर्थावृत्ति में भी ग्रावृत्तिदीपक ग्रभीष्ट है या नहीं, यह सन्दिग्ध है। पदावृत्ति से केवल पदावृत्ति तथा उभयावृत्ति ये दोनों तो समाविष्ट हो ही जायेंगे, क्योंकि दोनों में पदावृत्ति तो होती ही है। ग्रर्थावृत्ति का समावेश प्रतिवस्तूपमा में हो सकता है, ऐसा राकागमटीकाकार ने काव्यप्रकाश का मत कहा है।

दीक्षित ने जयदेव की कारिका बदलकर ग्रावृत्तिदीपक के दण्डी-प्रोक्त तीनों भेदों को वर्णित कर दिया है—

त्रिविधं दीपकावृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम् ।
वर्षत्यम्बुदमालेयं वर्षत्येषा च शर्वरी ।।
उन्मीलन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजोद्गमाः ।
माद्यन्ति चातकास्तृप्ता माद्यन्ति च शिखाबलाः ।। कु० ४९, ५०

४६. प्रतिवस्तूपमा

प्रतिवस्तूपमा भामह ग्रौर दण्डी के समय उपमा के ही ग्रन्तर्गत थी। सर्वप्रथम उद्भट ने इसे पृथक् ग्रलंकार के रूप में प्रतिपादित किया। उन्होंने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि इसमें उपमावाची पद नहीं रहता, प्राकरणिक-ग्रप्राकरणिक की दृष्टि से उपमेय-उपमान का निर्णय हो जाता है, ग्रौर साम्यवाची पद (समान धर्म) उपमेय तथा उपमान दोनों के साथ ग्रलग-ग्रलग ग्राता है[१५३]। इनका उदाहरण है—

विरलास्तादृशो लोके शीलसौन्दर्यसम्पदः ।
निशाः कियत्यो वर्षेऽपि यास्विन्दुः पूर्णमण्डलः ।।

---

१५१. एवं चावृत्तीनां प्रस्तुताप्रस्तुतोभयविषयत्वाभावेऽपि दीपकच्छायापत्तिमात्रेण दीपकव्यपदेशः। कु० ४९–५०, वृत्ति

१५२. ग्रत्र पदशब्दः कर्मव्युत्पत्त्या ग्रर्थपरोऽपि। रमा०

१५३. का० सा० सं० १.५१, ५२

रुद्रट इस अलंकार का उल्लेख नहीं करते। इसका मम्मटकृत लक्षण यह है—

प्रतिवस्तूपमा तु सा। सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः।

का० प्र० १०.१०१

इसमें दो वाक्य होते हैं, एक उपमेयवाक्य या समर्थ्यवाक्य, दूसरा उपमान-वाक्य या समर्थकवाक्य। साधारणधर्म दो वार, कथितपदत्व दोष से वचने के लिए दोनों वाक्यों में भिन्न-भिन्न शब्दों से, आता है[१५४]। वस्तु का अर्थ है वाक्यार्थ, इसमें प्रति वस्तु (प्रति वाक्यार्थ) में उपमा (साम्य) होने से इसका यह नाम पड़ा[१५५]।

जयदेव ने इसी योगार्थ के अनुरूप अपना लक्षण किया है—

वाक्ययोरर्थसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता।

तापेन भ्राजते सूर्यः शूरश्चापेन राजते॥ च० ५.५५

दोनों वाक्यों के अर्थ में (तद्गत पदार्थों में) परस्पर सादृश्य झलकता हो तो प्रतिवस्तूपमा होती है। इस लक्षण में वे सब बातें नहीं आ सकी हैं, जो मम्मट या रुय्यक के लक्षण में है। अतः लक्षण की दृष्टि से इसे पूर्ण नहीं कह सकते। उत्तरार्ध में उदाहरण है। यहाँ एक ही समान धर्म 'शोभित होना' दोनों वाक्यों में भिन्न पदों 'भ्राजते' और 'राजते' से कहा गया है तथा अर्थ की दृष्टि से भी दोनों वाक्यों में सादृश्य है।

दीक्षित ने लक्षण में 'अर्थसामान्ये' के स्थान पर 'एकसामान्ये' कर दिया है, तथा वृत्ति में पृथक् पद का अध्याहार कर लिया है; अर्थात् दोनों वाक्यों में समान धर्म एक होने पर तथा उसके पृथक् शब्दों द्वारा निर्दिष्ट होने पर प्रतिवस्तूपमा होती है।

४७. दृष्टान्त

दृष्टान्त का सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट ने किया है। इन्होंने कहा है कि इसमें प्रस्तुत (इष्ट) अर्थ का अप्रस्तुत में विस्पष्ट बिम्बप्रतिबिम्बभाव दिखाया जाता है, तथा यह 'यथा, इव' आदि पदों से शून्य होता है[१५६]। रुद्रट कहते हैं कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से पहले जिसका जैसा अर्थविशेष वर्णित किया हो दूसरे का वैसा ही वर्णित करना दृष्टान्त अलंकार है[१५७]। इनके दो उदाहरणों में से एक यह है, जो मम्मट ने भी ले लिया है—

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।

आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुमुदं कुमुद्वत्याः॥

---

१५४. तु० : वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ् निर्देशे प्रतिवस्तूपमा।

अ० स० २५

१५५. सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा। का० प्र० १०.१०१ वृत्ति।

वस्तुशब्दस्य वाक्यार्थवाचित्वे प्रतिवाक्यार्थमुपमा साम्यमित्यन्वर्थाश्रयणात्।

वही वृत्ति

१५६. का० सा० सं० ६.१६, १७

१५७. काव्यालं०, रु० ८.९४

मम्मट तथा रुय्यक ने वाक्यद्वय में साधारणधर्म आदि के प्रतिबिम्बन या बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देश को दृष्टान्त कहा है, तथा दोनों ने इसे साधर्म्य और वैधर्म्य के भेद से द्विविध कहा है—

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् । का० प्र० १०.१०२

तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः । अ० स० २६

जयदेव ने भी इन्हीं के समान बिम्बप्रतिबिम्बभाव को ही दृष्टान्त का लक्षण बनाया है—

चेद् बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः ।
स्यान्मल्लप्रतिमल्लत्वे संग्रामोद्दामहुङ्कृतिः ॥ च० ५.५६

यही पद्य इसका उदाहरण भी है । इसी का एक दूसरा उदाहरण भी दिया है, जिसमें कई अर्थों का बिम्बप्रतिबिम्ब है तथा जिसमें यह वैचित्र्य भी है कि अलंकार का नाम भी आ गया है और 'दृष्टा अन्तः' इस पदच्छेद से इतर अर्थ भी प्रकट हो गया है—

दृष्टान्तश्चेद् भवन्मूर्तिस्तन्मृष्टा दैवदुर्लिपिः ।
जाता चेत् प्राक् प्रभा भानोस्तर्हि याता विभावरी ॥ च० ५.५७

ये दोनों ही उदाहरण साधर्म्य के हैं । दीक्षित ने लक्षण तो चन्द्रालोक का ही रखा है, उदाहरण बदल दिया है—त्वमेव कीर्तिमान् राजन् विधुरेव हि कान्तिमान् । तीन उदाहरण अन्य भी दिये हैं, जिनमें एक वैधर्म्य का है ।

४८. निदर्शना

निदर्शना दो प्रकार की होती है—संभवद्वस्तु-सम्बन्धा तथा असम्भवद्वस्तु-सम्बन्धा । इसके पदार्थवृत्ति और वाक्यार्थवृत्ति भेद भी होते हैं, तथा यह मालारूपा भी होती है । भामह और दण्डी के समय तक ये भेद विकसित नहीं हो पाये थे । उस समय तक एक ही निदर्शना थी, क्रिया द्वारा किसी विशिष्ट अर्थ की सूचना देना,[१५८] जो संभवद्वस्तुसंबन्धा में आती है । उद्भट ने सर्वप्रथम अभवन् और भवन् वस्तु-सम्बन्ध वाली निदर्शनाओं का संकेत किया[१५९] । उसे तथा भामह और दण्डी को आधार बनाकर मम्मट ने अपना लक्षण लिखा तथा भेद उदाहृत किये—

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।
स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा ॥ का० प्र० १०.९७, ९८

इन्होंने अभवन्वस्तुसम्बन्धा में वाक्यार्थवृत्ति (शुद्धा और माला) तथा पदार्थ-वृत्ति निदर्शनाओं के उदाहरण दिये हैं तथा दूसरी भवन्वस्तुसम्बन्धा को भी नवीन रूप में उदाहरणपूर्वक रखा है । मम्मट ने वाक्यार्थवृत्ति, पदार्थवृत्ति नाम नहीं लिये थे, रुय्यक ने ये नाम भी दे दिये हैं ।

---

१५८. यथा : अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति ।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान् ॥ काव्यालं०, भा० ३.३३

१५९. अभवन् वस्तुसम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत् ।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना ॥ का० सा० सं० ५.१८

जयदेव ने उनमें से केवल वाक्यार्थनिदर्शना को ही लक्षित एवं उदाहृत किया है। पदार्थनिदर्शना को इन्होंने अपनी ललितोपमा में संगृहीत कर लिया है, यह हम पहले देख चुके हैं। तीसरी सम्भवद्वस्तुरूपा को इन्होंने नहीं माना। इनका निदर्शना का लक्षणोदाहरण यह है—

वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना।
या दातुः सौम्यता सेयं सुधांशोरकलङ्कता ॥ च० ५.५८

समान वाक्यार्थों में एकता का आरोप करना निदर्शना है। जैसे, 'जो दानी की सौम्यता है, वह चन्द्रमा की अकलंकता है।' इन दोनों की एकता, जो असम्भव है, वर्णित होकर दोनों की उपमानोपमेयभाव में परिणति करा देती है। दीक्षित ने जयदेव-निरूपित इस वाक्यार्थ-निदर्शना के अतिरिक्त पदार्थवृत्ति-निदर्शना तथा दण्डी-प्रोक्त सदसद्रूपा-निदर्शना भी दर्शायी है[१६०]।

४९. व्यतिरेक

सामान्यतः उपमान और उपमेय में सादृश्य होता है। किन्तु जब वैलक्षण्य वर्णित किया जाये तब व्यतिरेक होता है। इसी वैलक्षण्य को भामह ने 'यद् विशेष-निदर्शनं' से, दण्डी ने 'यद् भेदकथनं' से तथा उद्भट ने 'विशेषापादनं' से प्रकट किया है[१६१]। इन्होंने जो उदाहरण दिये हैं वे उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष के हैं। इससे यह इसी पक्ष के प्रतीत होते हैं। स्पष्ट रूप में सर्वप्रथम वामन ने उपमेय के उत्कर्ष की बात कही है[१६२]। किन्तु वैलक्षण्य उपमान से उपमेय के न्यून होने पर भी सम्भव है। अतः रुद्रट, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित आदि उपमेय की न्यूनता में भी व्यतिरेक मानते हैं। किन्तु मम्मट उपमेय के आधिक्य को ही व्यतिरेक मानने के पक्ष में हैं[१६३]। इन्होंने उपमेय की न्यूनता के समर्थन में दिये गये रुद्रट के 'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी' आदि उदाहरण को उपमेय के आधिक्य का ही सिद्ध किया है। पर रुय्यक फिर भी लक्षण में न्यूनत्व का भी समावेश करते हैं तथा उदाहरण भी वही देते हैं[१६४]। मम्मट ने व्यतिरेक के २४ भेद परिगणित किये हैं। पर रुय्यक इस भेदप्रपंच में नहीं पड़े। विश्वनाथ ने अवश्य २४ के ४८ भेद कर दिये।

जयदेव ने भेद सर्वथा नहीं दर्शाये, तथा उद्भट के 'विशेषापादनं यत् स्यादुपमानोपमेययोः' के अनुकरण पर अपना लक्षण लिखा है। उदाहरण इन्होंने भी उपमेयगत आधिक्य का ही दिया है, अतः उपमेयगत न्यूनत्व में भी व्यतिरेक अलंकार इनके मत में होता है या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। इनका लक्षण-उदाहरण यह है—

---

१६०. द्रष्टव्य : कु० ५४-५६

१६१. क्रमशः काव्यालं०, भा० २.७५; काव्या० २.१८०, का० सा० सं० २.१२

१६२. उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः। काव्यालं० सू० ४.३.२२

१६३. उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः का० प्र० १०.१०५

१६ . भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः। अ० स० २८

व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः ।
शैला इवोन्नताः सन्तः किं तु प्रकृतिकोमलाः ।। च० ५.५६

दीक्षित ने लक्षण यही रखते हुए चन्द्रालोक के इस उदाहरण को उपमेयाधिक्यपर्यवसायी बताकर स्वयं अपनी ओर से न्यूनत्वपर्यवसायी और अनुभयपर्यवसायी के उदाहरण भी कुवलयानन्द में दिये हैं। पर पंडितराज इन दोनों को ही व्यतिरेक नहीं मानते। उनका व्यतिरेक का लक्षण भी उपमेयोत्कर्षपरक ही है[१६५]।

५०. सहोक्ति

भामह ने सहोक्ति उसे कहा था जहाँ दो वस्तुओं में रहने वाली तुल्यकाल क्रियाएं एक पद के द्वारा कही जायें[१६६]। लक्षण तो सदोष है, पर उदाहरण से भाव स्पष्ट हो जाता है—'वृद्धिमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह'। एवं इन्होंने क्रियासहोक्ति मानी है। दण्डी ने उसके साथ गुण भी जोड़ दिया तथा गुणसहोक्ति, क्रियासहोक्ति तथा उभयसहोक्ति के उदाहरण दिये[१६७]। जैसे, 'सह दीर्घा मम श्वासैरिमाः सम्प्रति रात्रयः' में दीर्घत्व गुण की सहोक्ति है। उद्भट, रुद्रट एवं वामन ने क्रियासहोक्ति ही लिखी है। भोज ने लक्षण में 'क्रियादिषु' लिखकर दोनों सहोक्तियों की चर्चा की है, तथा विविक्ता, अविविक्ता आदि भेद भी दर्शाये हैं[१६८]। गुणसहोक्ति का इन्होंने उपर्युक्त दण्डी-प्रोक्त उदाहरण ही दिया है। मम्मट गुण, क्रिया आदि के विवाद में न पड़ कर सामान्य लक्षण देते हैं, जिसमें सब सहोक्तियां आ जाती हैं। सहार्थवाचक शब्द होना भी इन्होंने जोड़ दिया है, जो आवश्यक था। रुय्यक ने इसे और स्पष्ट कर दिया है, तथा नियमतः इसकी अतिशयोक्तिमूलकता कहकर तीन भेद दर्शाये हैं [१६९]। इनके लक्षण निम्न हैं—

सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् । का० प्र० १०.११२

उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः । अ० स० २६

जयदेव ने इसके भेदों का कोई संकेत नहीं किया। इनके मत में जहाँ सहभाव भासित हो वहाँ सहोक्ति होती है, किन्तु वह सहभाव जनरंजन अर्थात् सहृदय-चमत्काराधायक होना चाहिए। यह कहकर इन्होंने रुय्यक-प्रोक्त अतिशयोक्तिमूलकता की ओर संकेत ही किया है। अतएव जैसा रुय्यक ने कहा था, 'अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु' आदि में यह अलंकार नहीं माना जायेगा। लक्षण में 'भासते' पद से सूचित होता है कि वह सहभाव सहार्थक शब्द के योग से वाच्य होना चाहिए। इनका लक्षण-उदाहरण निम्न है—

---

१६५. उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः । र० गं०

१६६. काव्यालं०, भा० ३.३९.

१६७. सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम् । काव्या० २.३५१

१६८. सर० कंठा० ४.५७-५९

१६९. नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः । सा च कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा अभेदाध्यवसायरूपा च । अभेदाध्यवसायश्च श्लैषभित्तिकोऽन्यथा वा । अ० स० २६. वृत्ति ।

सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरंजनः ।
दिगन्तमगमद् यस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ॥ च० ५.६०

दीक्षित ने भी इसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया है। केवल एक उदाहरण और दिया है जो मालारूपा सहोक्ति का है।

५१. विनोक्ति

यह अलंकार सर्वप्रथम मम्मट के काव्यप्रकाश में मिलता है। मम्मट ने कहा था कि जहाँ एक के विना दूसरा शोभन प्रतीत न होता हो या अशोभन प्रतीत न होता हो, वहाँ विनोक्ति होती है[१७०]। प्रथम का उदाहरण उन्होंने यह दिया था—

अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।
उभयेन विना मनोभवस्फुरितं नैव चकास्ति कामिनोः ॥

रुय्यक ने भी इन दोनों भेदों को दर्शाया है[१७१]। यह भी कहा है कि बिना शब्द का प्रयोग न होने पर भी यह हो सकती है। यथा—

निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम् ।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा प्रबुद्धा नलिनी न येन ॥

जयदेव ने केवल प्रथम भेद ही लक्षित किया है—

विनोक्तिश्चेद् विना किंचित् प्रस्तुतं हीनमुच्यते ।
विद्या हृद्यापि सावद्या विना विनयसम्पदम् ॥ च० ५.६१

दीक्षित ने इसके साथ दूसरा भेद भी लिख दिया है—

तच्चेत् किंचिद् विना रम्यं विनोक्तिः सापि कथ्यते ।
विना खलैर्विभात्येषा राजेन्द्र भवतः सभा ॥ कु० ६०

दोनों भेदों का इन्होंने अपनी ओर से एक-एक उदाहरण रुय्यकसम्मत आर्थी विनोक्ति का भी दिया है, जिसमें विना शब्द का प्रयोग नहीं है।

५२. समासोक्ति

भामह, दण्डी आदि ने समासोक्ति के जो लक्षण-उदाहरण दिये थे, उनसे इसे अप्रस्तुतप्रशंसा से पृथक् कर सकना कठिन था। उनमें प्रस्तुत से अप्रस्तुत अर्थ व्यङ्ग्य होना वर्णित नहीं था, यद्यपि समान विशेषण होने की बात कही गई थी। सर्वप्रथम उद्भट के लक्षण में वर्तमान समासोक्ति का रूप झलका है—

प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः ।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता ॥ का० सा० सं० २.२१

मम्मट तथा रुय्यक ने इसे इस रूप में कहा है—

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः । का० प्र० १०.९७
विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः । अ० स० ३१

---

१७०. विनोक्तिः सा विनान्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः । का० प्र० १०.१२३
१७१. विना कंचिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः । अ० स० ३०

मम्मट ने भेद नहीं दर्शाये, उदाहरण भी एक ही दिया है। पर रुय्यक ने इसके भेदोपभेद भी लिखे हैं। वे प्रथम तीन भेद करते हैं— श्लिष्टविशेषणसमुत्थापित, साधारणविशेषणसमुत्थापित और सादृश्यगर्भविशेषणसमुत्थापित। इनमें द्वितीय के धर्मसमारोप तथा कार्यसमारोप मूलक और तृतीय के उपमासमास तथा संकरसमास मूलक दो-दो भेद करके ये समासोक्ति कुल ५ प्रकार की मानते हैं। आगे चलकर विश्वनाथ ने विशेषणसाम्य के साथ कार्य और लिंग का साम्य भी लक्षण में जोड़ दिया[१७२]।

जयदेव का लक्षण मम्मट एवं रुय्यक का अनुसरण करता है। भेद इन्होंने नहीं लिखे। प्रस्तुत में अप्रस्तुत की परिस्फूर्ति (प्रतीति) को ये समासोक्ति कहते हैं। परिस्फूर्ति कहने से रुय्यक की 'गम्यत्वे' की बात भी गृहीत हो गई है। समान विशेषण आदि की चर्चा लक्षण में नहीं है, पर उदाहरण से गृहीत हो जाती है। उदाहरण में विशेषण, क्रिया तथा लिंग तीनों का साम्य है। विशेषण श्लिष्ट हैं। प्रस्तुत चन्द्र एवं पूर्वदिशा के व्यवहार से अप्रस्तुत नायक-नायिका-व्यवहार व्यंग्य हो रहा है।

समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्।
अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः॥ च० ५.६२

दीक्षित ने अश्लिष्ट विशेषण वाला उदाहरण अधिक दिया है तथा सारूप्य-मूला समासोक्ति भी दर्शायी है।

५३–५५. खंडश्लेष, भंगश्लेष और अर्थश्लेष

श्लेष अलंकार के लिए रुद्रट से पूर्व भामह, दण्डी, उद्भट आदि के समय श्लिष्ट शब्द प्रचलित था। भामह ने श्लिष्ट के सहोक्तिमूलक, उपमामूलक तथा हेतु-मूलक ये तीन भेद लिखे थे। दण्डी ने मुख्यतः अभिन्नपद (अभंगश्लेष) और भिन्नपद (सभंगश्लेष) ये दो भेद किये। श्लिष्ट के शब्दश्लेष और अर्थश्लेष नामक भेदों की चर्चा सर्वप्रथम उद्भट ने की[१७३]। इनके मत में 'अर्थभेदात् शब्दभेदः' के न्यायानुसार शब्द जहां एकप्रयत्नोच्चार्यमाण होने से समान होते हैं, केवल उनके अर्थ में भेद रहता है, वहां अर्थश्लेष होता है। किन्तु जहां शब्द पृथक्प्रयत्नोच्चार्यमाण तथा पृथक् स्वरितादि स्वरों वाले होने से भिन्न होते हैं, वहां शब्दश्लेष रहता है। पर हैं इनके मत में दोनों ही अर्थालंकार। रुद्रट ने शब्दालंकार रूप में शब्दश्लेष और अर्थालंकार रूप में अर्थश्लेष पृथक्-पृथक् माने। शब्दश्लेष को वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन के भेद से अष्टविध माना। मम्मट ने भी श्लेष को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों में परिगणित किया है। इन्होंने अपने श्लेषरूप शब्दालंकार में रुद्रट के शब्दश्लेष को तो सभंग पदश्लेष के रूप में अन्तर्भूत किया है,

---

१७२. सा० द० १०.५६

१७३. द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत् प्रतीयताम्। का० सा० सं० ४.२४

श्रौर उद्भट के श्रर्थश्लेष का श्रन्तर्गणन किया है श्रभंगपदश्लेष के रूप में[१७४]। युक्तिपूर्वक इन्होंने उद्भट की मान्यता का खण्डन कर सभंग तथा श्रभंग दोनों ही श्लेषों की शब्दश्लेषता सिद्ध की है। श्रलंकार्यालंकारभाव का निर्णायक इन्होंने श्रन्वयव्यतिरेक का नियम माना है। किन्तु रुय्यक लोकवत् श्राश्रयाश्रयिभाव के श्राधार पर श्रभंगश्लेष को श्रर्थालंकार तथा सभंग को शब्दालंकार कहते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि **जयदेव** से पूर्व श्लेष के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधाराएँ चली थीं। कुछ श्लेषमात्र को श्रर्थालंकार मानते थे, तथा कुछ श्लेष को शब्दालंकार एवं श्रर्थालंकार दोनों मानते थे। दोनों मानने वालों में कौनसा श्लेष शब्दालंकार है तथा कौनसा श्रर्थालंकार इसमें ऐकमत्य नहीं था। जयदेव ने इनमें से प्रथम विचारधारा के साथ श्रपनी सहमति कर श्लेषमात्र को श्रर्थालंकार के प्रकरण में ही परिगणित किया है। दीक्षित भी इसी पक्ष के हैं[१७५]। इन्होंने तीन श्लेष माने हैं—खण्डश्लष, भंगश्लेष तथा श्रर्थश्लेष। इन्हें ये पृथक्-पृथक् श्रलंकार मानते प्रतीत होते हैं।

खंडश्लेष

खण्डश्लेषः पदानां चेदेकैकं पृथगर्थता।
उच्छलद्भूरिकीलालः शुशुभे वाहिनीपतिः॥ च० ५.६३

वाक्य में जहां सम्पूर्ण एक-एक पद दोनों पक्षों में पृथक्-पृथक् श्रर्थ रखता हो वहां खण्डश्लेष होता है। इसी को प्राचीनों ने श्रभंगश्लेष कहा था। यहां खण्ड का श्रभिप्राय वाक्य का श्रवयव श्रर्थात् पद है। सम्पूर्ण पद उसी रूप में द्व्यर्थक होने के कारण खण्डश्लेष कहा गया है। उदाहरण में कीलाल श्रौर वाहिनी शब्द द्व्यर्थक हैं। कीलाल रक्त श्रौर जल का, तथा वाहिनी सेना श्रौर नदी का वाची है। जिसके शरीर पर वहुत सा रक्त छलछला रहा है ऐसा सेनापति शोभित हुश्रा, तथा जिसमें वहुत सा जल उछल रहा है ऐसा नदीपति समुद्र शोभित हुश्रा, ये दोनों श्रर्थ इस वाक्य के निकलते हैं। एकवृन्तगतफलद्वयन्याय से यहां एक शब्द दो श्रर्थों को दे रहा है।

भंगश्लेष

भंगश्लेषः पदस्तोमस्यैव चेत् पृथगर्थता।
श्रजरामरता कस्य नायोध्येव पुरी प्रिया॥ च० ५.६४

जहां जतुकाष्ठन्याय से जुड़ा हुश्रा पदस्तोम पृथक्-पृथक् श्रर्थ को देता हो, वहां भंगश्लेष होता है। जैसे, 'श्रज श्रौर राम में श्रनुरक्त (श्रज-राम-रता) श्रयोध्या नगरी के समान श्रजरता श्रौर श्रमरता (श्रजर-श्रमर-ता) किसको प्रिय नहीं होती'। यहां

---

१७४. डा० सत्यव्रतसिंह : काव्यप्रकाशटीका, पृ० ३२१

१७५. तत्र सभंगश्लेष : शव्दालंकार :, श्रभंगश्लेषस्त्वर्थालंकार इति केचित्। उभयमपि शव्दालंकार इत्यन्ये। उभयमप्यर्थालंकार इति स्वाभिप्रायः। कु० ६४, ६५ वृत्ति

अजरामरता यह पदस्तोम ही द्वयर्थक है, इसका घटक कोई पद द्वयर्थक नहीं है। इसी प्रकार 'सर्वदोमाधवः पायात्' में 'सर्वदोमाधवः' इस पदस्तोम के पृथगर्थक होने से भंगश्लेष होता है।

अर्थश्लेष

अर्थश्लेषोऽर्थमात्रस्य यद्यनेकार्थसंश्रयः।
कुटिलाः श्यामला दीर्घाः कटाक्षाः कुन्तलाश्च ते ॥ च० ५.६५

यदि एक ही अर्थ का अनेक पदार्थों से सम्बन्ध बताया जाये तो अर्थश्लेष होता है। जैसे, तुम्हारे कटाक्ष और केश कुटिल, श्यामल तथा दीर्घ हैं। यहां कुटिलत्व, श्यामलत्व तथा दीर्घत्व अर्थ का कटाक्ष तथा केश दोनों से योग विवक्षित है।

दीक्षित ने जयदेव की श्लेषसम्बन्धी ये तीनों कारिकाएँ हटा कर अपनी दो कारिकाएँ दी हैं। श्लेष का लक्षण किया है—नानार्थसंश्रयः श्लेषः। इसके वर्ण्याश्रित, अवर्ण्याश्रित तथा उभयाश्रित ये तीन भेद दिखाये हैं। वृत्ति में अभंग और सभंग श्लेष भी दर्शा दिये हैं।

५६. अप्रस्तुतप्रशंसा

भामह और दण्डी के समय इस अलंकार में प्रशंसा से स्तुति अभिप्रेत थी[१७६]। भामह के उदाहरण में प्रस्तुत भाग्यशाली पुरुषों के स्थान पर विना पौरुष के ही फल लाने वाले अप्रस्तुत वृक्षों की प्रशंसा है, और दण्डी के उदाहरण में राजसेवा के क्लेश से विरक्त मनस्वी के द्वारा बिना परसेवा के वन में सुखपूर्वक जीने वाले मृगों की प्रशंसा। भोज भी अस्तोतव्य की स्तुति को अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं[१७७], जैसे शाकुन्तल में हिंसावृत्ति के कारण अस्तोतव्य भी मृगया की 'मेदश्छेदकृशोदरं' आदि से स्तुति की गई है। किन्तु बाद में प्रशंसा का अर्थ स्तुति न रहकर वर्णनमात्र रह गया। रुद्रट ने इस अलंकार को अन्योक्ति नाम से लिखा है। उनके मत में विशेषण समान न होने पर भी समान इतिवृत्त से उपमान के द्वारा उपमेय का गम्य होना अन्योक्ति है[१७८]। उनका उदाहरण यह है—

मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्ज्वलं सरः सरसम्।
बकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि सखे न हंसोऽसि ॥

एवं पहले यह अलंकार सादृश्यमात्रापेक्षी था। मम्मट ने कार्यकारणभाव तथा सामान्यविशेषभाव का आधार भी इसमें निरूपित किया। इनके अनुसार इसका स्वरूप है—अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपः। इन्होंने इसके मुख्य ५ भेद किये हैं—कार्ये प्रस्तुते कारणस्य वर्णनम्, कारणे प्रस्तुते कार्यस्य वर्णनम्, सामान्ये प्रस्तुते विशेषस्य वर्णनम्, विशेषे प्रस्तुते सामान्यस्य वर्णनम् और तुल्ये प्रस्तुते तुल्यस्य

१७६. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः। काव्यालं०, भा० ३.२९
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादपक्रान्तेषु या स्तुतिः। काव्या० २.३४१
१७७. अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादस्तोतव्यस्य या स्तुतिः। सर०कंठा० ४.५२
१७८. काव्यालं०, रु० ८.७४

वर्णनम्[१७९]। अन्तिम भेद श्लेष, समासोक्ति तथा सादृश्यमात्र के आधार पर त्रिविध कहा गया है। इनमें से सादृश्यमात्रमूलक के फिर प्रतीयमान अर्थ के अनध्यारोप, अध्यारोप तथा आंशिक अध्यारोप की दृष्टि से तीन भेद किये हैं।

जयदेव कार्यकारणमूलक तथा सामान्यविशेषमूलक भेदों का तो नामोल्लेख करते ही हैं, शेष सादृश्यमूलक का ग्रहण कारिकोक्त 'आदि' पद से हो जाता है।

> **अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् सा यत्र प्रस्तुतानुगा।**
> **कार्यकारणसामान्यविशेषादेरसौ मता॥** च० ५.६६

इसका उदाहरण चन्द्रालोक में यह दिया है—

> **कमलैः कमलावासैः किं किं नासादि सुन्दरम्।**
> **अप्यम्बुधेः परं पारं प्रयान्ति व्यवसायिनः॥** च० ५.६७

इसमें दो उदाहरण हैं, एक पूर्वार्ध में, दूसरा उत्तरार्ध में। इनकी व्याख्याएं कई प्रकार से हो सकती हैं। प्रथय उदाहरण है—'लक्ष्मी के आवासभूत कमलों ने क्या-क्या सौन्दर्य प्राप्त नहीं कर लिया है'? यहां यदि वसन्तऋतु को प्रस्तुत माना जाये तो 'कारणे प्रस्तुते अप्रस्तुतस्य कार्यस्य वर्णनम्' का यह उदाहरण होगा। टीकाकारों ने अप्रस्तुत कमलों की प्रशंसा द्वारा प्रस्तुत नायिका के नेत्रादि की शोभा व्यंग्य मानकर 'विशेषे प्रस्तुते सति अप्रस्तुतस्य सामान्यस्य वर्णनम्' का उदाहरण इसे माना है[१८०]। दूसरी व्याख्या के अनुसार यह तुल्य से तुल्य के आक्षेप का उदाहरण है, यतः यहां अप्रस्तुत कमल की कथा से प्रस्तुत धनिक की कथा सूचित होती है[१८१]। एक व्याख्या यह हो सकती है कि कोई ग्राम्य युवति प्रस्तुत है, साधारण परिस्थितियों में रहते हुए भी जिसके अंगों में अनुपम सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा है। उस प्रस्तुत का वर्णन न कर कमलों के विषय में कहा गया है कि देखो, साधारण सी वस्तु पंकमिश्रित पानी में निवास करने वाले (कमल-आवासैः) कमलों ने क्या-क्या सौन्दर्य प्राप्त नहीं कर लिया है। एवं यहां भी अप्रस्तुत तुल्य के वर्णन से प्रस्तुत तुल्य व्यंग्य है।

दूसरा उदाहरण है, 'व्यवसायी लोग समुद्र के भी परले पार पहुंच जाते हैं'। यहां समुद्र पार पहुंच जाने रूप अप्रस्तुत विशेष के कथन से 'व्यवसायी क्या नहीं कर लेते या व्यवसायियों को कुछ भी दुष्कर नहीं है' यह प्रस्तुत सामान्य व्यंग्य है, अथवा इससे किसी अकर्मण्य को कर्म में प्रेरित करना रूप प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है।

दीक्षित ने चन्द्रालोक की दो कारिकाओं के स्थान पर उदाहरण बदल कर एक

---

१७९. कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा॥ का० प्र० १०.९९

१८०. लक्ष्मीस्थानैः कमलैः सर्वं सुन्दरमिति सामान्यप्रशंसया नेत्रादिभिरियं शोभते इति प्रस्तुतनायिकायां शोभाविशेषाक्षेप इत्याहुः। रमा०

१८१ अत्र अप्रस्तुतकमलकथया प्रस्तुतधनिककथाक्षेप इति तुल्योदाहरणमिति केचित्। रमा०

कारिका कर दी है। उनका उदाहरण सारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा का है—एकः कृती शकुन्तेपु योऽन्यं शक्रान्न याचते (कु० ६६)। वृत्ति में इस अलंकार के पांचों प्रकार सोदाहरण स्पष्ट किये हैं।

५७. अर्थान्तरन्यास

इस अलंकार का प्राय: सभी आचार्यों ने विचार किया है। रुद्रट से पूर्व भी समर्थ्यसमर्थकभाव तो इसमें माना गया था, किन्तु सामान्यविशेषभाव का इसके साथ सम्बन्ध प्रथम रुद्रट ने ही किया।

धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्धचै।
यत्र सधर्मिकमितरं न्यस्येत् सोऽर्थान्तरन्यासः॥ काव्यालं० रु० ८.७९

इन्होंने इसके साधर्म्य-वैधर्म्य रूपों का भी उल्लेख कर इसे चतुर्विध भी कहा है। मम्मट ने इन्हीं के आधार पर अपना सरल और संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार लिखा है—

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥ का० प्र० १०.१०९

जयदेव अनुषक्त अर्थात् मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थान्तर के कथन को अर्थान्तर-न्यास कहते हैं। किन्तु सम्बन्ध तो ज्ञाप्यज्ञापकरूप, कार्यकारणरूप, समर्थ्यसमर्थकरूप, सादृश्यरूप आदि बहुविध होता है। अतः यह लक्षण अन्य अलंकारों में भी अतिव्याप्त हो सकता है। अभिप्रेत यहाँ समर्थ्यसमर्थक सम्बन्ध ही है। सामान्यविशेषभाव की चर्चा भी इसमें नहीं है। जो उदाहरण दिया है, उसमें साधर्म्य से सामान्य के द्वारा विशेप का समर्थन है।

भवेदर्थान्तरन्यासोऽनुषक्तार्थान्तराभिधा।
हनूमानब्धिमतरद् दुष्करं किं महात्मनाम्॥ च० ५.६८

दीक्षित ने अस्पष्ट होने से इनके लक्षण को बदल दिया है, तथा दूसरा विशेष से सामान्य के समर्थन का भी उदाहरण दे दिया है—

उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्यविशेषयोः।
हनूमानब्धिमतरद् दुष्करं किं महात्मनाम्॥
गुणवद्वस्तुसंसर्गाद् याति स्वल्पोऽपि गौरवम्।
पुष्पमालानुषङ्गेण सूत्रं शिरसि धार्यते॥ कु० १२२, १२३

इन्होंने अर्थान्तरन्यास तथा काव्यलिंग में अन्तर यह बतलाया है कि समर्थ्य-समर्थक में सामान्यविशेष सम्बन्ध होने पर अर्थान्तरन्यास होता है, और तदितर-सम्बन्ध होने पर काव्यलिंग।

५८. विकस्वर

इस अलंकार के उद्भावक स्वयं जयदेव ही हैं। इसके अतिरिक्त केवल अप्पय दीक्षित ने इसे माना है। पंडितराज इसका खण्डन करते हैं। चन्द्रालोक-प्रतिपादित इसका स्वरूप यह है—

यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः ।
स न जिग्ये महान्तो हि दुर्धर्षाः क्ष्माधरा इव ॥ च० ५.६६

जहाँ विशेष, सामान्य, विशेष यह क्रम रहे वहां विकस्वर अलंकार होता है। दीक्षित ने इसकी व्याख्या यह की है कि इसमें विशेष की स्थापना कर सामान्य से उसका समर्थन किया जाता है, किन्तु उतने मात्र से सन्तुष्ट न होकर कवि उपमान-रीति से या अर्थान्तरन्यास की रीति से पुनः विशेषान्तर द्वारा उसका अनुमोदन करता है। उदाहरणार्थ, उत्तरार्ध में 'वह पराजित नहीं हुआ' इस विशेष का समर्थन 'महान् लोग दुर्धर्ष होते ही हैं' इस सामान्य से कर देने के बाद भी पुनः 'पर्वतों के समान' इस उपमा-प्रयुक्त विशेष के द्वारा उपपादन किया गया है।

दीक्षित ने 'क्ष्माधरा इव' के स्थान पर 'सागरा इव' कर दिया है तथा इस उदाहरण को वे यथा-कथंचित् ही विकस्वर का उदाहरण मानने को तैयार हैं। इसके स्पष्ट उदाहरण के रूप में वे कुमारसंभव का यह श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥

यहाँ उपमानरीति से विकस्वर अलंकार का निर्वाह हुआ है। इसी प्रकार अर्थान्तरन्यासरीति से भी विकस्वर का रूप रचित हो सकता है। उस अवस्था में प्रथम सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन होगा, फिर विशेष के द्वारा उस सामान्य का समर्थन। इस रीति के दीक्षितप्रदत्त दो उदाहरणों में से एक यह है—

कर्णारुन्तुदमन्तरेण रणितं गाहस्व काक स्वयं
माकन्दं मकरन्दशालिनमिह त्वां मन्महे कोकिलम् ।
धन्यानि स्थलवैभवेन कतिचिद् वस्तूनि कस्तूरिकां
नेपालक्षितिपालभालपतिते पङ्के न शङ्केत कः ॥

पंडितराज ने रसगंगाधर के अर्थान्तरन्यास-प्रकरण में कुवलयानन्दकार के मत का उल्लेख कर विकस्वर अलंकार का खण्डन किया है, तथा ऐसे उदाहरणों में दो अलंकारों की संसृष्टि ही मानी है।

५९. पर्यायोक्ति

भामह ने किसी बात को सीधे न कहकर प्रकारान्तर से कहने में पर्यायोक्त अलंकार माना था[१८२] तथा इसका उदाहरण दिया था श्रीकृष्ण का शिशुपाल को कहा हुआ यह वचन—

गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः ।
न भुञ्जते द्विजाः (तच्च रसदाननिवृत्तये) ॥ काव्यालं० भा० ३.९

दण्डी ने भी प्रकारान्तराख्यान को ही पर्यायोक्त कहा था[१८३]। उद्भट ने भामह के ही लक्षण में वाच्य-वाचकवृत्तिशून्य अवगम व्यापार की बात और जोड़ दी[१८४],

१८२. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते । काव्यालं०, भा० ३.८
१८३. काव्या० २.२९५
१८४. का० सा० सं० ४.११

जो मम्मट के लक्षण का आधार बनी[१८५]। रुय्यक ने कहा कि गम्य का भी प्रकारान्तर से अभिधान करना पर्यायोक्ति है[१८६]। यह अभिधान उनके मत में कार्यादि के द्वारा होता है[१८७], अर्थात् कार्य के वर्णन से कारण व्यङ्ग्य हो जाता है। उस अवस्था में अप्रस्तुतप्रशंसा से इसका अन्तर यह होता है कि यहां कार्य और कारण दोनों ही प्रस्तुत होते हैं। इनका उदाहरण यह है, जहां कार्य द्वारा हयग्रीव की स्वर्गविजय वर्णित है—

स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसंभोगलालिताः ।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ।।

जयदेव का लक्षण रुय्यक का ही अनुसरण करता है। इन्होंने पर्यायोक्त के स्थान पर पर्यायोक्ति कहा है। ये भी प्रस्तुत कार्यादि द्वारा कारणादि के उक्त होने पर यह अलंकार मानते हैं। उदाहरण दिया है—'उस वीर ने शत्रु-राजाओं के घरों में घास उगा दी'। इस कार्यवर्णन से शत्रुविजय रूप कारण उक्त हुआ है, अतः यहां पर्यायोक्ति अलंकार है।

कार्याद्यैः प्रस्तुतैरुक्ते पर्यायोक्ति प्रचक्षते ।
तृणान्यङ्कुरयामास विपक्षनृपसद्मसु ।। च० ५.७०

दीक्षित ने जयदेव का पर्यायोक्ति का यह लक्षण परिवर्तित कर दिया है, क्योंकि प्रस्तुत कार्य द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यंजना में, जिसे जयदेव ने पर्यायोक्ति कहा है, वे प्रस्तुतांकुर[१८८] अलंकार मानते हैं। इन्होंने अपना लक्षण प्राचीनों के अनुसार ही किया है, जो रुय्यक के लक्षण से भी साम्य रखता है, यद्यपि उसकी वृत्ति में प्रोक्त 'कार्यादिद्वारेण अभिधानम्' से ये सहमत नहीं है।

पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो भङ्ग्यन्तराश्रयम् ।
नमस्तस्मै कृतौ येन मुधा राहुवधूकुचौ ।। कु० ६८

दीक्षित पर्यायोक्त का एक अन्य भेद भी निर्दिष्ट करते हैं, 'किसी सुन्दर बहाने से अपना या दूसरे का अभीष्ट सिद्ध कर देना'। जैसे, कोई सखी नायक-नायिका को मिलन का अवसर देने के लिए कहती है कि मैं आम्रलता को देखने जा रही हूं, तुम दोनों यहीं बैठो।

पर्यायोक्तं तदप्याहुर्यद् व्याजेनेष्टसाधनम् ।
यामि चूतलतां द्रष्टुं युवाभ्यामास्यतामिह ।। कु० ६९

---

१८५. पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद् वचः ।। वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेन अवगमनव्यापारेण यत् प्रतिपादनं तत् पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात् पर्यायोक्तम्। का० प्र० १०.११५ तथा वृत्ति

१८६. गम्यस्यापि पर्यायान्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्। अ० स० ३६

१८७. न हि तस्यैव तदैव तयैव विच्छित्त्या गम्यत्वं वाच्यत्वं च सम्भवति, अतः कार्यादि-द्वारेणाभिधानम्। वही, वृत्ति

१८८. प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः। कु० ६७

६०. व्याजस्तुति

भामह की व्याजस्तुति थी अधिक गुण वाले की स्तुति के बहाने से, उससे बराबरी चाहने वाले प्रस्तुत की निन्दा करना। जैसे, 'राम ने सात तालों का और भार्गव ने क्रौंचगिरि का भेदन किया था, आपने क्या शतांश में भी उनके सदृश कुछ किया ?' यह इस अलंकार का प्रारम्भिक रूप था। दण्डी ने इसे आधुनिक रूप में लाने का उपक्रम बांधा। उनके अनुसार यदि कोई निन्दा करता हुआ वस्तुतः स्तुति करता है तो वह व्याजस्तुति है[१८९]। उद्भट ने भी यही कहा, तथा अधिक स्पष्ट रूप में—

शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्दैव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुतिश्चेष्टा व्याजस्तुतिरसौ मता॥ का० सा० सं० ५.१६

परन्तु व्याजस्तुति का दूसरा प्रकट में स्तुति और पर्यवसान में निन्दा वाला रूप अभी तक सामने नहीं आया था। मम्मट ने दोनों भेदों को लिख दिया—

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दास्तुतिर्वा रूढिरन्यथा॥ का० प्र० १०.११२

रुय्यक ने भी दोनों भेद दर्शाये, तथा यह भी कहा की स्तुतिनिन्दारूप विच्छित्तिविशेष होने से यह अप्रस्तुत-प्रशंसा से भिन्न है। इनका लक्षण है—

स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः। अ० स० ३७

जयदेव का लक्षण मम्मट तथा रुय्यक का अनुसरण करता है। इन्होंने लक्षण में तो दोनों भेद कहे हैं, पर उदाहरण निन्दा के व्याज से स्तुति का ही दिया है।

उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः।
कस्ते विवेको नयसि स्वर्गं पातकिनोऽपि यत्॥ च० ५.७१

दीक्षित ने कुवलयानन्द में स्तुति से निन्दा वाली दूसरी व्याजोक्ति का भी उदाहरण देकर चन्द्रालोक की कमी को पूर्ण कर दिया है—

साधु दूति पुनः साधु कर्त्तव्यं किमतः परम्।
यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि॥ कु० ७१

इसके अतिरिक्त इन्होंने भिन्नविषया निन्दा-स्तुति के भी उदाहरण दिये हैं तथा अन्य की स्तुति से अन्य की स्तुति का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। साथ ही ये एक की निन्दा से अन्य की निन्दा अभिव्यंजित होने पर व्याजनिन्दा अलंकार पृथक् मानते हैं[१९०]।

६१, ६२. आक्षेप तथा गूढाक्षेप

आक्षेप अलंकार का प्रचलित रूप प्रायः भामह ने ही लिख दिया था[१९१], तथा इसे वक्ष्यमाणविषयक और उक्तविषयक द्विविध कहा था। उसके पश्चात् दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि ने प्रायः उसी को आधार बना कर अपने-अपने लक्षण लिखे। वामन

---

१८९. यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता॥ काव्या० २.३४३

१९०. कु० ७२

१९१. प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। आक्षेप इति। काव्यालं०, भा० २.६८

ने उपमान के प्रतिषेध को आक्षेप कहा[१९२]। इन्होंने जो उदाहरण दिया उसमें अन्य आचार्यों के अनुसार प्रतीत अलंकार है। दण्डी और भोज ने कई भेद भी दर्शाये। मम्मट ने उन सब भेदों को ओझल कर पुनः भामह प्रतिपादित दो ही भेद रखे, तथा भामह और उद्भट के लक्षणों के अनुरूप अपना लक्षण उपस्थित किया।

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥ का० प्र० १०.१०६, १०७

मम्मट के इस लक्षण में निषेध का अर्थ 'निषेध इव' अर्थात् निषेधाभास ही है, यह वृत्ति से स्पष्ट है। रुय्यक के अनुसार किसी विशेषता की प्रतीति कराने के लिए उक्त या वक्ष्यमाण प्रस्तुत अर्थ का निषेधाभास आक्षेपालंकार है[१९३]। ये उक्त और वक्ष्यमाण के दो-दो भेद करके इसे चतुर्विध मानते हैं। इस निषेधाभास के अतिरिक्त एक दूसरा आक्षेप इनके मत में अनिष्टविध्याभास भी है[१९४], जिसमें इन्होंने भोज[१९५] का ही अनुसरण किया है। यथा—

गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्॥

यहां कान्ता को जो अनभीष्ट है ऐसे प्रस्थान का विधान आभासित हो रहा है, पर वह वास्तविक न होकर आभासमात्र है, क्योंकि परिणति निषेध में ही होती है।

जयदेव ने भी आक्षेप नाम के दो अलंकार माने हैं, एक को आक्षेप कहा है, द्वितीय को गूढाक्षेप। प्रथम में वामनलक्षित आक्षेप तथा मम्मट एवं रुय्यक का निषेधाभास रूप आक्षेप आ जाता है। दूसरा गूढाक्षेप रुय्यकप्रोक्त अनिष्टविध्याभास ही है। दोनों का चन्द्रालोकप्रतिपादित स्वरूप निम्न है—

आक्षेप

आक्षेपस्तु प्रयुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।
चन्द्र संदर्शयात्मानमथवास्ति प्रियामुखम्॥ च० ५.७२

प्रयुक्त किये हुए अर्थ का विचारोपरान्त प्रतिषेध कर देना आक्षेप अलंकार कहाता है। यह लक्षण पूर्व आलंकारिकों के लक्षणों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। प्रतिषेध से वास्तविक निषेध तथा निषेधाभास दोनों गृहीत हो जाते हैं। 'प्रयुक्त' में उक्त और वक्ष्यमाण दोनों का समावेश है, क्योंकि वक्ष्यमाण में भी कुछ अंश उक्त ही रहता है। 'विचारणात्' में विशेषाभिधित्सा आ जाती है।

राकागम टीका में इसकी दो व्याख्याएं की गई हैं। प्रथम व्याख्या यह है, जो वामन के लक्षण का अनुसरण करती है तथा जो रमा टीका में भी मिलती है—

---

१९२. उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः। काव्यालं० सू० ४.३.२७
१९३. उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतीत्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः। अ० स० ३८
१९४. अनिष्टविध्याभासश्च। वही, ३९
१९५. विधिनाथ निषेधेन प्रतिषेधोक्तिरत्र या। सर० कण्ठा० ४.६४
इन्होंने विध्याक्षेप (शुद्ध) का उदाहरण भी 'गच्छ गच्छसि' आदि ही दिया है।

प्रयुक्तस्य उपमानत्वेन सम्मतस्य विचारणाद् उपमेयमेव एतत्कार्यक्षममिति विचारेण प्रतिषेध आनर्थक्यकथनम् आक्षेपालंकार इत्यर्थः।

उदाहरण इसी के अनुरूप दिया गया है। 'हे चन्द्र, अपने आपको दिखाओ। अथवा, रहने दो, प्रिया का मुख तो है ही'। यहां निषेधाभास नहीं, प्रत्युत वास्तविक निषेध है। चन्द्र से जितना आनन्द मिलता उससे अधिक आनन्द प्रियामुख से ही प्राप्त हो जायेगा, अतः चन्द्रसंदर्शन व्यर्थ है।

राकागम की द्वितीय व्याख्या यह है—

यद्वा, प्रयुक्तस्येत्युपलक्षणम्। उक्तवक्ष्यमाणविषयको युक्तिपूर्वको वस्तुतः प्रतिषेधो यः स्तुतिनिन्दाव्यञ्जकः स आक्षेपः।

इस व्याख्या में उक्तविषयक तथा वक्ष्यमाणविषयक दोनों आक्षेप आ गये हैं, किन्तु निषेध आभासरूप न मान कर वास्तविक ही माना गया है। उस निषेध का प्रयोजन बताया गया है स्तुति या निन्दा की व्यंजना। कुवलयानन्द में उद्धृत 'साहित्यपायोनिधिमन्थनोत्थम्' आदि प्रसंग इसका उदाहरण हो सकेगा, क्योंकि वहां उक्त बात के निषेध से काव्यामृत की स्तुति प्रतीत होती है।

गूढाक्षेप

गूढाक्षेपो विधौ व्यक्ते निषेधे चास्फुटे सति।
हर सीतां सुखं किन्तु चिन्तयान्तकढौकनम्॥ च० ५.७३

जहां विधि व्यक्त हो, किन्तु निषेध अस्फुट हो, वहां गूढाक्षेप अलंकार होता है। मारीच रावण को कहता है कि "सीता को आराम से चुरा ले जाओ, पर यमराज की गति को विचार लो"। यहां मृत्यु का भय दिखाकर सीता के अपहरण का जो निषेध अभिप्रेत है, वह स्फुट नहीं है। अतः गूढाक्षेप है।

दीक्षित ने चन्द्रालोक की कारिका में 'आक्षेपस्तु प्रयुक्तस्य' के स्थान पर 'आक्षेपः स्वयमुक्तस्य' यह संशोधन कर दिया है। निषेधाभास आक्षेप की पृथक् कारिका बना दी है। गूढाक्षेप अलंकार पृथक् नहीं माना, किन्तु आक्षेप के ही तृतीय भेद के रूप में वर्णित किया है।

६३,६४. विरोध तथा विरोधाभास

जयदेव ने ये दो अलंकार पृथक्-पृथक् माने हैं। अन्य आलंकारिकों ने इनके स्थान पर एक ही अलंकार माना था तथा प्रायः उसे विरोध नाम दिया था। भामह ने गुण अथवा क्रिया के विरुद्ध अन्य क्रिया के अभिधान को विरोधालंकार कहा था[१६६]। दण्डी ने विरुद्ध पदार्थों के संसर्गदर्शन को विरोध माना[१६७]। कोई विशेषता बताने के

१६६. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा।
या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः॥ काव्यालं०, भा० ३.२५

१६७. विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतो यथा॥ काव्या० २.३३३

लिए ऐसा किया जाता है, यह दोनों ने ही कहा। दण्डी ने विरोध के ६ उदाहरण दिये हैं, जिनमें क्रिया का क्रिया से विरोध, गुण का गुण से विरोध, विषयविरोध, असंगतिविरोध तथा श्लेषमूलक विरोध वर्णित है। रुद्रट के अनुसार जहां परस्परविरुद्ध द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति का एक काल में ही एक आधार में अवस्थान वर्णित हो वहां विरोधालंकार होता है[१९८]। इन्होंने सजातीय विरोध और विजातीय विरोध के मिलाकर ९ भेद माने हैं, जाति और द्रव्य का विरोध असम्भव कहा है। ४ भेद अभावमूलक विरोध के भी दर्शाये हैं। वामन ने विरुद्धाभासत्व को विरोध कहा है[१९९]। उदाहरण जो इन्होंने दिये हैं वे अन्यों की दृष्टि में असंगति अलंकार के हैं। भोज ने पदार्थों की परस्पर असंगति को ही विरोधालंकार माना है, तथा ये असंगति, प्रत्यनीक, अधिक और विषम को इसी के अन्तर्गत समझते हैं[२००]। मम्मट ने विरोध न होने पर भी विरुद्धत्व कथन करने को विरोध कहा है[२०१], तथा जाति-द्रव्य में भी विरोध सम्भव मानकर रुद्रटप्रोक्त सजातीय-विजातीय-विरोध के ९ भेदों के १० बना दिये हैं। रुय्यक ने भी ये भेद स्वीकार किये हैं।

जयदेव गुण, द्रव्य, क्रिया आदि में विरोध होने पर विरोधालंकार मानते हैं, और श्लेषमूलक विरोध में विरोधाभास। रुद्रट ने अर्थश्लेष के भेदों में एक विरोध-श्लेष माना था, जिसका उदाहरण यह दिया था—

सर्वाधितविविधाधिककमलोऽप्यवदलितनालिकः सोऽभूत्।
सकलारिदाररसिकोऽप्यनभिमतपराङ्गनासङ्गः॥ काव्यालं० रु० १०.६

इसे ही जयदेव ने विरोधाभास कहा है। इन अलंकारों के चन्द्रालोक में वर्णित स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

विरोध

विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुणद्रव्यक्रियादिषु।
अमन्दचन्दनस्यन्दः स्वच्छन्दं दन्दहीति माम्॥ च० ५.७४

'चन्दन का अमन्द प्रवाह प्रवाह मुझे स्वच्छन्द रूप से बार-बार बहुत-बहुत जला रहा है।' यहां अमन्दत्व गुण, चन्दनत्व जाति, चन्दन द्रव्य तथा प्रवाह क्रिया का जलाने रूप क्रिया के साथ विरोध है[२०२], क्योंकि ये तो दाह को घटाने वाले हैं न कि दाह को उत्पन्न करने वाले, किन्तु यह विरहिणी की उक्ति होने पर इस विरोध का परिहार हो जाता है।

---

१९८. यस्मिन् द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम्।
एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः॥ काव्यालं०, रु० ९.३०

१९९. विरुद्धाभासत्वं विरोधः। काव्यालं० सू० ४.३.१२

२००. विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसंगतिः।
असंगतिः प्रत्यनीकमधिकं विषमश्च सः॥ सर० कण्ठा० ३.२४

२०१. विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद् वचः॥ का० प्र० १०.११०

२०२. तत्र अमन्दता गुणः, चन्दनत्वं जातिः, चन्दनं द्रव्यं, स्यन्दः प्रस्रवणक्रिया। तेषां दाहकत्वविरोधाद् इदं चतुर्णां क्रियाविरोधे उदाहरणम्। राकागम०

विरोधाभास

श्लेषादिर्भूर्विरोधश्चेद् विरोधाभासता मता ।
अप्यन्धकारिणानेन जगदेतत् प्रकाश्यते ।। च० ५.७५

विरोध श्लेषादिमूलक हो तो विरोधाभास अलंकार होता है। जो स्वयं अन्धकारवान् है वह जगत् को प्रकाशित कैसे कर सकता है, यह विरोध है। किन्तु 'अन्धकासुर के वैरी महादेव' अर्थ करने पर विरोध निवृत्त हो जाता है। यहां 'अन्धकारिणा' पद में श्लेष है।

वस्तुतः उक्त दोनों ही अलंकारों में विरोध की प्रतीति तथा परिहार होता है। अतः कुवलयानन्द में अप्यय दीक्षित ने इन दोनों के स्थान पर एक विरोधाभास अलंकार ही माना है—

आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते ।
विनापि तन्वि हारेण वक्षोजौ तव हारिणौ ।। कु० ७६

६५. असम्भव

यह अलंकार जयदेव तथा अप्पय दीक्षित के अतिरिक्त किसी ने स्वीकार नहीं किया है। चन्द्रालोक में इसका स्वरूप यह प्रतिपादित किया गया है—

असम्भवोऽर्थनिष्पत्तावसंभाव्यत्ववर्णनम् ।
को वेद गोपशिशुकः शैलमुत्पाटयिष्यति ।। च० ५.७६

अर्थसिद्धि में असम्भवता का वर्णन असम्भव अलंकार कहाता है। जैसे, बाल कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत का उत्पाटन कर चुकने पर आश्चर्यान्वित हो कोई उस अर्थनिष्पत्ति की असम्भवता बताते हुए कह रहा है—कौन जानता था कि यह ग्वालबाल पहाड़ उखाड़ लेगा।

अर्थनिष्पत्तिविषयक असम्भवता का वर्णन अर्थनिष्पत्ति हो चुकने पर भी किया जा सकता है, और उससे पूर्व भी। गागाभट्ट ने टीका में जो 'अर्थनिष्पत्तौ सत्यां' अर्थ किया है, वह प्रस्तुत उदाहरण को दृष्टि में रखकर किया प्रतीत होता है। अभिमत उसे दूसरा विकल्प भी है। अपनी ओर से जो अन्य उदाहरण उसने दिया है। अर्थनिष्पत्ति से पूर्व कहा ही है—

कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्ललितमूर्तिरसौ रघुनन्दनः ।
कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात पणस्तव दारुणः ।।

दीक्षित ने इस अलंकार का एक उदाहरण यह दिया है—

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृणातरलितमनोभिर्जल निधिः ।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यतिमिनकरमापास्यति मुनिः ।।

६६ विभावना

विभावना का 'बिना कारण के कार्योत्पत्तिवर्णन' यह स्वरूप प्रारम्भ से अन्त तक एक सा ही रहा है। भामह ने कारण-कार्य के स्थान पर क्रिया और फल शब्द

रखे थे और यह भी कहा था कि इस विसंगति का समाधान भी सुलभ होना चाहिए[२०३]। दण्डी ने लिखा है कि जहाँ प्रसिद्ध हेतु का अभाव बताकर किसी कारणान्तर का अनुसन्धान किया जाये, या कोई कारण न मिलने पर उस कार्य का स्वाभाविक होना विभावित किया जाये वहाँ विभावनालंकार होता है[२०४]। इस प्रकार इनकी विभावना के दो भेद हो गये—कारणान्तरविभावना और स्वभावविभावना। भोज ने इन दोनों विभावनाओं के तीन-तीन भेद और कर लिये हैं— शुद्धा, चित्रा और विचित्रा। विभावना के कुछ लक्षण निम्न हैं—

वामन : **क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना।**

मम्मट : **क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।**

रुय्यक : **कारणाभावे कार्यस्योक्तिर्विभावना।**

मम्मट ने इसके कोई भेद वर्णित नहीं किये। रुय्यक ने उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता दो भेद दर्शाये हैं।

जयदेव ने भेदों की चर्चा नहीं की तथा लक्षण-उदाहरण यह लिखा है—

विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।
पश्य लाक्षारसासिक्तं रक्तं त्वच्चरणद्वयम् ॥ च० ५.७७

यह दण्डी की स्वभाव-विभावना होगी, यतः लाक्षारस से सिक्त हुए बिना भी चरणों की लाली कारणान्तर से नहीं, अपितु स्वभाव से है। रुय्यक के अनुसार यह अनुक्तनिमित्ता विभावना है, क्योंकि नैसर्गिक लालिमारूपी हेतु यहाँ कहा नहीं गया है।

दीक्षित ने कुवलयानन्द में विभावना के ६ भेद निरूपित किये हैं। प्रथम तो चन्द्रालोक वाला ही है। उसके अतिरिक्त १. हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिः, २. सत्यपि, प्रतिबन्धके कार्योत्पत्तिः, ३. अकारणात् कार्यजन्म, ४. विरुद्धात् कार्यसम्पत्तिः, ५. कार्यात् कारणजन्म ये पांच भेद अधिक किये हैं। इन पाँचों के उदाहरण क्रमशः निम्न दिये हैं—

१. **अस्त्रैरतीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथः।**
२. **नरेन्द्रानेव ते राजन् दशत्यसिभुजङ्गमः।**[२०५]
३. **शंखाद् वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम्।**[२०६]
४. **शीतांशुकिरणास्तन्वी हन्त संतापयन्ति ताम्।**
५. **यशःपयोराशिरभूत् करकल्पतरोस्तव।**

---

२०३. क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति॥ काव्यालं०, भा० २.७७

२०४. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत् किंचित् कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना॥ काव्या० २.१९९

२०५. अत्र नरेन्द्रा विषवैद्याः सर्पदंशप्रतिबन्धकमन्त्रौषधिशालिनः श्लेषेण गृहीता इति प्रतिबन्धके कार्योत्पत्तिः। कु०

२०६. अत्र शंखशब्देन कमनीयः कामिनीकण्ठः तन्त्रीनिनादत्वेन तद्गीतं चाध्यवसीयते इत्यकारणात् कार्यजन्म। वही

पंडितराज ने इन पांच प्रकारों को पृथक् भेद मानने का इस ग्राधार से खंडन किया है कि ये प्रथम प्रकार में ही ग्रन्तर्भूत हो सकते हैं[२०७]।

६७. विशेषोक्ति

यह ग्रलंकार विभावना से विपरीत है। इसमें कारणों के विद्यमान होते हुए भी कार्योत्पत्ति का निषेध होता है। इसका प्राचीन रूप यह नहीं था। भामह, दण्डी, वामन, भोज सबकी विशेषोक्ति इससे भिन्न है। भामह ने विशेषोक्ति वहां मानी थी जहां एक भाग के चले जाने पर भी विशेषता प्रदर्शित करने के लिए दूसरे गुण को स्थिर वर्णित किया जाये—

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा॥ काव्यालं० भा ३.२३

दण्डी ने कहा कि विशेषता दर्शाने के लिए गुण, जाति, क्रिया ग्रादि का जो वैकल्य दिखाया जाता है, वह विशेषोक्ति है—

गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते॥ काव्या० २.३२३

इन्होंने गुण, जाति, क्रिया, द्रव्य तथा हेतु इन पांच के वैकल्यों के उदाहरण भी दिये हैं। यथा निम्न पद में गुणवैकल्यविशेषोक्ति है—

न कठोरं न वा तीक्ष्णमायुधं पुष्पधन्वनः।
तथापि जितमेवासीदमुना भुवनत्रयम्॥ वही २.३२४

वामन ने उपमेय में एक गुण की हानि की कल्पना होने पर उपनान के शेष गुणों से समता दृढ़ करने को विशेषोक्ति कहा है,[२०८] जिसे वामन ने स्वयं तथा रुय्यक ने भी रूपक माना है। यथा—

भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः

रुद्रट ने यह ग्रलंकार नहीं माना। भोज ने दण्डी का ही ग्रनुसरण किया है। विशेषोक्ति के वर्तमान स्वरूप का प्ररोहण उद्‌भट ने कर दिया था, जिन्होंने कहा था कि शक्तियों की समग्रता होने पर भी विशेषता बताने की इच्छा से फल की ग्रनुत्पत्ति वर्णित करना विशेषोक्ति है, तथा यह निमित्त की उक्ति ग्रौर ग्रनुक्ति से द्विधा होती है।

यत् सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम्।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद् विशेषोक्तिरुच्यते॥ काव्यालं, रु० ५.५

मम्मट ने कारणों के ग्रखण्ड (मिलित) होने पर भी फल (कार्य) के ग्रकथन को विशेषोक्ति[२०९] कहा, तथा इसके ग्रनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता ग्रौर ग्रचिन्त्यनिमित्ता

---

२०७. तस्मादाद्येन प्रकारेण प्रकारान्तराणामालीढत्वात् षट् प्रकारा इत्यनुपपन्नमेव। र० गं०

२०८. एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः। काव्यालं० सू० ४.३,२३

२०९. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः का० प्र० १०, १०८

तीन भेद माने। रुय्यक ने अचिन्त्यनिमित्ता का अन्तर्भाव अनुक्तनिमित्ता में करके दो ही भेद कहे तथा लक्षण उद्भट से मिलता-जुलता ही किया[२१०]।

जयदेव का लक्षण रुय्यक के अनुरूप है, तथा इन्होंने भेदों का उल्लेख नहीं किया है।

विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सति कारणे।
नमन्तमपि धीमन्तं न लङ्घयति कश्चन ॥ च० ५.७८

यहां झुकना रूप कारण विद्यमान है, फिर भी लांघना रूप कार्य उत्पन्न नहीं हो रहा। यह अनुक्त-निमित्ता का उदाहरण होगा। दीक्षित ने इस कारिका को निम्न रूप में परिवर्तित कर दिया है—

कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे।
हृदि स्नेहक्षयो नाभूत् स्मरदीपे ज्वलत्यपि ॥ कु० ८३

६८. असंगति

रुद्रट से पूर्व विरोध से पृथक् असंगति अलंकार की सत्ता नहीं थी। रुद्रट ने इसका जो स्वरूप निर्धारित किया वही अन्त तक मान्य रहा।

विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयाऽसंगतिः सेयम् ॥ काव्यालं०, रु० ९.४८

अर्थात् जहां एक ही काल में स्पष्टतः कारण एक देश में और कार्य अन्य देश में वर्णित हो वहां असंगति अलंकार होता है। इनका उदाहरण यह है—

नवयौवनेन सुतनोरिन्दुकलाकोमलानि पूर्यन्ते।
अङ्गान्यसंगतानां यूनां हृदि वर्धते कामः ॥

मम्मट ने इन्हीं के लक्षण का अनुवाद किया है[२११] तथा विरोध से इस अलंकार का अन्तर भी स्पष्ट किया है। यह विरोध की बाधिका है, स्वयं विरोधरूप नहीं है, यतः विरोध में विरोधिता एकाश्रयनिष्ठ होती है, किन्तु इसमें भिन्नाश्रयनिष्ठ। यथा—'दन्तक्षतं कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम्'।

जयदेव का लक्षण रुय्यक[२१२] के अनुकरण पर है। उदाहरण है—'हे ईश, आपके भक्तों का अंग झुकता है, और सांसारिक क्लेश टूट जाता है'। यहां कारण झुकना अंग में है, किन्तु उसका कार्य टूटना क्लेश में। एवं दोनों के भिन्न देश में होने से असंगति है।

आख्याते भिन्नदेशत्वे कार्यहेत्वोरसंगीतः।
त्वद्भक्तानां नमत्यङ्गं भङ्गमेति भवक्लमः ॥ च० ५.७९

---

२१०. कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्ति अ० स० ४२

२११. भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः।
युगपद् धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगति ॥ का० प्र० १०.१२४

११२. तयोः (कार्यकारणयोः) भिन्नदेशत्वेऽसंगतिः। अ० स० ४४

दीक्षित ने इसे इस रूप में परिवर्तित कर दिया है—

विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः ।

विषं जलधरैः पीतं मूर्च्छिता पथिकांगनाः ।। कु० ८५

इसके अतिरिक्त इन्होंने असंगति के दो भेद और दर्शाये हैं। १. अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र वृत्तिः, २. अन्यत् कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिः।

६९, ७०. विषम और सम

अननुरूप संसर्ग को विषम कहते हैं, और अनुरूप-सम्बन्ध की सराहना सम है। विषम का प्रथम वर्णन रुद्रट के काव्यालंकार में उपलब्ध होता है। वहां यह दो स्थानों पर वर्णित हुआ है, प्रथम वास्तवमूलक अलंकारों में, पुनः अतिशयमूलक में। प्रथमकोटि में इसके सात भेद प्रदर्शित किये हैं तथा द्वितीय में गुणविषम और क्रियाविषम ये दो भेद। भोज ने विषम को विरोधालंकार के ही अन्तर्गत रखते हुए गुणविरोध का एक उदाहरण दिया है।

मम्मट ने इसे चतुर्विध कहा है। इनके चार भेदों में ही रुद्रटोक्त सब भेदों का समावेश हो गया है। १. अति वैधर्म्य के कारण सम्बन्ध सराहनीय न हो, २. कर्ता ने जिस फल के लिए क्रिया की है वह फल तो प्राप्त हो न, उल्टे अनर्थ की प्राप्ति हो जाये, ३. कारण और कार्य के गुण परस्पर विरुद्ध हों, ४. कारण और कार्य की क्रियायें परस्पर विरुद्ध हों। रुय्यक[२१३] ने विरूपकार्योत्पत्ति, अनर्थोत्पत्ति तथा विरूपसंघटना ये तीन प्रकार माने हैं।

सम अलंकार सबसे पूर्व मम्मट ने ही लिखा है। यह विषम से विपरीत है। दो वस्तुओं के सम्बन्ध की अनुरूप होने से श्लाघा करना ही समालंकार है—

समं योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित् । का० प्र० १०.१२५

मम्मट ने इसके दो भेद किये हैं—सद्योगे और असद्योगे। रुय्यक ने विरूपसंघटना के विपर्यय को सम कहा है[२१४]।

जयदेव इन दोनों अलंकारों का स्वरूप निम्न प्रकार दर्शाते हैं—

विषमं यद्यनौचित्यादनेकान्वयकल्पनम् ।

क्वातितीव्रविषाः सर्पाः **क्वा**सौ चन्दनभूरुहः ।।

सममौचित्यतोऽनेकवस्तुसम्बन्धवर्णनम् ।

अनुरूपं कृतं सद्म हारेण कुचमण्डलम् ।। च० ५.८०, ८१

यदि अनौचित्य या अननुरूपता दिखाने के लिए एकाधिक वस्तुओं का सम्बन्ध वर्णित किया जाये तो विषम अलंकार होता है और यदि औचित्य को सराहने की दृष्टि से उसका वर्णन हो तो समालंकार होता है। विपम के लक्षण की भाषा अस्पष्ट है।

---

२१३. विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् । अ० स० ४५

२१४. तद्विपर्ययः समम् । यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं तथापि तच्छब्देन संभवादन्त्यो भेदः परामृश्यते । वही ४६ तथा वृत्ति

दीक्षित ने इनके विषम को यह रूप दे दिया है—

विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाननुरूपयोः ।

क्वेयम् शिरीषमृद्वङ्गी क्व तावन्मदनज्वरः ।। कु० ८८

इसके अतिरिक्त विरूपकार्योत्पत्ति तथा अनिष्टावाप्तिरूप विषम की दो कारिकाएँ अधिक लिखी हैं। वृत्ति में अनिष्टावाप्तिविषम के अवान्तरभेद भी दर्शाये हैं। समालंकार के भी विषमालंकार की प्रतिद्वन्द्विता में इन्होंने तीन ही भेद वर्णित किये हैं—१. द्वयोरप्यनुरूपयोः वर्णनम्, २. कार्यस्य कारणेन सारूप्यम्, ३. यमर्थं कर्तुमुद्यतः तत्सिद्धिः अनिष्टं विना। रुय्यक ने अन्तिम दो की अलंकारता का प्रतिषेध किया था। चन्द्रालोक की कारिका को दीक्षित ने इस रूप में संशोधित कर दिया है—

समं स्याद् वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः ।

स्वानुरूपं कृतं सद्म हारेण कुचमण्डलम् ।। कु० ९१

७१. विचित्र

इस अलंकार के उद्‌भावक रुय्यक हैं। इन्होंने जिस हेतु का जो फल साधारणतः होता है, उससे विपरीत फल की प्राप्ति के लिए उत्साह प्रदर्शित करने को विचित्रालंकार कल्पित किया है[२१५]। आश्चर्यप्रतीति का हेतु होने से इसका यह नाम रखा है। इनके दिये हुए दो उदाहरणों में से एक यह है—

उन्नत्यै नमति प्रभुं प्रभुगृहान् द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति
स्वद्रव्यव्ययमातनोति जडधीरागामिवित्ताशया ।
प्राणान् प्राणितुमेव मुञ्चति रणे क्लिश्नाति भोगेच्छया
सर्वं तद्विपरीतमेव कुरुते तृष्णान्धदृक् सेवकः ।।

विरूपकार्योत्पत्ति रूपी विषम 'तमालनीलाशरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते' आदि से इसका भेद यह बताया है कि विषम में तो 'नीलखड्ग ने श्वेत यश उत्पन्न किया' इस वैपरीत्य की प्रतीति के द्वारा स्वनिषेध होता है, जबकि यहां विचित्र में स्वनिषेध द्वारा वैपरीत्य की प्रतीति होती है। पंडितराज ने दोनों में यह अन्तर वताया है कि विषम में पुरुष का प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता, किन्तु विचित्र में होता है[२१६]।

जयदेव का लक्षण तथा उदाहरण निम्न है—

विचित्रं चेत् प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः ।

नमन्ति सन्तस्त्रैलोक्यादपि लब्धुं समुन्नतिम् ।। च० ५.८२

उदाहरण तो ठीक है, किन्तु लक्षण त्रुटिपूर्ण है। विपरीतफलप्रद प्रयत्न तो अनर्थावाप्तिरूप विषमालंकार में भी होता है। यथा मम्मट द्वारा उदाहृत इस पद्य में—

---

२१५. स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्। अ० स० ४७

२१६. न च कारणाननुरूपं कार्यमिति विषमभेदोऽयं वाच्यः। विषमे पुरुषकृतेरवपेक्षणात् कार्यकारणगुणवैलक्षण्येनैव तद्‌भेदनिरूपणाच्च। र० ग०

सिंहिकासुतसंत्रस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः ।
जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः ।।

अन्तर यह है कि विचित्रालंकार में कर्ता स्वेच्छा से विपरीत फल की प्राप्ति के लिए विपरीत प्रयत्न करता है, जो लक्षण में स्पष्ट नहीं हुआ। अतएव दीक्षित ने लक्षण को इस रूप में संशोधित कर दिया है—

विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद् विपरीतः फलेच्छया। कु० ६४

रसगंगाधर पंडितराज का विचित्र का लक्षण यह है—

इष्टसिद्धयर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरणं विचित्रम् ।

७२. अधिक

इसका वर्णन सर्वप्रथम रुद्रट ने किया था। इन्होंने इसके दो भेद निरूपित किये थे। १. जहां एक ही कारण से परस्परविरुद्ध अथवा विरुद्ध क्रिया वाली वस्तुएँ उत्पन्न हों। जैसे—आश्चर्य है, बादल से पानी भी बरसता है, और आग भी, अथवा समुद्र से विष भी उत्पन्न हुआ और अमृत भी। २. जहां सुमहान् आधार में अवस्थित छोटा भी आधेय कथंचित् उससे अधिक हो जाये। जैसे, उसके जगद्विशाल हृदय में प्रविष्ट होकर वह तन्वी इस प्रकार निवास कर रही थी कि उसी के लिए वह पर्याप्त नहीं था, अन्य के लिए तो अवकाश हो ही कहां सकता था। वाद में इसका द्वितीय भेद ही प्रचलित रह गया, जिसके मम्मट ने दो रूप कर दिये—

महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ।। का० प्र० १०.१२८

एक, वह जिसमें आधेय वस्तुतः विशाल होता है तथा आधार उसकी अपेक्षा छोटा होता हुआ भी उससे महान् वर्णित किया जाता है। दूसरा, वह जिसमें आधार विशाल होता है, तथा आधेय उससे छोटा होने पर भी वड़ा कहा जाता है।

जयदेव ने उक्त दोनों प्रकारों में से द्वितीय को ही लक्षण में समाविष्ट किया है—

अधिकं बोध्यमाधारादाधेयाधिक्य[217] वर्णनण् ।
यया व्याप्तं जगत् तस्यां वाचि मान्ति न ते गुणाः ।। च० ५.८३

इसका मम्मटप्रदत्त उदाहरण माघ का निम्न श्लोक है, जिसे दीक्षित ने भी दिया है—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः ।।

दीक्षित ने मम्मटोक्त द्वितीय भेद को भी लक्षित तथा उदाहृत किया है, जिसे जयदेव ने उपेक्षित कर दिया था।

७३. अन्योन्य

इसके भी उद्भावक रुद्रट ही हैं, किन्तु उनका लक्षण कुछ जटिल था। भोजराज ने उसे सरल और संक्षिप्त रूप में लिख दिया—

अन्योन्यमुपकारो यस्तदन्योन्यम् । सर० कण्ठा० ३.२७

---

२१७. पाठान्तर : धिक ।

फिर उन्होंने वाच्य, प्रतीयमान तथा उभयात्मक रूप में इसे त्रिधा विभक्त कर इसके अन्योन्यचूलिका, अन्योन्यभ्रान्ति और अन्योन्यमेकता ये तीन भेद किये। ये भेद आगे चले नहीं। इनका अन्योन्यचूलिका का यह उदाहरण है—

शशिना च निशा निशया च शशी, शशिना निशया च यथा गगनम्।
भवता च सभा सभया च भवान्, सभया भवता च तथा भुवनम्॥

मम्मट और रुय्यक के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

क्रियया तु परस्परं। वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्। का० प्र० १०.१२०, १२१
परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम्। अ० स० ४६

जयदेव कृत लक्षण-उदाहरण निम्न है। इनका लक्षण भोजानुसारी है।

अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्।
त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया॥ च० ५.८४

दीक्षित ने इसमें कुछ परिवर्तन नहीं किया, केवल 'यथोर्ध्वाक्षः पिवत्यम्बु' आदि एक उदाहरण अधिक दिया है। पर पंडितराज उसे अन्योन्यालंकार का उदाहरण नहीं मानते।

७४. विशेष

इसे भी रुद्रट ने ही सर्वप्रथम निरूपित किया। इन्होंने इसके तीन भेद सोदाहरण वर्णित किये थे। उन्हीं भेदों को मम्मट, रुय्यक आदि ने भी स्वीकार कर लिया। १. विना आधार के आधेय की स्थिति होना। यथा, स्वर्गलोक में गये हुये भी जिन कवियों की अनल्पगुणगणों वाली बाणियां लोकों को आनन्दित करती हैं, वे क्यों न वन्दनीय हों। २. एक ही वस्तु का युगपत् अनेक आधारों में रहना। यथा, तुम्हारे हृदय में, लोचन में और वाणी में वही नवयौवना सदा वास करती है। ३. एक कार्य करते हुए उसी के साथ दूसरा अशक्य कार्य हो जाना। यथा, अपने निर्मल कपोलतल पर तिलक रचती हुई उस बालमृगाक्षी ने मेरे चित्त पर अपना शरीर चित्रित कर दिया।

रुय्यक ने सूत्र रूप में इन तीनों भेदों को इस प्रकार लिखा है—

अनाधारमाधेयम्, एकमनेकगोचरम्, अशक्य—
वस्त्वन्तरकरणं विशेषः। अ० स० ५०

जयदेब ने इनमें से केवल प्रथम को ही विशेषालंकार कहा है—

विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम्।
गतेऽपि सूर्ये दीपस्थास्तमश्छिन्दन्ति तस्कराः॥ च० ५.८५

दीक्षित ने चन्द्रालोक की इस कारिका को तो इसी रूप में स्वीकार कर लिया है, इसके अतिरिक्त शेष दो भेदों के लिए दो अन्य कारिकाएं विरचित कर ली हैं[२१८]।

७५. व्याघात

व्याघात अलंकार के प्रवर्तक रुद्रट ही हैं। किन्तु इन्होंने इसका जो लक्षण

---

२१८. कु० १००, १०१

किया था, उसमें परिवर्तन हो गया। इनके अनुसार जहां कारण किसी अन्य निमित्त से प्रतिहत न होते हुए भी कार्य को उत्पन्न न करे वहां व्याघात अलंकार होता है[२१६]। यथा, 'अपहृतवसना वधू से फेंकी गई माला से न बुझे हुए भी महामणि रूपी सुरतप्रदीप काजल नहीं छोड़ रहे थे'। वस्तुतः इसमें विशेषोक्ति का ही रूप है। रुद्रट ने विशेषोक्ति को पृथक् नहीं माना था, अतः उसके द्वारा व्याघात का यह रूप स्थिर किया जाना निर्दोष था। पर मम्मट तो विशेषोक्ति को मानते हैं, अतः उन्होंने व्याघात का लक्षण दूसरा लिखा।

यद् यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद् विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः॥

का० प्र० १०.१३८, १३९

जिस उपाय से जो वस्तु एक ने सिद्ध की है, उसी उपाय से कोई दूसरा उस वस्तु को अन्यथा कर दे, इसका नाम व्याघात है। इसमें साधित वस्तु की व्याहृति होने के कारण इसका यह नाम अन्वर्थक है। यथा—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः॥

रुय्यक ने व्याघात का एक रूप तो यही माना है, उदाहरण भी यही दिया है, पर इसके साथ एक अन्य रूप भी कल्पित किया है। किसी कार्य के साधन के लिए संभाव्यमान हेतुविशेष को यदि उस कार्य के विरुद्ध बात के समर्थक के रूप में प्रस्तुत किया जाये तो भी यही अलंकार होता है[२२०]। यथा, हर्षचरित में राज्यवर्धन के प्रति श्रीहर्ष की निम्न उक्ति—

'यदि बाल इति सुतरामपरित्याज्योऽस्मि। रक्षणीय इति, भवद्भुजपंजरमेव रक्षास्थानम्' इत्यादि।

जयदेव ने काव्यप्रकाश वाला ही एक भेद लिखा है—

स्याद् व्याघातोऽन्यथाकारि वस्त्वन्यक्रियमुच्यते।
यैर्जगत् प्रीयते हन्ति तैरेव कुसुमायुधः॥ च० ५.८६

अन्य क्रिया वाली वस्तु यदि अयथाकारी (उससे विरुद्ध क्रिया को करने वाली) वर्णित की जाये तो व्याघात अलंकार होता है। यथा, 'जिन पुष्पों से जगत् प्रसन्न होता है, उन्हीं से कामदेव मारता है'।

दीक्षित ने लक्षण को इस रूप में संशोधित कर लिया है—स्याद् व्याघातोऽन्यथाकारि तथाकारि क्रियेत चेत् (कु० १०२)। और इसके दो अभिप्राय लिए हैं। प्रथम यह कि जिस कार्य के साधन के रूप में कोई वस्तु लोक में प्रसिद्ध है, उससे विरुद्ध कार्य के लिए किसी के द्वारा उसका साधन रूप में प्रयुक्त किया जाना, जैसे

---

२१९. अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयते व्याघातः स इति विज्ञेयः॥ काव्यालं०, रु० ९.५२

२२०. सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च व्याघातः। अ० स० ५२

चन्द्रालोक के उपर्युक्त उदाहरण में। दूसरे, जिस कार्य की सिद्धि के लिए किसी ने किसी वस्तु का प्रयोग किया है, उसका प्रतिद्वन्द्वी उसी वस्तु को उससे विरुद्ध कार्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त करे, यथा—'दृशा दग्धं' आदि मम्मटप्रोक्त उदाहरण में। रुय्यकप्रोक्त द्वितीय भेद भी इन्होंने प्रदर्शित किया है तथा उसके लिए नवीन कारिका रची है[२२१]।

७६. कारणमाला

इसके प्रवर्तक भी रुद्रट हैं। इन्होंने कहा था कि कारणमाला वहां होती है जहां वर्णित अर्थों में से पूर्व-पूर्व अर्थ उत्तर-उत्तर की कारणता को प्राप्त होता है[२२२]। भोज ने इसे अहेतु अलंकार के ही अन्तर्गत माना[२२३]। रुद्रट के ही लक्षण को मम्मट ने सरल रूप में इस प्रकार उपन्यस्त किया है—

यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात् ॥ का० प्र० १०.१२०

रुय्यक ने इसी को सूत्र रूप में लिख दिया है[२२४], तथा कहा है कि कार्यकारण-क्रम ही इसमें चारुता का हेतु वनता है। उदाहरण मम्मट ने तथा इन्होंने एक ही दिया है—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥

जयदेव कृत लक्षणोदाहरण निम्न है—

गुम्फः कारणमाला स्याद् यथा प्राक्प्रान्तकारणैः।
नयेन श्रीः श्रिया त्यागस्त्योगेन विपुलं यशः ॥ च० ५.८७

दीक्षित ने इनके लक्षण का आशय यह लिया है कि जहां पूर्व-पूर्व वस्तु उत्तरोत्तर में कारण वने अथवा उत्तरोत्तर वस्तु पूर्व-पूर्व में कारण वने, इस प्रकार की रचना कारणमाला कहलाती है। प्रथम का उदाहरण चन्द्रालोक की कारिका में आ ही गया है। द्वितीय का उदाहरण दीक्षित ने यह दिया है—

भवन्ति नरकाः पापात्, पापं दारिद्र्यसंभवम्।
दारिद्र्यमप्रदानेन, तस्माद् दानपरो भवेत् ॥

चन्द्रालोक के उदाहरण को ही इस रूप में परिवर्तित कर दें, तो द्वितीय भेद का उदाहरण हो जायेगा—

यशस्त्यागाच्च त्यागश्च श्रिया श्रीश्च नयोदिता।

७७. एकावली

इसका प्रारम्भ भी रुद्रट से हुआ। इनके अनुसार एकावली वह है जिसमें

---

२२१. कु० १०३
२२२. काव्यालं०, रु० ७.८४
२२३. सर० कण्ठा० ३.१६
२२४. पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला। अ० स० ५३

ऐसी अर्थों की परम्परा होती है कि उत्तर-उत्तर अर्थ पूर्व-पूर्व का विशेषण बनता चलता है, तथा यह स्थिति विधि और अपोह के भेद से द्विविध होती है[२२५]। मम्मट ने इन्हीं के लक्षण को सरल भाषा में इस रूप में लिखा—

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ।। का० प्र० १०.१३१

रुय्यक[२२६] ने इन्हीं के लक्षण को सूत्र रूप में कर उदाहरण इन्हीं के दिये, स्थापन का 'पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि', और अपोहन का 'न तज्जलं यन्न सुचारु-पङ्कजम्'।

जयदेव ने इसका लक्षण और उदाहरण यह लिखा है—

गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावली मता ।
नेत्रे कर्णान्तविश्रान्ते कर्णौ दोर्मूलदोलिनौ ।। च० ५.८८

जहां गृहीतमुक्त रीति की परम्परा चलती हो, वहां एकावली अलंकार होता है। दीक्षित की व्याख्यानुसार उत्तर-उत्तर, पूर्व-पूर्व का विशेषण बने अथवा पूर्व-पूर्व, उत्तर-उत्तर का विशेषण बने, इसका नाम गृहीतमुक्त रीति है। परम्परा की चारुता लाने के लिए दीक्षित ने इसके आगे एक कारिका और वढ़ा दी है—

दोःस्तम्भौ जानुपर्यन्तप्रलम्बनमनोहरौ ।
जानुनी रत्नमुकुराकारे तस्य हि भूभुजः ।। कु० १०६

यह प्रथम प्रकार का उदाहरण हुआ। द्वितीय प्रकार का उदाहरण दीक्षित ने 'दिक्कालात्मसमैव यस्य विभुता' आदि दिया है। अपोहन वाले भेद की चर्चा न जयदेव ने की है, न ही दीक्षित ने।

७८. मालादीपक

दण्डी ने दीपकचक्र में ही मालादीपक का वर्णन किया था और यह कहा था कि इसमें पूर्वपूर्वव्यपेक्षिणी वाक्यमाला प्रयुक्त होने से इसे मालादीपक कहते हैं[२२७]। उद्भट एवं रुद्रट इसका उल्लेख नहीं करते। भोज ने भी इसे दीपक का ही भेद माना है। मम्मट ने दीपक के तुरन्त पश्चात् मालादीपक लिखा है, अतः यह स्पष्ट नहीं है कि वे इसे दीपक का ही भेद मानते हैं अथवा पृथक् अलंकार। रुय्यक ने स्पष्टतः इसे पृथक् अलंकार माना है। उनका कथन है कि इसमें माला का चारुत्वविशेष होने के कारण इसे हमने दीपक के प्रकरण से पृथक् लिखा है[२२८]। इसके मम्मट तथा रुय्यक कृत लक्षण निम्न हैं, तथा दोनों ने ही उदाहरण 'संग्रामाङ्गणमागतेन सहसा०' आदि दिया है।

---

२२५. काव्यालं०, रु० ७.१०९

२२६. यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली। अ० स० ५४

२२७. काव्या० २.१०७, १०८

२२८. मालात्वेन चारुत्वविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तावोल्लङ्घनेनेह लक्षणं कृतम्।
अ० स० ५५, वृत्ति

मम्मट : **मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम्** । का० प्र० १०.१०४

रुय्यक : **पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम्** । अ० स० ५५

जयदेव दीपक तथा एकावली के योग को मालादीपक कहते हैं। यह इनकी नूतन उद्भावना है।

दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमुच्यते ।
स्मरेण हृदये तस्यास्तेन त्वयि कृता स्थितिः ।। च० ५.८९

उदाहरण में दीक्षित ने इसे इस प्रकार घटाया है। यहां 'स्थितिः कृता' यह दोनों वाक्यों के साथ अन्वित होता है, अतः दीपक है। साथ ही गृहीतमुक्तरीति के सद्भाव के कारण एकावली भी है। एवं दोनों का योग होने से मालादीपक है।

पंडितराज इससे सहमत नहीं है। उनका कथन है कि यहां सादृश्यगर्भता तथा प्रकृताप्रकृतत्वयोग न होने से दीपकत्व होता ही नहीं। अतः मालादीपक को एकावली का ही प्रभेद मानना चाहिए[२२९]।

७९, ८०. सार तथा उदारसार

सार अलंकार सर्वप्रथम रुद्रट के काव्यालंकार में मिलता है। उदारसार को जयदेव के अतिरिक्त अन्य किसी ने वर्णित नहीं किया। रुद्रट ने सार का स्वरूप यह बताया था कि जहां प्रत्येक समुदाय में से एकदेश को क्रमशः गुणवत्तर कहते हुए अन्तिम अवधि तक पहुँच जाते हों वहां सार अलंकार होता है[२३०]। इन्होंने इसका निम्न उदाहरण दिया था, जिसे मम्मट, रुय्यक आदि ने भी इन्हीं से ले लिया—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वरांगनानंगसर्वस्वम् ।।

मम्मट ने रुद्रट के ही लक्षण को सरल तथा संक्षिप्त रूप में अनूदित करके अपना लक्षण बनाया, जिसे रुय्यक ने और अधिक संक्षिप्त कर दिया—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः । का० प्र० १०.१२३
उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः[२३१] । अ० स० ५६

जयदेव ने सार और उदारसार दो अलंकार माने हैं। सार में उत्तरोत्तर सारता का पदोत्कर्ष पाया जाता है। यथा, 'वाङ्मय श्रेष्ठ है, उसमें भी काव्य अधिक श्रेष्ठ है, उसमें भी शिवस्तोत्र'। उदारसार में इस पदोत्कर्ष के साथ यह भी विशेषता होती है कि वस्तुतः भिन्न गुण अभिन्न रूप में भासित होते हैं। यथा, 'शहद मधुर है, उससे भी अधिक मधुर अमृत है, उससे भी अधिक कविवचन'। यहां वस्तुतः अमृत और कविवचन का माधुर्य गुण शहद के माधुर्य से भिन्न होता हुआ भी अभिन्न वर्णित किया गया है।

---

२२९. द्रष्टव्य : र० गं०, दीपक तथा एकावली प्रकरण।

२३०. काव्यालं०, रु० ७.९६

२३१. निर्णयसागर मुद्रित एक संस्करण में सारः के स्थान पर उदारः पाठ है। इसके आधार पर कुछ का विचार है कि रुय्यक ने इस अलंकार को उदार नाम से कहा था।

सारो नाम पदोत्कर्षः सारतायाः यथोत्तरम् ।
सारं सारस्वतं तत्र काव्यं तत्र शिवस्तवः ।।
उदारसारश्चेद् भाति भिन्नोऽभिन्नतया गुणः ।
मधुरं मधु पीयूषं तस्मात् तस्मात् कवेर्वचः ।। च० ५.६०, ६१

दीक्षित ने भी उदारसार को पृथक् अलंकार नहीं माना । उन्होंने चन्द्रालोक की इन दोनों कारिकाओं को मिलाकर एक कारिका कर दी है, जिसमें सार अलंकार का ही लक्षण है, तथा उसके उदाहरण रूप में किंचित् परिवर्तन के साथ उपर्युक्त उदारसार का ही उदाहरण रख दिया है ।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते ।
मधु मधुरं तस्माच्च सुधा तस्याः कवेर्वचः ।। कु० १०८

इन्होंने यह भी कहा है कि यह सार अलंकार श्लाघ्यगुणोत्कर्षमूलक, अश्लाघ्यगुणोत्कर्षमूलक तथा उभयगुणोत्कर्षमूलक तीनों प्रकार का हो सकता है । उदाहरण भी तीनों के प्रदर्शित किये हैं ।

८१. यथासंख्य

इस अलंकार को प्रायः सभी आलंकारिकों ने वर्णित किया है । दण्डी ने इसे संख्यान और क्रम नाम भी दिया है । वामन और भोज इसे क्रम ही कहते हैं । भामह ने इसे इस रूप में लक्षित किया था कि समान धर्म के निरूपण के बिना उपदिष्ट अनेक अर्थों का उसी क्रम से जो अनुनिर्देश होता है उसे यथासंख्य कहते हैं[२३२] । लक्षणनिहित 'असधर्मणाम्' पद से तथा इन्होंने जो उदाहरण दिया है उसे देखने से यह अनुमान होता है कि इनके मत में यह अलंकार उपमानोपमेयभावमूलक ही था । अभिप्राय निकलता है कि दोनों में समान धर्म हो तो, पर उसे शब्दों से कथित न किया गया हो । वामन ने तो स्पष्ट ही कह दिया कि उपमेयों और उपमानों के क्रम-सम्बन्ध को क्रमालंकार कहते हैं[२३३] । दण्डी ने अपने लक्षण में 'असधर्मणाम्' तो नहीं कहा, किन्तु उदाहरण उपमान-उपमेयों का ही दिया है । उद्भट ने भामह का ही लक्षण ले लिया है । वामन के पश्चात् यथासंख्य के लक्षण में उपमानोपमेयता की चर्चा फिर किसी ने नहीं की । रुद्रट ने इसे वास्तवमूलक अलंकारों में परिगणित किया है और इसके द्विगुण, त्रिगुण तथा बहुगुण होने की व्यवस्था भी निर्दिष्ट की है । मम्मट तथा रुय्यक के लक्षण इस प्रकार हैं—

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकानां समन्वयः । का० प्र० १०.१०८
उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुनिर्देशो यथासंख्यम् । अ० स० ५६

रुय्यक का लक्षण भामह एवं उद्भट के लक्षण का ही सूत्ररूप है । इन्होंने इसके शाब्द और आर्थ भेद भी निरूपित किये हैं ।

---

२३२. भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम् ।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्य तदुच्यते ।। काव्यालं०, भा० २.८६

२३३. उपमेयोपमानानां क्रमसंबन्धः क्रमः । काव्यालं०, सू० ४.३.१७

जयदेव प्रोक्त यथासंख्य का स्वरूप यह है—

यथासंख्यं द्विधार्थाश्चेत् क्रमादेकैकमन्विताः ।
शत्रुं मित्रं द्विषत्पक्षं जय रञ्जय भञ्जय ॥ च० ५.९२

द्विधाविभक्त अर्थ यदि क्रमशः परस्पर एक-एक से अन्वित होते हों तो यथासंख्य अलंकार होता है । टीकाकारों ने उदाहरण को दृष्टि में रखते हुए 'क्रिया-कारक रूप द्विधा अर्थ' यह व्याख्या कर ली है। किन्तु ऐसा सीमाबन्धन करना उचित प्रतीत नहीं होता । 'द्विधा अर्थाः' से दो अर्थ-परम्पराएँ ही विवक्षित हैं ।

दीक्षित ने चन्द्रालोक के लक्षण को उपेक्षित कर मम्मट का ही लक्षण ले लिया है । स्वल्प परिवर्तन कर 'शत्रुं' और 'द्विषत्पक्षं' की पुनरुक्ति को भी निवारित कर दिया है—

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ।
शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जय ॥ कु० १०९

८२. पर्याय

रुद्रट ने पर्यायालंकार के दो भेद प्रदर्शित किये थे । उनमें से प्रथम में व्यङ्ग्य-व्यञ्जकता का पुट था, अतः वह ध्वनि की उद्‌भावना हो जाने के पश्चात् उपेक्षित हो गया । दूसरा था सुखादिस्वरूप एक वस्तु का अनेक में या अनेक वस्तुओं का एक में क्रम से होना अथवा किया जाना[२३४] । मम्मट और रुय्यक ने इसी को अपने शब्दों में लिख दिया है—

एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः[२३५] अन्यस्ततोऽन्यथा । का० प्र० १०.११७
एकमनेकस्मिन् अनेकमेकस्मिन् क्रमेण पर्यायः । अ० स० ६०

जयदेव ने एक ही भेद लिखा है । वे एक वस्तु के अनेक में समन्वय को ही पर्याय कहते हैं । 'भवति' और 'क्रियते' ये दोनों उसमें समाविष्ट हो सकते हैं ।

पर्यायश्चेदनेकत्र स्यादेकस्य समन्वयः ।
पद्‌मं मुक्त्वा गता चन्द्रं कामिनीवदनोपमा ॥ च० ५.९३

उदाहरण में 'कामिनीमुख का साम्य पहले पद्‌म में था, फिर उसे छोड़ कर चन्द्र में चला गया' इस प्रकार एक की अनेक में क्रमशः स्थिति कही गई है । इनके लक्षण में क्रम का निर्देश स्पष्टतः नहीं हो पाया है, यद्यपि 'समन्वयः' से कथंचित् उसकी प्रतीति हो जाती है । अतः दीक्षित ने इसका संशोधित रूप यह लिखा है—पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेकसंश्रयः (कु० ११०) । इन्होंने संकोचपर्याय और विकास-पर्याय के भी उदाहरण दिये हैं । पर्याय का दूसरा भेद भी, जिसे जयदेव ने नहीं लिखा, इन्होंने नवीन कारिका रचकर प्रदर्शित कर दिया है ।

---

२३४. यत्रैकमनेकस्मिन्ननेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात् ।
वस्तु सुखादिप्रकृति क्रियते वान्यः स पर्यायः ॥ काव्यालं०, रु० ७.४४

२३५. वृत्ति में होना और किया जाना दोनों रूप आ गये हैं—एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन् भवति क्रियते वा स पर्यायः । अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः । 'क्रियते' वहां होगा जहां प्रयोजक का निर्देश हो ।

एकस्मिन् यद्यनेकं वा पर्यायः सोऽपि संमतः ।
अधुना पुलिनं तत्र यत्र स्रोतः पुराजनि ।। कु० १११

८३. परिवृत्ति

परिवृत्ति का अर्थ विनिमय या अदेला-बदली है । भामह ने हीन वस्तु देकर विशिष्ट वस्तु के आदान को परिवृत्ति कहा था[२३६] । उदाहरण दिया था—प्रदाय वित्तमर्थिभ्यः स यशोधनमादित । उद्भट ने समपरिवृत्ति, न्यूनपरिवृत्ति और विशिष्ट परिवृत्ति ये तीन भेद किये—

समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्यचित् परिवर्तनम् ।
अर्थानर्थस्वभावं यत् परिवृत्तिरभाणि सा ।। का० सा० सं० ५.३१

वामन, रुद्रट, भोज आदि ने भी इसके अपने-अपने लक्षण किये हैं । मम्मट और रुय्यक ने उद्भट का ही अनुसरण किया है—

परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः । का० प्र० १०.११३
समन्यूनाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः । अ० स० ६२

जयदेव ने समपरिवृत्ति का उल्लेख नहीं किया, केवल न्यून तथा अधिक के विनिमय में ही यह अलंकार माना है । सम से सम के विनिमय में संभवतः उन्हें चमत्कार प्रतीत नहीं हुआ । उदाहरण में न्यून से अधिक का विनिमय है ।

परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः ।
जग्राहैकं शरं मुक्त्वा कटाक्षान् शत्रुयोषिताम् ।। च० ५.६४

दीक्षित ने 'कटाक्षात् शत्रुयोषिताम्' के स्थान पर 'कटाक्षात् स रिपुश्रियम्' पाठ कर दिया है, तथा रुय्यकप्रदत्त 'तस्य च प्रवयसः' आदि एक उदाहरण अधिक दिया है । अधिक से न्यून के विनिमय का उदाहरण इन्होंने भी नहीं दिया । रुय्यक ने इसका यह उदाहरण दिया था—

किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम् ।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ।।

८४. परिसंख्या

सर्वप्रथम रुद्रट ने इसका वर्णन किया था[२३७] । इन्हीं के लक्षण को सरल रूप में मम्मट ने इस रूप में कहा है—

किंचित् पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ।। का० प्र० १०.११९

वृत्ति में इन्होंने स्पष्ट किया है कि व्यपोह्यमान वस्तु वाच्य भी हो सकती है और प्रतीयमान भी । इस प्रकार प्रश्नपूर्विका तथा अप्रश्नपूर्विका के वाच्या (शाब्दी) और प्रतीयमाना (आर्थी) ये दो-दो प्रकार होकर परिसंख्या के कुल चार भेद हो जाते हैं । रुय्यक ने भी ये चारों भेद निरूपित किये हैं तथा लक्षण यह लिखा है—

---

२३६. विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः । काव्यालं०, भा० ३.४१
२३७. काव्यालं०, रु० ७.७९

एकस्यानेकत्र प्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या । अ० स० ६३

जयदेव कृत लक्षण रुय्यकानुसारी है । उदाहरण इन्होंने अप्रश्नपूर्विका शाब्दी परिसंख्या का दिया है—

परिसंख्या निषिध्यैकमन्यस्मिन् वस्तुयन्त्रणम् ।
स्नेहक्षयः[२३८] प्रदीपेषु स्वान्तेषु न नतभ्रुवाम् ।। च० ५.६५

दीक्षित ने अन्यस्मिन् के स्थान पर एकस्मिन् तथा 'स्वान्तेषु न' के स्थान पर 'न स्वान्तेषु' कर दिया है, तथा वृत्ति में दूसरा शाब्दी परिसंख्या का उदाहरण भी दे दिया है ।

८५. विकल्प

इसके आविष्कर्ता रुय्यक हैं, उन्होंने स्वयं ऐसा संकेत किया है । जयदेव, अप्पय दीक्षित और विश्वनाथ ने भी इसे माना है । यह अलंकार समुच्चयालंकार का प्रतिपक्षी है । तुल्य वल वाली परस्पर विरुद्ध दो वस्तुओं का यौगपद्य असंभव होने के कारण उनमें से एक विकल्प को ग्रहण करने के लिए कहना विकल्पालंकार कहाता है—

तुल्यबलविरोधो विकल्पः । अ० स० ६५

'नमन्तु शिरांसि धनूंषि वा, कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा मौर्व्यो वा' आदि इसका उदाहरण है । यह श्लेषमूलक भी होता है, यथा 'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी...नेत्रे तनुर्वा हरेः' ।

जयदेव ने रुय्यक के लक्षण में 'चातुरीयुतः' का अधिक योग कर लक्षण-उदाहरण इस प्रकार लिखा है—

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः ।
कान्ताचित्तेऽधरे वापि कुरु त्वं वीतरागताम् ।। च० ५.६६

'चातुरीयुतः' कहने से व्रीहियवादि का लोकसाधारण विकल्प यहाँ गृहीत नहीं होता, ऐसा रमाटीकाकार का कथन है । वस्तुतः चातुरीयुतत्व या कविप्रतिभोत्थितत्व तो सभी अलंकारों के लिए अनिवार्य है । उदाहरण खण्डिता नायिका की उक्ति है । वह नायक को कहती है कि तुम मेरे हृदय में अनुरागशून्यता को करो या अपने अधर में अन्यनारीचुम्बनजनित रक्तिमा के अभाव को करो । दीक्षित ने इस कारिका को इस रूप में परिवर्तित कर दिया है—

विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पालंकृतिर्मता ।
सद्यः शिरांसि चापान् वा नमयन्तु महीभुजः ।। कु० ११४

८६. समुच्चय

दण्डी ने समुच्चयोपमा का उल्लेख किया था । किन्तु पृथक् अलंकार के रूप में समुच्चय सर्वप्रथम रुद्रट के काव्यालंकार में ही प्राप्त होता है । इनके वास्तवमूलक तथा औपम्यमूलक दोनों अलंकारवर्गों में यह पठित है । वहां इसके कई भेद वर्णित हुये हैं । भोज ने अनेक द्रव्य, क्रिया, गुणादि के क्रिया, द्रव्य, गुणादि में निवेशन को

---

२३८. पाठान्तर : "स्नेहस्त्वयं प्रदीपेषु न स्वान्तेषु नतभ्रुवाम्" ।

समुच्चय कहा, तथा इसके अन्य भी कतिपय रूपों का दिग्दर्शन कराया। परन्तु भेदोप-भेदों का अधिक विस्तार आगे अभिमत नहीं रहा। मम्मट ने इसके प्रमुख दो भेद किये हैं—१. प्रस्तुत कार्य की सिद्धि में एक साधक के पर्याप्त रहते हुए अन्य साधकों का भी योग हो जाये। यह सद्योग, असद्योग और सदसद्योग के भेद से त्रिविध होता है। २. जहां गुण-क्रियाओं का यौगपद्य वर्णित हो। इसके भी तीन रूप हो सकते हैं—गुणयौगपद्य, क्रियायौगपद्य और गुणक्रियायौगपद्य। रुद्रट ने तो ये यौगपद्य व्यधिकरण में ही माने थे, पर इनके अनुसार ये 'धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिम्' के समान एकाधिकरण में भी सम्भव हैं। मम्मट की लक्षणकारिका यह है—

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत्।
समुच्चयोऽसौ स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रियाः॥ का० प्र० १०.११६

रुय्यक ने इसी को दो सूत्रों में लिख दिया है[२३९]। वाग्भट-प्रथम अत्युत्कृष्ट या अत्यपकृष्ट वस्तुओं के एकत्र निबन्धन को समुच्चय कहते हैं[२४०]। एवं इन्होंने सद्योग और असद्योग ये दो ही भेद माने हैं।

जयदेव ने विभिन्न भेदों को न परिगणित कर सामान्य लक्षण लिखा है, जिसमें वाग्भटोक्त दोनों भेदों अथवा मम्मट के द्वितीय भेद के तीनों रूपों का समाहार सम्भव है। अनेकों का एक के साथ सम्बन्ध जहां प्रदर्शित हो, ऐसी रचना को ये समुच्चय कहते हैं। अन्य अलंकारों में अतिव्याप्ति होने से लक्षण की दृष्टि से यह सदोष है। इन्होंने जो उदाहरण दिया है वह क्रियायौगपद्य का है तथा वे क्रियाएं एकाधिकरण हैं।

भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः।
नश्यन्ति पश्चात् पश्यन्ति भ्रश्यन्ति च तव द्विषः॥ च० ५.६७

दीक्षित ने चन्द्रालोक की इस कारिका में यह संशोधन प्रस्तुत किया है—

बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः।
नश्यन्ति पश्चात् पश्यन्ति त्रस्यन्ति च भवद् द्विषः॥ कु० ११५

साथ ही मम्मटकृत प्रथम भेद को भी ये स्वीकार करते हैं, तथा उसके लिए इन्होंने पृथक् कारिका विरचित कर ली है।

८७. समाधि

इसका प्रथम संकेत भोज के सरस्वतीकंठाभरण में दृष्ट होता है। इनके अनुसार अन्य के धर्मों का अन्यत्र आरोपण समाधि है[२४१]। यथा, दूरप्रतिबद्धरागेऽवगूहमाने दिनकरेऽपरदिशम्' आदि में नायकगत धर्म का सूर्य में आरोप हुआ है। परन्तु यह

---

२३९. गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः। एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्करत्वं च।
अ० स० ६६, ६७

२४०. एकत्र यत्र वस्तूनामनेकेषां निबन्धनम्।
अत्युत्कृष्टापकृष्टानां तं वदन्ति समुच्चयम्॥ वा० भ० ४.१३०

२४१. समाधिमन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः॥ सर० कण्ठा० ४.४४

समाधि उत्तरवर्ती ग्रालंकारिकों को स्वीकृत नहीं हुई। प्रचलित समाधि ग्रलंकार मम्मट से ग्रारम्भ हुग्रा है। इनके मत में कारणान्तर के योग से ग्रनायास ही कार्य का सिद्ध हो जाना समाधि ग्रलंकार है[२४२]। यथा—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम्॥

रुय्यक का भी लक्षण-उदाहरण यही है[२४३]। जयदेव का लक्षण भी इन्हीं का ग्रनुसरण करता है।

समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसंनिधेः।
उत्कण्ठितां च कलयन् जगामास्तं च भानुमान्॥ च० ५.९८

उदाहरण सदोष है। दीक्षित के संशोधन से यह निर्दुष्ट हो गया है—

उत्कण्ठिता च तरुणी जगामास्तं च भानुमान्।

८८. प्रत्यनीक

प्रत्यनीक ग्रलंकार सर्वप्रथम रुद्रट ने निरूपित किया। इन्होंने उदाहरण तो ठीक दिया है, किन्तु लक्षण में जटिलता है। मम्मट ने इसे स्पष्ट भाषा में लिख दिया। जहाँ शत्रु को साक्षात् तिरस्कृत न कर सकने के कारण तत्सम्बन्धी का तिरस्कार प्रदर्शित किया जाये, जिससे शत्रु का उत्कर्ष प्रतीत होता है, वहाँ प्रत्यनीक ग्रलंकार होता है।

प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते॥ का० प्र० १०.१२९

रुय्यक ने भी यही कहा[२४४]। जयदेव ने भी इसी को संक्षिप्त कर दिया है। शत्रु पर पराक्रम न दिखाकर तत्पक्षियों पर पराक्रम न दिखाना प्रत्यनीक कहलाता है। यथा, उत्पल स्वविजयी नेत्रों का तो तिरस्कार कर न सके, कानों पर ग्रारूढ होकर नेत्रानुगामी कानों को उन्होंने नीचा दिखा दिया।

प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।
जैत्रनेत्रानुगौ कर्णावुत्पलाभ्यामधः कृतौ॥ च० ५.९९

दीक्षित ने इसमें कुछ परिवर्तन नहीं किया, केवल दो उदाहरण नवीन दे दिये हैं।

८९. प्रतीप

प्रतीप के प्रवर्तक भी रुद्रट ही हैं। इनके ग्रनुसार उपमेय की ही ग्रत्यन्तस्तुति करने के लिए उसके तुल्य भी उपमान को दुरवस्था-पतित दिखाकर उस पर ग्रनुकम्पा प्रदर्शित की जाये ग्रथवा उसकी निन्दा की जाये तो प्रतीप ग्रलंकार होता है[२४५]।

---

२४२. समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः। का० प्र० १०.१२५
२४३. कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः। ग्र० स० ६८
२४४. प्रतिपक्षप्रतीकाराशक्तौ तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकम्। ग्र० स० ६९
२४५. काव्यालं०, रु० ८.७६

अनुकम्पा और निन्दा दोनों के उदाहरण भी इन्होंने दिये हैं। मम्मट ने इसके मुख्य दो भेद किये हैं—१. उपमान के प्रयोजन को उपमेय ही पूर्ण करने में समर्थ है, अतः उपमान की रचना भला क्यों की गई, इस प्रकार कैमर्थ्य-न्याय से उसे व्यर्थ बताना, २. तिरस्कृत करने लिए उपमान को उपमेय बना देना।

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥ का० प्र० १०.१३३

रुय्यक का लक्षण भी ऐसा ही है[२४६]। **जयदेव** ने इसका सामान्य लक्षण किया है। उपमेय से उपमान की हीनता बताना प्रतीप है। व्यतिरेक इससे भिन्न इस कारण है, क्योंकि वहाँ उपमेय की विशेषता बताने का चमत्कार होता है, जबकि यहां उपमान की हीनता प्रदर्शित करने का।

प्रतीपमुपमानस्य हीनत्वमुपमेयता ।
दृष्टं चेद् वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना ॥ च० ५.१००

दीक्षित ने प्रतीपालंकार पंचविध वर्णित किया है। १. उपमान की उपमेयत्व-कल्पना (इसे चन्द्रालोक में प्रतीपोपमा कहा गया है, यह हम पूर्व देख चुके हैं), २. अन्योपमानलाभ से वर्ण्य का अनादर, ३. वर्ण्योपमेयलाभ से अन्य का अनादर, ४. अवर्ण्य में वर्ण्य उपमिति की अनिष्पत्ति, ५. कैमर्थ्यन्याय से उपमान की व्यर्थता बताना। जयदेवप्रदत्त उपर्युक्त उदाहरण कुवलयानन्द में पंचम भेद का है।

९०. उल्लास

यह अलंकार जयदेव ने ही उद्भावित किया है। इनके अतिरिक्त इस पर अप्पय दीक्षित और जगन्नाथ ने ही विचार किया है। चन्द्रालोक-प्रतिपादित इसका स्वरूप यह है—

उल्लासोऽन्यमहिम्ना चेद् दोषो ह्यन्यत्र वर्ण्यते ।
तदभाग्यं धनस्यैव यन्नाश्रयति सज्जनम् ॥ च० ५.१०१

एक की महिमा से अन्यत्र दोप वर्णित करना उल्लास अलंकार है। यथा, यह धन का ही दौर्भाग्य है कि वह सज्जन का आश्रय नहीं लेता। यहाँ सज्जन की महिमा के कारण उसके अर्थहीन होने में उसे दोषी न कहकर धन को ही दोषी बताया गया है।

दीक्षित ने कुवलयानन्द में इसे चार भेदों में विभक्त कर दिया है। इनका उल्लास का परिवर्तित लक्षण इस प्रकार है—

एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि ॥ कु० १३३

अर्थात् जहां एक के गुण-दोषों से किसी अन्य के गुण-दोषों को वर्णित किया जाये वहां उल्लास अलंकार होता है। इसमें निम्नलिखित चार स्थितियाँ हो सकती हैं—

१. गुण से गुण—अपि मां पावयेत् साध्वी स्नात्वेतीच्छति जाह्नवी'। गंगा यह इच्छा रखती है कि यह पतिव्रता स्नान करके मुझे पवित्र कर दे। यहां पतिव्रता के महिमा-गुण से गंगा के पवित्रता-गुण का वर्णन है।

---

२४६. उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम्। अ० स० ७०

२. दोष से दोष—'काठिन्यं कुचयोः स्रष्टुं वाञ्छन्त्यः पादपद्मयोः। निन्दन्ति च विधातारं त्वद्धाटीष्वरियोषितः' ॥ हे राजन्, आपके युद्धप्रयाण करने पर आपके शत्रुओं की नारियाँ यह कहकर विधाता की निन्दा करती हैं कि उसने कुचों की कठोरता चरणकमलों में क्यों नहीं रख दी। यहाँ चरणों के कोमलता रूपी दोष से विधाता में विरूप रचना का दोष वर्णित हुआ है।

३. गुण से दोष—इसका उदाहरण वही है जो ऊपर चन्द्रालोक की कारिका में आ चुका है।

४. दोष से गुण—'लाभोऽयमेव भूपालसेवकानां न चेद् वधः'। यदि राजसेवकों का वध नहीं होता, तो यह उनका लाभ ही है। यहाँ राजा के क्रूरता रूपी दोष से राजसेवकों का बिना वध के बच निकलना रूपी गुण उत्पन्न हुआ है।

दीक्षित का कथन है कि इनमें से प्रथम और चतुर्थ का तो उल्लास नाम सार्थक है, मध्य के दोनों के लिए यह नाम छत्रिन्याय से लाक्षणिक है।

पंडितराज ने भी इसे उक्त प्रकार से चतुर्धा व्याख्यात किया है। उदाहरण भिन्न हैं। अन्त में वे लिखते हैं कि कुछ के मत में यह काव्यलिङ्ग से गतार्थ हो जाता है, तथा कुछ इसे लौकिक अर्थमात्र होने से अलंकारकोटि में ही नहीं मानते।

९१. तद्गुण

रुद्रट के काव्यालंकार में ही तद्गुण के प्रथम दर्शन होते हैं। इन्होंने इसे द्विविध कहा है। प्रथम वह है जहाँ समान गुण वाली वस्तुओं का योग होने पर वस्तुतः उनके लक्ष्य रूप होते हुए भी उनमें अन्तर न लक्षित होने का वर्णन हो। जैसे, नवधौतधवलवसना अभिसारिकाओं का चन्द्रिका छिटकी होने पर अन्यों से दृष्ट न होना। द्वितीय, वह जिसमें असमान गुण वाली वस्तु प्रभूत गुण वाली वस्तु से संसृष्ट होकर उसी का गुण धारण कर लेती है। यथा, स्वर्णभास्वर कंठ में पड़ी हुई शुभ्र भी कुब्जकमाला का चम्पकदाम प्रतीत होना। बाद में ये दोनों भेद एक ही में अन्तर्भूत हो गये। मम्मट ने दोनों को मिलाकर यह लक्षण प्रस्तुत किया—

स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत्।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥ का० प्र० १०.१३७

रुय्यक ने इसे ही सूत्ररूप में कर दिया—

स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तदगुणः। अ० स० ७३

जयदेव का लक्षण भी इसी के अनुरूप है। इन्होंने उदाहरण दिया है, नाक के शुभ्र मोती का अधर की लाली से पद्मराग के समान अरुण हो जाना।

तद्गुणः स्वगुणस्यागादन्यतः स्वगुणोदयः।[२४७]
पद्मरागारुणं नासामौक्तिकं तेऽधराश्रितम् ॥ च० ५.१०२

दीक्षित ने लक्षण और उदाहरण को स्वल्प परिवर्तन से चमका दिया है—

तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः।
पद्मरागायते नासामौक्तिकं तेऽधरत्विषा ॥ कु० १४१

---

२४७. पाठान्तरः 'तद्गुणः स्वगुणत्यागे स्वस्मिन् परगुणोदयः'

९२. पूर्वरूपता

इस अलंकार को जयदेव ने ही कल्पित किया है। अन्य आलंकारिक इसे तद्गुण में अन्तर्भूत मानते हैं। चन्द्रालोक में इसके दो भेद वर्णित किये गये हैं। प्रथम पूर्वरूपता वह है जहाँ तद्गुण अलंकार द्वारा अन्य वस्तु का गुण स्वीकार कर लेने के पश्चात् कोई वस्तु पुनः अपने गुण को प्राप्त कर लेती है। यथा, किसी राजा की स्तुति में कवि कहता है कि शिवजी के गले में धवल शेषनाग को गले की नीलकान्ति से नीलवर्ण दिखाई देना चाहिए था, किन्तु आपकी उज्ज्वल कीर्ति से वह पुनः श्वेत होकर श्वेत ही दृष्टिगोचर होता है—

पुनः स्वगुणसम्प्राप्तिर्विज्ञेया पूर्वरूपता।
हरकण्ठांशुलिप्तोऽपि शेषस्त्वद्यशसा सितः॥ च० ५.१०३

इसी से मिलता-जुलता उदाहरण माघ का निम्न श्लोक है, जिसे मम्मट, रुय्यक आदि ने तद्गुण के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है; किन्तु अप्पय दीक्षित ने पूर्वरूप के उदाहरण के रूप में—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः॥

जो इसमें तद्गुण मानते हैं, उनके अनुसार यहां दो बार तद्गुणालंकार प्रयुक्त हुआ है[२४८]। पंडितराज के तद्गुण के निम्न उदाहरण में भी जयदेव के अनुसार पूर्वरूपतालंकार होगा। इन्होंने स्वयं भी संकेत कर दिया है कि कुछ इसे पूर्वरूप मानते हैं।

अधरेण समागमाद् रदानामरुणिम्ना पिहितोऽपि शुद्धभावः।
हसितेन सितेन पक्ष्मलाक्ष्याः पुनरुल्लासमवाप जातपक्षः॥

जयदेव की द्वितीय पूर्वरूपता का स्वरूप है—सचमुच अन्यथाकृत वस्तु का पुनः अपने रूप को प्राप्त कर लेना। यथा, दीपक के बुझा देने पर प्रकाश अन्धकार रूप में अन्यथाकृत हो गया। तदनन्तर नायिका द्वारा पहनी हुई कांची के रत्नों से पुनः प्रकाश होने लगा—

यद् वस्तुनोऽन्यथारूपं तथा स्यात् पूर्वरूपता।
दीपे निर्वापिते ह्यासीत् काञ्चीरत्नैरहर्महः॥ च० ५.१०४

प्रथम तथा द्वितीय पूर्वरूपता में परस्पर अन्तर यह है कि प्रथम में तो वस्तु का गुण दूसरी वस्तु के गुण से आच्छादितमात्र हुआ था, विकृत नहीं, किन्तु दूसरी में वह वस्तुतः विकृत या नष्ट हो जाता है।

दीक्षित ने इस अलंकार को पूर्वरूपता के स्थान पर पूर्वरूप कहा है। द्वितीय पूर्वरूप के लक्षण में यह संशोधन कर दिया है—पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि (कु० १४३)। द्वितीय पूर्वरूप का एक सुन्दर उदाहरण 'द्वारं खड्गिभिरावृतं' आदि अधिक दिया है।

---

२४८. अत्र रविरथाश्वानामरुणवर्णस्वीकारः, तस्यापि गारुत्मतमणिप्रभास्वीकार इति तद्गुणत्वम्। रुय्यक

९३. अतदगुण

भोज ने तद्गुण और अतद्गुण को अपने 'वस्तुना वस्त्वन्तरतिरस्कार' रूप मीलित का ही अंग माना था। अतद्गुण मीलित का जो उदाहरण 'कर्कन्धूफल-मुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाकांक्षिणी' आदि इन्होंने दिया है, उसमें वस्तुतः तद्गुण अलंकार है। अतः इनकी अतद्गुण की परिभाषा ही भिन्न है[२४९]। वस्तुतः जिसे अतद्गुण अलंकार कहा जाता है उसे सर्वप्रथम मम्मट ने निरूपित किया है। योग्यता होने पर भी यदि न्यून गुण वाली वस्तु अधिक गुण वाली वस्तु के गुण को ग्रहण न करे, अथवा अपकृत वस्तु के रूपादि को प्रकृत वस्तु किसी कारण से स्वीकार न करे तब अतद्गुण अलंकार होता है। इसके मम्मट और रुय्यक कृत लक्षण ये हैं—

तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुणः। का० प्र० १०.१३८
सति हेतौ तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः। अ० स० ७४

तदनुसार ही जयदेव का लक्षण है। उदाहरण दिया है—'सूर्य के मध्य में प्रवेश करता हुआ भी चन्द्रमा सदा शीतल ही रहता है'।

सङ्गतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम्।
विशन्नपि रवेर्मध्यं शीत एव सदा शशी॥ च० ५.१०५

यह उदाहरण ज्योतिर्विदों के ही बुद्धिगम्य होने के कारण दीक्षित ने परिवर्तित कर दिया है—चिरं रागिणि मच्चित्ते निहितोऽसि न रञ्जसि (कु० १४४)। 'गण्डाभोगे विहरति मदैः' आदि एक उदाहरण इन्होंने और दिया है। साथ ही उल्लास और अवज्ञा अलंकारों से तद्गुण और अतद्गुण का अन्तर भी स्पष्ट किया है। यह भी प्रतिपादित किया है कि यद्यपि अवज्ञा और अतद्गुण विशेषोक्ति अलंकार के ही भेद हैं, तथापि उल्लास और तद्गुण की प्रतिद्वन्द्विता में इनका विशेष चमत्कार होने से इन्हें पृथक् अलंकार के रूप में वर्णित किया है।

९४. अनुगुण

जयदेव द्वारा ही उद्भावित यह अलंकार वहां होता है जहां अन्य के सान्निध्य से प्राक्सिद्ध अपने गुणों में उत्कर्ष आता हो उदाहरणार्थ, नायक नायिका के कर्णावतंसीकृत नीलोत्पलों की शोभा का वर्णन करता हुआ कह रहा है कि कर्णोत्पलों का स्वभाव से सिद्ध नील गुण तुम्हारे कटाक्षों से और अधिक नीलिमा को प्राप्त कर रहा है।

[२५०]**प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः।**
कर्णोत्पलानि दधते कटाक्षैरपि नीलताम्॥ च० ५.१०८

तद्गुण अलंकार से इसका भेद यह है कि तद्गुण में विषम रूप दूसरे रूप

---

२४९. अत्र कर्कन्धूफलानाम् अपगतनिजगुणत्वाद् अतद्गुणत्वाद् अतद्गुणाख्यं मीलितमिदम्। सर० कंठा० ३.४१ वृत्ति

२५०. पाठान्तरः प्राक्सिद्धिः स्वगुणोत्कर्षो। राकागम० इनके मत में इस अलंकार का नाम प्राक्सिद्धि है।

को प्रभावित करता है, यहां सम। इतर आलंकारिक अनुगुण को भी तद्गुण का ही एक भेद मानते हैं।

दीक्षित ने इस अलंकार को इसी रूप में स्वीकार कर लिया है, केवल उदाहरण में 'अपि' के स्थान पर 'अति' कर दिया है। परन्तु यहां चन्द्रालोक का ही पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

९५. अवज्ञा

यह अलंकार भी जयदेव द्वारा ही उद्भावित है। किसी वस्तु के सम्बन्ध में अवज्ञा या अवहेलना प्रदर्शित की जाये, अर्थात् यह दर्शाया जाये कि उसके होने से न कोई गुण है, न हानि, तब अवज्ञालंकार होता है। यथा, 'चन्द्रमा के उदय होने पर यदि कमल म्लान होते हैं तो उससे चन्द्रमा की क्या हानि है'। चन्द्रमा तो अमृतद्युति है, और वैसा ही रहता है। हानि तो कमलों की ही होती है जो उसके अमृत से लाभ नहीं उठाते।

अवज्ञा वर्ण्यते वस्तु गुणदोषाक्षमं यदि।
म्लायन्ति यदि पद्मानि का हानिरमृतद्युतेः॥ च० ५.१०७

यह उल्लास अलंकार का विलोम है। अतएव कुवलयानन्द में इसे उल्लास के पश्चात् ही रखा गया है। दीक्षित ने कहा है कि एक के गुण-दोष से अन्य में गुण-दोष आते हों तो उल्लास अलंकार होता है, और इसके विपरीत एक के गुण-दोष से अन्य में गुण-दोष न आने का वर्णन हो तो अवज्ञालंकार—

एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि।
ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा॥

चन्द्रालोक का उदाहरण एक के दोष से दूसरे में दोष न आने का है। एक के गुण से दूसरे में गुण न आने का उदाहरण दीक्षित ने यह दिया है—'स्वल्पमेवाम्बु लभते प्रस्थं प्राप्यापि सागरम्' (कु० १३६)। सेर भर का पात्र प्रस्थ सागर में भी चला जाये तो भी स्वल्प ही जल ले पाता है। यहां सागर का गुण प्रस्थ में नहीं आया। दोनों का एक-एक उदाहरण दीक्षित ने और भी दिया है। पंडितराज लिखते हैं कि विशेषोक्ति से ही गतार्थ हो जाने के कारण कुछ लोग इसे अलंकारान्तर स्वीकार नहीं करते।

९६. प्रश्नोत्तर या उत्तर

उत्तर अलंकार के नाम से इसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया है। उनके मत से यह अलंकार वास्तवमूलक भी है और औपम्यमूलक भी। प्रथम के दो भेद किये है—१. उत्तर से प्रश्न का अनुमान, २. प्रश्न होने पर उत्तर देना। द्वितीय है किसी वस्तु का ज्ञात से भिन्न स्वरूप पूछने पर ऐसी वस्तु का नाम लेना जो वह न होकर तत्समान हो, जैसे 'किं मरणं ? दारिद्र्यम्।' आदि। इसी का आधार लेकर मम्मट ने इसके निम्न दो भेद वर्णित किये—

१. उत्तरश्रुतिमात्रतः प्रश्नस्य उन्नयनम्।
२. असकृत् प्रश्ने सति असंभाव्यम् उत्तरम्।

रुय्यक ने भी उत्तरालंकार का यही स्वरूप निर्धारित किया[२५१]। द्वितीय का दोनों ने एक ही प्राकृत पद्य दिया है, जिसकी संस्कृत छाया यह है—

का विषमा दैवगतिः किं लब्धव्यं यज्जनो गुणग्राही।
किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुःखं यत् खलो लोकः॥

परिसंख्या से इसका अन्तर यह बताया है कि परिसंख्या में तो अन्यव्यपोह में तात्पर्य होता है, जब कि यहां वाच्य में ही विश्रान्ति हो जाती है।

जयदेव ने इसे प्रश्नोत्तर कहा है तथा इस अलंकार का लक्षण-उदाहरण निम्न कारिका में निरूपित किया है—

प्रश्नोत्तरं क्रमेणोक्तौ स्यूतमुत्तरमुत्तरम्।
यत्रासौ वेतसी पान्थ तत्रासौ सुतरा सरित्॥ च० ५.१०८

लक्षण स्पष्ट नहीं है। रमा टीका में प्रदर्शित विकल्पों के अनुसार किसी ने यहां प्रश्नोत्तर अलंकार माना है, किसी ने स्यूत और किसी ने उत्तर। राकागम टीका में लक्षण की एक ही व्याख्या दी गई है जो रमाटीका में भी सर्वप्रथम उल्लिखित है। (क्रमेण उक्तौ) क्रमशः प्रश्न या उत्तर में से एक की उक्ति होने पर, (उत्तरम्) उसके पश्चात्, (स्यूतम् उत्तरम्) उससे सम्बद्ध उत्तरवर्ती की प्रतीति जो उत्तर रूप होती है या प्रश्नरूप, (प्रश्नोत्तरम्) प्रश्नोत्तर अलंकार कहलाती है। आशय यह निकला कि प्रश्न से उत्तर का या उत्तर से प्रश्न का अनुमान होने में भी यह अलंकार होता है[२५२]। इस व्याख्या में यह विशेष है कि प्रश्न से उत्तर का अनुमान होने में भी यह अलंकार माना है, जो प्राचीनों ने नहीं कहा था। उत्तरार्ध इसका उदाहरण है। "हे पथिक, जहां वह वेतसीनिकुंज है, वहां पर नदी सुकरता से पार की जा सकती है।" किसी नारी के इस उत्तररूप वाक्य से पथिक के इस प्रश्न का अनुमान हो जाता है कि नदी को कहां से पार करना चाहिये। साथ ही उत्तर में यह गूढाशय भी है कि वेतसीकुंज में हम दोनों परस्पर मिलन का आनन्द ले सकते हैं। इससे प्रश्नगत इस गूढाशय का भी भान हो जाता है कि कौन सा स्थान हमारे मिलन के लिए उपयुक्त होगा। उपर्युक्त वाक्य ही प्रश्न से उत्तर के अनुमान का भी हो सकता है, यद्यपि किसी टीकाकार ने इसे इस रूप में व्याख्यात किया नहीं है। "हे पान्थ, क्या जहां वह वेतसी-कुंज है, वहीं पर नदी सुगमता से पार करने योग्य है?" यह किसी बटोहिन का उस बटोही से प्रश्न है जो पहले से वहां खड़ा है। इससे पथिक के स्वीकारात्मक उत्तर का अनुमान हो जाता है।

लक्षण की एक व्याख्या यह की जा सकती है कि इसमें एक अलंकार न होकर प्रश्नोत्तर तथा उत्तर दो अलंकार हैं। प्रथम चरण में प्रश्नोत्तर का लक्षण है—क्रमेण उक्तौ प्रश्नोत्तरम्। जहां क्रमशः प्रश्न और उत्तर वाच्य रूप में पाये जाते हों वहां प्रश्नोत्तर अलंकार होता है। फिर द्वितीय चरण में उत्तर अलंकार लक्षित किया गया

---

२५१. उत्तरात् प्रश्नोन्नयनम् असकृदसंभाव्यमुत्तरं चोत्तरम्। अ० स० ७५
२५२. प्रश्नेन उत्तरकल्पने, उत्तरेण वा प्रश्नकल्पने प्रश्नोत्तरालंकारः। राकागम०

है—स्यूतम् उत्तरम् उत्तरम् । जहां ऐसा उत्तर हो कि उसमें प्रश्न भी अनुस्यूत दिखाई देता हो अर्थात् आक्षेपलभ्य हो, वहां उत्तरालंकार होता है। इस व्याख्या में यह मानना होगा कि उदाहरण दोनों का न देकर केवल द्वितीय का दिया है।

दीक्षित ने इस अलंकार को उत्तर ही कहा है तथा लक्षण इस रूप में बदल दिया है—किंचिदाकूतसहितं स्याद् गूढोत्तरमुत्तरम्। अर्थात् साभिप्राय गूढ उत्तर को उत्तरालंकार कहते हैं। उदाहरण चन्द्रालोक वाला ही है, तथा उसमें क्या गूढ अभिप्राय सम्भव है यह ऊपर देख चुके हैं। यहां प्रश्न उन्नेय है। इसका दूसरा भेद निबद्धप्रश्नोत्तर रूप भी कुवलयानन्द में आया है, जिसका उदाहरण यह दिया गया है—

कुशलं तस्या जीवति, कुशलं पृच्छामि जीवतीत्युक्तम् ।
पुनरपि तदेव कथयसि, मृतां नु कथयामि या श्वसिति ॥

यहां भी गूढाशय है। इसके अतिरिक्त दीक्षित ने भोज के शब्दालंकार प्रश्नोत्तर के अनुरूप चित्र-उत्तर भी लक्षित किया है—

प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते ।
के दारपोषणरताः के खेटाः किं चलं वयः ॥ कु० १५०

६७. पिहित

रुद्रट ने पिहित नाम का एक अलंकार माना था। इनके अनुसार जहां अति प्रबल होने के कारण कोई गुण एक ही आधार वाली, असमान, आविर्भूत हुई भी इतर वस्तु को आच्छादित कर ले, वहां पिहित अलंकार होता है[२५३]। यथा, 'इन्दुकला-कोमलकान्तिकलाप वाले तुम्हारे अंगों में प्रियतमवियोगजनित कृशता कैसे लक्षित हो?"

परन्तु जयदेव-वर्णित पिपित इससे सर्वथा भिन्न है, अतः उसे नवीन ही अलंकार मानना उचित है। इनके पिहित का स्वरूप यह है—

पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुरन्यस्य चेष्टितम् ।
प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत् ॥ च० ५.१०६

दूसरे के वृत्तान्त को जानने वाले की साभिप्राय चेष्टा वर्णित होने पर पिहित अलंकार होता है। यथा, 'प्रिय के घर आने पर कान्ता ने सेज बिछा दी'। पति रात्रि में अनुपस्थित रहकर प्रातः घर आया है। अतः कान्ता अन्यत्र उसके रात्रि-जागरण को भांप लेती है। उसका शय्या सजाना इस अभिप्राय को सूचित करता है कि मैं सब समझती हूँ, तुम रात्रि भर जागे हो।

दण्डी, भोज, मम्मट आदि ने इससे मिलता-जुलता सूक्ष्म अलंकार माना था, जिसे जयदेव ने नहीं लिखा। पर उसमें इंगित या आकार से परवृत्तान्तज्ञान होना कहा गया था, प्रस्तुत उदाहरण में उसकी अपेक्षा अनुमान से हुआ है। साथ ही अप्पय दीक्षित तो सूक्ष्म अलंकार को भी स्वीकार करते हैं, फिर भी उन्होंने पिहित को पृथक् माना है। सूक्ष्म में संकेत या आकृति से सूक्ष्मतः पराशय को जानकर

---
२५३. काव्यालं०, रु० ६.५०, ५१

उसकी मनोरथपूर्ति के लिये उसके प्रति चेष्टा की जाती है, जब कि पिहित में किन्हीं लक्षणों से कोई बात भांप कर चेष्टा केवल यह प्रकट करने के लिए होती है कि मैंने यह बात जान ली है। प्राचीनों ने सूक्ष्म में दोनों को समाविष्ट कर लिया था। दीक्षित ने दोनों में अन्तर किया है। अतएव 'वक्त्रस्यन्दिस्वेद०' आदि जो उदाहरण मम्मट ने सूक्ष्म का दिया है, उसे दीक्षित ने पिहित का माना है।

जयदेव के लक्षण में चेष्टा के साभिप्राय होने की बात शब्दोपात्त नहीं है। दीक्षित ने 'अन्यस्य चेष्टितम्' के स्थान पर 'साकूतचेष्टितम्' करके इस त्रुटि का परिहार कर दिया है।

९८. व्याजोक्ति

स्पष्ट रूप में यह अलंकार सर्वप्रथम वामन के काव्यालंकारसूत्र में प्राप्त होता है। उनका लक्षण है—व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः (४.३.२५), अर्थात् ऐसा बहाना जो सत्यसदृश प्रतीत हो। यथा—

शरच्चन्द्रांशुगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम्॥

यहां अश्रुपात की सात्त्विकभावजन्यता को छिपाने के लिए यह बहाना किया गया है, जो सच सा प्रतीत हो रहा है। मम्मट ने इसे इस रूप में लिखा—

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्। का० प्र० १०.११८

जो किसी प्रकार प्रकट हो गया है ऐसे वस्तु के रूप को बहाने से छिपाना व्याजोक्ति है। जैसे, उमा के पिता हिमालय के द्वारा उसका हाथ पकड़ाते समय शिवजी के हृदय का अनुराग पुलक आदि से प्रकट होने लगता है। उसे वे इस बहाने से छिपाते हैं कि अरे, तुहिनाचल का कितना रोमांचकर शीत है।

मम्मट ने यह भी निर्दिष्ट किया है कि प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठ साम्य न होने से व्याजोक्ति अपह्नुति से भिन्न है। रुय्यक की व्याजोक्ति का भी यही स्वरूप है—उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः (अ० स० ७७)

जयदेव कृत लक्षण-उदाहरण यह है—

व्याजोक्तिः शङ्कमानस्य छद्मना वस्तुगोपनम्।
सखि पश्य गृहारामपरागैरस्मि धूसरा॥ च० ५.११०

शंकित होकर छल द्वारा वस्तु के छिपाने को व्याजोक्ति कहते हैं। यथा, संकेतस्थल में शरीर पर लगी हुई धूल को छिपाने के लिए कोई अपनी सखी से कह रही है—देख, गृहवाटिका के पुष्प-परागों से मैं कैसी धूसर हो गई हूँ। मम्मट और रुय्यक के लक्षण की अपेक्षा एक विशेषता जयदेव के लक्षण में यह है कि यहां यह आवश्यक नहीं है कि प्रकट हुई वस्तु का ही गोपन किया जाये। कहीं विद्यमान लक्षणों से प्रकट न हो जाये इस शंका से अप्रकट वस्तु के भी गोपन में व्याजोक्ति सम्भव है। प्रस्तुत उदाहरण दोनों रूपों से व्याख्यात हो सकता है।

दीक्षित ने लक्षण को इस रूप में परिवर्तित कर दिया है—व्याजोक्तिरन्य-

हेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम् (कु० १५३) । इन्होंने पूर्वोक्त छेकापह्नुति से इसका यह अन्तर निरूपित किया है कि वहां तो प्रकारान्तर से व्याख्या करके कही हुई बात का गोपन होता है, जब कि यहां हेत्वन्तर वर्णन से आकार का गोपन ।

९९. वक्रोक्ति

रुद्रट ने शब्दालंकारप्रकरण में श्लेषवक्रोक्ति तथा काकुवक्रोक्ति का वर्णन किया था । उसी के आधार पर मम्मट ने भी शब्दालकार रूप में ही इसका निम्न लक्षण उपस्थित किया—

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ।। का० प्र० ९.७८

श्लेषवक्रोक्ति के इन्होंने दो भेद कहे—सभंगश्लेषमूलक तथा अभंगश्लेषमूलक । रुय्यक का वक्रोक्ति-चित्रण भी इसी प्रकार का है, पर उन्होंने इसे अर्थालंकारों में परिगणित किया है—

जयदेव ने भी इसी का अनुसरण किया है—

वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां वाच्यार्थान्तरकल्पनम् ।
मुञ्च मानन्दिनं प्राप्तं मन्द नन्दी हरान्तिके ।। च० ५.१११

श्लेष या काकु का आश्रय लेकर जो वक्ता को अभीष्ट न हो ऐसे वाच्य अर्थान्तर की कल्पना करना वक्रोक्ति नामक अर्थालंकार है । नमूने के रूप में यहां श्लेषवक्रोक्ति का उदाहरण दिया है । नायक मानवती नायिका को मनाते हुए कह रहा है—'मुञ्च मानं, दिनं प्राप्तं' मान को छोड़ो, अब तो दिन निकलने को है । भंगश्लेष से नायिका इस वाक्य का यह अर्थ निकाल लेती है—'मुञ्च मा नन्दिनं प्राप्तं' तुम प्राप्त हुए नन्दी बैल को मत छोड़ो । यह अर्थ लेकर वह दोषोद्भावन करती है—'मन्द, नन्दी हरान्तिके', मूर्ख, नन्दी यहां कहां, वह तो महादेव के पास है ।

'मुञ्च मानं दिनं प्राप्तम्' यह काकुवक्रोक्ति का भी उदाहरण बन सकता है, यदि 'दिनं प्राप्तम्' का अर्थ काकु से यह लें कि अभी दिन प्राप्त नहीं हुआ अर्थात् रात्रि अभी शेष है । क्योंकि यदि दिन निकल आया, तब तो मान का त्यागना या न त्यागना समान ही है ।

अभंगश्लेष से भी वक्रोक्ति हो सकती है, यथा मम्मट, रुय्यक एवं अप्पय दीक्षित प्रदत्त निम्न उदाहरण में—

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ।।

१००. स्वभावोक्ति

भामह ने स्वभावोक्ति अलंकार की चर्चा की है । दण्डी ने इसे अलंकारों में सर्वप्रथम स्थान दिया है । ये पदार्थों के नाना अवस्थाओं में स्थित रूप को साक्षात् प्रकट करने वाली अलंकृति को स्वभावोक्ति कहते हैं । इन्होंने इसे 'जाति' नाम भी दिया है । इसमें जाति, क्रिया, गुण और द्रव्यों का उपर्युक्त प्रकार का स्वभाव वर्णित

किया जाता है[२५४] । उद्भट ने कहा था कि क्रिया में संप्रवृत्त किसी मृगपोत आदि की स्वाभाविक चेष्टाओं का निबन्धन करना स्वभावोक्ति है[२५५] । रुद्रट ने जाति नाम से इसका वर्णन किया । इनके अनुसार जिस वस्तु के जैसे संस्थान, अवस्थान, क्रिया आदि लोक में चिरप्रसिद्ध हैं, उन्हें उसी रूप में कथन करना जाति अलंकार है । इन्होंने यह भी कहा है कि शिशु, मुग्धजन, युवति, कातर व्यक्ति, पक्षी तथा संभ्रान्त हीनपात्र की कालावस्थोचित चेष्टाओं का वर्णन करने पर यह विशेष रम्य प्रतीत होती है[२५६] । इन्हीं सबका संक्षेप मम्मट ने इस रूप में उपस्थित किया—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ।। का० प्र० १०.१११

यहाँ रूप से वर्ण और संस्थान दोनों अभिप्रेत हैं । रुय्यक ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया कि वस्तु के स्वभाववर्णन मात्र को स्वभावोक्ति नहीं कहते । यदि ऐसा हो तब तो सारा ही काव्य अलंकार हो जाये । अतः यह लक्षण किया कि वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का यथावत् वर्णन करना स्वभावोक्ति है—

सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः । अ० स० ७९

सूक्ष्म से अभिप्राय लिया केवल कवित्व का विषय बनने वाला या कविनिर्मित सा । उसका भी यथावत् अर्थात् अन्यून-अनतिरिक्त रूप में वर्णन होना चाहिए ।

जयदेव ने दण्डी के 'जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्' के अनुसार अपना लक्षण विरचित किया है—

स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिषु च वर्णनम् ।
कुरङ्गैरुत्तरङ्गाक्षि स्तब्धकर्णैरुदीक्ष्यते ।। च० ५.११२

उदाहरण में कुरंग जाति के स्वभाव का वर्णन है । हे तरंगित लोचनों वाली, देखो, हरिण कान खड़े करके तुम्हारी ओर देख रहे हैं । 'जात्यादिषु' से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वभाव को कहीं अन्यत्र से लाकर जात्यादि में वर्णित करना है, अतः दीक्षित ने 'जात्यादिषु च' के स्थान पर 'जात्यादिस्थस्य' यह संशोधन कर दिया है ।

१०१, १०२. भाविक और भाविकच्छवि

भाविक अलंकार प्रतीत होता है भामह से भी प्राचीन है । किन्तु भाविकच्छवि जयदेव तक ही सीमित है । इन्हीं से यह उद्भावित हुआ है, और उत्तरवर्ती किसी आलंकारिक ने इसे नहीं माना है, यहाँ तक कि कुवलयानन्दकार ने भी नहीं । भाविक को भामह और दण्डी ने प्रबन्धविषय गुण कहा है । भामह का कथन है कि जिस काव्य में यह होता है उसमें भूत-भावी अर्थ प्रत्यक्षवत् दृष्टिगत होने लगते हैं ।

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ।। काव्यालं० भा० ३.५३

इसे अन्य अलंकारों के समान अलंकार का रूप देने का प्रयत्न किया उद्भट

---

२५४. काव्या० २.८-१३
२५५. का० सा० सं० ३.८
२५६. काव्यालं० रु० ७. ३०, ३१

ने, जिन्होंने लक्षण में भामह के ही शब्दों को ले लिया। मम्मट ने भी अपने लक्षण में इन्हीं का अनुसरण किया—

प्रत्यक्षा इव यद् भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः।
तद् भाविकम्। का० प्र० १०.१२४

रुय्यक के शब्द भिन्न हैं, पर अभिप्राय वही है—

अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। अ० स० ८०

जयदेव का भाविक का लक्षण मम्मटानुसारी ही है। ये भी भूत और भावी अर्थ के साक्षाद्दर्शन के वर्णन को भाविक अलंकार कहते हैं। उदाहरण दिया है संग्राम का। दो पक्षों के भीषण रण को देखकर कोई कह रहा है—देख लो, आज भी यहाँ साक्षात् देव-दानव युद्ध कर रहे हैं। यहाँ देव-दानवों के भूत युद्ध का वर्तमान में साक्षात् दर्शन वर्णित किया गया है।

भाविकच्छवि अलंकार में देश की दृष्टि से तथा अपने से जो दूरस्थ है उसका दर्शन वर्णित किया जाता है। जैसे दूर देश में स्थित तथा नायक से दूरस्थ भी नायिका के अन्दर कोई दूती नायक का दर्शन बताती हुई नायक को कहती है कि आप उसके हृदय में निवास करने वाले साक्षात् कामदेव प्रतीत होते हैं। यहाँ वस्तुतः उसके हृदय में न रहने वाले भी नायक का उसके अन्दर दर्शन कहा गया है।

दोनों अलंकारों में अन्तर यह हुआ कि भाविक में तो भूत और भावी का वस्तुतः इस समय न होते हुए भी दर्शन कहा जाता है, जब कि भाविकच्छवि में वर्तमान का, जहां वह नहीं है वहाँ दर्शन वर्णित किया जाता है। दोनों अलंकारों की जयदेवकृत लक्षण-कारिकायें निम्न हैं—

भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षाद्दर्शनवर्णनम्।
अलं विलोकयाद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुरासुराः॥
देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः।
त्वं वसन् हृदये तस्याः साक्षात् पञ्चेषुरीक्ष्यसे॥ च० ५.११३, ११४

दीक्षित ने द्वितीय को तो माना ही नहीं है, प्रथम को निम्न परिवर्तन के साथ लिखा है तथा एक उदाहरण अधिक दिया है।

भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम्।
अहं विलोकयेऽद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुरासुराः॥

१०३. उदात्त

उदात्त अलंकार को भामह और दण्डी ने भी लक्षित किया था। किन्तु इसका वर्तमान रूप सर्वप्रथम उद्‌भट ने निर्धारित किया—

उदात्तमृद्धिमद् वस्तु चरितं च महात्मनाम्।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम्॥ का० सा० सं० ४.१७

अर्थात् किसी वस्तु को अलौकिक रूप से समृद्धिशाली वर्णित करना तथा महात्माओं का चरित किसी के अंगभाव को प्राप्त रूप में कथित करना, यह दो प्रकार का उदात्त अलंकार होता है।

इसी के आधार पर मम्मट और रुय्यक ने भी अपने लक्षण लिखे—

उदात्तं वस्तुनः सम्पत् महतां चोपलक्षणम् । का० प्र० १०.१२५

समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम् । अंगभूतमहापुरुषचरितं च । अ० स० ८१, ८२

दोनों ने उदाहरण भी समान ही दिये हैं । प्रथम भेद का उदाहरण है—'मुक्ताः केलिविसूत्र' आदि, जिसमें विद्वद्भवनों का अलौकिक समृद्धिमय वर्णन है । दूसरे का है 'तदिदमरण्यम्' आदि, जिसमें राम का राक्षससंहार का चरित अरण्यवर्णन का अंगभूत हो गया है ।

जयदेव ने उक्त लक्षणों को ही अत्यन्त संक्षिप्त रूप देकर निम्न लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किया है—

उदात्तमृद्धिश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम् ।
सानौ यस्याभवद् युद्धं तद् धूर्जटिकिरीटिनोः ।। च० ५.११५

अर्थात् एक तो ऋद्धि (अलौकिक समृद्धि) को उदात्त कहते हैं, दूसरे अन्य के अंगभूत श्लाघ्य चरित को । उदाहरण केवल द्वितीय का दिया है—"जिस हिमालय के शिखर पर शिव-अर्जुन का वह प्रसिद्ध युद्ध हुआ था"। यहाँ शिवार्जुन का युद्धचरित प्रधान न रहकर हिमालयशृंग का अंग हो रहा है । कुवलयानन्द में प्रथम भेद का निम्न उदाहरण दिया है, जहाँ रावण के सभाभवन की अलौकिक समृद्धि वर्णित है ।

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः ।
ज्ञातो लङ्केश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः ।।

१०४. अत्युक्ति

अत्युक्ति अलंकार के उद्भावक जयदेव ही हैं । अप्पय दीक्षित ने भी इसे पृथक् अलंकार के रूप में निरूपित किया है । यह अतिशयोक्ति से भिन्न है । चन्द्रालोक में इसका स्वरूप यह बताया गया है कि विस्मयोत्पादक तथा तथ्यहीन शूरता, उदारता आदि का वर्णन होने पर अत्युक्ति अलंकार होता है । यथा, किसी राजा के दान की प्रशंसा करता हुआ कोई कवि कहता है—'हे राजन्, आपके दाता होने पर कल्पतरु भी याचक हो गये हैं ।' इस उदाहरण में औदार्य की अत्युक्ति है ।

अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्योदार्यादिवर्णनम् ।
त्वयि दातरि राजेन्द्र याचकाः कल्पशाखिनः ।। च० ५.११६

दीक्षित ने शौर्यात्युक्ति का यह उदाहरण दिया है—

राजन् सप्ताप्यकूपारास्त्वत्प्रतापाग्निशोषिताः ।
पुनस्त्वद्वैरिवनितावाष्पपूरेण पूरिताः ।।

इनका कथन है कि संपदत्युक्ति में उदात्तालंकार होता है, तथा शौर्यादि में अत्युक्ति अलंकार । इसी प्रकार अतिशयोक्ति में असदुक्ति होती है, किन्तु अत्युक्ति में अत्यन्त असदुक्ति । उदाहरणार्थ, 'हे सुन्दरि, तुम्हारे बढ़ते हुए पयोधरों के लिए बाहुलताओं के मध्य में अवकाश पर्याप्त नहीं है' यह अतिशयोक्ति है । किन्तु 'तुम्हारा स्तनमण्डल इतना विशाल हो जायेगा यह पहले से न सोचकर ही विधाता ने आकाश को छोटा बनाया' यह अत्युक्ति है ।

रसवदादि अलंकार

ध्वनि की उद्भावना से पूर्व अलंकारवादी आचार्यों ने प्रायः काव्य में रस, भावादि की स्थिति रसवसादि अलंकारों के ही रूप में स्वीकार की थी। भामह, दण्डी एवं उद्भट ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित अलंकारों की चर्चा की है, जिनमें अपने-अपने प्रकार से रस-भावादि का होना वर्णित किया है। परन्तु इस समय तक इन अलंकारों में रसादि की स्थिति अंगीरूप में ही मानी जाती थी। बाद में इन अलंकारों का जो स्वरूप निश्चित हो गया उसका सर्वप्रथम निर्धारण आनन्दवर्धन ने किया। उन्होंने कहा कि रसादि अलंकार वहीं होते हैं, जहां ये अंगभूत हों।

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।

काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥ ध्वन्या० २.५

इसी के अनुसार मम्मट ने भी लिखा—"प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः। ······अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितादयोऽलंकाराः'। का० प्र० ४.२६ वृत्ति

काव्यप्रकाश के पंचम उल्लास में अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकरण में इन्होंने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित अलंकारों को और भावोदय, भावसन्धि तथा भावशवलता को सोदाहरण स्पष्ट भी किया है और लिखा है—'एते च रसवदाद्यलंकाराः। यद्यपि भावोदय-भावसंधि-भावशवलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि तथापि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्।'

एवं पूर्वध्वनि काल में जो रसवदादि अलंकार रसादि की प्रधानता में माने जाते थे वे अब गुणीभूतव्यङ्ग्य के अन्तर्गत हो गये। अतएव मम्मट ने अलंकारप्रकरण में इन्हें पृथक् अलंकार के रूप में परिगणित भी नहीं किया। ध्वन्युत्तरकाल में सर्वप्रथम रुय्यक ने इन्हें पृथक् अलंकारत्वेन वर्णित किया—

रस-भाव-तदाभास-तत्प्रशमानां निबन्धे रसवत्-प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितानि। भावोदय-सन्धि-शबलताश्च पृथगलंकाराः। अ० स० ८३, ८४

रस के अंगरूप होने पर रसवत्, भाव के अंगरूप होने पर प्रेयस्, रसाभास एवं भावाभास के अंगरूप होने पर ऊर्जस्वी और भावप्रशम के अंगरूप होने पर समाहित अलंकार होता है। इसी प्रकार अंगरूपता होने पर भाव की उद्गमावस्था में भावोदय, दो विरुद्ध भावों के स्पर्धिभाव से उपनिवन्धन में भावसन्धि तथा वहुत से भावों के पूर्वपूर्वोपमर्दकत्व में भावशवलता अलंकार होते हैं। इनके उदाहरण काव्यप्रकाश, अलंकारसर्वस्व, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में दिये गये हैं।

जयदेव ने 'कुछ मनीषी इन सात अलंकारों को भी मानते हैं' ऐसा कहकर इनका निम्न कारिकाओं में उल्लेख किया है—

रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः।

रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमयाभिधाः[२५७] **॥**

---

२५७. पाठान्तरः···निबन्धना। ·· समाहितमयी भिदा॥

भावानामुदयः सन्धिः शवलत्वमिति त्रयः ।
अलङ्कारानिमान् सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः ।। च० ५.११७, ११८

वस्तुतः ये मम्मट के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं, तथा इन्हें अपरांग गुणीभूत-व्यङ्ग्य में ही अन्तर्भूत करते हैं। राकागम टीका के लेखक गागाभट्ट तथा रमा टीकाकारो वैद्यनाथ का कथन है कि यहां 'केचित्' शब्द पूजार्थ है, निषेधार्थ नहीं, अतः ध्वनिकार आदि के प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए जयदेव इन सातों अलंकारों को भी पृथक् मानते हैं। अप्पय दीक्षित ने इन्हें अलंकार स्वीकार किया है।

संसृष्टि तथा संकर की पृथक् अनलंकारता

एकाधिक अलंकारों के योग रूप संसृष्टि एवं संकर की मान्यता अलंकार-शास्त्र में प्रारम्भ से ही अंकुरित मिलती है। भामह ने बह्वलंकारयोग से संसृष्टि मानी है तथा उसे रत्नमाला के समान काव्य की उत्तम विभूषा कहा है[२५८]। प्रारम्भ में संसृष्टि में ही संकर भी सम्मिलित था। दण्डी ने नानालंकारसंसृष्टि को संसृष्टि कहते हुए इसकी द्विधा गति बतलाई है—अंगागिभावावस्थान और समकक्षता[२५६]। उद्भट ने सर्वप्रथम संसृष्टि और संकर को पृथक्-पृथक् निरूपित किया। इन्होंने दो या अधिक अलंकारों के मिथः निरपेक्ष समाश्रय को संसृष्टि कहा तथा संकर के तीन रूप कहे—एकस्य ग्रहे न्यायदोषाभाव संकर, एकवाक्यांशप्रवेश संकर तथा उपकार्योपकारकभाव संकर[२६०]। रुद्रट ने दोनों के लिए संकर ही नाम रखा तथा इसके दो भेद कहे, तिलतण्डुलयोग (व्यक्त) तथा दुग्धजलयोग (अव्यक्त), जिनमें अन्यों के अनुसार प्रथम भेद संसृष्टि कहलायेगा तथा द्वितीय संकर[२६१]। भोज ने फिर दोनों को संसृष्टि कहा, तथा संसृष्टि का लक्षण किया—नाना अलंकारों का संकर (मिश्रण)। इसके तीन भेद किये—व्यक्त, अव्यक्त तथा व्यक्ताव्यक्त। फिर इनमें से प्रत्येक के दो-दो रूप बताये। व्यक्त के तिलतण्डुलवत् तथा छायादर्शवत्, अव्यक्त के क्षीरजलवत् तथा पांसुपानीयवत्, और व्यक्ताव्यक्त के नरसिंहवत् तथा चित्रवर्णवत्[२६२]। मम्मट ने संसृष्टि और संकर का स्वरूप उद्भट के अनुसार ही विवेचित किया—

सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ।।
अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ।।
स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम् ।
व्यवस्थितं च तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ।। का० प्र० १०.१३६–४१

रुय्यक ने रुद्रट का अनुसरण करते हुए तिलतण्डुलन्याय या संयोगन्याय से होने वाले अलंकारमिश्रण को संसृष्टि तथा क्षीरवीरन्याय या समवायन्याय से जन्य

---

२५८. वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः ।
रचिता रत्नमालेव । काव्यालं०, भा० ३.४६

२५६. काव्या० २.३५६, ३६०

२६०. का० सा० सं० ६.६ तथा ५.२०–२६

२६१. योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च ।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात् संकर उत्पद्यते द्वेधा ।। काव्यालं०, रु० १०.२५

२६२. सर० कण्ठा० ४.८८–९०

को संकर कहा[263]। इन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से कह दिया कि ये अलंकारों के मिश्रण-मात्र न होकर भिन्न अलंकार ही होते हैं—

उक्तालंकाराणां यथासंभवं यदि क्वचिद् युगपद् वचनं स्यात् तदा ते किं पृथक्त्व एव पर्यवसिता उत तदलंकारान्तरमेव किंचिदिति विचार्यते। तत्र यथा बाह्यालंकाराणां सौवर्णमणिमयप्रभृतीनां पृथक्चारुत्वहेतुत्वेऽपि संघटनाकृतं चारुत्वान्तरं जायते तद्वत् प्रकृतालंकाराणामपि संयोजने चारुत्वान्तरमुपलभ्यते। तेनालंकारान्तर-प्रादुर्भावो, न पृथक्पर्यवसानमिति निर्णयः। अ० स० ८५ वृत्ति

किन्तु जयदेव इससे प्रतिकूल विचार रखते हैं। उनका कथन है कि अलंकारों के जो शुद्धि, एकप्रधानत्व, संसृष्टि तथा संकर भेद किये जाते हैं, वे अलंकारान्तर नहीं हैं।

शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ।
एतेषामेव विन्यासान्नालङ्कारान्तराण्यमी॥ च० ५.११६

जहाँ विशुद्ध रूप से एक ही अलंकार हो वहाँ शुद्धि होती है। और जहाँ दो अलंकार प्रतीत होने पर भी एक अलंकार प्रधान होकर दूसरे को बांध ले वहाँ एक-प्रधानत्व होता है, यथा श्लेषमूलक उपमा होने पर उपमा प्रधान मानी जानकर श्लिष्टोपमा कहलाती है। संसृष्टि और संकर का स्वरूप ऊपर स्पष्ट किया ही जा चुका है। जयदेव के मतानुसार जिन-जिन अलंकारों का विन्यास संसृष्टि-संकर में होगा वे-वे ही अलंकार वहां एकत्र हैं ऐसा कहा जायेगा, उन अलंकारों के योग से संसृष्टि या संकर पृथक् अलंकार हो गया है ऐसा नहीं।

अप्पय दीक्षित ने जयदेव के विपरीत संसृष्टि तथा संकर की पृथक् अलंकारता का ही पक्ष स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि कई लौकिक अलंकारों को मिलाकर जैसे नया अलंकार बना लिया जाता है, और वह नवीन ही शोभा को देता है, वैसे ही काव्य में भी अलंकारों के मेलन से चारुत्वातिशयहेतुक नया ही अलंकार उत्पन्न हो जाता है। अपनी मान्यता के पोषण के लिए इन्होंने नरसिंहन्याय का भी संकेत किया है, अर्थात् जैसे मनुष्याकृति और सिंहाकृति के योग से नृसिंह भगवान् पृथक् ही कहलाते हैं, वैसे ही संसृष्टि एवं संकर की भी अलंकारान्तरता माननी उचित है।

अथैतेषामलंकाराणां यथासंभवं क्वचिन्मेलने लौकिकालंकाराणां मेलन इव चारुत्वातिशयोपलम्भान्नरसिंहन्यायेन पृथगलङ्कारावस्थितौ तन्निर्णयः क्रियते।

कु०, संसृष्टिसंकरप्रकरण

अनुक्त अलंकार-प्रकारों की स्वीकृति

पीछे अलंकारों के विकासक्रम में हम देख चुके हैं कि प्रारम्भ में कुछ ही अलंकार कल्पित हुए थे। शनैः शनैः उनकी संख्या बढ़ती गई, यहाँ तक कि जयदेव ने वह संख्या सौ से भी ऊपर पहुंचा दी। जयदेव की मान्यता यह नहीं है कि मैंने जितने अलंकार चन्द्रालोक में वर्णित कर दिये हैं, उनसे अधिक नहीं हो सकते अथवा उन्हीं के इतर भेद कल्पित नहीं किये जा सकते। वे कहते हैं कि सभी अलंकारों के प्रतिद्वन्द्व तथा प्रतिच्छन्द अर्थात् विसदृशता और सदृशता के आधार पर भेद हो सकते हैं। अतः किसी अलंकार का यदि प्रकारान्तर हमने कल्पित किया है, तो संभव होने पर वैसा

२६३. एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वे संसृष्टिः। क्षीरनीरन्यायेन तु संकरः।
अ० स० ८५, ८६

प्रकारान्तर अन्य अलंकारों का भी हो सकता है[२६४]।

सर्वेषां च प्रतिद्वन्द्वप्रतिच्छन्दभिदाभृताम् ।
उपाधिः क्वचिदुद्भिन्नः स्यादन्यत्रापि संभवात् ॥ च० ५.१२०

उदाहरणार्थ चन्द्रालोक में 'अधिक' अलंकार लक्षित किया गया है, इसका विसदृश या विलोम अल्प अलंकार भी सम्भव है। अतएव दीक्षित ने इसे माना भी है। इनके मत में सूक्ष्म आधेय फी अपेक्षा आधार और भी सूक्ष्म वर्णित किया जाये तो अल्पालंकार होता है। जैसे, "मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते", तुम्हारे हाथ में मणि-मुद्रिका जपमाला सी लटक रही है। यहां आधेय मणिमुद्रिका सूक्ष्म है, पर नायिका का अंगुलि रूपी आधार विरहजन्य कृशता के कारण उससे भी अधिक सूक्ष्म वर्णित किया गया है, कि उसमें पहनी हुई मुद्रिका जपमाला सी प्रतीत होती है। दीक्षित का इस अलंकार को मानना उपर्युक्त न्याय से विपरीत नहीं हुआ।

इसी प्रकार चन्द्रालोक में शत्रु के पक्ष पर पराक्रम दिखाने को प्रत्यनीक अलंकार कहा है। किन्तु तत्सदृश सौन्दर्य होने पर सीधे शत्रु पर पराक्रम दिखाना वर्णित होने पर भी इसे माना जा सकता है, जैसा कि दीक्षित ने माना भी है। यथा—

मधुव्रतौघः कुपितः स्वकीयमधुप्रपापद्मनिमीलनेन ।
बिम्बं समाक्रम्य बलात् सुधांशोः कलङ्कमङ्के स्फुटमातनोति ॥

प्रत्यनीक में बदला लेने वाला व्यक्ति साक्षात् शत्रु का तिरस्कार न कर शत्रु के सम्बन्धी का तिरस्कार करता है। यहां बदला लेने वाले भ्रमरों ने यद्यपि सीधे ही शत्रुभूत चन्द्रमा का तिरस्कार किया है, तथापि चन्द्रमा जो शत्रु बना है वह साक्षात् भ्रमरों के अपकार से नहीं, प्रत्युत तत्सम्बन्धी पद्मों के अपकार से बना है। अतः प्रत्यनीकसदृश ही सौन्दर्य होने से यह भी प्रत्यनीक का एक भेद माना जा सकता है।

जयदेव ने रूपक का एक प्रकार सादृश्यरूपक कहा है। यह भेद उपमा में भी सम्भव होने से सदृशोपमा भी मानी जा सकती है, यद्यपि यह चन्द्रालोक में वर्णित नहीं हुई। दण्डी ने समानोपमा नाम से इसे माना भी है। यथा—

बालेवोद्यानमालेयं सालकाननशोभिनी। काव्या० २.२६

उपमा, रूपक, अपह्नुति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के एक से अधिक प्रकार जयदेव ने कहे हैं। जिन हेतुओं से ये प्रकार कहे हैं वे हेतु यदि अन्य अलंकारों में भी सम्भव हो सकें तो उनके भी भेद किये जा सकते हैं।

माला और परम्परा

कुछ आचार्यों ने कतिपय अलंकारों के माला और परम्परा (रशना) रूप भी माने हैं। यथा, मालोपमा, मालारूपक, मालानिदर्शना, मालाप्रतिवस्तूपमा, रशनोपमा, रशनारूपक आदि। एक उपमेय के अनेक उपमान होने पर मालोपमा होती है। यथा रुद्रट के इस उदाहरण में—

---

२६४. अपि च सर्वेषामलङ्काराणां प्रतिद्वन्द्वप्रतिच्छन्दरूपाणि विसदृशसदृशरूपाणि अलंकारान्तराण्यपि ऊहनीयानि—शरदागम०। राकागम तथा रमा टीकाएं इससे भिन्न हैं। वहां इस कारिका को पूर्व कारिका में कथित विषय, संसृष्टि-संकर आदि के अलंकारान्तर न होने के समर्थन रूप में योजित किया गया है। वह योजना हमें ग्राह्य प्रतीत नहीं हुई।

श्यामा लतेव तन्वी चन्द्रकलेवातिनिर्मला सा मे ।
हंसीव कलालापा चैतन्यं हरति निद्रेव ॥ काव्यालं०, रु० ८.२६

जहां पूर्व-पूर्व उपमेय उत्तरोत्तर उपमान होते चलें वहां रशना के समान गुम्फन होने से रशनोपमा होती है । यथा—

नभ इव विमलं सलिलं सलिलमिवानन्दकारि शशिबिम्बम् ।
शशिबिम्बमिव लसद्द्युति तरुणीवदनं शरत् कुरुते ॥ वही ८.२८

मालानिदर्शना का मम्मटप्रदत्त उदाहरण यह है—

दोर्भ्यां तितीर्षति तरङ्गवतीभुजङ्गमादातुमिच्छति करे हरिणाङ्कबिम्बम् ।
मेरुं लिलङ्घयिषति ध्रुवमेव देव यस्ते गुणान् गदितुमुद्यमादधाति ॥ का० प्र० १०.९७

जयदेव का कथन है कि जिस प्रकार कोई अलंकार माला का या रशना का रूप धारण कर मनुष्य की शोभा बढ़ाता है, वैसे ही काव्य में भी अलंकार माला या रशना रूप में आकर सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं । परन्तु माला या रशना से अलंकार भिन्न नहीं हो जाता, अलंकार तो वही रहता है, जिसके ये माला या रशना रूप होते हैं । यथा मालोपमा या रशनोपमा उपमा से पृथक नहीं हैं । अतएव चन्द्रालोक में इनका पृथक् निरूपण नहीं किया गया है । जिन अलंकारों के प्राचीनों ने ये भेद दर्शाये हैं या न दर्शाये होने पर भी सम्भव हैं, उन-उन अलंकारों से ही ये गतार्थ समझ लेने चाहिएं ।

माला परंपरा चैषां भूयसामनुकूलके ।
मनुष्ये भवतः क्वापि ह्यलङ्कारङ्गतांगते ॥ च० ५.१२१

नूतन अलङ्कारों का समर्थन

जयदेव ने १६ अलंकार नवीन उद्भावित किये हैं, यह हम इसी अध्याय में पहले दर्शा चुके हैं । सम्भवतः इनके समय में ही इन पर यह कटाक्ष किया जाता होगा कि इन्हें प्राचीनों के मार्ग का अतिक्रमण कर नूतन अलंकारों के प्रवर्तन का क्या अधिकार है । सम्भवतः इसीलिए इन्होंने नूतन अलंकारों के समर्थन में निम्न कारिका लिखी है—

अलङ्कारेषु तथ्येषु यद्यनास्था मनीषिणाम् ।
तदर्वाचीनभेदेषु नाम्नां नाम्नाय इष्यताम् ॥ च० ५.१२५

कलाकार द्वारा निर्मित नवीनतम भी सुवर्ण आदि के अलंकारों को प्रत्येक व्यक्ति अलंकार स्वीकार करता है । प्राचीन शैली के ही आभूषण क्रेताओं द्वारा क्रय किये जाते हों, ऐसी बात नहीं हैं, प्रत्युत नूतन आभूषण लोगों को अधिक आकर्षित करते हैं । इसी प्रकार काव्यशास्त्र में भी यदि चमत्काराधायक नवीन अलंकारों की उद्भावना होती है तो वह स्वागत योग्य ही है । अतएव जयदेव का असहिष्णु आलोचकों के प्रति यह उत्तर है कि यदि नूतन रूप में रचे गये सचमुच के कटक, कुण्डल आदि अलंकारों के प्रति मनीषियों की अनास्था होती हो तभी अर्वाचीन अलंकार-भेदों के नामों को अप्रमाण ठहराया जा सकता है । प्रारम्भ से लेकर अब तक जैसे विभिन्न आचार्यों के द्वारा नवीन अलंकार-प्रकारों की खोज होती रही है, वैसे ही अब भी की जा सकती है । चन्द्रालोक के आधार पर ही कुवलयानन्द लिखने वाले अप्पय दीक्षित ने भी १७ ऐसे नूतन अलंकार माने हैं, जो चन्द्रालोक में नहीं हैं । ●

षष्ठ अध्याय

रस, रीति, मधुरादि वृत्ति, शब्दवृत्ति एवं काव्यभेद

१. रसादि

रस-स्वरूप

आचार्य भरत के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इस रससूत्र के अनेक व्याख्याता हुए हैं। मम्मट ने काव्यप्रकाश में भट्टलोल्लट के रसोत्पत्तिवाद, श्री शंकुक के रसानुमितिवाद, भट्टनायक के रसभुक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त के रसाभिव्यक्तिवाद का उल्लेख करते हुए स्वयं अभिव्यक्तिवाद का ही समर्थन किया है। रस की अभिव्यक्ति प्रक्रिया को मम्मट ने निम्न कारिकाओं में स्पष्ट किया है—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ का० प्र० ४.२७,२८

अर्थात् लोक में रत्यादि स्थायी भाव के जो कारण, कार्य तथा सहकारी होते हैं वे ही नाट्य एवं काव्य में क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। उन विभावादियों से सहृदय सामाजिक के अन्दर प्रसुप्त रूप से विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव जब अभिव्यक्त हो जाता है तब वह रस नाम से कथित किया जाता है।

अभिनवगुप्त का रस-स्वरूप मम्मट अपने निम्न शब्दों में चित्रित करते हैं—

"...चर्व्यमाणतैकप्राणो, विभावादिजीवितावधिः, पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।"

जयदेव ने रसाभिव्यक्ति की उपर्युक्त प्रक्रिया को ही चन्द्रालोक में निम्न कारिकाओं में प्रकट किया है—

आलम्बनोद्दीपनात्मा विभावः कारणं द्विधा।
कार्योऽनुभावो भावश्च सहायो व्यभिचार्यपि ॥
गलद्वेद्यान्तरोद्भेदं हृदयेष्वजडात्मनाम्।
मिलन्मलयजालेय इवाह्लादं विकासयन् ॥
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावितः।
आस्वाद्यमानैकतनुः स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥ च० ६.१–३

रसानुभूति अजडात्माओं को ही होती है। अभिनवगुप्त ने भी कहा था— अधिकारी चात्र विमल-प्रतिभानशालिहृदयः। रसानुभूतिकाल में अन्य किसी ज्ञेय वस्तु का ज्ञान नहीं हो रहा होता—'गलद्वेद्यान्तरोद्भेदम्।' रसावस्था के आनन्द की

उपमा प्राचीनों ने ब्रह्मानन्द के आस्वाद से दी थी। पर ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले विरले ही होते हैं। सम्भवतः इसीलिये जयदेव ने सर्वजनसंवेद्य चन्दनलेप की उपमा दी है[१]।

रस-संख्या

रसों की संख्या के विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है। भरतमुनि से लेकर आने वाले प्रायः सभी आचार्यों ने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत इन आठ रसों को तो स्वीकार किया ही है। शान्त रस के विषय में ऐकमत्य नहीं है। अभिनवगुप्त ने शान्त रस को सर्वश्रेष्ठ रस कहा है। उनके मतानुसार मूल नाट्यशास्त्र में भरत ने भी इसका प्रतिपादन किया था, किन्तु शान्त रस के विरोधियों ने भरत के 'बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नवनाट्ये रसाः स्मृताः' पाठ के स्थान पर 'बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'[२] पाठ कर दिया। नाट्यशास्त्र की वर्तमान कुछ प्रतियों में षष्ठ अध्याय के अन्त में शान्त रस का पृथक् प्रकरण है जो अभिनवगुप्त से पूर्व भी नाट्यशास्त्र में सम्मिलित था[३]। उससे कुछ विद्वानों ने कल्पना की है कि भरत ने प्रथम आठ रस तो नाट्य के लिये कहे हैं तथा नाट्य से पृथक् शान्त रस की भी स्थिति मानने के कारण उसके लिये यह पृथक् प्रकरण लिखा है। अभिनवगुप्त नाट्य में भी शान्त की स्थिति स्वीकार करते हैं। अभिनव से पूर्ववर्ती उद्भट ने भी नाट्य में नौ रस माने थे[४]। आनन्दवर्धन शान्त रस को विशिष्ट स्थान देते हैं तथा महाभारत का अंगीरस शान्त ही मानते हैं। धनंजय ने यह निर्णय दिया है कि श्रव्यकाव्य में शान्त रस हो सकता है, पर दृश्य में नहीं[५]। मम्मट का भी यही आशय प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने प्रथम भरत का 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' वाला श्लोक देकर फिर 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः'[६] यह लिखा है।

कतिपय आचार्य उक्त नौ रसों के अतिरिक्त कुछ अन्य रस भी स्वीकार करते हैं। रुद्रट ने प्रेयोरस का उल्लेख किया है, जिसे उसने स्नेहप्रकृति कहा है[७]। भोज ने

---

१. तुलना : सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ सा० द० ३.२,३

२. ना० शा० ६.१५

३. श्लोक ८२ के पश्चात् 'अत्र शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्ष प्रवर्तकः' आदि।

४. का० सा० सं० ४.५

५. शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। द० रू० ४.३५

६. द्रष्टव्य : का० प्र० ४.२९ तथा ३५

७. स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्। काव्यालं०, उ० १५.१७

शृंगारादि नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, उदात्त तथा उद्धत रसों का भी निर्देश किया है[८]। विश्वनाथ नौ रसों के अतिरिक्त एक वात्सल्य रस मानते हैं[९]। कुछ ने श्रद्धा, भक्ति आदि रसों को भी पृथक् माना है, जिनका अन्तर्भाव अन्यों के मत में भाव के अन्दर हो जाता है[१०]।

जयदेव ने शान्त को मिलाकर नौ रस ही परिगणित किये हैं तथा मम्मट के समान शान्त का स्थायीभाव निर्वेद कहा है। इनका विषय नाट्यशास्त्र का प्रतिपादन न होने से ये इस विवाद में नहीं पड़े हैं कि नाट्य में शान्त की स्थिति सम्भव है या नहीं।

भेद-विवेचन

चन्द्रालोक में जयदेव ने शृंगारादि नवों रसों का अति संक्षेप से ही विवेचन प्रस्तुत किया है। भरत ने रसों के उपभेद इस प्रकार दर्शाये थे[११]—शृंगार प्रथम सम्भोग तथा विप्रलम्भ रूप से द्विविध, फिर वाङ्नेपथ्यक्रियात्मक रूप से त्रिविध होता है। हास्य स्मित, हसित, विहसित, उपहसित तथा अपहसित तथा अतिहसित भेद से षड्विध तथा अंग-नेपथ्य-वाक्य रूप से त्रिविध है। करुण त्रिविध है—धर्मोपघातज, अर्थापचयोद्भव तथा शोककृत। रौद्र अंग, नेपथ्य तथा वाक्य रूप से त्रिविध और वीर दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर भेद से त्रिविध है। भयानक के भी तीन भेद हैं—व्याजज, अपराधज तथा वित्रासितक। बीभत्स द्विविध है—क्षोभज तथा उद्वेगी। अद्भुत भी द्विविध है—दिव्य तथा आनन्दज। मम्मट ने सम्भोग शृंगार को एकविध तथा विप्रलम्भ शृंगार को अभिलाष-विरह-ईर्ष्या-प्रवास-शापहेतुक रूप से पंचविध कहा था। जयदेव ने पूर्वाचार्यों से प्रतिपादित रसों के ये उपभेद नहीं दर्शाये हैं। केवल शृंगार के सम्भोग तथा विप्रलम्भ भेदों का निर्देश किया है। विभावों के आलम्बन तथा उद्दीपन रूपों की भी चर्चा नहीं की। ३३ व्यभिचारी भावों का परिगणन इन्होंने भी मम्मट के समान नाट्यशास्त्र की 'निर्वेदग्लानिशङ्काख्याः' आदि कारिकाओं द्वारा ही किया है[१२]। जयदेव के पृथक्-पृथक् रसों के विवेचन को निम्न तालिका द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है[१३]।

---

८. शृंगारवीरकरुणरौद्राद्भुतभयानकाः।
बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धता रसाः॥ सर० कण्ठा० ५.१६४

९. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। सा० द० ३.२५१

१०. रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाञ्जितः, भावः प्रोक्तः। का० प्र० ४.१२
भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रस त्वानुपपत्तेः—जगन्नाथः र० गं०। निर्णयसागर १९१६, पृ० ४५

११. द्रष्टव्य : ना० शा० ६.५४–८२

१२. ना० शा० ६.१८–२१, च० ६.१५–१८

१३. च० ६.४–१३

रस	स्थायीभाव	विभाव	अनुभाव	संचारीभाव
१. शृंगार (सम्भोग तथा विप्रलम्भ)[१४]	रति	वल्लभादि	कटाक्षादि	आलस्येर्ष्या-जुगुप्सावर्जित[१५] उन्मादादि
२. हास्य	हास	वैरूप्यादि	फुल्लगण्डत्वादि	अवहित्थादि
३. करुण	शोक	अभीष्टविप्रयोगादि	अश्रुपातादि	ग्लान्यादि
४. रौद्र	क्रोध	मात्सर्यादि	हस्तनिष्पेषादि	संमोहादि
५. वीर	उत्साह	प्रभावादि	स्थैर्यादि	गर्वादि
६. भयानक	भय	व्याघ्रादि	वेपितादि	मोहादि
७. बीभत्स	जुगुप्सा	अनिष्टेक्षणादि	निष्ठीवादि	मोहादि
८. अद्भुत	विस्मय	मायादि	रोमांचादि	स्तम्भादि
९. शान्त	निर्वेद	सत्संगादि	क्षमादि	स्तम्भादि

यहाँ जयदेव ने रस-दोष, उनके दोषांकुश, रसों का परस्पर विरोध, रस-विरोधपरिहारोपाय आदि का वर्णन नहीं किया है, जिनका उल्लेख काव्यप्रकाशादि में आता है। भरतोक्त सात्त्विक भावों[१६] का भी इन्होंने निरूपण नहीं किया है। इसका कारण इनकी संक्षेपप्रियता ही है।

भाव—रति यदि कान्ताविषयक न होकर देव, नृप, मुनि, गुरु, सुत आदि विषयक हो तो वह शृंगारध्वनि न कहलाकर भावध्वनि कहलाती है। साथ ही यदि कहीं व्यभिचारिभाव ही प्रधानतया व्यङ्ग्य हों तो उसे भी भावध्वनि कहते हैं।

रतिर्देवादिविषया सन्ति च व्यभिचारिणः।
वेद्यमाना निगद्यन्ते भावाः साहित्यवेदिभिः॥ च० ६.१४

भावध्वनि के इस निरूपण में जयदेव ने मम्मट का ही अनुसरण किया है[१७]।

---

१४. चन्द्रालोक में सम्भोग तथा विप्रलम्भ के पृथक्-पृथक् विभावादि का उल्लेख नहीं है।

१५. यहाँ जुगुप्सा के उल्लेख से सूचित होता है कि क्वचित् स्थायीभाव भी व्यभिचारी हो सकते हैं। भरत ने शृंगार में आलस्य, औग्र्य तथा जुगुप्सा को वर्जित किया है—व्यभिचारिणश्चालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः। विश्वनाथ मरण को भी सम्मिलित करते हैं—त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्साव्यभिचारिणः, सा० द० ३.१८६। पर कुछ स्थितियों में विप्रलम्भ में मरण के वर्णन की स्वीकृति भी देते हैं—सा० द० ३.१९३, १९४।

१६. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मता॥ ना० शा० ७.९४

१७. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः, भावः प्रोक्तः॥ का० प्र० ४.३५

दर्पणकार ने एक तीसरे प्रकार की भी भावध्वनि कही है--स्थायी का उद्‌बुद्धमात्र होना[१८]।

रसाभास तथा भावाभास—रस एवं भाव में किसी प्रकार का अनौचित्य होने पर क्रमशः रसाभास तथा भावाभास कहलाता है। उदाहरणार्थ नायिका का नायक के प्रति अनुराग होना तो उचित है, पर यदि वह सर्वसाधारण के प्रति उपनिबद्ध किया जाये तो शृंगाररसाभास होगा। इसी प्रकार देव, नृप, मुनि आदि के प्रति रति होना तो भाव है, परन्तु सर्वसाधारण के प्रति उसका वर्णित होना भावाभास कहलायेगा।

सर्वसाधारणप्रेमप्रश्रयादिस्वरूपया।
अनौचित्या रसाभासा भावभासाश्च कीर्तिताः॥ च० ६.१९

रस एवं भाव के अनौचित्य के रूपों की चर्चा विश्वनाथ के विस्तार से की है। उनके अनुसार रति यदि उपनायकगत, मुनिपत्नी या गुरुपत्नी विषयक्त वहुनायकगत, नायक-नायिका में से किसी एक में ही विद्यमान, प्रतिनायकगत, अधमपात्रगत या पशुपक्षिनिष्ठ हो तो शृंगार का अनौचित्य होता है। इसी प्रकार कोप के गुरु आदि गत होने पर रौद्र का, शम के हीननिष्ठ होने पर शान्त का, हास के गुरु आदि विषयक होने पर हास्य का, उत्साह के ब्रह्मवधादि विषयक होने पर तथा अधमपात्रगत होने पर वीर का और भय के उत्तमपात्रगत होने पर भयानक का अनौचित्य होता है। वेश्या आदि में लज्जा आदि का अभिव्यञ्जन भावाभास होता है[१९]।

भावशान्त्यादि—भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता ये चारों भी काव्य में उसी प्रकार कान्ति लाते हैं, जैसे सुवर्ण में कुंकम।

भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा।
काव्यस्य काञ्चनस्येव कुंकुमं कान्तिसम्पदे॥ च० ६.२०

जयदेव ने इनका उल्लेखमात्र किया है। इनके उदाहरण काव्यप्रकाश आदि में दिये गये हैं। मम्मट का कथन है कि काव्य में रस की मुख्यता होने पर भी कभी-कभी राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् ये भी अंगी हो जाते हैं[२०]। ध्वन्यालोककार ने रस के समान इन्हें भी काव्य की आत्मा माना है—

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥ ध्वन्या २.२५

जहाँ अकस्मात् किसी कोप आदि व्यभिचारिभाव की शान्ति चमत्कारजनक हो वहाँ भावशान्तिध्वनि, जहाँ औत्सुक्य आदि किसी व्यभिचारिभाव का उदय चमत्काराधायक हो वहाँ भावोदयध्वनि, जहाँ दो या अधिक व्याभिचारिभावों का

---

१८. संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥ सा० द० ३.२६०, २६१

१९. सा० द० ३.२६३–२६६

२०. मुख्ये रसेऽपितेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन। का० प्र० ४.३७

संमिश्रण चमत्कारकारी हो वहाँ भावसन्धिध्वनि, और जहाँ कुछ व्यभिचारिभावों का क्रमशः उपमर्द्योपमर्दकभाव चमत्कृतिवह हो वहाँ भावशबलताध्वनि होती है।

२. रीति

रीति का इतिहास

रीति शब्द गत्यर्थक रीङ् धातु से क्तिन् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। अतः इसका अर्थ मार्ग, प्रस्थान, गति, शैली आदि है[२१]। भारत के नाट्यशास्त्र में रीति का उल्लेख नहीं हुआ है, यद्यपि रीति की आधारभूत चार प्रवृत्तियों—आवन्ती, दाक्षिणात्य, औड्रमागधी तथा पाञ्चाली की चर्चा भरत ने की है[२२]। बाणभट्ट के समय में उदीच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य तथा गौड ये चार शैलियाँ प्रचलित थीं[२३], भले ही इनका रीति नाम से उसने उल्लेख नहीं किया है। रीति के प्रतिपादक प्रथम अलंकारिक **भामह** कहे जा सकते हैं। इन्होंने अपने काव्यालंकार में वैदर्भ तथा गौडीय मार्गों को उल्लिखित किया है। इनका कथन है कि केवल नाम से वैदर्भ या गौडीय मार्ग श्रेष्ठ या हीन नहीं होते। अलंकार युक्त, अग्राम्य, अर्थवान्, न्याय्य तथा अनाकुल होने पर गौडीय मार्ग भी श्रेष्ठ है, इसके विपरीत होने पर वैदर्भ भी श्रेष्ठ नहीं है[२४]।'

दण्डी ने भी भामह के समान वैदर्भ तथा गौडीय मार्गों का ही निरूपण किया है, किन्तु अधिक व्यवस्थित रूप में। इन्होंने श्लेष, प्रसाद, समता आदि दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा है, तथा गौड मार्ग में इनका प्रायः विपर्यय बतलाया है[२५]। अर्थव्यक्ति, औदार्य तथा समाधि ये तीनों गुण दोनों मार्गों में अनिवार्य हैं।

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। वे गुणविशिष्ट पदरचना को रीति कहते हैं। उनके मत में रीतियाँ तीन हैं—वैदर्भी, गौडीया तथा पांचाली। विदर्भ आदि देशों में प्राप्त होने से इनके ये नाम पड़े हैं। वैदर्भी में समग्र गुण रहते हैं, गौडी में ओजस् तथा कान्ति नामक दो गुण तथा पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य नामक दो गुण। वामन ने इनमें से सकलगुणयुक्त होने से वैदर्भी को ग्राह्य बताया है,

---

२१. वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥ सर० कण्ठा० २.२७

२२. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी ॥ ना० शा० १४.३६

२३. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थगौरवम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षर डम्बरः ॥ ह० च० १.७

२४. अलंकारवदग्राम्यर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमपि नान्यथा ॥ काव्यलं०, भा० १.३५

२५. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वभोजःकान्तिसमाधयः ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥ काव्या० १.४१, ४२

तथा स्तोकगुण होने से अन्यों को अग्राह्य। कुछ आचार्य वैदर्भी की प्राप्ति के लिए अन्य रीतियों का अभ्यास आवश्यक मानते हैं। पर वामन इससे सहमत नहीं हैं। समस्त पद प्रयुक्त न हों तो वही वैदर्भी शुद्ध वैदर्भी कहाती है[२६]।

रुद्रट से रीति के इतिहास का द्वितीय युग प्रारम्भ होता है, जब रीतियों का भौगोलिक महत्त्व न रहकर वर्ण्य विषय से सम्बन्ध माना जाने लगा। रुद्रट ने वामनोक्त तीन रीतियों में लाटीया नामक चतुर्थ रीति को भी संनिविष्ट कर लिया है। इन्होंने रीति का विभाजन एक नवीन रुप में समास या असमास के आधार पर किया है। वैदर्भी रीति में समास बिल्कुल नहीं होता। लघुसमासवती पांचाली, मध्यसमासवती लाटीया तथा दीर्घसमासवती गौडीया कहाती है। पांचाली में दो या तीन पदों का समास, लाटीया में पांच या सात पदों का समास तथा गौडीया में यथाशक्ति अधिक पदों का समास रहता है[२७]। रसों के अनुकूल रीतियों के चुनाव की बात भी सर्वप्रथम रुद्रट ने ही कही है। इनके अनुसार वैदर्भी तथा पांचाली का प्रयोग श्रृंगार, प्रेय, करुण भयानक तथा अद्‌भुत रसों में किया जाना चाहिए, जबकि लाटीया और गौडीया का संनिवेश रौद्र रस में होना उचित है[२८]। शेष रसों में रीति का कोई नियम नहीं है।

आनन्दवर्धन ने रीति को संघटना कहा है। इनके मत में माधुर्यादि गुणों पर आश्रित होकर रसों को अभिव्यक्त करने वाली यह संघटना असमास, मध्यम समास तथा दीर्घ समास के आधार पर तीन प्रकार की होती है[२९]।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में गौडीया, पांचाली तथा वैदर्भी इन तीन रीतियों का उल्लेख किया है तथा उनका प्रवृत्तियों एवं वृत्तियों से सम्बन्ध भी बतलाया है। वेषविन्यासक्रम को प्रवृत्ति, विलासविन्यासक्रम को वृत्ति तथा वचनविन्यासक्रम को रीति कहते हैं। इनके अनुसार गौडी रीति में वाक्य समासबहुल अनुप्रासबहुल तथा योगवृत्तिपरम्परागर्भित होता है, पांचाली में वाक्य ईषत्‌सम.सयुक्त,

---

२६. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टपदरचना रीतिः। विशेषोगुणात्मा। सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति। विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या। समग्रगुणा वैदर्भी। ओजःकान्तिमती गौडीया। माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्। न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्।······सापि समासाभावे शुद्धवैदर्भी। काव्यालं० सू० १.२.६–१६

२७. द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया॥
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव॥ काव्यालं० रु० २.५,६

२८. इह वैदर्भी रीतिः पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया।
मधुराललिते कविना कार्ये वृत्ती तु श्रृंगारे॥ वही १४.३७

२९. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥ ध्वन्या० ३.५

ईषद्नुप्रासयुक्त तथा उपचारगर्भित और वैदर्भी में समासरहित, उचित स्थान में अनुप्रासयुक्त तथा योगवृत्तिगर्भित रहता है[३०]। राजशेखर वैदर्भी को ही श्रेष्ठ मानते हैं। इन्होंने जो कथा लिखी है उसमें साहित्यविद्यावधू जब वैदर्भी में बोली तभी काव्यपुरुष उसके प्रति आकृष्ट हुआ। उक्त तीन वृत्तियों के अतिरिक्त इन्होंने कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में मागधी वृत्ति तथा बालरामायण के दशम अंक में मैथिली वृत्ति का भी उल्लेख किया है।

कुन्तक रीतिनिरूपण के प्रसंग में विशेष आदर के साथ देखे जाते हैं। ये रीति के इतिहास में तृतीय युग के आरंभक माने गये हैं। इन्होंने देशविशेष के सम्बन्ध में रीतियों को सर्वथा स्वतन्त्र करने के लिए रीतियों के नवीन नामों का प्रवर्तन किया है। ये वैदर्भी रीति को सुकुमारमार्ग, गौडी रीति को विचित्रमार्ग तथा पांचाली रीति को मध्यममार्ग कहते हैं[३१]। रीति का सम्बन्ध कवि के स्वभाव से मानते हैं[३२]। निसर्गतः सरस, मधुर तथा प्रसादमयी पदावली के विन्यास से समन्वित मार्ग का नाम है सुकुमारमार्ग[३३]। अलंकारप्राण मार्ग का नाम विचित्र मार्ग है। इस मार्ग में शोभावर्धन के लिए एक पर एक अलंकार आता चलता है, तथा उक्तिवैचित्र्य की ही महिमा होती है[३४]। मध्यममार्ग में सौकुमार्य तथा वैचित्र्य दोनों मार्गों का यथोचित मिश्रण रहता है[३५]। इन मार्गों के विशिष्ट तथा साधारण गुणों का भी कुन्तक ने वर्णन किया है। विशिष्ट गुण हैं माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य। ये तीनों मार्गों में प्रकारान्तर के साथ अपने-अपने विशिष्ट रूप में पाये जाते हैं। तीनों मार्गों में समान रूप से पाये जाने वाले साधारण गुण औचित्य तथा सौभाग्य हैं।

भोजराज ने वैदर्भी, गौडी, पांचाली तथा लाटी इन पूर्वोक्त चार रीतियों में आवन्तिका और मागधी ये दो रीतियाँ बढ़ाकर रीतियों की संख्या ६ तक पहुंचा दी है। इन्होंने वामन के समान गुणों को तथा रुद्रट के समान समास को आधार मानकर रीति का स्वरूप निरूपित किया है। आवन्तिका इनके अनुसार पांचाली तथा वैदभी के मध्य की रीति है, जिसमें दो, तीन या चार पदों का समास रहता है, समस्त

---

३०. तया यदवशंवदीकृतः समासवदनुप्रासवद्योगवृत्तिपरम्परातद्गर्भं जगाद सा गौडीया रीतिः।······तया यदीषद्वशंवदीकृत ईषदसमासम् ईषदनुप्रासमुपचार-गर्भं च जगाद सा पांचाली रीतिः।······तया वशंवदीकृतः स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भं च जगाद सा वैदर्भी रीतिः। काव्यमी०, ३य अध्याय।

३१. व० जी० १.२४

३२. कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते। वही, वृत्ति

३३. बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग २, संवत् २०१२, पृ० १८३। इस मार्ग की परिभाषा के लिये द्रष्टव्य व० जी० १.२५–२९

३४. द्रष्टव्य, व० जी० १.३४–४३

३५. द्रष्टव्य, वही १.४६–५१

रीतियों का मिश्रण लाटीया, तथा पूर्व रीतियों में किसी एक से आरम्भ करने पर उसका निर्वाह न होने पर खण्डरीति मागधी कहलाती है[३६]।

मम्मट माधुर्यव्यंजक वर्णों से युक्त उपनागरिका वृत्ति, ओजःप्रकाशक वर्णों से समन्वित परुषावृत्ति तथा प्रसादप्रत्यायकवर्णयुक्त कोमला वृत्ति का प्रतिपादन कर कहते हैं कि किन्हीं के मत में ये ही वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली रीतियाँ कहलाती हैं[३७]। एवं इन्होंने वृति तथा रीति में अभेद माना है।

जयदेव-प्रतिपादित रीतियां

जयदेव ने चार रीतियां मानी हैं—पांचाली, लाटीया, गौडीया तथा वैदर्भी। इनका रीतिनिरूपण रुद्रट से प्रभावित है। रुद्रट के ही समान इन्होंने भी रीतिविभाजन का आधार समास-असमास को माना है। इनके अनुसार चार पद तक का समास होने पर पांचाली, चार से आगे सात पद तक समास होने पर लाटीया, आठ या इससे अधिक पदों का समास होने पर गौडीया और सर्वथा समास न होने पर वैदर्भी रीति होती है।

आतुर्यमासप्तमं च यथेष्टैरष्टमादिभिः।
समासः स्यात् पदैर्न स्यात् समासः सर्वथापि च ।।
पाञ्चालिकी च लाटीया गौडीया च यथारसम्।
वैदर्भी च यथासंख्यं चतस्रो रीतयः स्मृताः ।। च० ६.२१,२२

यहाँ 'यथारसम्' शब्द विशेष महत्त्व रखता है। रुद्रट के समान जयदेव भी रीतियों को रस का अनुगामी मानते हैं। प्रत्येक रस में प्रत्येक रीति का प्रयोग नहीं हो सकता। सामान्यतः शृंगार में वैदर्भी, रौद्र और वीर में गौडीया तथा अन्य रसों में पांचाली और लाटी का प्रयोग होता है[३८]।

चन्द्रालोक की राकागम तथा रमा टीकाओं में इन रीतियों के निम्न उदाहरण दिये हैं—

---

३६. तत्रासमासा निःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ।।
समस्तपञ्चषपदामोजःकान्तिविवर्जिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चाली कवयो विदुः ।।
समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयेति विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षण। ।।
अन्तराले तु पाञ्चालीं वैदर्भ्योर्यावतिष्ठते।
सावन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः ।।
समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरिष्यते।
पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी ।। सर० कण्ठा० २.५३–५७

३७. का० प्र० ९.८०, ८१

३८. शृंगारे वैदर्भी, रौद्रवीरयोर्गोडीया, अन्यत्र पांचालीलाटीये इत्यर्थः। राकागमन तथा रमा०

पांचाली

मदननृपतियात्राकालविज्ञापनाय,
स्फुरति जलधिमध्ये ताम्रपात्रीव भानुः ।
अयमपि पुरुहूतप्रेयसीमूर्ध्नि पूर्णः,
कलश इव सुधांशुः साधुरुल्लालसीति ।।

लाटीया

अस्ताद्रिलम्बिरविबिम्बतयोदयाद्रि-
चूडोन्मिषत्सकलचन्द्रतया च सायम् ।
सन्ध्याप्रनृत्तहरहस्तगृहीतकांस्य-
तालद्वयेव समलक्ष्यत नाकलक्ष्मीः ।।

गौडीया

एतद्दत्तासिघातस्रवदसृगसुहृद्वंशसान्द्रेन्धनैतद्-
दोर्दण्डोद्यत्प्रतापज्वलदनलमिलद्भूमधूमभ्रमाय ।
एतद्दिग्जैत्रयात्रासमसमरभरं पश्यतः कस्य नासी-
देतन्नासीरवाजिव्रजखुरजरजोराजिराजिस्थलीषु ।।

वैदर्भी

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम् ।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः ।।

जयदेव से उत्तरवर्ती विश्वनाथ कविराज ने भी ये ही चार रीतियाँ स्वीकार की हैं, तथा इन्हें रसादि की उपकर्त्री कहा है । इनके मत में माधुर्यव्यंजक वर्णों से की हुई ललितात्मिक रचना, जिसमें समास सर्वथा न हो अथवा अल्प हो, वैदर्भी कहाती है । ओजःप्रकाशक वर्णों से रचित आडम्बरपूर्ण रचना, जो समासबहुल हो, गौडी कहाती है । शेष वर्णों से की हुई पाँच-छः समस्त पदों वाली रचना को पांचाली, और वैदर्भी तथा पांचाली के मध्य की रचना को, जिसमें दोनों रीतियों की विशेषताएँ विद्यमान हों, लाटी कहते हैं[३९] ।

३. मधुरादि वृत्तियां

संक्षिप्त इतिहास

वृत्ति शब्द 'वृतु वर्तने' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर बनता है । इसका अर्थ व्यापार है । अभिनवगुप्त का कथन है कि शरीर, वाणी तथा मन की वैचित्र्य-युक्त चेष्टाएँ ही वृत्तियां कहाती हैं[४०] । भारतमुनि ने वृत्तियों को सभी काव्यों की, विशेष रूप से नाट्य की, माताएँ कहा है[४१] । वृत्तियों की उत्पत्ति विष्णु द्वारा मधुकैटभ के वध से दिखाई गई है । इस भयानक युद्ध में विष्णु ने जो विविध चेष्टाएँ प्रदर्शित

---

३९. सा० द० ९.१–५

४०. कायवाङ्मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः । अभि० भा०

४१. सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः । ना० शा० २०.४ वृत्तयो नाट्य-मातरः । वही २२.६४

कीं उन्हीं से नाट्यवृत्तियों का जन्म हुआ[४२]। ये वृत्तियाँ चार हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। कैशिकी वृत्ति शृंगार और हास्य में प्रयुक्त होती है, सात्वती वीर, रौद्र तथा अद्भुत में, आरभटी भयानक, बीभत्स और रौद्र में तथा भारती करुण और अद्भुत में[४३]।

उक्त नाट्यवृत्तियों के अतिरिक्त उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनुप्रासवृत्तियों का भी उल्लेख किया है। उद्भट ने अनुप्रास के छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास ये तीन भेद बतलाकर वृत्त्यनुप्रास की व्याख्या करते हुए परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या नामक तीन वृत्तियाँ वर्णित की हैं[४४]। रुद्रट अनुप्रासों की पाँच वृत्तियों का उल्लेख करते हैं—मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा[४५]। भोजराज ने अनुप्रास-वृत्ति निम्न बारह भेदों में विभक्त की है[४६]—

१. कर्णाटी	वर्णानुप्रासवती
२. कौन्तली	चवर्गानुप्रासवती
३. कौंकी	टवर्गानुप्रासवती
४. कौंकणी	तवर्गानुप्रासवती
५. बाणवासिका	पवर्गानुप्रासवती
६. द्राविडी	अन्तःस्थानुप्रासवती
७. माथुरी	ऊष्मानुप्रासवती
८. मात्सी	द्वित्रिवर्गानुप्रासवती
९. मागधी	द्वाभ्यां विदर्भितैकवर्ग्या
१०. ताम्रलिप्तिका	स्वान्त्यसंयोगिवर्ग्या
११. औण्ड्री	सरूपसंयोगग्रथिता
१२. पौण्ड्री	असरूपसंयोगग्रथिता

इनके अतिरिक्त अन्य बारह वृत्तियों का भी भोज ने सोदाहरण निर्देश किया है, यद्यपि अन्त में उन्होंने यह कह दिया है कि इनका समता-सौकुमार्यादि गुणों में या भारती आदि वृत्तियों में ही अन्तर्भाव हो सकता है, अतः इन्हें पृथक् मानने की

४२. वही २२.११–१४

४३. ना० शा० २२.६५,६६

४४. शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद् ह्वह्यन्याद्यैश्च संयुता॥
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्त उपनागरिकां बुधाः॥
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं ग्रथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृत बुद्धयः॥ का० सा० सं० १.६ ८ १०

४५. काव्यालं० रु० २.१९–३२

४६. सर० कण्ठा० २.७९,८०

आवश्यकता नहीं है[४७]। ये बारह वृत्तियाँ निम्न श्लोक में उपवर्णित हैं—

गम्भीरौजस्विनी प्रौढा मधुरा निष्ठुरा श्लथा।
कठोरा कोमला मिश्रा परुषा ललिता मिता॥[४८]

आनन्दवर्धन काव्य में नाट्यवृत्तियों तथा अनुप्रासवृत्तियों दोनों का महत्त्व स्वीकार करते हैं। उनके मत में कैशिकी आदि वृत्तियाँ रसानुगुण अर्थव्यवहार रूप हैं तथा उपनागरिका प्रभृति अनुप्रासवृत्तियाँ शब्दव्यवहार रूप[४९]। मम्मट के मत में नियतवर्णगत रसविषयक व्यापार का नाम वृत्ति है[५०] तथा ये वृत्तियाँ उपनागरिका, परुषा तथा कोमला भेद से त्रिविध होती हैं[५१]। मम्मट ने वृत्तियों तथा रीतियों में भेद नहीं किया है, क्योंकि वे कहते हैं कि ये वृत्तियाँ ही किन्हीं के मत में वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली रीतियाँ कहलाती हैं[५२]।

जयदेव का वृत्ति निरूपण

जयदेव रीति के समान वृत्तियों के निरूपण में भी रुद्रट से प्रभावित हैं। रुद्रट के समान इन्होंने भी मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा ये पाँच वृत्तियाँ ही स्वीकार की हैं। चन्द्रालोक में इनके लक्षण तथा उदाहरण निम्न हैं—

मधुरा

मधुरायां समाक्रान्ता वर्गस्थाः पञ्चमैर्निजैः।
लकारश्च लसंयुक्तो ह्रस्वव्यवहितौ रणौ॥ च० ६.२३

मधुरा वृत्ति में अपने-अपने पंचम वर्णों से संयुक्त वर्ग-व्यंजन ङ्क, ङ्ग, ञ्च, ञ्ज आदि ल से संयुक्त ल तथा ह्रस्व स्वर से व्यवहित र्-ण् (रण, रिण, रुण आदि) प्रयुक्त होते हैं। यथा—

अङ्गभङ्गोल्लसल्लीला तरुणी स्मरतोरणम्। च० ६.२७

रुद्रट ने भी मधुरा वृत्ति का लक्षण यही लिखा है। केवल शब्दों में अन्तर है।

निजवर्गान्त्यैर्वर्ग्याः संयुक्ता उपरि सन्ति मधुरायाम्।
तद्युक्तश्च लकारो रणौ च ह्रस्वस्वरान्तरितौ॥

काव्यालं०, रु० २.२०

---

४७. इति द्वादशधा वृत्तिः कैश्चित् या कथितेह सा।
न गुणेभ्यो न वृत्तिभ्यः पृथक्त्वेनावभासते॥ वही २.८७

४८. वही २.८५

४९. द्रष्टव्य, ध्वन्या० ३.३३ तथा वृत्ति

५०. वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। का० प्र० ९.७९ वृत्ति

५१. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकेष्यते।
ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः॥ वही ९.८०

५२. "केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः॥"
एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडी-
पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः। वही ९.८१ तथा वृत्ति

साथ ही रुद्रट ने उक्त वर्णों के प्रयोग में यह नियम भी दिया है कि र्–ण् की यथाशक्ति जितनी बार चाहें आवृत्ति कर सकते हैं, लकार का प्रयोग युक्तिपूर्वक दो या तीन ही बार किया जाये तथा वर्ग्य वर्णों का प्रयोग पाँच से अधिक बार न हो। यथा—

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किं त्वदीयं मे॥
अनुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम्।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते॥

काव्यालं०, रु० २.२२,२३

प्रौढा

रेफाक्रान्ता वर्ग्ययणाष्टवर्गात् पञ्चमाहृते।
कपाक्रान्तस्तवर्गः स्यात् प्रौढायां च कमूर्धता॥ च० ६.२४

प्रौढ़ा वृत्ति में टवर्ग तथा प्रति वर्ग के पंचम अक्षरों को छोड़कर शेष वर्ग-व्यंजन तथा यकार और णकार ऊपर रेफ से संयुक्त होते हैं। पूर्व ककार या पकार से संयुक्त तवर्ग (क्त, प्त आदि) प्रयुक्त होता है और जिसमें पूर्व त् हो ऐसा त्–क् का संयोग (त्क) आता है। यथा—

तर्ककर्कशपूर्णोक्तिप्राप्तोत्कटधियां वृथा॥ च० ६.२७

उक्त लक्षणोदाहरण के साथ प्रौढावृत्ति के रुद्रटप्रोक्त निम्न लक्षण तथा उदाहरण तुलनीय हैं—

अन्त्यटवर्गान्मुक्त्वा वर्ग्ययणा उपरि रेफसंयुक्ताः।
कपटयुक्तश्च तकारः प्रौढायां कस्तयुक्तश्च॥
कार्याकार्यमनार्यैरुन्मार्गनिरर्गलैर्गलन्मतिभिः।
नाकर्ण्यते विकर्णैर्युक्तोक्तिभिरुक्तमुक्तमपि॥

काव्यालं०, रु० २.२४,२५

परुषा

सर्वैरूर्ध्वैः सकारस्य सर्वं रेफस्य सर्वथा।
रहोर्द्वेधा तु संयोगः परुषायां शषौ स्वतः॥ च० ६.२५

परुषा वृत्ति में सभी व्यंजनों के उत्तर में स् का संयोग, सभी व्यंजनों के उत्तर या पूर्व कहीं भी रेफ का संयोग, र् और ह् का द्वेधा संयोग (र्ह या ह्र) और श, ष का स्वतन्त्र प्रयोग होता है। यथा—

वीप्सोत्सर्पन्मुखाग्रार्द्रं बर्ही जह्रे कृशस्तृषम्॥ च० ६.२८

परुषावृत्ति के रुद्रटोक्त लक्षण तथा उदाहरण निम्न हैं—

सर्वैरुपरि सकारः सर्वे रेणोभयत्र संयुक्ताः।
एकत्रापि हकारः परुषायां सर्वथा च शषौ॥
लिप्सून्सर्वान्सोऽन्तर्ब्रह्मोद्यैर्ब्राह्मणैर्वृतः पश्यन्।
जिह्रेत्यगर्ह्यबर्हिशेषशयः कोषशून्यः सन्॥

काव्यालं०, रु० २.२६,२७

साथ ही रुद्रट ने परुषा वृत्ति के सम्बन्ध में यह नियम भी लिखा है कि परुष अर्थ वाले वचन तथा अनुकरण से अतिरिक्त स्थलों में इस वृत्ति की रचना नहीं करनी चाहिये। यदि कोई दूसरा मार्ग न हो तो भी ह्ल आदि को तो त्यक्त रखना ही चाहिये।

परुषाभिधायिवचनादनुकरणाच्चापरत्र नो परुषाम्।
रचयेदथागतिः स्यात् तत्रापि ह्लादयो हेयाः॥

काव्यालं०, रु० २.२८

ललिता, भद्रा

लकारोऽन्यैरसंयुक्तो लघवो घमधा रसौ।
ललितायां तथा शेषा भद्रायामिति वृत्तयः॥ च० ६.२६

ललिता वृत्ति में अन्य व्यंजनों से असंयुक्त लकार तथा घ्, म्, ध्, र् और स् लघु स्वर से युक्त प्रयुक्त होते हैं। उक्त चारों वृत्तियों से अवशिष्ट वर्णों का प्रयोग भद्रा वृत्ति में होता है[53]। यथा—

ललना रभसं धत्ते घनाटोपे महीयसि। च० ६.२८

यहाँ घना पर्यन्त ललितावृत्ति तथा 'टोपे महीयसि' में भद्रा वृत्ति है।

ललिता और भद्रा के रुद्रटप्रदर्शित लक्षण-उदाहरण निम्न हैं—

ललितायां घधमरसा लघवो लश्चापरैरसंयुक्तः।
परिशिष्टा भद्रायां पृथगथवा श्रव्यसंयुक्ताः॥
मलयानिलललनोल्ललमदकलकलकण्ठकलकललललामः।
मधुरमधुविधुरमधुपो मधुरयमधुना धिनोति धराम्॥
उत्कटकरिकरटतटस्फुटपाटनसुपटुकोटिभिः कुटिलैः।
खेलेऽपि न खलु नरवरैरुल्लिखति हरिः खरैराखुम्॥

काव्यालं०, रु० २.२९–३१

जयदेव ने यद्यपि शब्दालंकार के प्रकरण में वृत्त्यनुप्रास को स्वीकार किया है, तथापि उपर्युक्त वृत्तियों का विचार अनुप्रास के प्रकरण में न करके स्वतन्त्र रूप से किया है। वृत्तियों के जो उदाहरण दिये हैं उनमें भी सानुप्रास, निरनुप्रास तथा मिश्रित तीनों प्रकार के उदाहरण हैं। परन्तु रुद्रट ने वृत्तियों का उल्लेख अनुप्रास के ही प्रकरण में किया है तथा सब वृत्तियों को अनुप्रास के ही भेद माना है। जयदेव का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि वृत्तियाँ अनुप्रास से स्वतन्त्र भी रह सकती हैं।

रीति और वृत्ति में अन्तर

काव्यशास्त्रियों ने रीति और वृत्ति का जो विचार किया है उससे इनका कोई निर्णायक अन्तर स्पष्ट नहीं हो सका है। कैशिकी आदि वृत्तियाँ, जिन्हें आनन्दवर्धन ने अर्थवृत्तियाँ कहा है, पदसंघटनारूप रीतियों से स्पष्टतः ही पृथक् हैं। किन्तु अनुप्रास-

---

५३. पकारादयोऽन्यैः संयुक्ता असंयुक्ता वा यत्रोच्चार्यन्ते सा भद्रेत्यर्थः। वक्ष्यत उदाहरणम्, टोपे महीयसीति, अत्र सर्वेषामसंयुक्तत्वात्। राकागम०

जातिरूप वर्णवृत्तियों तथा रीतियों में अन्तर विचारणीय है। इस सम्बन्ध में तीन मत प्रस्तुत किये जा सकते हैं[५४]।

१. वृत्ति की सत्ता रीति से स्वतन्त्र है।
२. वृत्ति रीति से अभिन्न है।
३. वृत्तियाँ रीति का अंग हैं।

वृत्ति को रीति से अभिन्न मानने वाले मम्मट के मत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी वैदर्भी आदि के लिये रीति और वृत्ति दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया है। एवं उत्तरवर्ती आचार्यों में इन्हें एक मानने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त यदि वृत्ति किसी विशिष्ट वर्ण-गुम्फ का ही नाम है तो यह पदसंघटना रूप रीति का ही एक अंग ठहरती है। तो भी प्राचीन काल से वृत्ति और रीति में भेद माना जाता रहा है। रुद्रट एवं जयदेव के अनुसार दोनों में यह भेद है कि रीति समास-असमास मूलक है, जबकि वृत्ति वर्णमूलक है[५५]। अतएव मम्मट के विचार से असहमत होते हुए जयदेव ने रीति तथा वृत्ति का प्रकरण पृथक्-पृथक् उपनिबद्ध किया है। तथापि यह स्थापना सर्वांश में उचित नहीं कही जा सकती कि रीति केवल समासमूलक ही है। समास तो उसके निर्धारण का एक अंग मात्र है। उसके साथ माधुर्यव्यंजक, ओजःप्रकाशक आदि नियत वर्णों की योजना भी रीति-निर्धारण में हेतु है[५६]।

४. शब्द-वृत्तियाँ

व्याकरण, दर्शनशास्त्र एवं साहित्यशास्त्र में प्रायः तीन शब्दशक्तियाँ स्वीकार की जाती हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। अभिहितान्वयवादी भाट्ट मीमांसकों के अनुकरण पर कुछ साहित्यशास्त्री तात्पर्यशक्ति को भी मानते हैं। इन शक्तियों को वृत्ति नाम से भी अभिहित किया जाता है। साहित्यशास्त्र में प्रायः वृत्ति नाम ही मिलता है। साहित्यशास्त्र में शक्ति नाम सर्वप्रथम महिम भट्ट ने दिया तथा उसके बाद दर्पणकार ने भी इन्हें शक्ति ही कहा है। मम्मट ने इन्हें व्यापार संज्ञा दी हैं। जयदेव ने इन्हें वृत्ति नाम से ही कहा है तथा तीन ही वृत्तियाँ मानी हैं।

वृत्तिभेदैस्त्रिभिर्युक्ता स्रोतोभिखि जाह्नवी।
भारती भाति गम्भीरा कुटिला सरला क्वचित्॥ च० ७.१

तीन स्रोतों से त्रिपथगा जाह्नवी के समान तीन वृत्तियों से युक्त होकर कवि भारती कहीं गम्भीर, कहीं वक्र और कहीं सरल होती हुई शोभित होती है[५७]।

---

५४. द्रष्टव्य : हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, आचार्य विश्वेश्वर, सन् १९५४, की नगेन्द्र लिखित भूमिका पृ० ५३, ५४

५५. अत्र तु रीतीनां समासव्यङ्ग्यत्वं वृत्तीनां तु वर्णानुपूर्वीव्यङ्ग्यत्वमिति भेद उक्तः। राकागम तथा रमा०

५६. द्रष्टव्य : विश्वनाथः, सा० द० ९.१–४

५७. यहाँ शरदागम, राकागम तथा रमा तीनों टीकाओं में यह योजना मिलती है कि व्यंजनावृत्ति से गम्भीर, लक्षणा से कुटिल तथा अभिधा से सरल।

अभिधा

साक्षात् संकेतिन अर्थ मुख्यार्थ कहाता है। उस मुख्यार्थ का अभिधान करने वाले शब्द को वाचक शब्द कहते हैं और वह वाचकशब्द जिस वृत्ति से उस साक्षात् संकेतित अर्थ या मुख्यार्थ का प्रतिपादन करता है वह अभिधाकहाती है[५८]। प्रश्न यह है कि शब्द का साक्षात् संकेतग्रह किस अर्थ में होता है। इसके लिये मम्मट ने व्यक्तिपक्ष का निराकरण कर चार पक्ष उल्लिखित किये हैं—१· वैय्याकरणों का जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छाधर्म विषयक पक्ष, २. मीमांसकों का जातिपक्ष, ३. नैयायिकों का जातिविशिष्ट व्यक्ति पक्ष, और ४. बौद्धों का अपोह पक्ष। इन चारों में से उन्होंने प्रथम पक्ष को अधिक आदर दिया है। विश्वनाथ भी जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में संकेतग्रह मानते हैं[५९]। जयदेव ने भी इन जात्यादि चार में तो संकेतग्रह माना ही है, इसके अतिरिक्त पाँचवें वस्तुयोग तथा छठे निर्देश शब्द में भी वे संकेतग्र हमानते प्रतीत होते हैं। चन्द्रालोक के दशम मयूख में इन्होंने अभिधा पर विचार किया है। ये अभिधा कालक्षण करते हुए कहते हैं कि शब्द प्रायः (जाति, गुण आदि) किसी न किसी धर्म को सामने रखकर उसे बताने के लिये प्रवृत्त होता है। वह शब्द जिस वृत्ति द्वारा स्पष्ट रूप से उस अर्थ का प्रतिपादन करता है उसे अभिधा कहते हैं।

धर्मं कञ्चित् पुरस्कृत्य प्रायः शब्द प्रवर्तते।
ययार्थं स्पष्टमाचष्टे शब्दस्तामभिधां विदुः॥ च० १०.१

यहाँ 'स्पष्टम्' का अभिप्राय 'साक्षात्'[६०] है। गंगादि पदों से तीरादि अर्थ की प्रतीति साक्षात् न होकर गंगाप्रवाह आदि अर्थ के व्यवधान से होने के कारण अभिधा-जन्य न होकर लक्षणाजन्य होती है।

जयदेव के मत में धर्मभेद के अनुसार यह अभिधा छः प्रकार की होती है—जातिमूलक, गुणमूलक, क्रियामूलक, वस्तुयोगमूलक, संज्ञामूलक तथा निर्देशमूलक।

जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया।
निर्देशेन तथा प्राहुः षड्विधामभिधां बुधाः॥
गौर्नीलः पाचको दण्डी डित्थः कंस इति क्रमात्।
कं संहिनस्ति कंसारिर्नरं च कं समाश्रितम्॥ च० १०.२,३

गौ पद से गोत्वजाति का बोध (फिर तद्द्वारा गोव्यक्ति का बोध) जातिमूलक अभिधा से होता है। इसी प्रकार नीलः पद से नीलगुण का बोध गुणमूलक अभिधा से, पाचकः पद से पाकक्रिया का बोध क्रियामूलक अभिधा से, और डित्थः पद से डित्थ

---

५८. साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते॥ का० प्र० २.७,८

५९. सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च॥ सा० द० २.४

६०. यया वृत्त्या शब्दः स्पष्टं साक्षाद् अर्थमाचष्टे सा अभिधा। साक्षात्त्वं च अर्थान्तर-प्रतीत्यद्वारकत्वम्। रमा०

नामक व्यक्ति का बोध संज्ञामूलक अभिधा से होता है। छठी निर्देशमूलक अभिधा का निम्न उदाहरण है। कोई पूछता है कि—भगवान् कृष्ण ने किसका संहार किया था? दूसरा इसका उत्तर देता है—'सम् आश्रितं कम्', स से अनुसृत कं को अर्थात् कंस को। अथवा यह योजना भी कर सकते हैं कि—'कं समाश्रितं नरम्', क से अनुगत नर को अर्थात् नरक नाम के असुर को। इस उदाहरण में 'सम् आश्रितं कम्' या 'कं समाश्रितं नरम्' यह निर्देशमात्र है, जिससे क्रमशः कंस तथा नरक शब्दों का बोध होता है।

यदि उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर 'कंसम्' या 'नरकम्' दिया जाता तो यहाँ संज्ञामूलक अभिधा होती। ये निर्देशशब्द शुद्ध, तन्मूल या संभिन्न कुछ भी न होने से यौगिक नहीं हैं, जिससे यौगिकता के बल से अर्थप्रतीति करा सकते। न ही इनमें जाति, गुण या क्रिया का सम्बन्ध है। न ही ये यदृच्छाशब्द हैं। न ही यहाँ लक्षणा प्रवृत्त हो सकती है, जो लक्षणा से अर्थबोध मान लिया जाये। अतः निर्देशमूलक अभिधा से ही यहाँ अर्थप्रतीति मानी गई है। अभिधा से यहाँ नियतक्रमविशिष्ट 'कं-स' इस वर्णद्वय का या 'नर-क' इस वर्णत्रय का अभिधान होता है। अतएव जयदेव का कथन है—

न योगादेरायतनं न सङ्केत[61]निकेतनम्।
वृत्त्या निर्देशशब्दोऽयं मुख्यया स्वाभिधेयया[62]॥ च० १०.४

लक्षणा

लक्षणा के लिए तीन तत्त्व आवश्यक माने जाते हैं—१. मुख्यार्थ का बाध, २. लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ से सम्बन्ध होना, और ३. रुढि या प्रयोजन में से किसी एक का होना। मम्मट ने लक्षणा का स्वरूप निरूपित करते हुए लिखा है—

"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रुढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ का० प्र० २.९

जयदेव न चन्द्रालोक के नवम मयूख में लक्षणा पर विचार किया है। वे भी उपर्युक्त तीनों तत्त्वों को लक्षणा के लिए अनिवार्य मानते हुए लक्षणा का निम्न स्वरूप दर्शाते हैं—

मुख्यार्थस्याविवक्षायां पूर्वार्वाची च रूढितः।
प्रयोजनाच्च सम्बद्धं वदन्ती लक्षणा मता॥ च० ९.१

मुख्यार्थ की विवक्षा न होने पर ही लक्षणा प्रवृत्त होती है, तथा वह ऐसे लक्ष्यार्थ को बताती है जो मुख्यार्थ से किसी सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध होता है। ये

---

६१. सङ्केतो यदृच्छाशब्दत्वम्। रमा०

६२. स्वाभिधेयया वृत्त्या। स्वं वर्णद्वयमेवाभिधेयं यस्यामिति बहुव्रीहिः। राकागम.

६३. तुलना: मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते।
रुढेः प्रयोजनाद् वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ सा० द० २.५

सम्बन्ध[६४] - अनेक हो सकते हैं। प्राचीनों ने इन सम्बन्धों का निम्न कारिका में दिग्दर्शन कराया है—

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥[६५]

जयदेव के संमुख भी यह कारिका रही प्रतीत होती है। इसी कारिका का अनुसरण कर 'अभिधेयेन सम्बन्धात्' की व्याख्यारूप में आभिमुख्य, संनिधान, तथाकारप्रतीति, कार्यकारणभाव और वाच्यवाचकभाव सम्बन्धों का निर्देश कर तथा इसी प्रकार के अन्य सम्बन्धों का भी इसमें समावेश करने के लिए 'इत्येवमादेः सम्बन्धात्' लिखकर आगे चार सम्बन्ध सादृश्य, समवाय आदि कारिकोक्त ही इन्होंने लिखे हैं—

आभिमुख्यात् संनिधानात् तथाकारप्रतीतितः।
कार्यकारणभावात् सा वाच्यवाचकभावतः ॥
इत्येवमादेः सम्बन्धात् किञ्चान्यस्मात् चतुष्टयात्।
सादृश्यात् समवायात् सा वैपरीत्यात् क्रियान्वयात् ॥ च० ६.८–१०

इन सम्बन्धों के माध्यम से प्रयुक्त होने वाली लक्षणाओं के निम्न उदाहरण हो सकते हैं—

आभिमुख्य—'अंगुल्यग्रे करिशतम्' अंगुलि के अग्रभाग पर सौ हाथी हैं। वस्तुतः अंगुलि के अग्रभाग पर नहीं होते, अपितु उसके अग्रभाग के संमुखस्थ प्रदेश में होते हैं। एवं यहाँ आभिमुख्य सम्बन्ध से अंगुल्यग्र की अंगुल्यग्राभिमुख प्रदेश में लक्षणा होती है।

संनिधान—'गंगायां घोषः', गंगा के प्रवाह पर ग्वालों का गाँव है। यहाँ संनिधान से गंगा की गंगातट में लक्षणा होती है।

तथाकारप्रतीति—संनिधान आदि न होते हुए भी वैसी प्रतीति होना। यथा 'वृक्षाग्रे चन्द्रः', वृक्ष के अग्रभाग पर चन्द्र है। यहाँ सामीप्यप्रतीति के कारण वृक्षाग्र की वृक्षाग्र के समीपस्थ प्रदेश में लक्षणा होती है।

कार्यकारणभाव—'आयुर्घृतम्', घृत आयु है। वस्तुतः घृत आयु नहीं, अपितु

---

६४. पातंजल महाभाष्य में चार सम्बन्धों का उल्लेख है—"चतुर्भिः प्रकारैस्तस्मिन् स इत्येतद् भवति, तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यात्। मञ्चा हसन्ति, सिंहो माणवकः गंगायां घोषः यष्टीः प्रवेशय इति" पा० ४.१.४८ सूत्र का भाष्य। न्यायदर्शन के निम्न सूत्र में दस सम्बन्धों का निरूपण है—"सहचरण-स्थान-तादर्थ्य-वृत्त-मान-धारण-सामीप्य-योग-साधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मण-मञ्च-कट-राज-सक्तु-चन्दन-गङ्गा-शकटान्न-पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः"। न्यायसूत्र २.२.६४

६५. इस कारिका के मूल लेखक भर्तृमित्र कहे जाते हैं। मुकुलभट्ट (अभिधावृत्ति-मातृका), मम्मट (शब्दव्यापारविचार), माणिक्यचन्द्र (का० प्र० की संकेत-टीका) आदि ने इसे उद्धृत किया है।

आयुष्यवर्धक होता है। अतः यहाँ कार्यकारणभाव सम्बन्ध से आयु की आयुष्यवर्धकत्व में लक्षणा होती है।

वाच्यवाचकभाव—भ्रमर पद का उच्चारण करने वाले के विषय में यदि यह कहा जाये कि 'द्विरेफमुच्चारयति', तब इस सम्बन्ध द्वारा लक्षणा होगी। द्विरेफ तथा भ्रमर में वाच्यवाचक सम्बन्ध होने से उक्त वाक्य में द्विरेफ की भ्रमर पद में लक्षणा हो जाती है।

कारिका में पठित 'इत्येवमादि' से कतिपय इतर सम्बन्ध भी सूचित होते हैं। यथा—

तादर्थ्य—इन्द्र के लिए रचित स्थूणा को इन्द्र कहना—इन्द्रोऽयम्। स्थूणा क्योंकि इन्द्रार्थ है, अतः तादर्थ्य सम्बन्ध से इन्द्र का लक्ष्यार्थ स्थूणा होता है।

स्वस्वाभिभाव—'राजासौ गच्छति', वह राजा जा रहा है। यहाँ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से राजा का लक्ष्यार्थ राजकीय पुरुष होता है।

अवयवावयविभाव—हस्त का केवल अग्रभाग दिखाई देने पर भी 'हस्तं पश्यामि-हाथ को देख रहा हूँ' ऐसा कहा जाता है। यहाँ प्रस्तुत सम्बन्ध से ही 'हस्त' की हस्ताग्र में लक्षणा होती है।

साहचर्य—'कुन्ताः प्रविशन्ति' भाले प्रवेश कर रहे हैं। यहाँ साहचर्य सम्बन्ध से कुन्तधारियों में लक्षणा होती है।

तात्स्थ्य—'मंचाः क्रोशन्ति', मचानें चिल्ला रही हैं। यहाँ तात्स्थ्य सम्बन्ध से 'मंचाः' की मंचस्थ पुरुषों में लक्षणा होती है।

इस प्रकार के तन्मानकत्व, तद्धार्य, ताद्गुण्य आदि अन्य सम्बन्ध भी हो सकते हैं। कारिकोक्त शेष चार सम्बन्धों के उदाहरण निम्न हैं—

सादृश्य—बैल के सदृश जड तथा मन्द पुरुष को जाता हुआ देख कर 'गौर्गच्छति—बैल चला जा रहा है' यह लाक्षणिक प्रयोग सादृश्य-सम्बन्ध के ही आधार पर होता है।

समवाय—समुदायान्तःपातिता को समवाय कहते हैं[६६]। यथा 'छत्रिणो यान्ति', छत्रधारी जा रहे हैं। यहाँ समूह के अन्दर अधिकांश छत्रधारियों को देख कर समवाय-सम्बन्ध से अर्थात् छत्रधारियों के समुदाय में संनिविष्ट होने के कारण अच्छत्रधारियों को भी छत्रधारी कह दिया गया है।

वैपरीत्य—अपकारी के लिए 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' इस कथन में वैपरीत्य-सम्बन्ध से ही 'उपकृतं' की 'अपकृतं में लक्षणा होती है।

क्रियान्वय—'अयं राजा यमः', यह राजा यम है। यहाँ यम सदृश संहारक्रिया करने के कारण इस सम्बन्ध से यम पद की यमवत् प्रचण्ड या संहारक अर्थ में लक्षणा होती है।

---

६६. छत्रिणो गच्छन्तीत्यत्र समवायः। स च समुदायान्तः पातित्वम्। राकागम, रमा०

लक्षरगा के भेद

प्रथम प्रकार

लक्षणा के भेदोपभेदों पर जयदेव ने पूर्ववर्ती मुकुलभट्ट, मम्मट आदि की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तार से विचार किया है। प्रथम लक्षणा के दो भेद होते हैं— रूढा तथा प्रयोजनवती। रूढा को जयदेव ने पूर्वा तथा प्रयोजनवती को अर्वाची नाम दिया है। ये दोनों प्रकार की लक्षणाएँ लक्ष्यार्थवाचक शब्द के मीलन (अकीर्तन) तथा अमीलन (कीर्तन)[६७] के आधार पर दो-दो प्रकार की हो जाती हैं[६८]। 'गंगायां घोषः' (गंगातट पर गोपालों का ग्राम है), 'कुन्ताः प्रविशन्ति' (कुन्तधारी पुरुष प्रवेश कर रहे हैं), 'गौर्जल्पति' (बैल वाहीक बोल रहा है), 'आयुर्भक्षय' (आयुष्यवर्धक घृत को खाओ), 'श्वेतो धावति' (सफेद घोड़ा दौड़ रहा है) आदि उदाहरण मीलनमूला के हैं, क्योंकि यहाँ लक्षणार्थ गंगा तीर आदि के वाचक पद तट आदि का कीर्तन नहीं किया गया है। इसके विपरीत 'शुक्लो घटः' सफेद रंग वाला घड़ा है), 'अग्निर्माणवकः' (अग्नि गुण वाला बालक है), 'गौर्वाहीकः जल्पति', 'आयुर्घृतं भक्षय', 'श्वेतः अश्वः धावति' आदि अमीलनमूला के उदाहरण हैं, क्योंकि यहाँ लक्ष्यार्थ शुक्लत्वविशिष्ट घड़े आदि के वाचक घटादि शब्द कीर्तित हैं।

फिर मीलनमूला तथा अमीलनमूला दोनों के सिद्धनिष्ठ, साध्यनिष्ठ तथा साध्यांगनिष्ठ के भेद से तीन-तीन भेद हो जाते हैं। इस प्रकार निम्न तालिका के अनुसार ६ भेद पूर्वा के तथा ६ भेद अर्वाची के हुए—

लक्षणा

पूर्वा (रूढा)		अर्वाची (प्रयोजनवती)	
मीलनमूला	अमीलनमूला	मीलनमूला	अमीलनमूल
१. सिद्धनिष्ठा	४. सिद्धनिष्ठा	१. सिद्धनिष्ठा	४. सिद्धनिष्ठा
२. साध्यनिष्ठा	५. साध्यनिष्ठा	२. साध्यनिष्ठा	५. साध्यनिष्ठा
३. साध्यागनिष्ठा	६. साध्यांगनिष्ठा	३. साध्यांगनिष्ठा	६. साध्यांगनिष्ठा

---

६७. राकागम तथा रमा दोनों टीकाओं में यहाँ मीलन का अर्थ समभिव्याहार तथा अमीलन का असमभिव्याहार किया गया है। परन्तु 'मील निमेषणे' धातु से निष्पन्न होने के कारण इनके इससे विपरीत अर्थ ही ग्रहण करने उचित प्रतीत होते हैं।

६८. मम्मट के अनुसार मीलनमूलक लक्षणा साध्यवसाना तथा अमीलनमूलक लक्षणा सारोपा कहलायेगी। द्रष्टव्य का० प्र० २.११

सिद्ध, साध्य तथा साध्यांग का अभिप्राय क्रमशः उद्देश्य, विधेय तथा विधेयांग है। 'भो वृष, न बुध्यसे—अरे बैल तू समझता नहीं', यहाँ उद्देश्यभूत वृष शब्द की मूर्ख में लक्षणा होने से सिद्धनिष्ठ लक्षणा है। 'कामिनीवचोऽमृतम्‌कामिनी का वचन अमृत है', यहाँ विधेयभूत अमृत पद की आनन्दजनकत्व में लक्षणा होने से साध्यनिष्ठ लक्षणा है। 'गंगायां घोषः—गंगा प्रवाह में ग्वालों का ग्राम है', यहाँ विधेयभूत घोष के अंगभूत (उससे सम्बद्ध) गंगापद की गंगातट में लक्षणा होने से साध्यांगनिष्ठ लक्षणा है।

पूर्वा (रूढा) लक्षणा तो उक्त छः ही प्रकार की होती है, किन्तु अर्वाची (प्रयोजनवती) लक्षणा के प्रयोजन के स्वरूपभेद के अनुसार अन्य अवान्तर भेद भी हो जाते हैं। सिद्धनिष्ठा, साध्यनिष्ठा तथा साध्यांगनिष्ठा इनमें से प्रत्येक के छः-छः भेद होकर १८ भेद मीलनमूला के तथा १८ ही अमीलनमूला के होते हैं। एवं अर्वाची लक्षणा ३६ प्रकार की हो जाती है। प्रयोजन का स्वरूपभेद इस प्रकार है। प्रथम स्फुट (अगूढ) तथा अस्फुट (गूढ) भेद से प्रयोजन द्विविध होता है। प्रयोजन के स्फुट होने का अभिप्राय है सर्वसाधारणसंवेद्य होना। इसके विपरीत अस्फुट प्रयोजन सहृदय-मात्र-संवेद्य होता है। फिर स्फुट तथा अस्फुट दोनों ही प्रयोजनों के दो-दो भेद होते हैं—तटस्थगत तथा अर्थगत। इनमें से अर्थगत के फिर दो भेद होते हैं—लक्ष्यनिष्ठ तथा लक्षकनिष्ठ। एवं एक तटस्थ तथा दो अर्थगत इस प्रकार तीन भेद होकर स्फुट और अस्फुट दोनों ही प्रयोजन तीन-तीन हो जाते हैं। इस तरह तीन स्फुटप्रयोजन-मूला और तीन ही अस्फुटप्रयोजनमूला लक्षणाएं प्रत्येक की हो जाती हैं। तटस्थ उस प्रयोजन को कहते हैं जो लक्ष्य तथा लक्षक से उदासीन रह कर किसी इतर में विद्यमान रहे। जैसे 'प्रदीपं वर्धयेत्—दीपक बुझा देना चाहिये', यहाँ बुझाने अर्थ को लक्षित करने के लिए 'वर्धयेत्' (बढ़ा देना चाहिए) का प्रयोग मंगलोदय रूपी प्रयोजन की प्रतिपत्ति के निमित्त से किया गया है। बुझाने अर्थ में नाशयेत्, निर्वापयेत् आदि पद प्रयुक्त करने पर अमंगल सूचित होता है। मंगलोदय लक्ष्य या लक्षक में न होकर वक्ता या श्रोता में होने से यह प्रयोजन तटस्थ तथा प्रकरणादिवश सर्वजनसंवेद्य होने से स्फुट कहलाता है[६६]। इसी प्रकार 'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः', यहाँ 'अग्रं स्पृशति' के स्थान पर 'मुखं चुम्बति' इस लाक्षणिक प्रयोग से नायिकासक्त-नायकवृत्तान्त की प्रतीति प्रयोजन है, जो लक्ष्य-लक्षक से इतर नायक-गत होने से तटस्थगत तथा सर्वसाधारणसंवेद्य होने से स्फुट है।

लक्ष्यपदार्थगत या लक्षकपदार्थगत होने से अर्थगत लक्षणा होती है। स्फुट-प्रयोजना लक्ष्यनिष्ठा का उदाहरण है—अमृतं सूक्तम्। सूक्त अमृत नहीं हो सकता, अतः मुख्यार्थबाध द्वारा अमृत का लक्ष्यार्थ 'सरस काव्य' होता है तथा अतिहृद्यता-

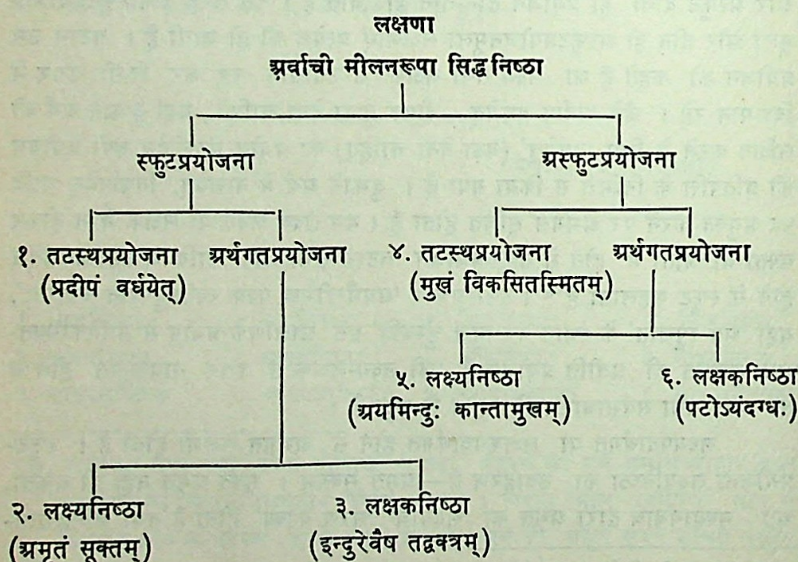
---

६६. प्रकरणादि विदित न होने पर यह अस्फुटव्यङ्ग्या का भी उदाहरण हो सकता है। इदं च प्रकरणादिवक्त्रादिसहकारेण स्फुटास्फुटव्यङ्ग्याया द्विविधाया अप्युदाहरणम्। रमा०

प्रतीति प्रयोजन होता है, जो लक्ष्य काव्य में विद्यमान होने से लक्ष्यनिष्ठ है। स्फुट-प्रयोजना लक्षकनिष्ठा लक्षणा 'तद्वक्त्रम् इन्दुरेव—उसका मुख चन्द्रमा ही है' में है। मुख चन्द्र नहीं हो सकता, अतः 'वक्त्र' पद इन्दु का लक्षक है। मुख में सौन्दर्यप्रतीति ही प्रयोजन है, जो लक्षक मुख में रहने से लक्षकनिष्ठ है।

'मुखं विकसितस्मितम्' में तटस्थनिष्ठ अस्फुटप्रयोजना लक्षणा है। विकसित तो पुष्प हो सकता है, स्मित नहीं। अतः विकसित का लक्ष्यार्थ स्मित का सातिशय होना तथा प्रयोजन हृद्यत्वसुरभित्वादि होता है। यह प्रयोजन न सातिशयरूप लक्ष्यार्थ में में है, न विकसितत्वरूप लक्षकपदार्थ में, किन्तु तदितर मुख में होने से तटस्थनिष्ठ है। लक्ष्यनिष्ठ अस्फुटप्रयोजना का उदाहरण 'अयमिन्दुः कान्तामुखम्' है। चांद कान्ता का मुख नहीं हो सकता, अतः 'इन्दु' से इन्दुतादात्म्ययुक्त मुख लक्षित होता है। कान्ति व्यङ्ग्य है, जो लक्ष्य मुख में रहती है। लक्षकनिष्ठ अस्फुटप्रयोजना 'पटोऽयंदग्धः—यह कपड़ा जल गया' इस उदाहरण में है। यहाँ पट पद से पट का एकदेश, जो जल गया है, लक्षित होता है, क्योंकि पूरा कपड़ा तो जला नहीं है। कर्मानर्हता-रूप प्रयोजन है, जो जलने से बचे हुए पट (लक्षक) में विद्यमान है[७०]।

सिद्धनिष्ठा के ६ भेद निम्न तालिका से स्पष्ट हो रहे हैं। इसी विधि से साध्यनिष्ठा और साध्याङ्गनिष्ठा के भी छः-छः भेद होंगे।



७०. ये उदाहरण सर्वसम्मत नहीं है। विभिन्न टीकाओं में ये विभिन्न रूप में व्याख्यात हुए हैं।

लक्षणा के समस्त भेदों की गणना इस प्रकार होती है—

		सिद्ध-साध्य-साध्यांगभेदतः
स्फुटतटस्थप्रयोजना	—	३
स्फुटार्थगतलक्ष्यनिष्ठप्रयोजना	—	३
स्फुटार्थगतलक्षकनिष्ठप्रयोजना	—	३
अस्फुटतटस्थप्रयोजना	—	३
अस्फुटार्थगतलक्ष्यनिष्ठप्रयोजना	—	३
अस्फुटार्थगतलक्षकनिष्ठप्रयोजना	—	३
मीलनरूपा के कुल भेद		१८
इसी प्रकार अमीलनरूपा के भेद		१८
अर्वाची के कुल भेद		३६
पूर्वा के भेद		६
लक्षणा के कुल भेद		४२

उक्त भेदों का परिगणन चन्द्रालोक में निम्न शब्दों में किया गया है—

लक्षणीयस्वशब्दस्य मीलनामीलनाद् द्विधा ।
लक्षणा सा त्रिधा सिद्ध-साध्य-साध्यांगभेदतः ॥
स्फुटास्फुटप्रभेदेन प्रयोजनमपि द्विधा ।
विदुः स्फुटं तटस्थत्वादर्थगत्वाद् द्विधा बुधाः ॥
अस्फुटं चार्थनिष्ठत्वात् तटस्थत्वादपि द्विधा ।
लक्ष्यलक्षकनिष्ठत्वादर्थसंस्थमपि द्विधा ॥ च० ६.२–४

द्वितीय प्रकार

स्फुट तथा अस्फुट प्रयोजन के तटस्थ, लक्ष्यनिष्ठ और लक्षकनिष्ठ ये तीन-तीन भेद किये जायें तो छः भेद बनते हैं। इनका उल्लेख करने के पश्चात् फिर जयदेव छः के स्थान पर चार ही दर्शाते हैं—स्फुट के पूर्वोक्त तीन भेद तथा अस्फुट का एक। चारों भेदों के उदाहरण भी दर्शाते हैं—

लक्षकस्थं स्फुटं यत्र सा विचक्षणलक्षणा ।
अस्फुटत्वं तटस्थत्वं लक्ष्यस्थत्वममुष्य च ॥
अन्यास्तित्र इति व्यक्ता शक्तितः सा चतुर्विधा ।[७१]
इन्दुरेवैष तद् वक्त्रमुत्कर्षो लक्ष्यते मुखे ॥

---

७१. यह रमाटीकानुसारी पाठ है। राकागम टीका के संस्करण में यह पाठ मिलता है "अर्थगतत्वतटस्थत्वभेदाभ्यामस्फुटस्य च । अन्त्या द्विधेति विज्ञेया व्यक्तितः सा चतुर्विधा ॥" इसके अनुसार टीका में स्फुटप्रयोजना तथा अस्फुटप्रयोजना दोनों ही लक्षणाएं तटस्थगत और अर्थगत भेद से दो-दो प्रकार की व्याख्यात की हैं। 'अमृतं सूक्तम्' उदाहरण लक्ष्यनिष्ठ अस्फुटप्रयोजना का माना है, जब कि रमा टीका के अनुसार स्फुटप्रयोजना का है।

प्रदीपं वर्धयेत् तत्र तटस्थं मङ्गलोदयः ।
पटोऽयं दग्ध इत्यादौ स्फुटं नास्ति प्रयोजनम् ।।
अमृतं सूक्तमित्यादौ लक्ष्यस्थमतिहृद्यता ।। च० ६.५–८

इस आधार से गणना की जाये तो यह चतुर्विध लक्षणा सिद्ध, साध्य और साध्यांग के भेद से ४ × ३ = १२ प्रकार की बनती हैं। ये भेद मीलन तथा अमीलन रूपों से १२ × २ = २४ होकर अर्वाची लक्षणा २४ प्रकारों की होती है। इसमें पूर्वा के ६ भेद भी सम्मिलित करने पर लक्षणा के कुल भेद २४ + ६ = ३० होते हैं।

तृतीय प्रकार

लक्षणा के वर्गीकरण का एक अन्य प्रकार जयदेव ने बिलकुल मम्मट के अनुसार वर्णित किया है। प्रथम लक्षणा के गौणी तथा शुद्धा ये भेद किये जाते हैं। सादृश्य-सम्बन्ध होने पर गौणी और सादृश्येतर-सम्बन्ध में शुद्धा लक्षणा मानी जाती है। इनमें से प्रत्येक के सारोपा, साध्यवसाना, ये दो-दो भेद होते है। विषयी तथा विषय दोनों का उल्लेख होने पर सारोपा और विषयी द्वारा विषय के निगीर्ण हो जाने पर साध्यवसाना कहाती है[७२]। इसके अतिरिक्त शुद्धा के उपादान-लक्षणा और अर्पण-लक्षणा[७३] ये दो भेद अधिक होते है। जहाँ वाच्यार्थ भी लक्ष्यार्थ में समाविष्ट हो वहाँ उपादान-लक्षणा तथा जहाँ लक्ष्यार्थ को देने के लिए वाच्यार्थ अपने आपको सर्वथा छोड़ दे वहाँ अर्पण-लक्षणा होती है। एवं दो प्रकार गौणी लक्षणा के तथा चार प्रकार शुद्धा के, कुल छः भेद बनते हैं।

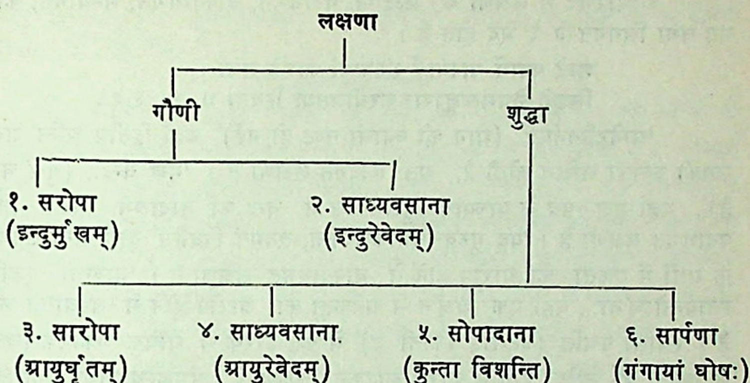
सारोपाध्यवसानाख्ये गौणशुद्धे पृथक्-पृथक् ।।
गौणं सारोपमुद्दिष्टम् इन्दुर्मुखमितीदृशम् ।
गौणं साध्यवसानं स्यादिन्दुरेवेदमीदृशम् ।।
शुद्धं सारोपमुद्दिष्टमायुर्घृतमितीदृशम् ।
शुद्धं साध्यवसानं स्यादायुरेवेदमीदृशम् ।।
उपादानार्पणद्वारे द्वे चान्ये इति षड्विधा ।
कुन्ता विशन्ति गंगायां घोषो निवसतीति च ।।
च० ६, १०–१३

---

७२. सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।
विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ।।
का० प्र० २.११

७३. मम्मट ने इसे लक्षण लक्षणा कहा है। स्वसिद्धये परापेक्षः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ।। का० प्र० २.१०

इन छहों भेदों को निम्न तालिका द्वारा प्रकट किया जा सकता है—



लक्षणा के अन्य भेद

जयदेव वैशिष्ट्य तथा हेतु के आधार पर लक्षणा के दो-दो अन्य भेद भी प्रतिपादित करते हैं। वैशिष्ट्य के आधार पर लक्ष्यवैशिष्ट्यवती लक्षणा तथा लक्षकवैशिष्ट्यवती लक्षणा ये दो भेद होते हैं। लक्ष्यवैशिष्ट्य का उदाहरण है—सरसं काव्यम् अमृतम्। वस्तुतः सरस काव्य अमृत नहीं हो सकता। अतः 'अमृत' पद से सुखजनक सरस काव्य लक्षित होता है। लक्ष्यभूत काव्य के सरसविशेषणविशिष्ट होने के कारण यह लक्ष्यवैशिष्ट्ययुक्त लक्षणा हुई। 'विद्या स्थिरतरं धनम्' में लक्षकवैशिष्ट्य है। विद्या धन नहीं हो सकती। अतः धन पद से सुखजनक विद्या लक्षित होती है। यहां धन पद लक्षक है। लक्षक में 'स्थिरतरम्' विशेषण का योग होने से यह लक्षणा लक्षकवैशिष्ट्ययुक्ता हुई।

लक्ष्यलक्षकवैशिष्ट्यवैशिष्ट्याद् द्विविधा पुनः।
सरसं काव्यममृतं विद्या स्थिरतरं धनम्॥ च० ९.१४

लक्ष्यार्थ के बोध में हेतु का उपादान होने या न होने पर लक्षणा के दो भेद 'सहेतुका' तथा 'अहेतुका' होते हैं। 'सौन्दर्येणैष कन्दर्पः', यहाँ सहेतु लक्षणा है। कन्दर्प का लक्ष्यार्थ है कन्दर्पसदृश सुन्दर युवक। इस लक्ष्यार्थ का हेतु 'सौन्दर्य' यहाँ पठित है। पर 'सा च मूर्तिमती रतिः' में रति पद के लक्ष्यार्थ 'रति जैसी सुन्दरी नायिका' का हेतु सौन्दर्यादि अनुक्त होने से यह अहेतुक लक्षणा होती है।

तथा सहेतुरतथाभेदभिन्ना च कुत्रचित्।
सौन्दर्येणैष कन्दर्पः सा च मूर्तिमती रतिः॥

पूर्व प्रदर्शित लक्षणाओं का यथोचित लक्ष्यवैशिष्ट्यवती, लक्षणवैशिष्ट्यवती, सहेतुका तथा अहेतुका इन भेदों के अनुसार भी वर्गीकरण करने पर उनके अधिक भेद हो सकते हैं।

आधारभेद से लक्षणा के भेद

आधारभेद से लक्षणा के शब्दगत, पदार्थगत, वाक्यार्थगत, संख्यागत, कारकगत तथा लिंगगत ये ६ भेद होते हैं।

> शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके तथा।
> लिङ्गे चेयमलङ्कारांकुरबीजतया स्थिता ॥ च० ९.१६

'अग्नेरग्निर्नष्टः (आग की ज्वाला नष्ट हो गई)' यहाँ द्वितीय अग्नि शब्द से उसकी ज्वाला लक्षित होती है, अतः शब्दगत लक्षणा है। 'मुखं चन्द्रः (मुख चन्द्रमा है)', यहाँ मुख पद के वाच्यार्थ मुखमण्डल में चन्द्र का तादात्म्य लक्षित होने से पदार्थगत लक्षणा है। 'यद् गुरुवचनमाकर्णयन्ति, तदमृतं पिबन्ति' यहाँ दोनों उपवाक्यों के अर्थों में एकता का आरोप होने से वाक्यार्थगत लक्षणा है। 'यावन्तो युद्धप्रियास्तावन्तोऽर्जुनाः', यहाँ एक अर्जुन में अनेकता का आरोप होने से संख्यागत लक्षणा है। 'स्थाली पचति (बटलोई पकाती है)' में कर्तृकारक से अधिकरणकारक (बटलोई में पकाता है) लक्षित होने के कारण कारकगत लक्षणा है। संमुखस्थ हथिनी को 'हस्ती' कहने में पुंलिंग की स्त्रीलिंग में लक्षणा होने से लिंगगत लक्षणा है।

इस प्रकार जयदेव ने कई दृष्टिकोणों से लक्षणा के भेदों पर विचार किया है। जयदेव-प्रदर्शित सिद्ध, साध्य, साध्यांग, तटस्थगतत्व, अर्थगतत्व, वैशिष्ट्य, हेतु आदि सूक्ष्मताओं को अन्य आचार्यों ने लक्षणा-विभाजन में स्थान नहीं दिया है। आचार्य विश्वनाथ ने लक्षणा के ८० भेद किये हैं, पर उन्होंने भी इन्हें आधार नहीं माना। उनके ८० भेदों की रूपरेखा इस प्रकार है। रूढा लक्षणा के ८ भेद हैं—शुद्धा तथा गौणी के पृथक्-पृथक् सारोपा उपादान लक्षणा, सरोपा लक्षणलक्षणा, साध्यवसाना उपादानलक्षणा तथा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा। ये आठों भेद प्रयोजनवती के भी होते हैं, जो गूढव्यङ्ग्य तथा अगूढव्यङ्ग्य के भेद से १६ हो जाते हैं। पुनः प्रयोजन के धर्मगत और धर्मिगत होने से ये ३२ बन जाते हैं। रूढा के ८ भेद और प्रयोजनवती के ३२ भेद मिलाकर ४० भेद हुए। ये सब पदनिष्ठ तथा वाक्यनिष्ठ होने से ८० होते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने लक्षणानिरूपण में प्रायः मम्मट का ही अनुसरण किया है।

अलङ्कारशास्त्र में लक्षणा-विचार की उपयोगिता

लक्षणा ध्वनि, अलंकार आदि का बीज होने से काव्य में अपना विशेष स्थान रखती है। अतएव जयदेव ने कहा है—इयमलंकारांकुरबीजतया स्थिता। यहाँ अलंकार पद उपलक्षण होने से रसादि का भी ग्राहक है[७४]। अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणा पर ही आश्रित है। उपादानलक्षणा से अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का तथा अर्पणलक्षणा से अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का निर्वाह होता है। गौणी सारोपा 'इन्दुर्मुखम्' आदि रूपकालंकार की तथा गौणी साध्यवसाना 'इन्दुरेवेदम्' आदि अतिशयोक्ति अलंकार की प्रयोजक होती है। इसी प्रकार क्वचित् लक्षणा रसादि के पोषण में भी निमित्त बनती है। यथा—

> साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे-क्षणे दूनासि मत्कृते।
> सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद् विरचितं त्वया ॥

---

७४. अलंकारपदस्योपलक्षणत्वेन रसादेर्बीजांकुरत्वेन च स्थिता अंगीकृतेत्यर्थः। रमा०

यहाँ 'मेरे प्रिय के साथ रमण करते हुए तूने मेरे प्रति शत्रुता का आचरण किया है' यह लक्ष्यार्थ कामुकविषयक सापराधत्व को व्यंजित कर विप्रलंभ के पोषण में सहायक हो रहा है।

व्यंजना या ध्वनि

तृतीय वृत्ति व्यंजना है, जिससे व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है। इसे ध्वनि भी कहते हैं। वस्तुतः ध्वनि शब्द काव्यशास्त्र में कई अर्थों में व्यवहृत होता है। 'ध्वननं ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से व्यंजनाव्यापार को, 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से व्यङ्ग्यार्थ को, 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से काव्य को तथा 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से वाचक शब्द और वाच्यार्थ को ध्वनि कहा जाता है। वाच्यार्थ को देकर अभिधा के विरत हो जाने के कारण तथा व्यङ्ग्यार्थ के संकेतित न होने के कारण अभिधा द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की उपस्थिति नहीं हो सकती। लक्षणा के लिए अनिवार्य मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय न होने से लक्षणा भी व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराने में समर्थ नहीं है। कतिपय मीमांसक बाण के दीर्घदीर्घतर व्यापार के समान अभिधा से ही व्यङ्ग्यार्थ का बोध करने के पक्ष में हैं। दूसरे मीमांसक तात्पर्यशक्ति से व्यंजना का कार्यनिर्वाह करना चाहते हैं। कुछ आलंकारिक भी व्यंजनावृत्ति को नहीं मानते। धनंजय एवं धनिक तात्पर्यवृत्ति को ही यावत्कार्यप्रसारी मानकर उससे अतिरिक्त व्यंजना को मानने के लिए उद्यत नहीं हैं[७५]। महिमभट्ट अभिधा से भिन्न किसी भी शब्द-व्यापार को नहीं स्वीकार करते। उनका कथन है कि लक्ष्य, व्यङ्ग्य आदि अर्थों की अभिव्यक्ति शब्दव्यापार से नहीं, प्रत्युत अर्थव्यापार से होती है[७६], और अर्थव्यापार का वे अनुमान में अन्तर्भाव कर लेते हैं। उनके मत में अर्थ दो ही प्रकार का है, वाच्य तथा अनुमेय[७७]। व्यंजना पर किये जाने वाले अन्य विरोधों की चर्चा आगे ध्वनिकाव्यनिरूपण के प्रसंग में की जायेगी। विप्रतिपत्तियों के होते हुए भी आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्थापित तथा आचार्य अभिनवगुप्त एवं मम्मट द्वारा समर्थित व्यंजना का प्रत्याख्यान नहीं हो सका। अतएव जयदेव ने भी व्यंजना तथा तन्मूलक ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का महत्त्व स्वीकार किया है। चन्द्रालोक में व्यंजना का स्वरूप निम्न शब्दों में निरूपित किया गया है—

[७८]"सांमुख्यं विदधानायाः स्फुटमर्थान्तरे गिरः।
कटाक्ष इव लोलाक्ष्या व्यापारो व्यञ्जनात्मकः॥ च० ७.२

---

७५. यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्। द० रू० ४.३७ पर अवलोक०

७६. यत् पुनरनेकशक्तिसमाश्रयत्वात् व्यापारान्तरपरिकल्पनं तदर्थस्यैव उपपद्यते न शब्दस्य तस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वासिद्धेः। व्यक्तिवि०

७७. अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। वही

७८. तुलना: आशाधरभट्टः शक्यलक्ष्यातिरिक्तार्थबोधिका वृत्तिर्व्यञ्जना।
नागेशभट्ट: मुख्यार्थबाधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसंबद्धासम्बद्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जना। लघुमंजूषा.

"जिस प्रकार चंचललोचना कोई सुन्दरी किसी पुरुष पर कटाक्षनिक्षेप करती है तो उसका वह कटाक्ष नेत्रव्यापार मात्र न होकर उसके अतिरिक्त हार्दिक प्रेम रूपी अर्थान्तर को व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का वह व्यापार व्यंजना कहलाता है जो वाच्य तथा लक्ष्य से भिन्न अर्थ को व्यक्त करने वाला हो।" यहाँ जयदेव ने लोलाक्षी के कटाक्ष से उपमा देकर काव्य में व्यंजना-व्यापार की स्पृहणीयता एवं चामत्कारिकता की ओर भी संकेत कर दिया है।

यह व्यंजना द्विविध होती है—शाब्दी तथा आर्थी। शाब्दी के भी लक्षणामूला तथा अभिधामूला ये दो भेद होते हैं। 'गंगायां घोषः' वाक्य से गंगा-तट में शीतत्व-पावनत्वादि धर्मों का बोध लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना से होता है। जहां अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग हो, किन्तु संयोग, प्रकरणादि के बल से अभिधा किसी एक अर्थ में ही नियन्त्रित हो जाती हो, उस स्थिति में दूसरा अर्थ अभिधामूला शाब्दी व्यंजना से सूचित होता है[७९]। यथा काव्यप्रकाशोक्त 'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोः' आदि उदाहरण में अभिधा द्वारा प्राकरणिक राजापरक अर्थ सूचित होने पर तदितर गजपरक अर्थ का अभिधामूला शाब्दी व्यंजना से ही बोध होता है। इस व्यंजना से सूचित व्यङ्ग्यार्थ को जयदेव ने वाच्यव्यङ्ग्य कहा है—

नानाप्रभेदा न्नियता क्वचित् प्रकरणादिना।
अर्थेऽर्थमन्यं यं वक्ति तद् वाच्यव्यङ्ग्यमिष्यते॥ च० ७.१७

आर्थी व्यंजना वहाँ होती है जहाँ वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसंनिधि, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टादि के वैशिष्ट्य से सहृदयजनों को वाच्य-लक्ष्य से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती हो[८०]। यह आर्थी व्यंजना वाच्यार्थमूलक, लक्ष्यार्थ-मूलक तथा व्यङ्ग्यार्थमूलक तीनों रूपों में हो सकती है[८१]। उक्त शाब्दी तथा आर्थी से अतिरिक्त प्रकृति-प्रत्यय-वर्णादिमूला व्यंजना भी होती है[८२]। जयदेव ने भी व्यंजना के उक्त सब भेदों को स्वीकार किया है तथा ध्वनिनिरूपण में इनका प्रयोग भी किया है[८३]।

५. काव्य के भेद

प्राचीन आचार्यों ने काव्य के भेद श्रव्यत्व, दृश्यत्व, गद्य-शैली, मिश्र-शैली

---

७९. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्॥ का० प्र० २.१९

८०. वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ का० प्र० ३.२१, २२

८१. द्रष्टव्य : का० प्र० २.७ 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यंजकत्वमपीष्यते' तथा वृत्त्युदाहरण।

८२. द्रष्टव्य : का० प्र० ४.४३ 'पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः' तथा वृत्त्युदाहरण। च० : ७.९ 'पदैकदेशरचनावर्णवाक्यपदेष्वपि'।

८३. च० ७.३–१७

आदि के आधार से किये थे। इस आधार से किये जाने वाले भेदों में पद्यमय महाकाव्य-खण्डकाव्यादि, गद्यमय कथा-आख्यायिका आदि तथा गद्यपद्यमय चम्पू आदि श्रव्यकाव्यों में, तथा विविध रूपक और उपरूपक दृश्यकाव्यों में आते हैं। ये भेद काव्य के बाह्य रूप के आधार पर होते हैं। काव्य के अन्तस्तत्त्व की दृष्टि से व्यङ्ग्यार्थ को आधार मान कर किये जाने वाले भेदों की संख्या विभिन्न आचार्यों ने दो, तीन या चार मानी है। सामान्यतः काव्य के उत्तम, मध्यम और अवर तीन भेद किये गये हैं। प्रथम को ध्वनि, द्वितीय को गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा तृतीय को चित्रकाव्य कहा जाता है। आनन्दवर्धन इन तीनों को स्वीकार करते हैं, यद्यपि तृतीय चित्रकाव्य को उन्होंने मुख्य काव्य न मान कर काव्यानुकृतिमात्र कहा है[८४]। मम्मट भी तीनों काव्य-भेदों को मानते हैं। किन्तु विश्वनाथ के मत में काव्य द्विविध ही है[८५], वे चित्र को काव्य मानने के लिए उद्यत नहीं हैं[८६], तथा वे अपने पक्ष में ध्वनिकार को भी उद्धृत करते हैं। जगन्नाथ काव्य के चार प्रकार मानते हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम[८७]। जयदेव ने काव्यभेद का कोई पृथक् प्रकरण नहीं लिखा है। तथापि चन्द्रालोक के सप्तम और अष्टम मयूखों में उन्होंने ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य काव्य का निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त पंचम मयूख में अलंकार-प्रकरण में चित्रालंकार[८८] को भी स्थान दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जयदेव भी काव्य को द्विविध ही मानते हैं, चित्र की वे अलंकार रूप में ही सत्ता स्वीकार करते हैं। लक्षणकारों के अनुसार चित्रकाव्य में कोई स्फुट व्यङ्ग्य नहीं रहा करता[८९]। पर जयदेव ने चित्रालंकार का जो उदाहरण दिया है, उसमें स्फुट व्यङ्ग्य का अभाव नहीं है।

कामिनीव भवत्खड्गलेखा चारुकरालिका।
काश्मीरसेका रक्तांगी शत्रुकण्ठान्तिकाश्रिता॥ च० ५.१०

इस खड्गबन्ध के उदाहरण में करुणरसध्वनि स्पष्ट है। 'शत्रुओं के जिन कंठों को पहले उनकी कामिनियां आलिंगन करती थीं, अब तलवार आलिंगन कर रही है'

---

८४. न तन्मुख्यं काव्यं, काव्यानुकारो ह्यसौ। ध्वन्या० ३.४३ वृत्ति
८५. काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम्॥ सा० द० ४.१
८६. केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति। तदाहुः'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरम् स्मृतम्' इति, तन्न। वही, परि० ४ के अन्त में।
८७. तच्च उत्तमोत्तम-उत्तम-मध्यम-अधमभेदाच्चतुर्धा। शब्दार्थौ यत्र गुणीभवितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्।......यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्।......यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत् तृतीयम्।......यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्।
र० गं०, आनन १
८८. काव्यवित्प्रवरैश्चित्रं खड्गबन्धादि लक्ष्यते। च० ५.९
८९. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।
अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। का० प्र० १.५ तथा वृत्ति

इस प्रकार शृंगार भी करुण का ही पोषक हो रहा है। अतः जयदेवाभिमत चित्रालंकार चित्रकाव्य से भिन्न है।

क. ध्वनिकाव्य

वाच्यार्थ को गौण करके उसकी अपेक्षा व्यंग्यार्थ के अधिक चमत्कारजनक होने पर ध्वनिकाव्य होता है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि का यह लक्षण किया है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्वन्या० १.१३

अर्थात् जहाँ वाक्यार्थ अपने स्वरूप को तथा वाचक शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण करके व्यङ्ग्यार्थ को प्रकट करें वह काव्य विद्वज्जनों द्वारा ध्वनि कहा गया है। मम्मट ध्वनि का स्वरूप निम्न शब्दों में वर्णित करते हैं—

[६०]**इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः॥** का० प्र० १.४

जयदेव ने चन्द्रालोक में ध्वनि के उक्त स्वरूप को ही अधोलिखित रूप में निरूपित किया है;—

यद् व्यज्यमानं मनसः स्तैमित्याय स नो ध्वनिः। च० ८.१

जो व्यंजनावृत्ति द्वारा प्रकट होकर मन में स्तैमित्य अर्थात् अत्यन्त आह्लाद उत्पन्न करे वह ध्वनिकाव्य है। स्तैमित्य का शब्दार्थ आर्द्रीभाव या द्रुति है। पर चित्त की द्रुति तो केवल शृंगार (संभोग तथा विप्रलम्भ), करुण और शान्त रसों में ही होती है[६१]। अतः टीकाकारों ने स्तैमित्य को इतर रसों में होने वाले चित्त-विस्तार आदि का भी उपलक्षण मानकर इसका अभिप्राय परमाह्लाद लिया है[६२]।

ध्वनि के भेद

व्यङ्ग्यार्थ के वैविध्य की दृष्टि से ध्वनि के विविध भेद होते हैं। जयदेव ने ध्वनिभेदों की गणना में-प्रायः मम्मट का ही अनुसरण किया है, जिसके अनुसार ध्वनि के मूल भेद ५१ होते हैं। प्रथम ध्वनि के दो भेद होते हैं—अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) तथा विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक)। इनमें से प्रथम के पुनः दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य[६३]। द्वितीय विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि भी द्विविध होती है—लक्ष्यक्रम (स्फुटक्रम) तथा अलक्ष्यक्रम

---

६०. तुलना : विश्वनाथः सा० द० ४.१ वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।

६१. आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलंभे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥ का० प्र० ८.६८, ६९

६२. स्तैमित्याय आर्द्रीभावाय, स्तिम आर्द्रीभावे, आर्द्रीभावो द्रुतिः।
इदमुपलक्षणं विस्तारादीनामपि। तथा च तज्जनकं भवति आह्लादजनकमिति यावत्। व्यङ्ग्यप्रतीत्या यत्र मनसोऽत्यन्त-माह्लाद इति परमनिष्कर्षः। रमा.

६३. अविवक्षितवाच्यस्य द्वौ भेदौ वाच्यमेव चेत्।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्॥ च० ७.३

(असफुटक्रम)[९४]। इनमें से लक्ष्यक्रम के तीन भेद होते हैं—शब्दशक्तिज, अर्थशक्तिज तथा शब्दार्थोभयशक्तिज[९५]। शब्दशक्तिज ध्वनि दो प्रकार की होती है—वस्तुव्यङ्ग्य और अलङ्कारव्यङ्ग्य[९६]। अर्थशक्तिज के निम्न प्रकार १२ भेद होते हैं[९७]। प्रथम चार भेद—१. वस्तु अलंकार को व्यंजित करे, २. अलंकार वस्तु को व्यंजित करे, ३. अलंकार अलंकार को व्यंजित करे, ४. वस्तु वस्तु को व्यंजित करे। फिर ये चारों कविनिबद्धवक्तृप्रौढिनिर्मित, कविप्रौढिनिर्मित तथा स्वसिद्ध के भेद से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के होकर १२ बन जाते हैं। एवं अर्थशक्तिज लक्ष्यक्रम ध्वनि के निम्न रूप हो जाते हैं—

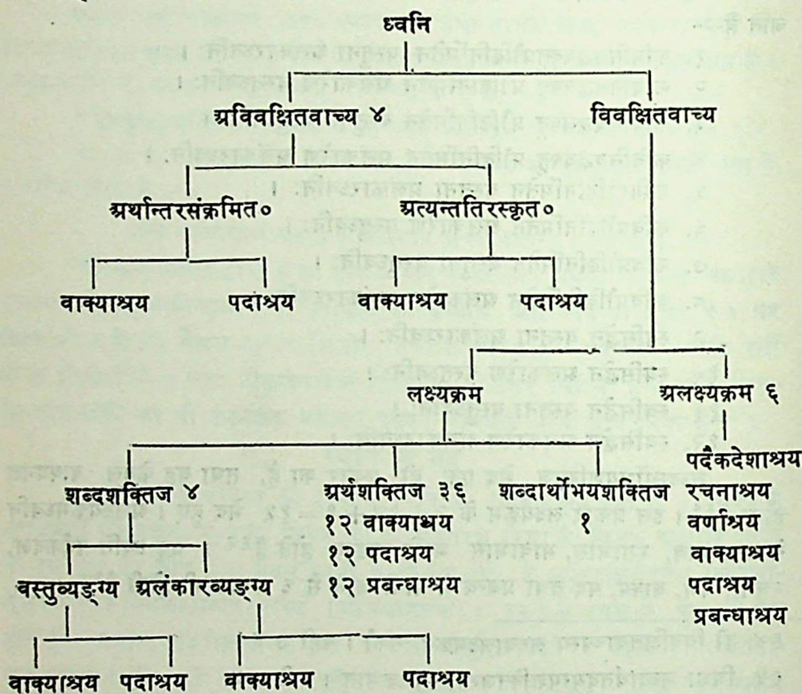
१. कविनिबद्धवक्तृप्रौढिनिर्मितेन वस्तुना अलंकारध्वनिः।
२. कविनिबद्धवक्तृ प्रौढिनिर्मितेन अलंकारेण वस्तुध्वनिः।
३. कविनिबद्धवक्तृ प्रौढिनिर्मितेन वस्तुना वस्तुध्वनिः।
४. कविनिबद्धवक्तृ प्रौढिनिर्मितेन अलंकारेण अलंकारध्वनिः।
५. कविप्रौढिनिर्मितेन वस्तुना अलंकारध्वनिः।
६. कविप्रौढिनिर्मितेन अलंकारेण वस्तुध्वनिः।
७. कविप्रौढिनिर्मितेन वस्तुना वस्तुध्वनिः।
८. कविप्रौढिनिर्मितेन अलंकारेण अलंकारध्वनिः।
९. स्वसिद्धेन वस्तुना अलंकारध्वनिः।
१०. स्वसिद्धेन अलंकारेण वस्तुध्वनिः।
११. स्वसिद्धेन वस्तुना वस्तुध्वनिः।
१२. स्वसिद्धेन अलंकारेण अलंकारध्वनिः।

शब्दार्थोभयशक्तिज भेद एक ही प्रकार का है, तथा वह केवल वाक्यगत होता है[९८]। इस प्रकार लक्ष्यक्रम के २+१२+१=१५ भेद हुए। अलक्ष्यक्रमध्वनि से रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि व्यङ्ग्य होते हैं[९९]। यह ध्वनि पदैकदेश, रचना, वर्ण, वाक्य, पद तथा प्रबन्ध में पायी जाने से ६ प्रकार की होती है[१००]।

---

९४. द्वौ विवक्षितवाच्यस्य लक्ष्यालक्ष्यक्रमात्मकौ। वही ७.४
९५. त्रिधा शब्दार्थतद्युग्मशक्तिजन्मा स्फुटक्रमात्। वही ७.५
९६. वस्त्वलङ्कारयोर्व्यक्तेर्भेदौ द्वौ शब्दशक्तिजौ। वही ७.६
९७. अर्थशक्तिसमुत्थस्य भेदा द्वादश तद्यथा।
चत्वारो वस्त्वलंकारमलंकारस्तु वस्तु तत्।
अलंकारमलंकारो वस्तु वस्तु व्यनक्ति तत्।
वक्तुः कविनिबद्धस्य कवेर्वा प्रौढिनिर्मितः।
स्वसिद्धो वा व्यंजकोऽर्थश्चत्वारस्त्रिगुणास्ततः॥ वही ७.६-८
९८. शब्दार्थोभयभूरेकः स च वाक्यैकसंश्रयः। वही ७.९
९९. रसभावतदाभासप्रमुखस्त्वस्फुटक्रमात्। वही ७.५
१००. पदैकदेशे रचनावर्णवाक्यपदेष्वपि।
प्रबन्धे चेति षोढासौ रसाद्याख्योऽस्फुटक्रमः॥ वही ७.९, १०

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के २ तथा विवक्षितवाच्य ध्वनि के लक्ष्यक्रम के शब्दार्थोभयशक्तिज को छोड़कर १४, ये १६ भेद वाक्याश्रय तथा पदाश्रय दोनों में होने से १६ × २ = ३२ हो जाते हैं[१०१]। साथ ही अर्थशक्तिज ध्वनि के १२ भेद वाक्य तथा पद के अतिरिक्त प्रबन्ध में भी पाये जाते हैं[१०२]। इस प्रकार ३२ और १२ के साथ १ शब्दार्थोभयशक्तिज का तथा ६ अलक्ष्यक्रम के भेद मिलाकर उभयविध ध्वनि के कुल भेद ५१ हो जाते हैं[१०३]। इन ५१ भेदों को निम्न वृक्ष द्वारा दर्शाया जा सकता है—



कुल शुद्ध भेद—४ + ४ + ३६ + १ + ६ = ५१

मम्मट के काव्यप्रकाश में ये ही ५१ भेद परिगणित किये गये हैं। वहां प्रत्येक को उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया जा चुका है। संभवतः इसीलिए जयदेव

१०१. एषु सप्तदशस्वेकं परित्यज्यास्फुटक्रमम्।
ये षोडशाद्या द्विगुणास्ते स्युर्वाक्यपदाश्रयात्॥ वही ७.१०, ११

१०२. प्रबन्धेऽपि द्वादश स्युरर्थशक्तिभुवो भिदः। वही ७.११

१०३. द्वात्रिंशद् द्वादशैकः षट् सर्वसंकलितध्वनेः।
भेदाः स्युरेकपञ्चाशत्॥ वही ७.१२

इनका परिगणनमात्र करके ही रह गये हैं, विस्तार नहीं किया। ध्वन्यालोक में लोचनटीका के अनुसार ३५ भेद ही वर्णित हुए थे। वहां अर्थशक्ति के प्रबन्धगत १२ भेद नहीं किये गये हैं; शब्दशक्तिज के वस्तुगत और अलंकारगत भेद न करके ४ के स्थान पर केवल वाक्यगत और पदगत दो ही भेद किये हैं, और उभयशक्तिज कोई भेद नहीं माना है। इस प्रकार १५ भेद लक्ष्यक्रम में न्यून हो जाते हैं और १ पदैक-देशगत भेद अलक्ष्यक्रम में नहीं किया है। अतः १६ की न्यूनता है। आचार्य विश्वनाथ भी मम्मट तथा जयदेव के समान ५१ भेद ही मानते हैं। जयदेव का कथन है कि संसृष्टि और संकर के मिश्रण से इन ५१ भेदों के सहस्रों भेद संभव हैं[१०४]। इन्होंने निश्चित गणना नहीं दर्शायी है, जब कि ध्वन्यालोक के लोचनटीकाकार अभिनवगुप्त, मम्मट तथा विश्वनाथ निश्चित संख्या प्रदर्शित करते हैं। ध्वन्यालोक में इस सम्बन्ध में निम्न कारिका मिलती है :—

सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालंकारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा ॥ ३.४३

इस कारिका पर टीका करते हुए लोचनकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य, अलंकार तथा ध्वनि के अपने भेदों के साथ ३५ शुद्ध ध्वनिभेदों के संकर और संसृष्टि से ध्वनि के ७४२० भेद दिखाये हैं[१०५]। काव्यप्रकाशकार ५१ शुद्ध ध्वनिभेदों के परस्पर मिश्रण तथा त्रिविध संकर और एकविध संसृष्टि से कुल (५१ × ५१ × ४) + ५१ = १०४५५ भेद परिगणित करते हैं[१०६]। दर्पणकार की गणना के अनुसार कुल भेद ५३५५ होते हैं। काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण में संख्या का यह अन्तर दोनों की गणना-प्रक्रिया के भेद के कारण है। काव्यप्रकाशकार ने गुणन-प्रक्रिया (५१ × ५१) का अवलंबन किया है, जब कि दर्पणकार ने संकलन प्रक्रिया (१ से ५१ तक की संख्याओं के योग) का आश्रय लिया है[१०७]।

ध्वनि का एक अन्य विभाजन

ध्वनि या व्यङ्ग्य का एक अन्य विभाग जयदेव ने वक्तृस्यूत तथा स्वांकुरित रूप में किया है। वक्तृस्यूत व्यङ्ग्य उसे कहते हैं जिसका बोधन वक्ता को अभीष्ट होता है, तथा स्वांकुरित वह होता है जिसमें वक्ता का तो तात्पर्य नहीं होता, पर वाणी से स्वयं उल्लसित हो जाता है।

वक्तृस्यूतं बोधयितुं व्यङ्ग्यं वक्तुरभीप्सितम्।
स्वांकुरितमतद्रूपं स्वयमुल्लसितं गिरः ॥ च० ७.१३

उदाहरणार्थ 'गंगायां घोषः' से तटगत शीतत्वपावनत्वादि की प्रतीति कराना

---

१०४. संभिन्नास्तु सहस्रशः।

१०५. वस्तुतः इनकी गणना में भूल है। इन्होंने २८४ और ३५ का गुणा ७४२० लिखा है, जब कि होना चाहिये ९९४०।

१०६. का० प्र० ४.४४

१०७. सा० द० ४.१२

वक्ता को अभीष्ट होने से यह व्यङ्ग्य वक्तृस्यूत है। किन्तु 'गतोऽस्तमर्कः' में वक्ता की यदि सूर्यास्त की ही सूचना अभीष्ट हो, पर श्रोता उससे अपने-अपने अनुकूल 'सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यताम्', 'दूरं मा गाः', 'गावो गृहे प्रवेश्यन्ताम्,' 'सन्तापोऽधुना न भवति', 'विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्ताम्' आदि व्यङ्ग्यार्थ समझ लें, तो स्वांकुरित व्यङ्ग्य होगा।

वक्तृस्यूत ध्वनि के भेद

इनमें से वक्तृस्यूत व्यङ्ग्य बोद्धृभेद से चार प्रकार का हो जाता है। बोद्धाओं के चार प्रकार हैं—साधारण, आमन्त्र्य प्रतिबोधित, तटस्थ और बोधितप्रतिबोधित। तदनुसार वक्तृस्यूत निम्न चार प्रकार का होता है[१०८]।

१. साधारणबोद्धृगम्य।

२. आमन्त्र्यप्रतिबोधितबोद्धृगम्य।

३. तटस्थबोद्धृगम्य।

४. बोधितप्रतिबोधितबोद्धृगम्य।

साधारण बोद्धगम्य ध्वनि

राकागम टीका में इसकी तीन व्याख्याएं मिलती हैं। एक व्याख्या के अनुसार जो सर्वसाधारण को, चाहे वह आलंकारिक हो चाहे अनालंकारिक, प्रतिभासित हो सके वह साधारणबोद्धृगम्य ध्वनि कहाती है[१०९], जिसे काव्यप्रकाश में अगूढव्यङ्ग्य कहा है। यथा 'उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि' में 'उपदिशति' का व्यङ्ग्यार्थ ललित चेष्टाओं का बिना आयास के प्रकट हो जाना सर्वजनसंवेद्य होने से अगूढ है। दूसरी व्याख्या के अनुसार साधारण वह बोद्धा है जो वक्ता के तात्पर्य से अनभिज्ञ है[११०]। यथा 'गताऽस्तमर्कः,[१११] इत्यादि में वक्ता का तात्पर्य किस व्यङ्ग्य में है, इसे बिना जाने ही बोद्धा अपने अनुरूप किसी व्यङ्ग्य को समझ लेता है। तीसरी व्याख्यानुसार उस बोद्धा को साधारण कहा जाता है जो प्रयोज्य न हो[११२]। यथा—

कुम्भं गृहीत्वा विपुलं सत्वरं समुपागता।
श्रमस्वेदनिरासाय विश्रमामि सखि क्षणम्॥

---

१०८. कश्चित् साधारणः; कश्चिदामन्त्र्यप्रतिबोधितः।
कश्चित्तटस्थः कश्चिच्च बोधितप्रतिबोधितः॥
इत्येवं बोद्धृवैचित्र्याद् वक्तृस्यूतं चतुर्विधम्। च० ७.१४, १५

१०९. साधारण आलिङ्कारिकोऽनालंकारिकश्च। तद्बोध्यं व्यङ्ग्यम्। इदमेव च अगूढ-व्यङ्ग्यमिति काव्यप्रकाशेनोक्तम्। राकागम०

११०. अन्ये त्वेवं व्याचक्षते साधारणः वक्तृतात्पर्यानभिज्ञः। वही

१११. ऊपर 'गतोऽस्तमर्कः' यह उदाहरण स्वांकुरित का दिया गया है। यहां उसे ही वक्तृस्यूत का कह रहे हैं। वस्तुतः वक्ता को व्यङ्ग्यार्थ अभीप्सित है या नहीं इस दृष्टि से यह दोनों का ही उदाहरण हो सकता है।

११२. यद्वा, साधारणः अप्रयोज्यत्वे सति प्रतिपाद्यः। राकागम०

यहां सखी के प्रति रतगोपन व्यङ्ग्य है। सखी प्रतिपाद्या या बोद्ध्री तो है, पर उसे इस व्यङ्ग्यार्थ की सूचना द्वारा किसी कार्य में नियुक्त करना प्रयोजन न होने से वह प्रयोज्य नहीं है[११३]।

आमन्त्र्यप्रतिबोधितबोद्धृगम्य ध्वनि

आमन्त्र्यप्रतिबोधित बोद्धा वह होता है जिसे वक्ता सम्बोधित करके अर्थबोध कराये। यथा–

> **पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।**
> **उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥**

यहां पथिक को सम्बोधन कर यह व्यङ्ग्यार्थ बोधित कराया गया है कि यदि तुम उपभोगक्षम हो तो यहां निवास करो। एवं यहां आमन्त्र्यप्रतिबोधितबोद्धृगम्य ध्वनि है। दूसरी व्याख्यानुसार आमन्त्र्यप्रतिबोधित व्यक्ति वक्ता की अपेक्षा नीच ही हुआ करता है[११४]। यथा—

> **त्वं दूति निरगाः कुञ्जं न तु पापीय सो गृहम्।**
> **किंशुकाभरणं देहे दृश्यते कथमन्यथा ॥**

यहां कुंज में जाकर चौर्यरत करना व्यङ्ग्य है, जिसकी बोद्ध्री नायिका की अपेक्षा नीच दूती है।

तटस्थबोद्धृगम्य ध्वनि

तटस्थ उस बोद्धा को कहते हैं जिसे अर्थबोध कराना तो अभीष्ट होता है, पर संबोधन उसे न कर किसी अन्य को किया जाता है। अन्य को सुनायी गई बात से वह अर्थबोध कर लेता है। यथा—

> **पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।**
> **निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव ॥**

यहां नायिका कह तो सखी को रही है, पर तटस्थ नायक इस व्यङ्ग्यार्थ को समझ लेता है कि यही प्रदेश संकेतस्थान है। दूसरी व्याख्या के अनुसार तटस्थ बोद्धा वही हुआ करता है जो वक्ता के समान स्तर[११५] का होते हुए नियोज्य हो। यथा—

> **गृहोपकरणे सर्वं व्यापृता क्षपये दिनम्।**
> **सन्ध्यायां मम विश्रामः क्वचिद् भवति वा न वा ॥**

यहां कोई रमणी अपने समकक्ष व्यक्ति को सन्ध्या रूपी संकेतकाल का बोध करा रही है।

बोधितप्रतिबोधितबोद्धृगम्य ध्वनि

जहां कोई व्यक्ति किसी को अपना अभिप्राय बोधित कर उसके द्वारा अन्य व्यक्ति को बोध कराये वहां यह ध्वनि होती है। यथा—

---

११३. गागाभट्ट कृत इन तीन व्याख्याओं में से रमाटीकाकार ने अन्तिम दो को ही स्वीकार किया है। प्रथम को उन्होंने इस कारण उपेक्षित कर दिया प्रतीत होता है कि अगूढ व्यङ्ग्य तो शेष तीनों में भी हो सकता है।

११४. यद्वा···आमन्त्र्यप्रतिबोधितो नीचः। राकागम, रमा।

११५. यद्वा···तटस्थः समो नियोज्यः। वही

दिशि दिशि परिहासगूढगर्भाः पिशुनगिरो गुरुगञ्जनं च तादृक् ।
सहचरि हरये निवेदनीयं भवदनुरोधवशादयं विपाकः ।।

यहां गोपियां वक्ता स्वयं न होकर अपनी किसी सहचरी के द्वारा कृष्ण को कहला रही हैं। कृष्ण के प्रति उपालम्भ व्यङ्ग्य है। दूसरी व्याख्या के अनुसार बोधितप्रतिवोधित व्यक्ति को सन्देशप्रेषक की अपेक्षा उच्च ही होना चाहिये। यथा–

प्राणेश विज्ञप्तिरियं मदीया तत्रैव नेया दिवसाः कियन्तः ।
अत्र स्थितिर्युक्तिमती न देशे करा हिमांशोरपि तापयन्ति ।।

यहां नायिका नायक को किसी अन्य के द्वारा अपना सन्देश भिजवा रही है। एवं नायिका से बोधित व्यक्ति द्वारा नायक प्रतिवोधित हो रहा है। नायक नायिका का स्वामी होने से उसकी अपेक्षा उच्च है। व्यङ्ग्यार्थ है कि आपको विरह असह्य है, अतः शीघ्र ही आप यहां आ जायें।

स्वांकुरित ध्वनि के भेद

किसी व्यङ्ग्यार्थ को वक्ता उपेक्षित करना चाहता है या उसे छिपाना चाहता है, इस दृष्टि से स्वांकुरित ध्वनि के दो भेद हो जाते हैं—उपेक्षामूलक तथा निह्नवमूलक[११६]। उदाहरणार्थ—

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन ।।

यहां एक व्यंग्य तो यह है कि गोदावरी के तीर पर सिंह है, अतः पुजारी वहां न जाये। यह तो वक्तृस्यूत व्यङ्ग्य है। दूसरा स्वांकुरित व्यङ्ग्य यह है कि गोदावरीतट मेरा संकेतस्थान है। यह पुजारी पर प्रकट हो या न हो, इसके प्रति वक्ता की उपेक्षा होने से यह उपेक्षामूलक व्यङ्ग्य हुआ। स्वांकुरित यह इस कारण है कि वक्ता ने इस व्यङ्ग्य को प्रकट करने के आशय से उक्त वाक्य नहीं बोला है। निह्नवमूलक का निम्न उदाहरण होगा—

अयि पृथुलं जलकुंभं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिश्वासनिर्भरा विश्राम्यामि क्षणम् ।।

यहां चौर्यरतगोपन व्यङ्ग्य है। पर वक्ता को उसका निह्नव करना ही अभिप्रेत है, अर्थात् कहने वाली यह नहीं चाहती कि श्रोता पर यह प्रकट हो।

राकागम टीका में स्वांकुरित के इन दोनों भेदों की दूसरी व्याख्या यह की गई है कि उपेक्षामूलक का अभिप्राय है अगूढव्यङ्ग्य[११७] और निह्नवमूलक का आशय गूढ़व्यङ्ग्य है। यह व्याख्या रमा टीकाकार को भी स्वीकृत है[११८]। अगूढ का उदाहरण

११६. उपेक्षानिह्नवाभ्यां च द्विधा स्वांकुरितं मतम्। च० ७.१५

११७. उपेक्षामूलक को अगूढव्यङ्ग्य इस दृष्टि से कह सकते हैं कि अगूढव्यङ्ग्य विशेष चामत्कारिक न होकर उपेक्षणीयवत् होता है।

११८. रमाटीका में केवल यही व्याख्या मिलती है, प्रथम व्याख्या नहीं। प्रथम व्याख्या राकागमटीकाकार ने शरदागमटीका से ली है। शरदागम में द्वितीय व्याख्या नहीं है।

है भवभूति का 'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्' आदि पद्य, जिसमें कवि का गर्वाविष्करण व्यङ्ग्य है। यह सर्वजनसंवेद्य होने से अगूढ है और कवि के तात्पर्य का विषय न होने से स्वांकुरित[११९]। गूढव्यंग्य का उदाहरण काव्यप्रकाशोक्त 'मुखं विकसितस्मितम्,' इत्यादि है, जहां मुखगत सौरभ आदि व्यङ्ग्य सहृदयमात्रसंवेद्य होने से गूढ हैं।

निह्नव भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल के भेद से अनेकविध हो सकता है[१२०]। जैसे पूर्वोक्त 'अपि पृथुलं जलकुंभं' आदि में भूतकाल-विषयक निह्नव है। तीनों कालों का इकट्ठा उदाहरण निम्न पद्य है, जिसमें भूत, भविष्य तथा वर्तमान सुरतगोपन व्यङ्ग्य है—

श्वश्रूः क्रुध्यतु निर्दिशन्तु सुहृदो निन्दन्तु वा मातर-
स्तस्मिन् किन्तु न मन्दिरे सखि पुनः स्वापो विधेयो मया।
आखोराक्रमणाय कोणकुहरादुत्फालमातन्वती
मार्जारी नखरैः खरैः कृतवती कां कां न मे दुर्दशाम्॥

ख. गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य

व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चारु न होने पर अर्थात् उससे न्यून या उसके सम होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य में व्यङ्ग्य के सम्बन्ध से वाच्य-चारुत्व को ही प्रकृष्ट कहा था।

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥ ध्वन्या० ३.३५

मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य का निम्न लक्षण किया है तथा इसके अगूढ, अपरांग आदि ८ भेदों को भी सविस्तर निरूपित किया है—

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्। का० प्र० १.५

'अतादृशि' का अभिप्राय है 'वाच्यादनतिशायिनि'। इसके साथ विश्वनाथ[१२१]

---

११९. रमाटीका में इस स्वांकुरित अगूढ का यही उदाहरण दिया गया है। किन्तु शरदागम टीका में इस श्लोक को वक्तृस्यूत के साधारणबोद्धृगम्य के उदाहरण रूप में दिया है, जो चिन्त्य है। कवि का तात्पर्य गर्वाविष्करण में न होने से यह वक्तृस्यूत नहीं हो सकता।

१२०. भूतादिकालभेदेन निह्नवः स्यादनेकधा। च० ७.१६

इस उक्ति से यह प्रतीत होता है कि जयदेव को निह्नव की प्रथम व्याख्या ही अभिप्रेत है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ को छिपाना। यह चिन्त्य है कि रमा टीका में १५वीं कारिका की व्याख्या में तो निह्नव का अर्थ गूढव्यङ्ग्य किया है, किन्तु इस १६ वीं कारिका में छिपाना अर्थ लेकर व्याख्यान किया है।

१२१. अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये। अपरं काव्यम्। अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च संभवति। सा० द० ४.१२ तथा वृत्ति.

एवं पण्डितराज[१२२] के लक्षण भी तुलनीय हैं। पण्डितराज ने जिसे मध्यम काव्य कहा है वह गुणीभूतव्यङ्ग्य ही है।

जयदेव ने चन्द्रालोक के अष्टम मयूख में गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा उसके भेद-प्रभेदों पर विचार किया है। उनका कथन है कि जिस व्यङ्ग्य से मन चमत्कृत या आह्लादित हो उठे वह तो ध्वनि है, पर व्यङ्ग्य के उतने उच्चकोटि का न होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है[१२३]। इसमें व्यङ्ग्य वाच्य की अपेक्षा चारुतर नहीं रहता। इस चारुत्वरहितता की सामान्यतः तीन स्थितियाँ हो सकती हैं। प्रथम, व्यङ्ग्य अत्यन्त स्फुट होने से ही चारुतारहित प्रतीत हो। द्वितीय, व्यङ्ग्य स्वभाव[१२४] से ही चारुतारहित हो। तृतीय, व्यङ्ग्य इतर वाच्यार्थ या व्यङ्ग्यार्थ की तुलना में चारुता-रहित प्रतीत होता है।

[१२५]"व्यक्त एव क्वचिद् व्यङ्ग्यः क्वचिदर्थस्वभावतः।
क्वचिच्चारुतरस्याग्रे स विमुञ्चति चारुताम्॥ च० ८.२

गुणीभूतव्यङ्ग्य के अगूढ, अपरांग आदि मम्मटोक्त आठ भेद जयदेव ने भी किये हैं, जिनमें व्यङ्ग्यार्थ की अचारुता उक्त तीन प्रकारों में से ही एक या अधिक प्रकार की हो सकती है। आठ भेद निम्न हैं।

१. अगूढ

अर्थान्तरसंक्रमित आदि अविवक्षितवाच्य या विवक्षितान्यपरवाच्य व्यङ्ग्य गूढ होने पर ही चमत्कारजनक हुआ करता है[१२६]। वैसा न होकर उसके अगूढ अर्थात्

---

१२२. यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत् तृतीयम्। र० गं० आनन १।

१२३. अन्यथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यमापतितं त्रिधा। च० ८.१

१२४. यहाँ स्वभाव के दो अर्थ लेने उचित हैं—एक तो व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूप, दूसरे व्यङ्ग्यबोध की प्रक्रिया। इससे आगे कहे गये आठों गुणीभूतव्यङ्ग्य इन तीनों प्रकारों में से ही किसी न किसी के अन्तर्गत हो सकेंगे।

१२५. इस कारिका की व्याख्या के सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद है। शरदागमकार 'व्यक्तिरेव क्वचित् पाठ मानकर निम्न व्याख्या करते हैं—"क्वचिद् व्यक्ति-व्यंजनैव चारुतां मुञ्चतीत्येकः प्रकारः। क्वचिद् व्यङ्ग्योऽर्थः स्वभावतः एव चारुतां मुञ्चतीत्यपरः। क्वचिच्चारुरप्यर्थः चारुतरसंनिधानादचारुरित्यपरः।" इस व्याख्या में 'चारुतां मुञ्चति' का प्रत्येक के साथ योग होता है। राकागम तथा रमा टीकाओं में इस कारिका में कथित तीनों भेद अगूढव्यङ्ग्य के माने हैं—एवमगूढव्यङ्ग्यस्य त्रैविध्यमित्यर्थः। परन्तु यह संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रथम कारिका में त्रिधा गुणीभूतव्यङ्ग्य-सामान्य को ही कहा गया है, जिसकी व्याख्या द्वितीय कारिका में है। अगूढ आदि भेद तो तृतीय कारिका से आरम्भ होते हैं।

१२६. कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति। अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायामनमिति गुणीभूतमेव। का० प्र० ५.४५ वृत्ति.

सर्वजनसंवेद्य होने पर अगूढ नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य माना जाता है[१२७]। इसमें व्यङ्ग्य के चारुत्वराहित्य की पूर्वोक्त स्थितियों में से प्रथम स्थिति रहती है। चन्द्रालोकप्रोक्त इसका उदाहरण है—'विस्मृतः किमपां नाथ स त्वया कुंभसंभवः' अर्थात् हे जलनाथ, क्या तुम घटजन्मा को भूल गये। यहाँ 'विस्मृतः' 'अपांनाथ', 'त्वया' और 'सः कुंभसंभवः' पद क्रमशः 'नहीं भूलना चाहिए', 'मूर्खशिरोमणि (जलनाथ=जडनाथ)', 'तत्सामर्थ्यपरिचित तुम' तथा 'समुद्रपाता अगस्त्य मुनि' रूप व्यङ्ग्यार्थ को देते हैं। ये व्यङ्ग्यार्थ क्रमशः पदगतअर्थशक्तिमूलक, पदगतशब्दशक्तिमूलक, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यमूलक तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यमूलक हैं। अभिप्राय यह है कि तुम मूर्खशिरोमणि हो जो अगस्त्य के सामर्थ्य से परिचित होते हुए भी तुम समुद्रपाता अगस्त्यमुनि को भूल गये, उन्हें न भूलकर तुम्हें उनसे डरना चाहिए। यह व्यङ्ग्यार्थ सहृदय तथा असहृदय सभी से वेद्य होने के कारण अगूढ है। अतः अचारु होने से ध्वनि न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

२. अपरांग

जहाँ एक रसादि इतर रसादि का अंग होने से गौण होकर अचारु हो, वहाँ अपरांग गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है[१२८]। यथा—'हा हा मत्कुचकाश्मीरलिप्तं भिन्नमुरः शरैः' अर्थात् 'हाय हाय, मेरे कुचों के केसर से लिप्त (नायक का) वक्षस्थल बाणों से विदीर्ण हो गया।' यहाँ शृंगार रस करुण रस का अंग होने के कारण तदपेक्षया अचारु होने से अपरांग गुणीभूतव्यङ्ग्य है[१२९]। यहाँ शृंगार की चारुरहितता पूर्वोक्त श्रेणियों में से तृतीय श्रेणी की है।

३. वाच्यसिद्ध्यङ्ग

व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ की ही सिद्धि में सहायक होने पर वाच्यसिध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है। यथा सुधीजन तरणि (सूर्य) का आश्रय लेकर व्याधि रूप समुद्रों को पार कर लेते हैं[१३०], यहाँ प्रकरण से नियन्त्रित होकर तरणि का वाच्यार्थ सूर्य है, तथा नौका व्यङ्ग्यार्थ है। यह नौका रूपी व्यङ्ग्यार्थ 'व्याधि-वारिधि' इस वाच्य रूपक-अलंकार का ही साधक है, क्योंकि सूर्य में नौकात्व के आरोप के बिना व्याधि में वारिधित्व का आरोप नहीं हो सकता। यहाँ भी व्यङ्ग्यार्थ का चारुत्वविरह पूर्व उदाहरण के समान तृतीय कोटि का होगा।

---

१२७. अगूढं कलयेदर्थान्तरसंक्रमितादिकम्। च० ८.३

१२८. अपरस्य रसादेश्चेदङ्गमन्यद् रसादिकम्। वही ८.४

१२९. मम्मट ने प्राचीनाभिमत रसवदादि अलंकारों को भी अपरांग गुणीभूतव्यङ्ग्य माना है। जयदेव भी इसी मत के प्रतीत होते हैं। ५ म मयूख में अलंकारप्रकरण में रसवदादि को इन्होंने कुछ आचार्यों के मतानुसार ही अलंकार कहा है, स्वमतानुसार नहीं (द्रष्टव्य च० ५.११७, ११८)।

१३०. तथा वाच्यस्य सिद्ध्यङ्गं नौरर्थो वारिधेर्यथा।
संश्रित्य तरणिं धीरास्तरन्ति व्याधिवारिधीन्॥ च० ८.५

४. अस्फुट

विलम्ब से प्रतीति होने के कारण यदि व्यङ्ग्यार्थ अस्पष्ट हो तो अस्फुट नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है। उदाहरणार्थ--'यह कुंकुमलिप्त स्तनयुगल मेरे मानस में प्रवेश कर रहा है'[१३१], यहाँ कुंकुमलिप्त विशेषण देकर स्तनद्वय का चक्रवाकों की जोड़ी से सादृश्य कवि सूचित करना चाहता है, जो क्लिष्ट होने से अस्फुट है। यद्यपि गूढ अर्थ ही चामत्कारिक होता है, पर इतना गूढ नहीं होना चाहिए कि उसकी प्रतीति सहृदयों को भी क्लेश से हो। अतएव ऐसे व्यङ्ग्य को अचारु माना गया है। यहाँ अचारुता अर्थबोध की प्रक्रिया में जटिलता होने से द्वितीय कोटि की होगी।

५. सन्दिग्ध

जहाँ वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के विषय में यह सन्देह हो कि इनमें से कौन प्रधान है, वहाँ सन्दिग्ध नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है। काव्यप्रकाश में इसे ही सन्दिग्धप्राधान्य नाम दिया गया है। जैसे, 'उस सुन्दरी के नयन कर्णभूषणों की भूमि तक पहुँचे हुए थे'[१३२] इस वाक्य में नेत्र श्रोत्रपर्यन्त पहुँचे हुए अर्थात् दीर्घ थे यह वाच्य है, और 'नीलकमलों के सदृश थे' यह व्यङ्ग्य है। इनमें से कौन सा अर्थ प्रधान या अधिक चमत्कारकारी है यह सन्देहास्पद है। यहाँ व्यङ्ग्य अचारु इस कारण माना जायेगा, क्योंकि स्वभाव से वह इतना उत्कृष्ट नहीं कि असन्दिग्ध रूप में उसकी प्रधानता निर्णीत हो सके। अतः यह अचारुता द्वितीय कोटि में आयेगी।

६. तुल्यप्राधान्य

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के एक-समान प्रधान प्रतीत होने पर तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्यता कही जाती है। यथा—'हे प्रिये, तुम्हारी मुखकान्ति से कमल म्लान हो रहा है'[१३३] यहाँ कमल का म्लानत्वरूप वाच्यार्थ तथा मुख का इन्दुसदृश-त्वरूप व्यङ्ग्यार्थ दोनों के ही समान रूप से चमत्कारजनक होने से तुल्यप्रधानत्व है। यहाँ भी व्यङ्ग्यार्थ का अचारुत्व (चारुतर न होना) द्वितीय कोटि में आयेगा। सन्दिग्ध तथा तुल्यप्राधान्य में अन्तर यह है कि सन्दिग्ध में तो बलाबल का सन्देह रहता है, तुल्यप्रतीति नहीं होती, जबकि तुल्यप्राधान्य में निश्चितरूप से ही तुल्यता प्रतीत होती है।

७. असुन्दर

व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ से स्पष्टतः अचारु होने पर असुन्दर संज्ञक गुणीभूत-व्यङ्ग्य कहलाता है यथा—'जब सरोवर के कमल मुंद रहे हैं तब चकवा अपनी प्रिया

---

१३१. अस्फुटं स्तनयोरत्र कोकसादृश्यवन्मतम्।
कुङ्कुमाक्तं स्तनद्वन्द्वम् मानसं मम गाहते॥ वही ८.६

१३२. सन्दिग्धं यदि सन्देहो दैर्घ्याद्युत्पलयोरिव।
संप्राप्ते नयने तस्याः श्रवणोत्तंसभूमिकाम्॥ वही ८.७

१३३. तुल्यप्राधान्यमिन्दुत्वमिव वाच्येन साम्यभृत्।
कान्ते त्वदाननरुचा म्लानिमेति सरोरुहम्॥ वही ८.८

की ओर देख रहा है'[१३४] यहाँ भावी विरह व्यङ्ग्यार्थ है, किन्तु वह 'प्रिया की ओर एकटक निहारना' रूपी वाच्यार्थ के आगे असुन्दर ठहरता है। यहाँ अचारुता पूर्वोक्त श्रेणियों में से तृतीय श्रेणी की है।

८. काकुस्थ

जहाँ काकु के द्वारा वाच्यार्थ के साथ ही अविलम्बतः व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती हो वहां काकुस्थ नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है। काव्यप्रकाश में इसे काक्वाक्षिप्त कहा गया है। 'समुद्र राम के आगे प्रणत हो गया है, अब रावण गर्व कर ले'[१३५] यहाँ 'अब रावण को गर्व करना उचित नहीं है' यह व्यङ्ग्यार्थ काकु से वाच्य के साथ ही ध्वनित होने से गुणीभूत है। यहाँ व्यङ्ग्य की अचारुता द्वितीय श्रेणी में आयेगी।

पहले ध्वनि के जो शुद्ध ५१ भेद दर्शाये हैं, उनमें से ९ को छोड़कर शेष अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य आदि समस्त भेद गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी हो सकते हैं। केवल जहाँ वस्तु द्वारा अलंकार व्यङ्ग्य होता है उन अर्थशक्तिमूलक ९ भेदों में गुणीभूत-व्यङ्ग्य न होकर ध्वनि ही रहती है[१३६]। एवं ४२ प्रकार के गुणीभूतव्यङ्ग्य में से प्रत्येक के अगूढ, अपरांग आदि आठ-आठ भेद करने पर ४२ × ८ = ३३६ शुद्ध भेद हो जाते हैं। इनके परस्पर एकविध संसृष्टि तथा त्रिविध संकर से बहुत बड़ी भेद-संख्या हो जाती है[१३७]। इन सब भेद-प्रभेदों का विस्तार चन्द्रालोक में प्रदर्शित नहीं किया गया है। ●

---

१३४. असुन्दरं यदि व्यङ्ग्यं स्याद् वाच्यादमनोहरम्।
सरस्यामीलदम्भोजे चक्रः कान्तां विलोकते ॥ वही ८.९

१३५. काकुस्थं प्रयतोऽम्भोधिरद्य माद्यतु रावणः। वसी ८.१०

१३६. व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात ॥ ध्वन्या० २.२९
इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालंकारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्य-त्वम्। का० प्र० ५.४६ वृत्ति.

१३७. सालंकारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः।
अन्योन्ययोगादेवं स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी ॥ का० प्र० ५.४७

सप्तम अध्याय | रामकथा का महनीय नाटक प्रसन्नराघव

संस्कृत-साहित्य में राम-कथा की व्यापकता

आदि कवि वाल्मीकि की वाणी से प्रस्र ुत काव्यामृतरूप रामायण संस्कृत-साहित्य की अमूल्य निधि है। इस ग्रन्थरत्न को उपजीव्य बनाकर गीर्वाणवाणी-प्रणयी अनेक काव्यशिल्पियों ने महाकाव्य, चम्पूकाव्य, रूपक, गद्यकाव्य आदि के माध्यम से अपनी काव्यमन्दाकिनी को प्रवाहित किया है। महाकवि कालिदास का रघुवंश, क्षेमेन्द्र की रामायणमंजरी तथा दशावतारचरित, अभिनन्द का रामचरित, भट्टि का भट्टिकाव्य, कुमारदास का जानकीहरण, शाकल्लमलाचार्य का उदारराघव, रूपनाथ उपाध्याय का श्रीरामविजय, पाणिवाद का राघवीयम् आदि रामकथाश्रित महाकाव्य प्रसिद्ध हैं। भोजराजकृत रामायण चम्पू, वेंकटकृत उत्तररामचरितचम्पू आदि चम्पुओं में भी राम-कथा का सरस निबन्धन हुआ है। वेदान्तदेशिक का हंसदूत, रुद्रन्यायपंचानन का वातदूत आदि संदेशकाव्य भी रामकथा से गौरवान्वित हैं। सोमदेव का कथा-सरित्सागर, क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामञ्जरी, वासुदेव की रामकथा आदि कथाकाव्यों के कलेवर में भी रामकथा अनुप्राणित है। रामकथा को माध्यम बनाकर अनेक नाटकों का भी प्रणयन हुआ है।

रामकाव्य की इसी व्यापकता को देखकर प्रसन्नराघवनाटककार महाकवि जयदेव ने 'कथं पुनरमी कवयः सर्वे रामचन्द्रमेव वर्णयन्ति' इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुये कहा है कि इसमें कवियों का क्या दोष है, यह तो उन गुण-गणों का दोष है जो सब राम में आकर एकत्र हो गये हैं—

> स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां।
> कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः ।। प्र० १·१२

रामकथा पर आश्रित नाटक

रामकथा के प्रसंगों को लेकर रचे गये नाटक संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। भास के प्रतिमा तथा अभिषेक नाटक रामकथा से ही सम्बद्ध हैं। भवभूति ने अपने महावीरचरित तथा उत्तररामचरित नाटकों में रामकथा निबद्ध की है। अनंगहर्ष कृत उदात्तराघव, दिङ्नाग या धीरनाग कृत कुन्दमाला, शक्तिभद्रकृत आश्चर्यचूडामणि, मुरारि कृत अनर्घराघव, राजशेखर कृत बालरामायण तथा सोमेश्वर कवि कृत उल्लाघराघव नाटक भी अपनी-अपनी वैचित्र्यमयी शैली से रामकथा का ही चित्रण करते हैं। ये सब नाटक सामान्यतः जयदेव द्वारा प्रसन्नराघव की रचना किये जाने से पूर्व विद्यमान थे। प्रसन्सराघव से परिवर्ती नाटकों में जैन कवि हस्तिमल्ल रचित मैथिलीकल्याण, कवि सुभट्ट रचित दूतांगद, हनुमान कृत हनुमन्नाटक या महानाटक, भास्करभट्ट कृत, उन्मत्तराघव, विरुपाक्ष कृत उन्मत्तराघव, दाक्षिणात्य कवि महादेवकृत

अद्भुतदर्पण तथा कवि रामपाणिवाद कृत सीताराघव नाटक उल्लेखनीय हैं। रामकथाविषयक कतिपय अन्य नाटक भी लिखे गये थे, जिनका संकेत काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। आधुनिक काल में भी रामकथा को आधार बनाकर कुछ नाटकों की रचना हुई है[1]।

रामकथा का कीर्तिगान करने वाले इतने नाटकों के होते हुए भी पीयूषवर्ष जयदेव कृत प्रसन्नराघव नाटक का संस्कृत-साहित्य में अपना विशेष स्थान है।

प्रसन्नराघव नाटक का कथा-संक्षेप

सात अंकों के इस नाटक में वर्णित कथानक निम्न प्रकार है, जिसमें कुछ इतिहासानुमोदित है तथा कुछ कविकल्पनाप्रसूत है।

प्रथम अंक

इस अंक का आरम्भ विष्णुस्तुतिपरक नान्दी से होता है। प्रस्तावना में सूत्रधार तथा नट पारस्परिक वार्तालाप में प्रसन्नराघव नाटक खेलने का प्रस्ताव करते हैं, और वाल्मीकि एवं राम के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं। नट पूछता है कि सभी कवि राम का ही वर्णन क्यों करते हैं ? इस पर सूत्रधार उत्तर देता है कि इसमें कवियों का क्या दोष ? यह तो उन गुणगणों का दोष है जो सब राम के अन्दर आकर एकत्र हो गये हैं। फिर वे परस्पर प्रसन्नराघव के रचयिता जयदेव कवि की प्रशंसा करते हैं और यह कहते हैं कि इस कवि की सूक्तियाँ जहाँ बड़ी सरल और कोमल हैं, वहां कहीं-कहीं वक्र और कठिन भी हैं। अन्त में याज्ञवल्क्य-शिष्य दाल्भ्यायन के आगमन की सूचना देकर दोनों चले जाते हैं।

प्रस्तावना के अनन्तर विष्कम्भक में दाल्भ्यायन कलालाप और मधुरप्रिय नामक दो भ्रमरों का वार्तालाप सुनता है। कलालाप कहता है कि 'कैलास पर्वत से भी अधिक सार वाला शिवजी का दिव्य धनुष जनक के पास है', इस वृत्त को शिवजी से जानकर बाणासुर उसे देखने मिथिला में गया है। मधुरप्रिय कहता है—"मैं नन्दनवन से आ रहा हूं। वहां रावण का अनुचर रखवालों पर गर्ज रहा था कि निशाचर-चक्रवर्ती रावण के लिए शिवाभ्यर्चना के निमित्त पुष्प तोड़ने से पूर्व ही आज तुमने नन्दनवन को कुसुमरहित क्यों कर दिया है ? तब रखवालों ने क्षमायाचनापूर्वक निवेदन किया कि सब देवता जनक-कन्या का स्वयंवर देखने जा रहे हैं, उनके विमानों को सजाने के लिए फूल तोड़ लिये गये हैं। यह सुन रावण का अनुचर रावण को यह समाचार बताने चला गया है।" भ्रमरों के मुख से दाल्भ्यायन यह वृत्त सुन गुरुजी को बताने हेतु प्रस्थान करता है।

विष्कम्भक की समाप्ति से पूर्व उक्त दोनों भ्रमर इस रहस्य का उद्घाटन कर देते हैं कि वस्तुतः वे दोनों भ्रमर नहीं, किन्तु मनुष्य हैं, जिन्हें जनक ने नानादिगन्त-समागत नृपतियों का वर्णन करने के लिए नियुक्त किया है। तब वे मंजीरक तथा नूपुरक नामक दो बन्दियों के रूप में प्रवेश करते हैं और अपने सम्मुख अनेक राजाओं

---

१. इस समस्त प्रकरण के अधिक विवरण के लिए द्रष्टव्यः कामिल बुल्केः रामकथा।

को स्वयंवर-स्थल पर देखते हैं। नूपुरक के पूछने पर मंजीरक बताता है कि यह राजा मल्लिकापीड है, यह काश्मीरतिलक है, यह वीरमाणिक्य है. मत्स्यराज है, यह सिन्धु-राज है। फिर मंजीरक जनक के पण की घोषणा करता है कि जो कोई भूवलय का तिलकभूत राजा त्रिपुरमथन महादेव के प्रचण्ड धनुष पर बंधी हुई मौर्वी को कान तक खींच लेगा, उसी को सीता प्राप्त होगी। तदुपरान्त वे धनुष को उठाने में प्रयत्नशील राजाओं के हावभावों एवं उत्साह का वर्णन करते हुये उनके द्वारा शिवधनुष के न उठ सकने की सूचना देते हैं। मंजीरक दुःख में भर कर कहता है कि क्या उर्वीतल निर्वीर हो गया है। इसी बीच नेपथ्य से ध्वनि सुनायी देती है कि यह कौन है जो धनुष को झुकाने मात्र की बात के लिये भूमि को निर्वीर कहता है इसे सुन नूपुरक मंजीरक से पूछता है कि यह किसकी कण्ठध्वनि है। मंजीरक कहता है कि इसे मैंने भी नहीं पहचाना।

नेपथ्य से उक्त बात को कहने वाला वस्तुतः रावण है। वह प्रच्छन्न रूप में पुरुष-वेष में प्रवेश करता है तथा मंजीरक के साथ उसका व्यंग्योक्तिपूर्ण वार्तालाप होता है। पुरुष मंजीरक से पूछता है कि वह कन्यारत्न तथा धनुष कहाँ है? मंजीरक उत्तर देता है कि धनुष तो यह है, पर कन्या तुम्हें बाद में देखने को मिलेगी। पुरुष के कन्या को पहले देखने की उत्सुकता प्रकट करने पर मंजीरक कहता है कि प्रतीत होता है तुम क्षत्रविद्या में कुशल नहीं हो, अन्यथा धनुष उठाये बिना कन्या को देखने के लिए उत्कण्ठित क्यों होते? इस पर पुरुष गर्वोक्ति करता है कि मेरे चापारोपण में संशय तो तब हो सकता है यदि मेघों के बिना ही अम्बर में विद्युल्लता चमकने लगे और आकाशगंगा के बिना ही मछलियों की हलचल से नीलकमल कम्पित होने लगें। इतने में ही वह क्या देखता है कि सचमुच ऐसा ही हो रहा है। वह कहता है, अहो, आज विधि भी मेरे विरुद्ध हो गया प्रतीत होता है। पर ध्यान से देखने पर उसे पता चलता है कि मुझे तो भ्रम हुआ है। यह आकाश में तडिल्लता नहीं चमक रही, यह तो राजमहल की छत पर किसी रमणी की स्वर्ण-रुचिर देहलतिका है और ये भी मत्स्यों से चंचल नीलकमल नहीं, किन्तु उसी का श्यामल नेत्रालोक है। वह सोचता है कि निश्चय ही यही सीता है, और मन ही मन वह उसके सौन्दर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है।

इतने में ही मंजीरक देखता है कि अन्तःपुर के लोग किसी स्त्री के हाथ से कोई वस्तु लेकर उसे सानन्द देख रहे हैं। पूछने पर नूपुरक उसे बताता है कि यह गुरुभवन से आई हुई चन्दनिका द्वारा लाया गया चित्रपट है, और इसमें सीता के साथ कामदेव के समान सुन्दर एक नीलोत्पल-श्यामल चक्रवर्ती-कुमार चित्रित है, जो शिवजी के धनुष को खींचकर मोड़े हुए है। नूपुरक उसे यह भी बताता है कि यह चित्र महर्षि जनक की पुत्री धर्मचारिणी मैत्रेयी ने बनाया है। तब मंजीरक कहता है कि यह अवश्य सत्य सिद्ध होगा, क्योंकि देवी मैत्रेयी सिद्धयोगिनी तथा त्रिकालदर्शिनी है, वह असत्य बात चित्रित नहीं कर सकती।

नूपुरक कहता है, सब कुछ सम्भव हो सकता है, यदि यह जीर्णाङ्ग बुड्ढा यहाँ से हट जाये। तब मंजीरक पुरुषवेषधारी रावण को फटकार कर कहता है कि इधर-उधर क्या देख रहे हो? धनुष पर दृष्टि डालो। रावण धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने के लिए आगे बढ़ता है, पर उसे हिला तक नहीं पाता। तब वह सोचता है कि धनुष तो टेढ़ी खीर है, मैं तलवार के बल से ही सीता को ले जाऊंगा। फिर अनेक मनुष्य योद्धाओं को अपने सम्मुख लड़ने के लिए खड़ा देख उन्हें संत्रस्त करने के लिये अपने दस सिर तथा बीस भुजाओं वाले असली रूप में प्रकट हो जाता है।

नूपुरक को यह देख बड़ा कौतूहल होता है कि किसी मनुष्य के भी दस सिर हो सकते हैं। मंजीरक उसे बताता है कि यह मनुष्य नहीं, यह तो राक्षसराज रावण है। वह उसे यह भी कहता है कि तुम डरो मत, क्योंकि हम तो बन्दी-जन हैं, हमारा यह कुछ नहीं बिगाड़ेगा। तब वे दोनों निःशंक हो रावण का उपहास करते हैं। रावण द्वारा अपनी वीरता की प्रशंसा किये जाने पर नूपुरक उसे कहता है कि यदि तू ऐसा ही वीर है तो प्रच्छन्न रूप में चोर की भाँति क्यों प्रविष्ट हुआ है। तब रावण कहता है कि मुझे तो संकोच इस बात का है कि जिन भुजाओं से मैं कैलास पर्वत को उठा चुका हूँ, उन्हीं से धनुष के अधिरोपण जैसे तुच्छ कार्य में प्रवृत्त होना लज्जा की बात है; तो बताओ, जानकी कहाँ है? मंजीरक यह सुन शोक करने लगता है कि हा जानकी, तुम निशाचर के हाथ में पड़ जाओगी। नूपुरक कहता है कि क्या इस वीर-मण्डल में ऐसा कोई नहीं है जो हठ से सीता को ग्रहण करने में तत्पर हुए इस रावण का दमन कर सके। मंजीरक कहता है कि सहस्रबाहु कार्तवीर्य के अतिरिक्त कुपित हुए रावण का दमन करने में भला कौन समर्थ हो सकता है? इतने में ही सामने से किसी को आता देख प्रसन्न हो नूपुरक कहता है कि लो, सहस्रबाहु आ गया। मंजीरक उसे बताता है कि सहस्रबाहु तो कभी का परशुराम के कुठार की धार का पात्र हो चुका, यह बाणासुर होगा।

इसके पश्चात् बाणासुर और रावण की परस्पर खूब कहा-सुनी होती है और दोनों एक दूसरे का उपहास करते हैं। रावण यही रट लगाये जाता है कि मैं बलात् अपने खड्ग से सीता को पा लूँगा।

इतने में ही जनक नेपथ्य से घोषणा करते हैं कि असुर, सुर, निशाचर, सर्प, नर, किंनर, सिद्ध एवं चारणों में से जो भी कोई इस धनुष को नमा देगा, वही मेरी पुत्री का पाणिग्रहण करेगा। इस घोषणा से उत्साहित हो बाणासुर और रावण दोनों ही चापारोपण करना चाहते हैं, किन्तु असफल होते हैं। तब दोनों ही आत्मश्लाघा करते हुए तथा एक-दूसरे की भुजाओं को निःसार बताते हुए कलह करने लगते हैं। बाण के रंगमंच से निकल जाने पर रावण कहता है कि अरे यह तो चला गया, पर मैं तो सीता को बिना लिये नहीं जाऊंगा। तभी राम के बाण से पीड़ित मारीच की चीख सुनाई देती है, और रावण उसकी रक्षा करने के बहाने चला जाता है। इस प्रकार रावण से सीता का त्राण हुआ देख नूपुरक और मंजीरक बहुत आश्वस्त होते हैं, तथा जनक को यह वृत्तान्त सुनाने चले जाते हैं।

द्वितीय अंक

विष्कम्भक में रावण-मंत्री माल्यवान् के दो राक्षस-गुप्तचर तापस तथा भिक्षु के वेश में मिथिलानगरी के उद्यान में आकर वार्तालाप कर रहे हैं। उनके वार्तालाप से ज्ञात होता है कि—"अयोध्यापति दशरथ ने विश्वामित्र की प्रार्थना पर उनके यज्ञ की रक्षा के लिए अपने दोनों पुत्र राम-लक्ष्मण उन्हें सौंप दिये, जिससे प्रसन्न हो मुनि ने कौत्सल्या के लिए दिव्य कर्णाभूषण राजा को प्रदान किये। राम ने ताटका तथा सुबाहु को यमपुरी पहुंचा दिया एवं मारीच को बाण-प्रहार से दूर फेंक दिया। अब राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ मिथिला पहुँच रहे हैं।" इस वृत्त की सूचना देने के पश्चात् राम-लक्ष्मण को सम्मुख ही आता देख भय के मारे वे दोनों वहां से चले जाते हैं। विष्कम्भक समाप्त होता है।

तदनन्तर राम-लक्ष्मण का प्रवेश होता है, तथा वे मिथिलोपवन की वसन्त-शोभा से आकृष्ट हो भ्रमरियों की मधुर गुञ्जार, अशोक-मंजरी के नर्तन तथा मलयाचल से कैलास की ओर बहते हुए मन्द पवन का सुन्दर काव्यमय वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

तभी राम लक्ष्मण को कहते हैं कि आओ, जब तक भगवान् विश्वामित्र महर्षि याज्ञवल्क्य के साथ भेंट का सुख अनुभव कर रहे हैं, तब तक उनकी सायंकालीन पूजा के लिए फूल चुन लें। लक्ष्मण लता की ओट में हो फूल चुनने लगते हैं। वहीं राम की दृष्टि चण्डी के मन्दिर पर पड़ती है तथा वे अंजलि बांध देवी को नमस्कार करते हैं। दूसरी ओर दृष्टि डालने पर उन्हें कलहंसभूषित श्वेत कमलों का रम्य सरोवर दिखाई देता है, जहां से कमलिनीवनविहारिणी अपनी सहचरी को छोड़कर एक कलहंस-शिशु आम्रशाखा के अन्तराल में आ जाता है।

इतने में ही किसी के चरणों की मंजीर-ध्वनि उनके कानों में पड़ती है, जिससे वे अनुमान कर लेते हैं कि कोई पुरांगना चण्डी-मन्दिर को आ रही होगी। रघुवंशियों के लिये पर-स्त्री का दर्शन उचित नहीं है, यह सोच वे उधर से अपना चित्त हटा लेते हैं।

तभी नेपथ्य से आवाज आती है—हे राजकुमारी, इधर, इधर। राम कहते हैं, अरे, यह तो राजकुमारी है, तब तो इसे देखने में दोष नहीं है। उसे देख वे उसकी कान्ति पर मुग्ध हो जाते हैं, और कहते हैं कि यह तो ऐसी प्रतीत हो रही है मानो कामदेव के क्रीडाभवन की अटारी की दीपिका हो।

तदनन्तर सीता और उसकी सखी का प्रवेश होता है। सीता उद्यान की रमणीयता पर मुग्ध हो कहती है कि आज यह उद्यान ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो स्वयं वसन्त-सहचर कामदेव ने इसे आकर अलंकृत किया हो। सखी भी उसकी हां में हां मिलाती है। राम सीता को देख उसकी अनुपम रूपराशि का सजीव वर्णन करते हैं। सखी सीता को चण्डी का मन्दिर दिखाती है और सीता चण्डीदेवी को शिवजी की अर्धांगिनी कह कर प्रणाम करती है। इस पर उसकी सखी चुटकी लेती है कि तुम्हारी प्रणाम-परिपाटी बड़ी मनोरम है। सीता उसका हृद्गत अभिप्राय

समझ प्रणयकोप के साथ कहती है कि मिथ्या-प्रलाप मत करो। सखी अंजलि बांध कर चण्डीदेवी से सीता के लिए चाँद जैसा सुन्दर पति मांगती है और कहती है कि सत्वर ही मेरा मनोरथ पूर्ण कर दो, कहीं यह मेरी सहेली अनमनी न होने लगे। सीता प्रणय-कोप के साथ कहती है कि मैं क्यों अनमनी होऊँगी।

तव लक्ष्मण द्वयर्थक वचन कहता है कि हे राजहंसकन्ये, तुम उद्विग्न क्यों होती हो, तुम्हारा कान्त तो यहां शाखा की ओट में विद्यमान है। लक्ष्मण का संकेत राम तथा राजहंसशिशु दोनों की ओर है। सीता सखी से कहती है, अरे, यह किसका कण्ठनिर्घोष है, आओ देखें। तभी लक्ष्मण को देख उसके हृदय में वात्सल्य उमड़ उठता है। लक्ष्मण की भी चित्त-वृत्ति सीता के प्रति माता सुमित्रा जैसी होने लगती है। सीता कहती है कि इस कुमार को देख कर तो उर्मिला मेरे चित्त में आ रही है। सखी लक्ष्मण से पूछती है कि आप कौन हैं, जो अकेले ही इन अपरिचित वनभूमियों में विचरण कर रहे हैं। इस पर लक्ष्मण कहता है कि अग्रज रामचन्द्र के समीपवर्ती होते हुए भी तुम मुझे अकेला कैसे कह रही हो। यह सुन सखी हर्ष के साथ कहती है कि तव तो मेरा मनोरथद्रुम पुष्पित हो गया है।

सीता कहती है, अरी हमें इससे क्या प्रयोजन, चलो अपने घर चलें। पर फिर लौट पड़ती है और कहती है कि एक बात तो मैं भूल ही गई। उस सहकार वृक्ष को भी तो देखना है, जिसका मेरी माताएं वासन्तीलता के साथ विवाह करना चाहती हैं। सीता को पुनः लौटता देख राम के हर्ष का पारावार नहीं रहता, और वे उसके सलोने रूप का फिर वर्णन करने लगते हैं। सखी सीता को संकेत से सहकार-वृक्ष तथा वासन्तीलता दिखाती है तथा दोनों उनके पास जाने लगती हैं। राम भी उसी सहकार-वृक्ष के नीचे खड़े हैं, अतः वे दोनों को अपनी ही ओर आता देख कुछ अलग हट जाते हैं। सखी सीता को वासन्तीलता दिखाती हुई कहती है कि भ्रमर इसके रस-विन्दुओं का पान करने लगे हैं। सखी सीता से कहती है कि देखो, यह वासन्तीलता स्वयं ही सहकारशिशु को आलिंगन करना चाह रही है। इस पर सीता इसी संकेत को अपनी ओर समझ प्रणयकोप के साथ कहती है कि तू उल्टी-सीधी बातें करती है, मैं तेरा साथ छोड़ अन्यत्र चली जाऊंगी।

राम सीता के रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इसकी मदलुलित चेष्टाएं मेरे मन को चुराये ले रही हैं। सीता की दृष्टि भी राम पर पड़ती है और वह उसे देखती ही रह जाती है। सखी ताड़ जाती है कि सीता का ध्यान लता की ओर न होकर कहीं अन्यत्र है। पास पहुंच राम को देखती है तो सब रहस्य समझ जाती है। सीता राम को अपने नेत्र-संचारों से नहलाने लगती है, और राम चाहते हैं कि यह क्षण सदा ही बना रहे।

इतने में ही चेटी प्रवेश कर सीता को सूचना देती है कि माताएं आपको चित्र-विचित्र आभूषणों से अलंकृत करने के लिए बुला रही हैं। घर की ओर प्रस्थान करने पर सीता को नयनपथ से अतिक्रान्त देख राम विषाद को प्राप्त हो जाते हैं।

अन्त में राम और लक्ष्मण सन्ध्या तथा चन्द्रोदय का कवित्वमय वर्णन करते हैं तथा भगवान् विश्वामित्र को सायंकालीन पूजा के लिए पुष्प अर्पित करने चले जाते हैं।

तृतीय अंक

इस अंक का आरम्भ प्रवेशक से होता है, जिसमें वामनक-कुब्जक के हास-परिहासपूर्ण संवाद द्वारा मुनि विश्वामित्र के राम-लक्ष्मण सहित मिथिलापुरी की ओर आने की सूचना मिलती है। वामनक यह भी संभावना करता है कि राम का सीता के साथ विवाह हो जायेगा, क्योंकि जिसने सकललोकभीषणा राक्षसी ताटका का वध कर दिया, उसके लिए हरचापारोपण भला क्या दुष्कर है।

प्रवेशक की समाप्ति पर वामनक और कुब्जक के रंगमंच से चले जाने पर राम-लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र प्रवेश करते हैं। विश्वामित्र अंगुलिनिर्देश से राम को सूर्योदय दिखाते हैं। राम भी हाथ जोड़ सूर्य को नमस्कार करते हैं। राम इससे बड़े प्रभावित होते हैं कि अनेक मनुष्य, हाथी, घोड़े, आदियों से तरंगित भी यह राजधानी तपोवनभूमि के समान प्रशान्त-पावनी सी प्रतीत हो रही है। विश्वामित्र कहते हैं कि यह तो ठीक ही है, क्योंकि यहां जनक निवास करते हैं, जिनके गुरु भगवान् याज्ञवल्क्य हैं। फिर वे राजभवन की ओर प्रस्थान करते हैं।

राजभवन पहुंचने पर शतानन्द और जनक उनका स्वागत करते हैं। जनक विश्वामित्र के प्रति नम्रता प्रकट करते हुए कहते हैं कि आपके चरणकमलों की वन्दना से मुझे जो सुख प्राप्त हो रहा है, वह इन्द्र के नन्दन-कानन के कल्पवृक्ष से भी नहीं मिल सकता। उत्तर में विश्वामित्र जनक की प्रशंसा करते हैं कि आप ऐसे नरेन्द्र हैं जिनमें क्षात्रतेज तथा अध्यात्मतेज दोनों अद्भुत सामंजस्य के साथ उपस्थित हैं।

देर तक दोनों एक-दूसरे का गौरवगान करते रहते हैं। शिष्टाचार-प्रदर्शन के उपरान्त विश्वामित्र जनक से सीता के विषय में पूछते हैं। जनक उत्तर देते हैं कि सीता तो हमें अलंकृत कर ही रही है, अब आपकी कृपा से जामाता भी अलंकृत करेंगे। जनक और शतानन्द द्वारा दोनों बालकों का परिचय पूछे जाने पर विश्वामित्र बताते हैं कि ये दोनों परम महिमाशाली दशरथ के पुत्र राम और लक्ष्मण हैं। इस पर जनक भी दशरथ की प्रशंसा करते हैं, और अपने आपको उनके सामने सागर के सम्मुख तडाग के तुल्य बताते हैं। तब विश्वामित्र कहते हैं कि आप दोनों ही एक-दूसरे से बढ़ कर हैं, क्योंकि दशरथ ने चन्द्र-सुन्दर राम को जन्म दिया है, और आपने कुमुदिनी के समान लोकलोचनरंजिनी सीता को। यह सुन लक्ष्मण के मुख से निकल पड़ता है कि अरे, चन्द्र-कुमुदिनी के दृष्टान्त से तो गुरु जी कोई संविधान सूचित कर रहे हैं। राम उसके आशय को समझ प्रणय-कोप के साथ उसे रोकते हैं।

जनक भी मन में सोचते हैं कि क्या इस उक्ति से मुनि ने सीता-राम के विवाह का संविधान सूचित किया है, तो क्या इन्हें चापारोपण की शर्त का ध्यान नहीं रहा। फिर जनक द्वारा प्रकट रूप में धनुष की बात छेड़ने पर विश्वामित्र कहते हैं कि आपने अच्छी याद दिलाई, शिवधनुष को देखने का मुझे बड़ा कौतूहल है। तो

उसे राजपुरुषों द्वारा मंगाइये, अथवा राम ही उसे उठा लायेगा। जनक चकित हो कहते हैं कि आप दुधमुंहे राम को शिवधनुष लाने का आदेश दे रहे हैं, क्या धनुष की दुर्विगाहता का आपको ज्ञान नहीं। विश्वामित्र उत्तर देते हैं कि मैं सब जानता हूँ, फिर भी राम को न केवल धनुष लाने के लिए, किन्तु नमाने के लिए भी आदेश देता हूं। जनक फिर शंका प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस धनुष को उठाने में तो कैलास को भुजा पर उत्तोलित कर लेने वाला रावण भी असफल हो चुका है। पर विश्वामित्र फिर भी राम को चापारोपण के लिए प्रेरित करते हैं।

राम को बालक देख तथा शिवधनुष की गम्भीरता का ध्यान कर जनक की चित्तवृत्ति दोलारूढ़ के समान डांवाडोल बनी रहती है। वे मन ही मन मनाते हैं कि राम के हाथ में पहुँच यह धनुष फूल जैसा हल्का हो जाये। राम धनुष उठाने के लिये बद्ध-परिकर हो जाते हैं।

इतने में ही प्रतीहारी प्रवेश कर जनक को किसी ब्राह्मण मुनि के आने की सूचना देती है, और स्वीकृति पा उसे साथ लिवा लाती है। जनक मुनि को प्रणाम करते हैं, उत्तर में मुनि जनक को सुमति होने का आशीर्वाद देता है। जनक मन में सोचते हैं कि यह आशी: तो बड़ी विचित्र है। मुनि अपना परिचय देता है कि मैं जामदग्न्य का सन्देशहर हूं। जामदग्न्य के परशु ने आपको यह सन्देश भेजा है कि जिस राजकुमार को आप चाहें कन्या दे दीजिये, पर शिवधनुष के आरोपण की चर्चा का पाप न कीजिए, नहीं तो हमारी तीक्ष्ण धार का पात्र आपको बनना पड़ेगा। जनक हंस कर उत्तर देते हैं कि हमारा भी यह प्रतिसन्देश कह देना कि हम अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चापारोपण करने वाले को कन्या दे रहे हैं, यदि तुम्हें अपनी तेज धार का अभिमान है तो आकर हमारे वीर जामाता से टक्कर लो। मुनि 'तथास्तु' कह कर चला जाता है।

तभी विश्वामित्र वहीं परःसहस्र पुरुषों को बैठा देख उनके विषय में पूछते हैं कि ये कौन हैं। जनक बताते हैं कि ये वे अनेक नृपतिगण हैं जो स्वयंवर में आये थे, किन्तु चापारोपण में विफल हो जाने पर भी मेरी प्रार्थना पर यहां रुके हुए हैं। विश्वामित्र राम से कहते हैं कि वत्स, इन सबके सामने ही हमारे कौतुक को पूर्ण करो। राम विश्वामित्र को प्रणाम कर चापारोपण के लिए चल पड़ते हैं। जनक के आदेश से शतानन्द भी उनके साथ-साथ जाते हैं। राम धनुष को उठा कर अनायास ही नमा देते हैं, जिससे प्रत्यंचा की टंकार अम्बर में गूंज उठती है। वे धनुष को इतना तानते हैं कि वह टूट जाता है। सीता की जयमाला राम के कण्ठ को अलंकृत करने लगती है। जनक मनोरथ को पूर्ण हुआ देख प्रसन्न हो उठते हैं।

इतने में ही शतानन्द आकर जनक को यथादृष्ट धनुर्भंग का वृत्तान्त सुनाते हैं। जनक कहते हैं कि धनुष तोड़ने से तुमने राम को रोका क्यों नहीं। शतानन्द उत्तर देते हैं कि रोकते कैसे, राम की भुजा हिली नहीं कि देखते-देखते धनुष टूट गया। जनक कहते हैं कि अब देरी न करो, शीघ्र ही भगवान् विश्वामित्र से राम-सीता के विवाह की अनुज्ञा ले लो। अन्त में विश्वामित्र की इच्छानुसार लक्ष्मण और

उर्मिला, भरत और माण्डवी तथा शत्रुघ्न और श्रुतकीर्ति का विवाह भी निश्चित हो जाता है।

चतुर्थ अंक

नेपथ्य में ध्रुवागीति का गान हो रहा है। फिर नेपथ्य से ही आवाज आती है—अरे क्षत्रियो, लोचनपथ से हट जाओ, ये प्रकुपित हुए त्रिभुवनविजयी परशुराम चले आ रहे हैं। तभी परशुराम आकर कहते हैं कि अहो, जनक की कैसी धृष्टता है, जो हरचापारोपण की शर्त रख कन्यादान करना चाहता है। तो आज यह मेरा परशु जगत् को जनकशून्य कर देगा।

इतने में ही शतानन्द का शिष्य ताण्डचायन प्रवेश कर परशुराम को अभिवादन करता है। परशुराम आयुष्मान् होने का आशीर्वाद दे उससे पूछते हैं कि तुम्हारे गुरु जी के यजमान की हरचापारोपण-श्रद्धा अभी मिटी या नहीं। वह उत्तर देता है—हां भगवन्, धनुष के साथ ही मिट गई। परशुराम को धनुभँग के विषय में अभी कुछ ज्ञात नहीं है। ताण्डचायन उन्हें बताता है कि किसी के भुजदण्ड से निपीडित होकर शिवजी का धनुष टूट गया है। परशुराम सक्रोध पूछते हैं कि धनुष को तोड़ने वाला वह कौन है ? उत्तर में ताण्डचायन के 'सुबाहु, मारीच आदि विश्वामित्र-यज्ञ-ध्वंसी निशाचर जिसके वशवर्ती हो……' इस अधूरे ही वाक्य को सुन कर वे यह अनुमान लगाते हैं कि रावण ने धनुष तोड़ा है और क्रोधपूर्वक रावण के कण्ठ को अपने परशु से काट डालने का तथा बाण से उत्पन्न अग्नि से लंका को दग्ध कर देने का विचार प्रकट करने लगते हैं। ताण्डचायन मन ही मन सोचता है—चलो, क्षत्रियकुल तो विनष्ट होने से बचा।

तभी नेपथ्य से आवाज आती है कि जिनका विवाह-मंगल हो चुका है उन सीता-राम के लिए स्वस्तिवाचन करने वाले ब्राह्मणों को बुलाओ। उसे सुन परशुराम ताण्डचायन पर क्रुद्ध होने लगते हैं कि तुमने असत्य ही मुझे रावण के नाम से धोखा दिया। ताण्डचायन कहता है कि—'मेरा क्या अपराध है, मैंने तो अभी आधा ही वाक्य बोला था कि आपको भ्रम हो गया। मैं तो यह कह रहा था कि सुबाहु-मारीच आदि राक्षस जिसके प्रताप के वशवर्ती हो विनाश को प्राप्त हो गये, उस राम ने धनुष तोड़ा है'। तब परशुराम समस्त रघुकुल का ही विनाश करने को उद्यत हो जाते हैं। ताण्डचायन यह वृत्तान्त अपने गुरु शतानन्द से निवेदन करने चला जाता है।

तदनन्तर राम-लक्ष्मण का प्रवेश होता है। लक्ष्मण को यह देख बड़ा आश्चर्य होता है कि परशुराम में ब्रह्म और क्षत्र का मिश्रण है, वे एक ओर धनुष धारण किए हैं, तो दूसरी ओर मौंजी मेखला; एक हाथ में बाण है, तो दूसरे में कुश हैं; एक में तीक्ष्णधार कुठार है, तो दूसरे में कमण्डलु है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वीर और शान्त रस ही मूर्तिमान् हो आ गये हों। राम लक्ष्मण के सम्मुख परशुराम का प्रताप वर्णित करते हैं। परशुराम के आने पर राम उन्हें प्रणाम करते हैं। परशुराम

भी उन्हें समरविजयी होने का आशीर्वाद देते हैं। विनयी राम को देख उनके मन में जहां एक ओर करुणा की भावना जागरित होती है, वहां दूसरी ओर क्रोध की भी। राम को वे कहते हैं कि मैंने तुझे समर-विजयी होने का आशीर्वाद दिया है, वह तो शिष्टाचारमात्र है, मेरे मन में तो यह आ रहा है कि तेरी भुजाओं के रुधिर से अपने कुठार को लिप्त करूं। राम कहते हैं—भगवन्, निग्रह या अनुग्रह में आप स्वतन्त्र हैं, पर मैं आपके कोप का कारण भी तो जान लूं। तब परशुराम कहते हैं कि क्या तूने जगद्‌गुरु शिव का धनुष नहीं तोड़ा? राम उत्तर देते हैं कि उसे तो मैंने छुआ ही था कि वह स्वयं टूट गया, मैं क्या करता। परशुराम कहते हैं—क्यों चिकनी-चुपड़ी बातों से तू मेरे हृदय को शीतल करना चाहता है? अब मेरा यह कुठार तेरे कण्ठ में प्रवेश करेगा, तू तैयार हो जा। इस पर राम उत्तर देते हैं कि कण्ठ में कुठार प्रवेश करे या हार पड़े, जो कुछ भी हो, हम ब्राह्मणों पर हाथ नहीं उठाते। इस पर परशुराम को बड़ा रोष होता है कि यह मुझे ब्राह्मणमात्र समझता है। वे उसका संग्राम के लिए आह्वान करते हैं। राम कहते हैं कि आपके साथ तो हमारी संग्राम की चर्चा तक नहीं जंचती, क्योंकि हम सब हीनबल हैं, और आप बलियों में मूर्धन्य हैं। लक्ष्मण व्यंग्य कसते हैं—हां ठीक ही तो है, क्योंकि हमारा बल एक गुण (प्रत्यंचा) वाला धनुष है, और आपका बल यज्ञोपवीत है, जिसमें नौ गुण (सूत्र) हैं। इस प्रकार परशुराम तथा राम-लक्ष्मण के बीच देर तक व्यंग्य-वार्तालाप चलता रहता है। अन्त में परशुराम राम के कण्ठ पर कुठार चलाने के लिए उद्यत हो जाते हैं।

इतने में ही नेपथ्य से सुनाई देता है—अरे जामदग्न्य, क्यों अति धृष्टता कर रहे हो, अभी तुम्हारे दमन के लिए धनुष लाते हैं। परशुराम हंस कर कहते हैं—अरे, यह तो जनक हैं। हे याज्ञवल्क्य के शिष्य, आपको धनुष से क्या प्रयोजन, आप तो पद्मासन लगाइये।

पुन: नेपथ्य से ध्वनि आती है—अये जामदग्न्य, शमसमृद्ध जमदग्नि के पुत्र होकर भी तुम शम-दरिद्र क्यों हुए जा रहे हो? परशुराम कहते हैं—अरे, यह तो शतानन्द है। हे शतानन्द, तमने शान्ति का पाठ कहां से पढ़ लिया, गौतम से या इन्द्र से।

राम कहते हैं—भगवन्, भार्गवकुल तो तपस्या में प्रसिद्ध है। भर्ग के शिष्य आपके लिए स्फटिकमाला, कुशा, कमण्डलु, दण्ड और पर्णशाला ही शोभा देते हैं, उदग्र वचन, वक्र भ्रूभंग, धनुष-बाण तथा परशु नहीं। इस पर परशुराम 'इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार कर चुका हूं' आदि आत्मश्लाघा करते हैं। राम कहते हैं कि अनेक बार क्षत्रियों पर विजय पाकर जो यश आप उपार्जित कर चुके हैं, उसे इस बार फिर लड़ कर व्यर्थ ही क्यों हारते हैं। परशुराम कहते हैं—हारूंगा कैसे? अधिक बातों से क्या लाभ, तुम सब एक साथ ही मेरे रिपु-प्राणहर बाणों को सहो। राम कहते हैं—धनुर्भंग का अपराधी तो मैं हूं, मुझ पर ही आप बाण चलाइये।

तब परशुराम कहते हैं कि तू क्या, तेरा गुरु भी मेरे वाणों को नहीं सह सकता। गुरु-निन्दा सुन राम उत्तेजित हो जाते हैं, और कहते हैं कि शिव का धनुष हो या नारायण का हो, मेरा भुजविलास कुछ नहीं गिनता। परशुराम कहते हैं—वाह रे क्षत्रिय के बच्चे, वाह, जो तू मुझ सूर्य के सम्मुख जुगनू के समान चमक दिखा रहा है। तूने मुझे अच्छा याद दिलाया, यह नारायण का धनुष है, इसे खींच कर दिखा, नहीं तो युद्ध कर। राम उस पर भी अनायास शरसंधान कर देते हैं, उससे छूटा बाण अव्यर्थ होने के लिए परशुराम की स्वर्गगति का विच्छेद कर देता है।

यह देख परशुराम राम को साक्षात् विष्णु का अवतार समझ उसकी स्तुति करने लगते हैं। विनयी राम लज्जा से अधोमुख हो जाते हैं, तथा परशुराम से दुर्विनय के लिए चरणों में गिर क्षमायाचना करते हैं। परशुराम आशीर्वाद देते हैं कि तुम्हारा यश फैले तथा तुम लंकेश्वर का वध कर त्रिजगती को सुखी करो।

पचम अंक

गंगा और यमुना प्रवेश करती हैं। गंगा यमुना से पूछती है कि तुम दुःखी क्यों दीख रही हो? यमुना कहती है कि एक कारण तो यह है कि मेरे भाई सुग्रीव को वालि से अपमानित होकर थोड़े से परिवार के साथ एक दुर्ग के अन्दर रहना पड़ रहा है। दूसरा कारण वह यह वताती है—"एक दिन दो जटाधारी तरुणों ने मुझे पार किया, जो ऐसे मनोहर थे मानो तपस्वी के वेष में कामदेव और वसन्त ही हों। उनके साथ एक चक्रवाकस्तनी चन्द्रवदना भी थी। जव वे मुझे पार कर जाने लगे तब उस सुन्दरी ने क्षण भर रुक प्रणाम कर मुझे यह कहा कि हे दिनकरनन्दिनी, तुम पुनः अपने कुटुम्ब को दर्शन देने का अनुग्रह करना।" गंगा के यह पूछने पर कि तुम्हारा उनके विषय में क्या अनुमान है, यमुना उसके कान में कुछ कहती है। गंगा को पहले तो उस पर विश्वास नहीं होता, पर फिर वह सोचती है कि क्या सम्भव नहीं है, विधि के विधान को कौन जानता है? वह कहती है कि सरयू समीप ही है, चलो उससे पूछ लेते हैं।

सरयू का प्रवेश होता है। सरयू के मुख से महाराज दशरथ के परलोकवासी हो जाने का समाचार पा गंगा मूर्च्छित हो जाती है। यमुना वस्त्रांचल से पंखा कर उसे प्रकृतिस्थ करती है। तव गंगा कहती है कि चलो, रामचन्द्र की छत्रच्छाया में चलकर इस संताप को दूर करें। सरयू कहती है कि राम सुलभ होते तो दशरथ की मृत्यु ही क्यों होती? फिर वह यह वृत्तान्त सुनाती है—"दशरथ द्वारा राम के राज्याभिषेक का मनोरथ कर लेने पर कैकेयी ने उनके पास जा राम को वन में भेज देने तथा भरत को युवराज बनाने के दो वर मांगे। राम ने जब यह सुना तब वे पिता के चरणों में प्रणाम कर तुरन्त मुदित मन से वन को चले गये। सीता और लक्ष्मण भी उनके साथ गये। वन जाते समय राम ने आभूषण उतार दिये, माता कौसल्या के कहने से सीता के मंगल की सूचक केवल एक रत्नखचित अंगूठी पहने रहे। राम के जटायें बाँधते समय लक्ष्मण की आँखों से गिरे आँसुओं ने सभी को करुणाप्लुत कर दिया। पति के पीछे-पीछे जाती हुई सीता के किसलयतुल्य चरणों को देख बन्धुजनों

के नयनों से अश्रु-धार बह चली। बान्धवों ने राम को चलते समय यह शिक्षा दी कि दक्षिण दिशा क्योंकि राक्षसों से व्याप्त है, अतः उधर मत जाना। पर राम उसी दिशा की ओर चल पड़े। इधर दशरथ ने शोक में प्राण त्याग दिये। मातुल-कुल से लौटने पर जब भरत को यह समाचार मिला तब वह भी बहुत दुःखी हुआ और राजगद्दी पर न बैठ नन्दिग्राम में रहकर अयोध्या का पालन करने लगा।" सरयू ने यह समाचार सुनाकर कहा कि मैं इतना ही जानती हूं, इसके अनन्तर क्या हुआ यह पता लगाने के लिए मैंने अपने कमलवन में रहने वाले एक कलहंस को भेजा है।

तभी कलहंस का प्रवेश होता है। आगे का वृत्त वह सुनाता है—"आगे-आगे राम, उनके पीछे सीता और उनके पीछे लक्ष्मण चले जा रहे थे। कुछ दूर पर पथिक मिले जिन्होंने उन्हें बताया कि अगला मार्ग बड़ा सुखद है, हरी-भरी भूमि है, पास ही वेतों वाली शीतल नदी है, उसके आगे कुमुदों से युक्त सरोवर है, जो हंसों के कलरव से बहुत ही मनोहर लगता है। यह सुन उन्हें आनन्द हुआ। मार्ग में जब सीता किसी हरिण को राम के धनुष से भीत देखती थी, तब धनुष को अपने आंचल से ढक लेती थी। खेतों की क्यारियों से वह यवांकुर को अपने कान का आभूषण बनाने के लिए बड़ी दया के साथ तोड़ती थी। दुपहरी में सूर्य के तपते होने पर भी सीता प्रिय के कुवलयदलदाम के समान श्यामल अंगों को निहारती हुई संताप अनुभव नहीं करती थी। इस प्रकार यात्रा करते-करते उत्तरकोशल को वे तीन-चार दिन में ही लांघ गये। फिर क्रमशः गंगा और यमुना को भी पार कर गये।

यह सुन गंगा यमुना से कहती है कि वह बात ठीक ही निकली जो तुमने मेरे कान में कही थी, अर्थात् तुम्हें जिन्होंने पार किया था वे राम, सीता और लक्ष्मण ही थे, तथा सीता ने ही तुम्हें कहा था कि अपने कुटुम्ब को फिर दर्शन देना।

हंस आगे कहता है—"फिर वे नर्मदा को पार कर गोदावरी के तट पर पहुँचे, जहाँ लक्ष्मण ने रावण की बहिन शूर्पणखा की नाक काट ली। राक्षस लोग हाथ में भयंकर भाले, तलवार और धनुष लेकर इनकी ताक में रहने लगे। लक्ष्मण ने कहा कि मेरी तलवार इनके कण्ठ का रुधिर पान करना चाहती है। पर राम ने कहा कि नहीं, तुम सीता के पास रहो, मैं जाता हूं। राम राक्षसों का वध कर मुनि-जनों का आशीर्वाद पाने लगे। एक दिन वृक्षों के बीच में पद्मरागमणियों की आँखों वाला, मूंगे के सींगों वाला, मोतियों से चित्र-विचित्र शरीर वाला एक सोने का हरिण दिखाई दिया। राम ने उसका अनुसरण किया। राम के उसके साथ-साथ दूर निकल जाने पर लक्ष्मण भी धनुष लेकर निकल पड़े। इतने में ही सीता के पास कोई भिक्षु पहुंचा। आकाश में उड़ते हुए मैंने ये तीनों बातें एक साथ देखीं कि उधर तो राम हरिण पर बाण चला रहे हैं, इधर लक्ष्मण राम की ओर चले आ रहे हैं और इधर सीता भिक्षु को भिक्षा दे रही है। इसके बाद क्या हुआ, मैं नहीं जानता। मैं यह सब वृत्त सुनाने के लिए आपके पास आ गया।"

गंगा सरयू से कहती है कि यह वृत्तान्त सुनकर तो मेरा मन व्याकुल होने लगा है। सरयू कहती है कि व्याकुलता की क्या बात है। मुझे याद आ गया कि जब

सीता वनगमन के लिए उद्यत हुई तब अरुन्धती ने उसे पैरों में पहनने के लिए दो नूपुर दिये थे, जिनके प्रताप से रमणियों का पतियों से वियोग नहीं होता। सीता ने उन्हें पहन भी लिया था। गंगा कहती है—"फिर तो मैं निश्चिन्त हुई, क्योंकि वसिष्ठ-पत्नी की बात असत्य नहीं हो सकती। तो चलो, यह सब वृत्तान्त रघुकुल के स्नेही सागर को बतायें।" तभी वह देखती है कि सागर तो पहले से ही गोदावरी के साथ कुछ चर्चा कर रहा है।

तदनन्तर गोदावरी सहित सागर का प्रवेश होता है। गोदावरी सागर को सुवर्ण-मृग पर वाण छूटने के बाद का वृत्त सुना रही है कि हृदय में बाण लगते ही वह हरिण रक्तरंजित वक्ष वाला मारीच राक्षस बन गया और सीता जिसे भिक्षा दे रही थी वह भिक्षु रावण हो गया। गंगा आदि इस वृत्तान्त को सुन बड़ी चिन्तित होती हैं। गोदावरी बताती है कि सीता के पास अत्रिपत्नी अनसूया का दिया हुआ एक अंगराग था जिसके प्रभाव से रावण ज्यों ही सीता को छूने लगा त्यों ही सीता के चारों ओर अग्नि व्याप्त हो गई। पर रावण ने भी वरुण-मन्त्र के चिन्तन से मेघों को बुला लिया, जिससे अग्नि बुझ गई, और उसने सीता को पकड़ ही लिया। वह रोती-बिलखती सीता को आकाशमार्ग से ले चला। तब पर्वतशिखर पर रहने वाले विहंगराज जटायु ने उसे ललकारा और उससे युद्ध कर उसका रथ तोड़ दिया। युद्ध की इस खींचतान में रावण के हाथ में पकड़ी हुई सीता के एक पैर का नूपुर भूमि पर गिर पड़ा और जटायु भी खड्ग से ताड़ित हो दूर जा पड़ा। यह सुन सागर शोक से मूर्छित हो जाता है। गंगा, यमुना और सरयू उसे होश में लाने की चेष्टा करती हैं। गंगा यह कह धैर्य धरती है कि महात्माओं की विपत्तियां भी परिणाम में सुखजनक होती हैं। सरयू गोदावरी से पूछती है कि गिरे हुए नूपुर का क्या हुआ, इसका वृत्तान्त भी तुम्हें कुछ मालूम है? गोदावरी बताती है कि उसे किसी वानर ने उठा लिया और ऋष्यमूक पर्वत को चला गया। सागर पूछता है कि राम का क्या हुआ? गोदावरी कहती है कि वह सीता के विरह में विह्वल हो लक्ष्मण के साथ उसी दिशा की ओर चल पड़ा।

इतने में ही नेपथ्य से वाणी सुनाई देती है—सखी कालिन्दी, बधाई हो। यमुना सोचती है, अरे यह कौन है, जो बधाई कह कर शोकसंतप्त हृदय पर सुधालेप कर रहा है। तभी तुंगभद्रा का प्रवेश होता है। वह कहती है कि यमुना को मैंने बधाई इस बात की दी है कि उसके भाई सुग्रीव ने चक्रवर्ती-पद पा लिया है। हनुमान् और सुग्रीव ने नूपुर दिखा कर राम को विश्वास में ले लिया, जिससे राम ने बालि का वध कर कपिराज-लक्ष्मी सुग्रीव को प्रदान कर दी। वह बताती है कि उसके बाद सुग्रीव ने भी सीता को खोजने के लिए हनुमान्-सहित कुमुद, नल, नील, अंगद आदि वानरों को दिशा-दिशा में भेज दिया।

तभी ऊपर मुंह उठा कर सागर आश्चर्य के साथ देखता है कि पहाड़-सी कोई वस्तु उसे आकाशमार्ग से पार कर रही है। वह सोचने लगता है कि यह

हिमालय है या विन्ध्याचल है, जो ऐसी शीघ्रगति से उड़ा जा रहा है। वह सबसे कहता है—चलो देखें, यह कौन है ?

षष्ठ अंक

राम-लक्ष्मण का प्रवेश होता है। राम सीता के विरह में आकुल हो रहे हैं। उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता कि आकाश में चन्द्र चमक रहा है या सूर्य। लक्ष्मण से कहते हैं कि वृक्ष की छाया में आ जाओ, सूर्य प्रचण्ड हो रहा है। लक्ष्मण के यह बताने पर कि यह तो कुरंगधारी चन्द्रमा है, वे कुरंगनयनी चन्द्रवदनी सीता को याद करने लगते हैं। लक्ष्मण उनका ध्यान बटाने के लिये क्रमशः चकोर, शरत्कृशा तरंगिणी तथा भ्रमर को दिखाते हैं। पर राम का उनसे भी मनोविनोद नहीं होता, प्रत्युत वे एक-एक से कहते हैं कि बताओ मेरी सीता कहां है। इतने में राम की दृष्टि चक्रवाक पर पड़ जाती है जो नदी के परले पार बैठी हुई विरह में करुण-विलाप करती हुई अपनी सहचरी को एक-टक देख रहा है। उसे देख उन्हें सीता का विरह और भी अधिक सताने लगता है। तब लक्ष्मण उनके मनोरंजन के लिए मुंदी हुई कमलिनी की ओर जाने वाले कलहंस को दिखाते हैं। पर वह भी राम के हृदय में सीता की याद को और भी तीव्र करने का ही कारण बनता है।

तभी नेपथ्य से रत्नशेखर और चम्पकापीड नामक दो विद्याधरों की बातचीत सुनाई देती है। चम्पकापीड कहता है—मित्र, तुम बहुत दिनों में दीखे। रत्नशेखर उत्तर देता है—हां, मैं इतने समय तक लंका में चित्ररूप नामक दानव से इन्द्रजाल-कला सीख रहा था। चम्पकापीड कहता है—तब तो तुम्हें अपनी कला मुझे अवश्य दिखानी होगी। रत्नशेखर कहता है—बोलो, असुर, सुर, निशाचर, सर्प, नर, किंनर, सिद्ध या चारण जिसका भी चरित्र देखना हो, अभी दिखा सकता हूँ; अथवा अन्य से क्या, लंका का ही दृश्य दिखाता हूं।

लक्ष्मण राम को भी सावधान हो यह दृश्य देखने के लिए कहते हैं। इन्द्रजाल आरम्भ होता है। नेपथ्य से सीता की वाणी सुनाई देती है—"हे आर्यपुत्र, गोदावरी अपने हाथ से आपके ऊपर तरंगरूपी श्वेत चामर डुलाती हुई श्वेत कमलच्छत्र धारण कर रही है।" तभी सीता प्रवेश करती है। राम उसे सचमुच सीता समझ उसके पास जाना चाहते हैं। पर लक्ष्मण उन्हें रोक कर कहते हैं कि आर्य, यह तो विद्याधर द्वारा प्रस्तुत इन्द्रजाल है। घटना अशोकवाटिका की है। सीता एक हाथ से अशोक वृक्ष की शाखा पकड़े हुए है, दूसरे हाथ पर कपोल को टिकाए है, केशकलाप नितम्ब पर लटक रहा है, नेत्रों के पलक आनन्दाश्रुओं से भीगे हुए हैं। अशोक का सहारा लिए उसे नींद आ गई है। अधर फड़क रहा है। यह देख राम सोचते हैं कि अवश्य ही इसने कोई हृदयप्रमोददायी स्वप्न देखा है। आँख खुलने पर सीता स्वप्न की बात असत्य देख अपने को लंका में पा मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ती है। राम प्रथम माता पृथिवी से, फिर अशोक वृक्ष से सीता को होश में लाने की प्रार्थना करते हैं, पर उनकी प्रार्थना व्यर्थ जाती है।

इतने में ही त्रिजटा प्रवेश कर सीता को प्रकृतिस्थ करती है। वह उससे पूछती है कि तेरी मधुर मुखरेखा से यह प्रतीत होता है कि तूने कोई स्वप्न देखा है। सीता बताती है कि मैंने स्वप्न में गोदावरी नदी द्वारा तरंग-चामर एवं धवल कमलातपत्र से परिचर्या किये जाते हुए आर्यपुत्र को देखा है। त्रिजटा उसे यह कह बधाई देती है कि यह तो सुखसूचक स्वप्न है। सीता कहती है कि ऐसे मेरे कहां भाग्य हैं, मुझे तो प्रतीत होता है आर्यपुत्र ने मुझे उपेक्षित कर दिया है। अथवा यह भी संभव है कि अब तक आर्यपुत्र को मेरा वृत्तान्त ही ज्ञात न हुआ हो।

तभी नेपथ्य से सुनाई देता है—'हे लंका-निवासियो, सावधान हो जाओ। क्रोध से लाल-लाल आंखें किये यह वीर वानर उच्च प्राकार को लांघ अन्दर घुस आया है और उससे युद्ध करने के लिए कुपित रावणपुत्र अक्ष उसके सम्मुख जा रहा है।' यह सुन सीता और त्रिजटा दोनों भयभीत हो जाती हैं। तदनन्तर सीता देखती है कि पर्वत सहित अशोक-वन कांप सा रहा है। त्रिजटा अनुमान लगा कर बताती है कि रावण तुम्हें मनाने आ रहा है। इसी बीच रावण का प्रवेश होता है। रावण के आने पर सीता मुंह फेर लेती है। रावण उससे प्रेम की भिक्षा मांगता है और उसके न मानने पर अन्त में उस पर खड्ग-प्रहार के लिए उद्यत हो जाता है। राम यह देख सीता के वध की कल्पना से पहले तो विचलित हो जाते हैं, पर फिर सहसा कुपित हो रावण के संहार के लिए लक्ष्मण को धनुष लाने का आदेश देते हैं। लक्ष्मण उन्हें याद दिलाते हैं कि यह तो इन्द्रजाल है, आप व्यर्थ संभ्रान्त क्यों होते हैं। रावण एक बार फिर खड्ग दिखा कर सीता से प्रणय-याचना करता है, पर सीता उसे फटकार देती है। तब रावण कहता है—अरे, यहां कौन है? शीघ्र मेरे हाथ में कपालपात्र दो, जिसमें इसका कण्ठ-रुधिर भर लूं। यह कह अशोकवृक्ष की शाखाओं के बीच हाथ फैला देता है। तभी उसके हाथ में कुछ आकर गिरता है। रावण कहता है—अरे, यह तो सचमुच किसी ने कपाल मेरे हाथ में दे दिया। किन्तु देखने पर उसे पता चलता है कि यह तो कपाल नहीं, मेरे पुत्र अक्षकुमार का सिर है, और वह मूर्छित हो जाता है। होश में आने पर वह समझ जाता है कि यह उसी दुष्ट वानर की करतूत है, और उसे मारने के लिए वहां से निकल जाता है।

राम-लक्ष्मण इस संविधान को देख प्रसन्न होते हैं। त्रिजटा सीता का आलिंगन कर कहती है कि तुम्हारे बड़े पुण्य थे जो जीवित बच गईं। सीता कहती है पुण्य नहीं, अपुण्य कहो, जो मैं राम के विरहानल से उबारने वाली तलवार से बच गई। वह कहती है कि लकड़ियों में आग जला दो, जिसमें मैं अपने अंगों को शीतल करूं। त्रिजटा बाहर जाकर लौटती है और बहाना कर देती है कि इस प्रदेश में अग्नि सुलभ नहीं है। तब सीता अशोकवृक्ष से याचना करती है कि तुम ही मुझे अग्नि की एक कणी दे दो। फिर हर्ष के साथ देखती है कि सचमुच उस वृक्ष से एक अंगार-खण्ड नीचे गिर पड़ा है। सीता उसे हाथ में उठा बड़े विषाद से कहती है कि मेरे अपुण्य से आग भी शीतल हो गई है। ध्यान से देखने पर उसे पता चलता है कि यह तो आग नहीं, राम की रत्नमुद्रिका है। रत्नमुद्रिका से वह राम-लक्ष्मण का कुशल पूछने लगती है।

तभी हनुमान प्रवेश कर उसका उत्तर देते हैं कि हे देवी, कुशल है। सीता द्वारा पूछने पर वे अपना परिचय देते हैं कि मैं सुग्रीव का सेवक, राम का दूत, पवन-पुत्र हनुमान हूँ, मैंने ही आपके वध के लिए उद्यत रावण के हाथ में अक्षकुमार का सिर रखा था। फिर वह सीता को सुग्रीव और राम की मैत्री, वालिवध आदि का वृत्तान्त कहता है, और बताता है कि राम तुम्हारे विरह में बहुत दुर्बल हो गये हैं। तदनन्तर वह राम का सन्देश कहता है। सीता भी उसे प्रतिसंदेश कहती है और अपना चूडारत्न उतार कर दे देती है। इतने में नेपथ्य से आवाज आती है कि राजकुमार अक्ष को मार कर तू कहां भाग गया, रावण की आज्ञा से दर्पोद्धत मेघनाद तुझे मारने की प्रतीक्षा कर रहा है।

सीता से विदा ले हनुमान चले जाते हैं। सीता त्रिजटा को भेज देती है कि तुम गगनचारिणी होकर इसका हाल देखती रहो।

नेपथ्य से हनुमान् का सब हाल सुनाई देता है—'अब यह मेघनाद के बाणों को सह रहा है, अब राक्षस ने इसे बांधकर इसकी पूंछ में आग लगा दी, अब यह अट्टालिकाओं के ऊपर चढ़ लंका को जला रहा है, अब इसने अपनी पूंछ की आग को समुद्र के पानी में बुझा लिया, अब यह समुद्र को लांघ रहा है।'

सीता नेपथ्य के पीछे त्रिजटा को आकाश से उतरा देख उसका आलिगन करने चली जाती है। राम उसे जाता देख अधीर हो कहते हैं कि प्रिये, मुझ से तो मिल लो। लक्ष्मण राम को पुनः स्मरण कराते हैं कि यह तो इन्द्रजाल है। नेपथ्य से राम को सूचना मिलती है कि नील, अंगद आदि सहित हनुमान आपके चरण-कमलों में पहुंच रहे हैं। राम लक्ष्मण सहित उसकी अगवानी के लिए चले जाते हैं।

सप्तम अङ्क

आरम्भ में विष्कम्भक है। पुलस्त्य के शिष्य एक मुनि का प्रवेश होता है। उसे पुलस्त्य ने विभीषण को अपना सन्देश देने भेजा है। पर उसे विभीषण का घर नहीं मिल रहा। इतने में उसे माल्यवान् का परिचारक करालक दिखाई दे जाता है। उससे वह विभीषण का घर पूछता है। वह उसे बताता है कि रावण ने विभीषण की पर-स्त्री की ओर न देखने की सलाह नहीं मानी, अपितु उसे चरण-प्रहार से अपमानित किया, इसलिए वह उसे छोड़कर राम के पास चला गया है। मुनि यह सुन मन में कहता है कि तब तो विभीषण ने पहले ही पुलस्त्य के सन्देश का पालन कर लिया। फिर करालक से पूछता है कि तुम क्या करने निकले हो ? करालक बताता है कि मुझे माल्यवान् ने जानकी-विरह से विह्वल रावण का मन बहलाने के लिये यह चित्रपट लेकर भेजा है। तभी करालक प्रहस्त को राजद्वार की ओर जाता हुआ देख चित्रपट उसके हाथ में दे देता है। विष्कम्भक समाप्त होता है।

रावण तथा चित्र हाथ में लिए प्रहस्त प्रविष्ट होते हैं। रावण मन ही मन कहता है कि कामदेव की बाणयष्टि के समान इस सुन्दरी सीता ने मेरे हृदय में स्थान कर लिया है। प्रहस्त उसे चित्र से मनोरंजन करने के लिए कहता है। पूछने पर

प्रहस्त उसे बताता है—"देखिए, इस चित्र में एक ओर समुद्र चित्रित है। उसके उत्तर में सुग्रीवपालित वानरसमूह है, साथ ही धनुष धारण किये राम-लक्ष्मण विद्यमान हैं। उधर राम अपने कुलगुरु सागर की परिचर्या करने के लिए कुशासन पर विराजमान है। सागर तथा विभीषण को वानरवीर राम के पास ला रहे हैं। ये दो अक्षर-पंक्तियां लिखी हुई हैं। एक में लक्ष्मण समुद्र को कह रहे हैं कि तुम भय मत करो, राम तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ेंगे, वे तो रावण का संहार करेंगे। दूसरी में कहा है कि रघुपति विभीषण को लंका का राज्य देंगे। समुद्र के मध्य में वानरों द्वारा शैल-शिखरों से बनाया हुआ पुल है।" रावण इसे चित्रकार की कल्पनाचातुरी कहकर हंसी में टाल देना चाहता है।

इतने में ही नेपथ्य से दर्पोद्धत वानर-सैन्य का कोलाहल सुनाई देता है। रावण उसकी कुछ परवाह नहीं करता और कहता है कि यह कपि-कोलाहल तो मेरे प्रमोद का ही कारण बन रहा है। तभी मन्दोदरी प्रवेश करती है और मुख नीचे किये बैठ जाती है। रावण उससे विषाद का कारण पूछता है। प्रहस्त कहता है कि महाराज, मेरा अनुमान है कि कपि-सेना के कोलाहल से चिन्तित होकर ही महारानी अधोमुखी हैं। रावण कहता है कि इसमें चिन्ता की क्या बात है, यह वानर-सेना मेरे सम्मुख भला क्या दर्प प्रकट कर सकती है। मन्दोदरी कहती है—'देव, एक अन्य कारण भी है। आज मैंने आपका शकुन दिखाने के लिए अपनी दासी को शबरों के ग्राम में भेजा था। वहाँ उसने सुना कि कोई शबर-स्त्री सिंहशिशु को कह रही है कि तू नाग-पति के पराभवमात्र से गर्वित मत हो, यहाँ तुझसे भी लोहा लेने वाला शरभ-शिशु आ गया है। उसका यह वचन मुझे तो आप पर घटता हुआ प्रतीत हो रहा है। रावण कहता है कि स्वभाव से ही निःशंक मैं लंकेश्वर शकुन की परवाह नहीं करता।

नेपथ्य से राक्षस-विजयोत्कर्ष की सूचना मिलती है। रावण प्रसन्न होता है। पुनः वानरों द्वारा समग्र राक्षस-सेना के संहार की सूचना मिलने पर वह राम के साथ युद्ध करने के लिए कुम्भकर्ण को जगाने की तथा लक्ष्मण के साथ मेघनाद को संग्राम करने की आज्ञा भेजता है।

नेपथ्य से आवाज आती है—ऐसा प्रबन्ध आपके महामन्त्री माल्यवान् ने पहले ही कर दिया है, और दोनों राम-लक्ष्मण के साथ रणक्रीडा कर रहे हैं। तभी सूचना मिलती है कि कुम्भकर्ण और मेघनाद दोनों दशरथ-पुत्रों की बाणाग्नि में भस्म हो गये। मन्दोदरी और रावण मूर्च्छित हो जाते हैं। होश में आने पर रावण, मन्दोदरी को सान्त्वना दे स्वयं खड्ग-पाणि हो युद्ध के लिए चला जाता है।

तभी विद्याधर और विद्याधरी का प्रवेश होता है। उनके परस्पर संवाद से राम-रावण-युद्ध का यह आँखों देखा वृत्त ज्ञात होता है—"रावण के युद्धस्थल में पहुंचने पर नील नामक वानर नीलपर्वत से उसके वक्षःस्थल पर प्रहार करता है। पर वह रावण को मृगनयनियों के नीलकमल-प्रहार जैसा ही अनुभव होता है। फिर नील कभी उसके हाथों पर और कभी मस्तकों पर कूदता फिरता है। तदुपरान्त विभीषण सामने आता है। क्रूर रावण उस पर शक्ति छोड़ता है, जिसे लक्ष्मण अपनी छाती

पर झेल लेते हैं और वेहोश हो जाते हैं। तब राम अचेत लक्ष्मण को गोद में रख रावण पर शरवर्षा करने लगते हैं। राम-बाण से पीड़ित हो रावण हट जाता है। तब राम अधीर हो करुण शब्दों में लक्ष्मण से आँखें खोलने के लिए कहते हैं। सुग्रीव राम को धैर्य बंधाते हैं। राम कहते हैं कि मैं अकेला अयोध्या लौटकर छोटी माँ को कैसे मुख दिखलाऊंगा। तभी हनुमान् ओषधियों के भण्डार गंधमादन पर्वत को उठाये पहुंच जाते हैं। ओषधियों की गन्ध सूंघने से लक्ष्मण सचेत हो जाते हैं। इसी बीच रावण पुनः युद्ध के लिए कमर कस कर आ पहुंचता है। रणभूमि से कभी रावण-पक्ष का और कभी राम-पक्ष का जयकार सुनाई देता है। राम को पैदल देख मातलि इन्द्र का रथ ले आता है, राम उस पर आरूढ़ हो युद्ध करने लगते हैं। रावण का धनुष कट जाता है, तब वह तलवार से संग्राम करने लगता है। तलवार के भी कट जाने पर राम के बाणों से छिन्न हुए अपने दस सिरों को रावण दस हाथों से एक-एक कर पकड़ता है और दूसरे दस हाथों से फेंकता चलता है। परन्तु कटे हुए उसके सिर फिर-फिर उग आते हैं। यह देख राम को बड़ा कौतूहल होता है। अन्त में रावण राम के बाण से विद्ध हो धूलिधूसरित होकर भूमि पर लौटने लगता है। राम विजयी हो जाते हैं। परीक्षा के लिए वह्निप्रवेश करने पर सीता पहले से भी अधिक द्युतिमती हो बाहर निकलती है।" विद्याधर-विद्याधरी इस कर्णामृत को इन्द्राणी से निवेदन करने के लिए चले जाते हैं।

तदनन्तर राम, सीता, लक्ष्मण, सुग्रीव तथा विभीषण का प्रवेश होता है। वे परस्पर सूर्यास्त, अन्धकार, चन्द्रोदय एवं चाँदनी का कवित्वमय वर्णन करते हैं। सुग्रीव राम को कहते हैं कि चन्द्रमा जगती को धवल कर पिष्टपेषण ही कर रहा है, क्योंकि वह तो आपकी उज्ज्वल कीर्तियों से पहले ही धवल हो चुकी है। अन्त में सब पुष्पकविमान पर आरूढ़ हो अयोध्या को प्रस्थान करते हैं। शीघ्र ही समुद्र, दण्डकारण्य तथा गंगा-यमुना को लांघ सब चित्रकूट पहुँच जाते हैं। राम-लक्ष्मण भारद्वाज के आश्रम का वर्णन करते हैं कि यहाँ स्वाभाविक विरोध वाले हिंस्रजन्तु भी पारस्परिक वैर को भूलकर सुख-शान्ति से रह रहे हैं। इतने में ही प्रभातोदय हो जाता है और सब सूर्य-वर्णन में लीन हो जाते हैं। शीघ्र ही सामने सरयू तथा अयोध्या दिखाई देती है। लक्ष्मण देखकर कहते हैं कि भरत सहित वसिष्ठ जी अभिषेक के लिए आपकी प्रतीक्षा में खड़े हैं। राम भगवान् सूर्य को बद्धांजलि हो प्रणाम करते हैं। तभी सूर्यमण्डल से निकलती हुई आशीर्वाद-वाणी सुनाई देती है। राम कृतार्थ हो जाते हैं। अन्त में सुग्रीव यह आशंसा करते हैं कि सबके घरों में सरस्वती तथा लक्ष्मी का वास हो और भगवान् विष्णु तथा शंकर में सबकी अभेद-बुद्धि बनी रहे। सब लोग बन्धुजनों तथा पुरवासियों को आनन्दित करने के लिए पुष्पक से उतर पड़ते हैं। कवि इस इच्छा के साथ नाटक को समाप्त करता है कि सज्जनों की वाणियां सदा रामचरित का गुणगान करती रहें।

कथानक का मूलस्रोत तथा कविकृत परिवर्तन

यद्यपि महाभारत, रामोपाख्यान, बौद्धग्रन्थों, जैनग्रन्थों, दशरथजातक, पुराणों,

उपपुराणों, योगवासिष्ठ, अध्यात्मरामायण, अद्भुतरामायण, आनन्दरामायण आदि में भी रामकथा का चित्रण मिलता है, तथापि प्रसन्नराघव नाटक का कथानक मुख्यतः वाल्मीकिरामायण में वर्णित रामचरित पर ही आधृत है। इस तथ्य की पुष्टि प्रस्तावना में कवि द्वारा वाल्मीकि के प्रति प्रकट किये गये आदरसूचक भावों से स्वतः ही हो जाती है। कवि ने स्वयं कहा है कि वाल्मीकि के मुख रूपी चन्द्रमण्डल से स्रुत होते हुए काव्यामृताब्धि की कतिपय बूंदों को पी-पी कर ही नूतन कवि-रूपिणी मेघमाला बरसा करती है[२]।

इस नाटक में रामायण के सीतास्वयंवर से लेकर राम-रावण-युद्ध के पश्चात् राम के अयोध्या लौटने तक के वृत्त को चित्रित किया गया है। रामायण की कथा में कवि ने स्वकल्पनाप्रसूत कुछ परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये हैं। मुख्य परिवर्तन निम्न हैं—

१. इस नाटक में सीता के विवाह हेतु स्वयंवर का आयोजन किया गया है, जिसमें अनेक राजा-महाराजा उपस्थित हुए हैं। दो बन्दीजन इन राजाओं का परिचय देते हुए जनक के द्वारा की गई प्रतिज्ञा की घोषणा करते हैं। इसके विपरीत रामायण में विवाह को स्वयंवर का रूप नहीं दिया गया है। सीता के साथ विवाह करने की इच्छा से अनेक राजा आते हैं, जो राजा जनक से उनके द्वारा की गई शर्त के विषय में सुनकर धनुष उठाने का यत्न करते हैं, किन्तु विफल हो जाते हैं[३]।

२. प्रथम अंक में सीता से विवाह के लिए रावण तथा बाणासुर के उपस्थित होने तथा शिवधनुष को उठाने के प्रयत्न में असफल होने का वर्णन किया गया है। किन्तु रामायण में निशाचरों एव दैत्यों की उपस्थिति का कोई उल्लेख नहीं है। अनेक राजाओं के ही आगमन का कथन मिलता है[४]।

३. प्रसन्नराघव में जो नृपतिगण धनुरारोपण में विफल हो जाते हैं, वे जनक के आग्रह पर उनका आतिथ्य स्वीकार करने के लिए कुछ दिन मिथिलापुरी में ही निवास करते हैं। किन्तु रामायण के अनुसार विफल हुए राजाओं को जब जनक ने अपनी कन्या देने से मना कर दिया तब क्रुद्ध होकर उन्होंने मिथिलापुरी को घेर लिया तथा एक वर्ष तक उपद्रव करते रहे। उसके प्रतिकार के लिए जनक ने तपस्या द्वारा देवों को प्रसन्न किया तथा उनसे प्राप्त चतुरंगिणी सेना की सहायता से वे उन राजाओं को पराजित करने में समर्थ हुए[५]।

४. प्रसन्नराघव के द्वितीय अंक का वाटिका-वृत्तान्त रामायण में नहीं है, जिसमें विवाह से पूर्व ही राम-सीता का पूर्वानुराग कवि ने वर्णित किया है।

५. तृतीय अंक में विश्वामित्र शिवधनुष को देखने के कौतूहल के कारण

---

२. प्र० १·६

३. वा० रा० ६६.१६–२०

४. वही ६६.१६

५. वही ६६.२०–२४

जनक को राम द्वारा धनुष मंगवाने के लिए कहते हैं। पहले तो जनक संकोच करते हैं, किन्तु विश्वामित्र द्वारा राम के प्रताप का वर्णन करने पर वे राम को धनुष लाने की आज्ञा दे देते हैं, यद्यपि राम उसे ला नहीं पाते, वहीं धनुष टूट जाता है। किन्तु रामायण में विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को दिखलाने के लिए उस धनुष को मंगवाते हैं, जिसे अतिशय हृष्टपुष्ट शरीर वाले पांच सहस्र वीर आठ चक्रों वाली मञ्जूषा में उठाकर लाते हैं[६]।

६. प्रसन्नराघव में धनुर्भंग के पश्चात् न दशरथ को बुलवाया गया है, और न ही उनसे विवाह की अनुमति ली गई है। विश्वामित्र ने स्वेच्छा से ही विवाह करवा दिया है। किन्तु रामायण के अनुसार जनक ने विश्वामित्र की सहमति से राजा दशरथ से अनुमति मांगने के लिए तथा उन्हें मिथिला में लाने के लिये अपने मन्त्रियों को भेजा है, तथा दशरथ वसिष्ठ, वामदेव आदि महर्षियों और अपनी चतुरंगिणी सेना सहित मिथिला में विवाहोत्सव में पहुँचे हैं[७]।

७. प्रसन्नराघव में परशुराम पहले तो शिवधनुष के आरोपण की शर्त हटा लेने के लिए जनक के पास सन्देश भेजते हैं, किन्तु जब जनक उसकी अवहेलना कर देते हैं तब धनुर्भंग के पश्चात् वे कोपाविष्ट होकर मिथिला में आ जाते हैं, जहां उनका राम के साथ वाक्कलह होता है। मध्य-मध्य में लक्ष्मण भी व्यंग्योक्तियां कसते हैं। अन्त में राम परशुराम के साथ युद्ध-योग्य भूमि पर चले जाते हैं, जहाँ राम द्वारा वैष्णव-धनुष का आरोपण कर लेने पर परशुराम का तेजोभङ्ग होता है। इसके विपरीत रामायण में दशरथ, राम आदि के सीता को लेकर मिथिला से लौटते समय मार्ग में परशुराम मिलते हैं। वहीं वे राम को विष्णु का धनुष बाणारोपण के लिए देते हैं और कहते हैं कि तुम इसमें सफल हो गये तो मैं तुमसे द्वन्द्वयुद्ध करूंगा। बीच में केवल दशरथ बोले हैं तथा उन्होंने विनयपूर्वक परशुराम को शान्त करने की चेष्टा की है। लक्ष्मण चुप रहे हैं[८]।

८. प्रसन्नराघव में माण्डवी और श्रुतकीर्ति को जनक की कन्याएं कहा गया है, किन्तु रामायण के अनुसार ये जनक के लघुभ्राता कुशध्वज की कन्याएं हैं[९]।

९. पंचम अंक में कवि ने यमुना, गंगा, गोदावरी, सरयू, तुंगभद्रा आदि नदियों तथा सागर का मानवीकरण करके उनके द्वारा अपने-अपने तट पर घटित रामकथा को सुनवाया है। रामायण में इस प्रकार का प्रसंग नहीं है।

१०. पंचम अंक में कवि ने सीताहरण का यह सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है कि रावण पहले से तो अनसूयाप्रदत्त अंगराग से उत्पन्न अग्नि से आवृत्त सीता का स्पर्श ही नहीं कर पाता, किन्तु बाद में वह वरुणमन्त्र के चिन्तन से आहूत मेघों से आच्छा-

६. वही ६७.४–५
७. वही ६७.२४–२७ तथा ६९.१–६
८. वही, सर्ग ७४-७६
९. प्र० ३.५१, वा० रा० बाल० ७२.४-६

दित हाथों द्वारा उसे ले जाता है[१०]। इसके विपरीत रामायण में रावण क्रूरतापूर्वक सीता का हरण करता है। वहां वह सीता के केशों तथा जांघों को पकड़कर ले जाता है[११]। अनसूया ने कोई अंगराग सीता को दिया था, इसका भी रामायण में कोई उल्लेख नहीं है।

११. प्रसन्नराघव में रावण और जटायु के मध्य युद्ध के समय सीता के पैर का एक नूपुर नीचे गिर जाता है, जिसे एक बन्दर उठाकर ऋष्यमूक पर्वत पर ले जाता है,[१२] बाद में उस नूपुर को देखकर ही राम सुग्रीव पर विश्वास करते हैं। किन्तु रामायण में यह प्रसंग इस रूप में वर्णित नहीं है। वहाँ सीता का एक नूपुर उस समय गिरा है, जब जटायु का वध करने के उपरान्त पुनः रावण छटपटाती हुई सीता को पकड़े हुए आकाश-मार्ग से जा रहा है। परन्तु उस नूपुर को कोई वानर आदि उठाकर नहीं ले गया है। इसके पश्चात् एक पर्वत-शिखर पर पाँच वानरों को बैठा देख सीता अपने उत्तरीय में मांगलिक आभूषण बांधकर इस आशा से नीचे गिरा देती है कि सम्भव है ये वानर राम को मेरे विषय में बतला दें[१३]। ये वानर सुग्रीव तथा उसके मन्त्री हैं। वे उन उत्तरीय तथा आभूषणों को संभालकर रख लेते हैं और राम-लक्ष्मण से भेंट होने पर पहचानने के लिए उन्हें दिखाते हैं[१४]।

१२. प्रसन्नराघव में सीता प्राणत्यागार्थ त्रिजटा से अंगारखण्ड लाने तथा अग्नि जलाने की याचना करती है[१५]। किन्तु वाल्मीकिरामायण में वह पहले तो विष या शस्त्र से आत्महत्या करने का मन में विचार लाती है, फिर यह सोच कर कि यहां राक्षसगृह में विष या शस्त्र भला कौन लाकर देगा, स्वयं अपनी वेणी से गले में फन्दा डाल एक वृक्ष की शाखा में फांसी लगाना चाहती है, किन्तु फिर धैर्य धारण कर लेती है[१६]।

१३. प्रसन्नराघव में हनुमान् द्वारा राम की रत्नमुद्रिका सीता को नाटकीय ढंग से देने का प्रसंग आया है। जब राम के विरह से संतप्त सीता प्राणत्याग की कामना करती हुई अशोकवृक्ष से अग्निकण की याचना करती है, तब ऊपर से हनुमान् अंगूठी गिरा देते हैं। पहले तो सीता उसे अंगारखण्ड समझती है, किन्तु जब वह निकट जाकर उसे उठाती है तो चकित रह जाती है। परन्तु रामायण में हनुमान् सीता के सम्मुख उपस्थित होकर वार्तालाप के मध्य अपने को राम का दूत सिद्ध करने के निमित्त से राम द्वारा प्रदत्त रामनामांकित अंगूठी सीता को देते हैं[१७]।

---

१०. प्र० ५.४४, ४५ तथा मध्य का गद्य

११. वा० रा०, अरण्य० ४९.१६-२०

१२. प्र० पृ० २९५-८

१३. वा० रा०: अरण्य० ५४.२-३

१४. वही ५२.३१

१५. प्र० पृ० ३३८-९

१६. वा० रा०, सुन्दर० २८.१६-१८

१७. वही ३६.१-३

१४. प्रसन्नराघव में षष्ठ अंक में यह वर्णन है कि रावण कहता है—अरे यहां कोई है ? शीघ्र ही मेरे हाथ में कपालपात्र दो जिससे इस सीता का कण्ठरुधिर उसमें भरूं, तब हनुमान् अक्षकुमार के कटे सिर को अशोकवृक्ष पर से रावण के हाथ में गिरा देता है। यह कवि की अपनी कल्पना है। रामायण में तो केवल अक्षकुमार के हनुमान् द्वारा मारे जाने का ही वर्णन मिलता है[१८], वह वध भी हनुमान् ने सीता से मिलने के उपरान्त किया है। जब रावण सीता को मनाने आया है, उस समय तक वह वध नहीं हुआ है। जयदेव ने रोचकता लाने के लिए घटना को पूर्व वर्णित कर दिया है।

१५. प्रसन्नराघव में त्रिजटा सीता को राम के पास कोई चिह्न तथा संदेश भेजने के लिए प्रेरित करती है, पर रामायण में हनुमान् ने स्वयं याचना की है[१९]।

१६. षष्ठ अंक में सीता के आग्रह करने पर त्रिजटा आकाशचारिणी होकर मेघनाद द्वारा हनुमान् को बांधे जाने तथा हनुमान् द्वारा किये लंकादाह तथा समुद्र-लंघन का वर्णन करती है। किन्तु रामायण में त्रिजटा द्वारा इस प्रकार का वर्णन कहीं नहीं किया गया है, स्वतन्त्र रूप से ही इन घटनाओं का वर्णन है[२०]।

१७. प्रसन्नराघव के षष्ठ अंक में विद्याधर रत्नशेखर ने अपने मित्र चम्पकापीड को इन्द्रजाल से लंका की सब घटनाएँ दिखायी हैं, जिन्हें सीता के विरह से आकुल राम ने भी देखा है। किन्तु रामायण में यह प्रसंग नहीं है। वहां हनुमान् ने स्वयं लंका से लौटकर राम, लक्ष्मण, सुग्रीव आदि के सम्मुख लंका में स्थित सीता का सब वृत्तान्त कहा है[२१]।

१८. सप्तम अंक में विभीषण एक पत्र भेजकर रावण को परस्त्रीदर्शन न करने की शिक्षा देता है, जिसे पढ़ कर रावण प्रत्युत्तर में परस्त्रीदर्शन का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। जब विभीषण रावण की सीता के प्रति बढ़ती हुई अनुरक्ति को देखकर उसे पुलस्त्यवंश रूपी चन्द्रमा का कलंकरूप बतलाता है, तब रावण क्रुद्ध होकर उसके वक्षस्थल पर चरणप्रहार करता है[२२]। रामायण में चरण-प्रहार करने का उल्लेख नहीं है। विभीषण रावण को समझाने का प्रयत्न करता है, किन्तु जब वह उसका कहना नहीं मानता, तब वह स्वतः ही राम की शरण में चला जाता है[२३]।

प्रसन्नराघव पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

इस नाटक की कथावस्तु की मूलप्रेरणा यद्यपि वाल्मीकि से प्राप्त हुई है, तो

---

१८. वही ४७. ३१-३६

१९. प्र० ६.४४ के बाद का गद्य। वा० रा० सुन्दर ३८.१०

२०. वा० रा० सुन्दर, सर्ग ५३, ५४, ५६

२१. वही सर्ग ६५

२२. प्र०, ७.१-४

२३. वा० रा०, युद्ध० १६.१८-२६ तथा १७.१

भी इस पर अन्य अनेक पूर्ववर्ती संस्कृत-कवियों का भी प्रभाव पड़ा है, जिनमें कालिदास, भवभूति, मुरारि आदि उल्लेखनीय हैं।

कालिदास का प्रभाव

कवि पर कालिदास का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। द्वितीय अंक में उद्यान में राम-सीता में पारस्परिक अनुरागोदय का जो चित्र अंकित किया गया है, उस पर अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में वर्णित दुष्यन्त-शकुन्तलानुराग की छाया है। दोनों ही कवियों के काव्यों की नायिकाएँ प्रकृति के प्रति विशेष स्नेह रखती हैं। जयदेव की सीता और कालिदास की शकुन्तला दोनों लता-पादपों के परिणय में कुतूहल दिखाती हैं[२४]। दोनों ही मृग, वनस्पति आदि के प्रति सदय हैं। सीता हरिण को भयभीत होता देख पति के धनुष को आंचल से ढक लेती है, शकुन्तला मृग का पुत्रवत् लालन करती है[२५]। सीता कर्णालंकार के लिए खेत की क्यारियों में से यवांकुर को बड़ी दयापूर्वक तोड़ती है, शकुन्तला अलंकारप्रिय होते हुए भी स्नेह के कारण वनस्पतियों के पल्लव तोडने में संकोच करती है।[२६]

षष्ठ अंक में सीता के विरह में आकुल हो राम द्वारा चन्द्र, चकोर, तरंगिणी, भ्रमर एवं चक्रवाक से सीता का वृत्तान्त पूछने का वर्णन विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक के प्रसंग की याद करा देता है, जहाँ उर्वशी के विरह में संतप्त पुरूरवा मयूर, कोकिल, राजहंस, चक्रवाक, मधुकर, गजेन्द्र, पर्वत, नदी, सारंग जिसे देखता है उससे उर्वशी की वार्ता पूछता है। इसी अंक में अशोकवन में स्थित विरहोचित कारुण्यपूर्ण दशा वाली सीता का वर्णन शाकुन्तल में चित्रित दुष्यन्त के विरहव्रत को धारण करने वाली शकुन्तला की अवस्था का स्मरण कराता है[२७]। सप्तम अङ्क में भारद्वाजाश्रम के विरोधविश्रान्ति के चित्रण को पढ़ शाकुन्तल के मारीचाश्रम का ध्यान आ जाता है[२८]।

भवभूति का प्रभाव

अनेक प्रसंगों के लिए जयदेव भवभूति के भी ऋणी हैं, यद्यपि इन्होंने भास, कालिदास आदि अन्य कवियों के साथ भवभूति को स्मरण नहीं किया है, जब कि इनसे बहुत पूर्व के राजशेखर ने भवभूति को इतना आदर दिया है कि उसे वाल्मीकि का अवतार माना है[३०]। पूर्ववर्ती कवियों के स्मरण में भवभूति को आदर न देने का

---

२४. सीता—हला, एकं विस्मृतास्मि। ननु स सहकारपादपोऽवलोकनीयो यस्य वासन्त्या लतया सह संगममभिलषन्ति ममाऽम्बाः। प्र० पृ० ११०
शकुन्तला—हला, रमणीये खलु काल एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, स्निग्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः। शा० अंक १

२५. प्र० ५.२३, शा० ४.१४

२६. प्र० ५.२३, शा० ४.६

२७. प्र० ६.१५, शा० ७.२१

२८. प्र० ७.७६, ८०, शा० ७.१४

२९. प्र० १.२२

३०. बाल० रा० १.१६

कारण यह प्रतीत होता है कि ये भवभूति के प्रतिस्पर्धी थे, तथा अपनी कविता एवं नाट्यकला से रामचरितवर्णन में भवभूति को परास्त करना चाहते थे। फिर भी इन्होंने भवभूति के नाटकों से पर्याप्त प्रेरणा ली है।

प्रसन्नराघव के रामसीताप्रणय-प्रसंग के अवतरण पर महावीरचरित का प्रभाव प्रतीत होता है। महावीरचरित के प्रथम अंक में यह प्रसंग आता है कि विश्वामित्र ने अपने यज्ञ में जनक को आमन्त्रित किया था। जनक स्वयं यज्ञ कर रहे थे, अतः वे तो आ न सके, उन्होंने अपने भाई कुशध्वज को सीता और उर्मिला के साथ भेज दिया। राम-लक्ष्मण यज्ञरक्षार्थ पहले ही आये हुए थे। वहीं राम-सीता में परस्पर आकर्षण हुआ। भवभूति ने विवाह से पूर्व अनुराग का उदय विश्वामित्र के आश्रम में कराया है, और जयदेव ने मिथिलापुरी के उद्यान में। महावीरचरित में द्वितीय अंक के विष्कम्भक के तुरन्त पश्चात् यह सूचना दी गई है कि परशुराम मिथिला में पहुंच गये हैं, जबकि वाल्मीकि रामायण के अनुसार जब राम आदि मिथिला से अयोध्या जा रहे थे तब मार्ग में ये मिले थे। ऐसा प्रतीत होता है कि महावीरचरित से ही प्रभावित होकर जयदेव ने भी परशुराम को मिथिला में ही पहुँचाया है[३१]। प्रसन्न-राघव तथा महावीरचरित के भावों में भी कहीं-कहीं साम्य दृष्टिगोचर होता है। महावीरचरित की भांति इसमें भी परशुराम के चित्रण में वीर और शान्त रस का मिश्रण वर्णित है[३२]। परशुराम द्वारा किये गये राम के सौन्दर्य-वर्णन में भी समानता है[३३]। दोनों नाटकों में परशुराम को कहा गया है कि ब्राह्मणों को क्षत्रियोचित शास्त्र धारण करना शोभा नहीं देता[३४]।

भवभूति के उत्तररामचरित का भी जयदेव पर प्रभाव है। भवभूति के नाटकों की भांति प्रसन्नराघव में भी हास्यरस के पात्र विदूषक का प्रयोग नहीं मिलता। भव-भूति के ही समान इस न्यूनता को कहीं-कहीं इसने हास्य का पुट देकर पूर्ण कर लिया है। तृतीय अंक में हास्य का पुट लिए हुए वामनक-कुब्जक का संवाद उत्तर-रामचरित के सौधातकि-दण्डायन के संवाद से तुल्यता रखता है। पंचम अंक में गंगा, यमुना, सरयू, तुंगभद्रा आदि नदियों को पात्र बनाने का विचार कवि ने भवभूति से ही लिया है। भवभूति के उत्तररामचरित में भी तमसा, मुरला आदि नदियाँ पात्र बनी हैं। षष्ठ अंक में रत्नशेखर इन्द्रजाल द्वारा लंकास्थित सीता का वृत्तान्त दिखाता है। इसकी प्रेरणा कवि ने उत्तररामचरित के सप्तम अंक से ली प्रतीत होती है, जहां सीता के निर्वासन के पश्चात् का वृत्तान्त अप्सराओं के अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया गया है। जैसे वहां राम यह भूल जाते हैं कि यह तो नाटक है, और सीता के गंगा में कूदने आदि को वास्तविक घटना समझकर आवेग प्रदर्शित करते हैं, वैसे ही यहां

---

३१. म० च० २.१६-१७, प्र० ४.२

३२. म० च० २.२६, प्र० ४.१५

३३. म० च० २.३२, प्र० ४.१४

३४. म० च० ३.३४, प्र० ४.३१

विद्याधर द्वारा प्रदर्शित इन्द्रजाल के प्रभाव से सीता को देख राम उसके पास जाने के लिए अधीर हो जाते हैं, किन्तु लक्ष्मण वास्तविकता का बोध करवाकर उन्हें ऐसा करने से रोकते हैं। प्रसन्नराघव के सप्तम अंक में प्रहस्त रावण को एक चित्रपट दिखाता है, जिसमें राम-पक्ष की घटनाएं चित्रित हैं। यह प्रसंग उत्तररामचरित के प्रथम अंक में वर्णित चित्रदर्शनप्रसंग से प्रभावित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त प्रसन्नराघव तथा भवभूति के कतिपय पद्यों में भी भाव या भाषा का साम्य है।

मुरारि का प्रभाव

प्रसन्नराघव पर मुरारिकृत अनर्घराघव का सर्वाधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जयदेव ने अपने नाटक का नामकरण भी अनर्घराघव के आधार पर किया है। प्रस्तावना में अनर्घराघव में रंगोपजीवियों की प्रीति को सदस्यों की प्रिया कह उसके अपहर्ता को जीतकर प्रीति को पुनः आहरण करने के लिए कहा गया है, प्रसन्नराघव में अपहृत कीर्ति को प्रिया के समान पुनः आहरण करने की बात है[३५]। दोनों नाटकों में प्रस्तावना में वाल्मीकि की स्तुति की गई है[३६]। सब कवि राम पर ही काव्यरचना क्यों करते हैं इसका समाधान दोनों कवियों ने किया है[३७]। दोनों ही कवियों ने स्वर्ग से भूमि पर उतरती हुई सरस्वती के श्रम तथा उसके परिहारोपाय का वर्णन किया है[३८]। अनर्घराघव के अनुसार सरस्वती को द्युलोक से उतरते हुए मार्ग में जो खेद हुआ उसे मनुष्यलोक में प्रवेश के विश्रामशाखी वाल्मीकि की छाया ने दूर कर दिया, प्रसन्नराघव में कहा है कि पितामह के लोक से जगती में आते हुए वाग्देवी को जो श्रम हुआ वह कैसे दूर हो यदि वह रघुपतिगुणग्रामश्लाघा रूपी सुधामयदीर्घिका का अवगाहन न करे। अनर्घराघव के कवि अपने वाङ्मय को अमृतबिन्दुनिस्यन्दि कहते हैं, तो प्रसन्नराघव के कवि अपने वाग्विलास को असमरसनिष्यन्दमधुर तथा कुरंगाक्षी के बिम्बाधर से उपमेय[३९]।

प्रसन्नराघव के तृतीय अंक का जनक-विश्वामित्र-शतानन्द का संवाद अनर्घराघव के प्रथम अंक के दशरथ-विश्वामित्र-वामदेव के संवाद से तुल्यता रखता है। प्रथम में जनक-विश्वामित्र परस्पर प्रशंसा करते हैं और शतानन्द हां में हां मिलाते हैं, तो द्वितीय में दशरथ-विश्वामित्र एक-दूसरे की स्तुति करते हैं और वामदेव उसका समर्थन करते हैं। दशरथ द्वारा इन्द्र को अभय कर देने की बात दोनों में है[४०]। अनर्घराघव में दशरथ द्वारा विश्वामित्र की स्तुति में जो कहा गया है वही प्रसन्नराघव में प्रकारान्तर से शतानन्द विश्वामित्र के लिए कहते हैं[४१]।

---

३५. अ० १.३, प्र० १.६

३६. अ० पृ० ८, १०; प्र० पृ० १६, १७

३७. अ० १.६; प्र० १.१२

३८. अ० १.१०, प्र० १.११

३९. अ० पृ० १३, प्र० १.१४

४०. प्र० ३.२७; अ० १.२७, २८, ३१

४१. अ० १.३२, प्र० ३.१५

अनर्घराघव के प्रथम अंक में राम-लक्ष्मण का विश्वामित्र को देखकर उनके प्रति कौतूहल वर्णित है[४२], वैसे ही प्रसन्नराघव में राम-लक्ष्मण का तृतीय अंक में जनक तथा विश्वामित्र के प्रति एवं चतुर्थ अंक में भार्गव के प्रति चित्रित किया गया है[४३]। नाटक में प्रचुरता के साथ प्रकृतिवर्णन करने में भी जयदेव ने मुरारि का अनुसरण किया है।

दोनों नाटकों के तृतीय अंक में विश्वामित्र के राम-लक्ष्मण-सहित मिथिला में आने पर जनक-विश्वामित्र-शतानन्द-राम-लक्ष्मण का संवाद साम्य रखता है। दोनों में जनक विश्वामित्र के आगमन को आनन्दहेतु मानते हैं[४४]। दोनों में जनक-विश्वामित्र की पारस्परिक प्रशंसा निबद्ध हुई है[४५]. दोनों में शतानन्द भी मध्य-मध्य में साथ देते हैं[४६]। दोनों में राम-लक्ष्मण को देखकर जनक के हृदय में असीम आनन्द होता है[४७]। दोनों में जनक राम द्वारा धनुरारोपण को अशक्य मानते हैं[४८]। दोनों में जनक चाहते हैं कि राम के हाथ में पहुंचकर किसी प्रकार कठिन शिवधनुष कोमल हो जाये[४९]। धनुर्भंग होने पर प्रसन्नराघव में जो टंकारध्वनि का वर्णन कवि ने किया है उस पर अनर्घराघव के टंकारध्वनिवर्णन की छाया है[५०]।

दोनों नाटकों में चतुर्थ अंक का परशुराम का वृत्त बहुत अंशों में समान है। दोनों में परशुराम को देखकर राम उनकी प्रशंसा करते हैं[५१]। दोनों में परशुराम की परस्परविरोधी शारीरिक सज्जा का चित्रण एक सा है, अन्तर केवल इतना है कि अनर्घ में यह वर्णन राम ने किया है और प्रसन्नराघव में लक्ष्मण ने[५२]। दोनों में परशुराम द्वारा राम के प्रति उग्रता दिखाने पर राम कहते हैं कि मैं क्या करूं, धनुष तो खींचते ही या छूते ही टूट गया[५३]। दोनों में राम परशुराम के प्रति शस्त्र न उठाने का कारण बताते हैं ब्राह्मणजाति[५४]। दोनों में राम ऊपर से विनयी तथा अन्दर से उपहासवृत्ति वाले हैं[५५]। जनक दोनों में बोले हैं, अन्तर केवल इतना है कि अनर्घ-

४२. अ० १.४७–४८ तथा गद्य
४३. प्र० ३.१२, १६ तथा गद्य, ४.१५–१६ तथा गद्य
४४. अ० ३.१०, प्र० ३.९
४५. अ० ३.१२–१६, २२, प्र० ३.७–१०, १३, १४
४६. अ० ३.१५ के बाद का गद्य; प्र० ३.११, १५
४७. अ० ३.२३, २४; प्र० ३.२२
४८. अ० ३.२५, ३०, ३२; प्र० ३.३०, ३१, ३४
४९. अ० ३.२७; प्र० ३.३६
५०. अ० ३.५४; प्र० ३.४५
५१. अ० ४.२६, २९, प्र० ४.१६, १७
५२. अ० ४.२७; प्र० ४.१५
५३. अ० ४.३१; प्र० ४.२१
५४. अ० ४.३५, ४९; प्र० ४.२३
५५. अ० ४.३६; प्र० ४.३१, ३५

राघव में तो प्रथम वे शान्त, गम्भीर वाणी में परशुराम से आयुध का त्याग करने को कहते हैं[५६], परन्तु जब परशुराम नहीं मानते तब वे क्रुद्ध हो स्वयं भी धनुष उठाने को तैयार हो जाते हैं[५७], जबकि प्रसन्नराघव में वे प्रारम्भ में ही धनुष उठाने की बात करते हैं[५८]। दोनों में लक्ष्मण भी बीच में बोले हैं। दोनों में राम लक्ष्मण को दुर्विनय से रोकने का प्रयास करते हैं[५९]। दोनों में लक्ष्मण के वचनों से आहत कोपाविष्ट परशुराम को शान्त करना चाहते हुए राम लक्ष्मण द्वारा किये गये अविनय का कारण उसकी अल्पवयस्कता ही बतलाते हैं[६०]। दोनों में परशुराम कहते हैं कि वह धनुष तो पुराना था, उसके तोड़ने में क्या वीरता है[६१]। दोनों में जब वार्तालाप के मध्य परशुराम राम के गुरु विश्वामित्र के लिए अपमानजनक शब्द कहते हैं, तब उसे न सहन करते हुए राम एक ही प्रकार की पदावलि का प्रयोग करते हैं[६२]। दोनों में अन्त में राम भी उत्तेजित हो जाते हैं तथा कहते हैं कि भले ही तुमने इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार किया है, किन्तु अब बाइसवीं बार तुम हारोगे ही[६३]।

दोनों नाटकों में अन्य भी कई समानताएं हैं। अनर्घराघव में तृतीय अंक में रावण के पुरोहित शौष्कल के मुख से रावण की यशोगाथा सुनकर लक्ष्मण राम को कहते हैं कि भला वह रावण स्तुति का पात्र कैसे हो सकता है, जो सहस्रार्जुन तथा वालि से परास्त हो चुका है[६४]। प्रसन्नराघव में सप्तम अंक में लंकाविजय के उपरान्त पुष्पक विमान पर आरोहण करते हुए राम जब कौतुकपूर्वक कहते हैं कि यह वही विमान है जिसे त्रिभुवनैकवीर रावण कुबेर से छीन कर लाया था, तब लक्ष्मण उपर्युक्त भाव प्रकट करते हैं[६५]। दोनों में उत्तर में राम कहते हैं कि भले ही सहस्रार्जुन और

---

५६. अ० ४.३८

५७. आ : जामदग्न्य, किमेवमतिप्रसक्तः संन्यस्तशास्त्रानस्मानपि बलाद्धनुर्ग्राहयसि।

५८. अये जामदग्न्य, कथमति प्रगल्भसे, तदिदानीं भवच्छासनाय शरासनमानीयते।

५९. अ० : आ वत्स, कोऽयमद्यतनस्ते दुर्विनयप्ररोहो यद् गुरूनपि क्षेत्रीकरोषि।
प्र० : अलमिह माननीये मुनौ दुर्विनयवैदग्ध्येन।

६०. अ० : प्रसीद भगवन् स एवायं यौवनादर्वाचि निरपराधः मधुरे वयसि वर्तमानो यानि कानिचिदक्षराणि प्रलपति। पृ० २३६
प्र० : अलमिह क्षीरकण्ठे कठोरकोपतया, तत्क्षम्यताम् पृ० २१८

६१. अ० ४.५५; प्र० ४.३७

६२. अ० : अये भगवन्तं विश्वामित्रमपि स्पृशति। भवत्वेवं तावत्। पृ० २२५
प्र० : कथं भगवन्तं विश्वामित्रमधिक्षिपति? तदतः परं न सहिष्ये। पृ० ३३१

६३. अ० : ४.५१; प्र० ४.३५

६४. लक्ष्मण : (सामर्षं जनान्तिकम्) आर्य, कथमसौ सहस्रार्जुनवालिभ्यामवलीढशौर्य-सारो दुरात्मा रावणः प्रस्तूयते। अ० पृ० १६७

६५. लक्ष्मण : (सामर्षं) कथमयं किष्किन्धामाहिष्मतीपतिभ्य समभागविभक्तलक्ष्मीकोऽपि त्रिभुवनैकवीर इति व्यपदिश्यते। प्र०, पृ० ४२८

बालि वीर रहे हों, पर रावण तो ऐसा-ऐसा महावीर है[६६]। अनर्घराघव में शौष्कल ने कहा है कि जो रावण अपनी भुजा से कैलास-पर्वत को उठा चुका है, वह धनुष को उठाने का तुच्छ कार्य कैसे करे; प्रसन्नराघव में यही भाव रावण ने स्वयं व्यक्त किया है[६७]।

अनर्घराघव में श्रमणा करुण के भय से इंगुदीतरु के नीचे राम-लक्ष्मण के जटासंयमन-वृत्तान्त को टाल जाती है[६८]। जयदेव ने इस संकेत से लाभ उठाकर करुण-रसपूर्ण यह वृत्तान्त निबद्ध कर दिया है[६९]।

अनर्घराघव के तृतीय अंक में कंचुकी ने जो दशरथ का महिमागान कर राम-लक्ष्मण का परिचय दिया है उसकी छाया प्रसन्नराघव के तृतीय अंक के उस प्रसंग पर स्पष्ट है जहां विश्वामित्र ने ऐसा किया है[७०]।

प्रसन्नराघव के तृतीय अंक में शतानन्द द्वारा की गई विश्वामित्र की स्तुति पर अनर्घराघव के तृतीय अंक में जनक द्वारा की गयी स्तुति की छाया है[७१]। अनर्घ-राघव में लक्ष्मण के सम्मुख रघुवंशियों की धवल कीर्ति का गान करते हुए विश्वामित्र ने जो श्लोक पढ़ा है, उससे प्रसन्नराघव का विश्वामित्र तथा जनक के मुख से किया गया दशरथ का उत्कर्षवर्णन साम्य रखता है[७२]।

इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों पर जयदेव ने अनर्घराघव की पदावलि से मिलती-जुलती पदावलि का भी प्रयोग किया है। इस दृष्टि से निम्न उदाहरण तुलना करने योग्य हैं।

अ० : **पुत्रवतां धुरमारोपितः** । पृ० ४७
प्र० : **पुत्रवतां मौलिमाणिक्यमारोपितः** । पृ० १६१
अ० : राज्यद्विम्वरजश्छटावलयितो **देवस्त्विषामीश्वरः** । २.६
प्र० : लक्ष्मीमम्बुजिनीजनस्य कुरुते **देवस्त्विषामीश्वरः** । ७.८२
अ० : **उदयाचलमौलिमाणिक्यम्** । पृ० ६१
प्र० : **पूर्वाचलशेखरैकमाणिक्यम्** । ७.६०
अ० : **मन्दारदाममकरन्दरसैरिवायम्** । २.३६
प्र० : **मन्दारदाममकरन्दरसं** पिवन्तः । १.५८
अ० : **पौलोमीकुचकुम्भकुंकुमरजःस्वाजन्यजन्मोद्धताः** । २.७३

६६. अ० ३.३०, ४०; प्र० ७.७३–७६

६७. अ० ३.४६; प्र० १.४५, ४८

६८. आर्य, करुणभयादेव तस्मिन्निङ्गुदीतरुमूले कुमारयोर्जटाग्रहणवृत्तान्तमन्तरितवत्यस्मि। अ० पृ० २६३

६९. प्र० ५,१२

७०. अ० ३.२, ३; प्र० ३.२३–२८

७१. प्र० ३,१५; अ० ३.२२

७२. अ० २.६५; प्र० ३.२४, २७

प्र० : **पौलोमीकुचकुम्भसीमनि रहः पश्यन्नखाङ्कं नवम्** । ३.२७
अ० : **उन्मीलन्ति······पीयूषभानोः कराः** । ७.७०
प्र० : **उन्मीलन्ति······सुधांशोः कराः** । ७.५५
अ० : ऐन्दवमिदं बिम्बं समुज्जृम्भते । २.७२
प्र० : तमः कवलयन्निन्दु : समुज्जृम्भते । ७.६०
अ० : कैरवकुलश्रीचाटुकारा : कराः । २.७३
प्र० : सरोरुहवनश्रीकेलिकाराः कराः । ७.८५
अ० : संकीर्णे वयसि खल्वियं वर्तते । पृ० १३६
प्र० : वयः सन्धौ खल्वियं वर्तते । पृ० १०४
अ० : तत् किं मूढवदीक्षसे । ३.४४
प्र० : किमेतन्मूढ इव मुहुर्मुहुरालोकसे । पृ० १७५
अ० : अरे राम त्वं मा जनकपतिपुत्रीमुपयथाः । ३.६१
प्र० : किलैतस्मिन् देवी जनकपतिपुत्री निवसति । ७.४६
अ० : **विदेहकन्याकुचकुम्भकोटि०** । ६.६७
प्र० : एषा **विदेहतनयाकुचकुम्भकेलि०** । १.५२
अ० : विश्वोन्माथहुताशनस्य ककुभामुद्घाटिनी कुञ्चिका । ७.८३
प्र० : चञ्चूकोटिकपाटयोर्घटितयोरुद्घाटिनी कुञ्चिका २.३४ ।

राजशेखर का प्रभाव

प्रसन्नराघव पर राजशेखर के वालरामायण का भी प्रभाव पड़ा है । कुछ स्थल ऐसे हैं जो अनर्घराघव, बालरामायण एवं प्रसन्नराघव तीनों में समान हैं । उनमें प्रसन्नराघव पर मुख्यतः अनर्घराघव का तथा गौणतः बालरामायण का प्रभाव है । उदाहरणार्थ, तीनों में यह कहा गया है कि जो रावण अपनी भुजा से कैलास पर्वत को उठा चुका है, वह शिव धनुष के आरोपण रूप तुच्छ कार्य को कैसे करे[७३] । अनर्घ-राघव में यह रावण-पुरोहित शौष्कल ने कहा है, तथा शेष दोनों में रावण ने स्वयम् । धनुर्भंग के पश्चात् निबद्ध परशुराम का प्रसंग भी तीनों में कई समानताएं रखता है । तीनों में परशुराम मिथिला में ही पहुंचे हैं । तीनों में परशुराम की वीरशान्त उभयात्मक सज्जा पर आश्चर्य प्रकट किया गया है[७४] । तीनों में राम परशुराम पर शस्त्र न उठाने का कारण उनकी ब्राह्मणजाति बताते हैं[७५], तथा परशुराम उनके इस कथन को अपमानजनक समझते हैं । तीनों में जनक भी बीच में पड़ते हैं, तथा वे शस्त्र-ग्रहण के लिए भी तैयार हो जाते हैं[७६] ।

---

७३. अ० ३.४६; बाल रा० १.४४. ५१; प्र० १.४५, ४८
७४. अ० ४.२७; बाल रा० ४.५०; प्र० ४.१५
७५. अ० ४.४६; बाल रा० ४.६३; प्र० ४.२३
७६. अ० तथा प्र० के उद्धरणों के लिए द्रष्टव्य टि० ७६, बाल रा० : कथं संन्यस्त-शस्त्रग्रहणस्यापि मम पुनरस्य ग्रहणक्षणो वर्तते । श्लोक ४.६५ के बाद का गद्य ।

परन्तु इनके अतिरिक्त प्रसन्नराघव के कुछ स्थल ऐसे भी हैं जो सीधे बालरामायण से प्रभावित हैं। रावण को सीतास्वयंवर में साक्षात् उपस्थित कराने का विचार जयदेव ने बालरामायण से ही लिया है, अनर्घराघव में रावण स्वयं उपस्थित नहीं हुआ है, किन्तु उसका पुरोहित शौष्कल विवाह का प्रस्ताव लेकर आया है। बालरामायण के समान ही जयदेव ने भी स्वयंवर में उपस्थित कुछ बड़े-बड़े राजाओं का नामोल्लेख किया है, यद्यपि जयदेव की सूची अपेक्षाकृत छोटी है[७७], जबकि वाल्मीकिरामायण में किसी राजा का नामोल्लेख नहीं हैं, न ही महावीरचरित, अनर्घराघव आदि इतर नाटकों में। धनुर्भंग में विफल राजाओं का जनक द्वारा कुछ दिन सत्कारपूर्वक मिथिला में ठहराया जाना भी दोनों नाटकों के समान है[७८], जब कि अन्यत्र ऐसा नहीं है। बिना दशरथ को बुलाये राम-सीता का विवाह करने में भी जयदेव ने बालरामायण का ही अनुसरण किया है। इतना अन्तर अवश्य है कि बालरामायण में विवाह के अनन्तर दशरथ पहुंच जाते हैं, तथा जनक उनसे कह देते हैं कि आप इस बात को चित्त में न लायें कि मेरे बिना ही विवाह हो गया, क्योंकि विश्वामित्र तो उपस्थित थे ही, जब कि प्रसन्नराघव में इस प्रसंग में दशरथ सर्वथा उपेक्षित रहे हैं[७९]। प्रसन्नराघव में वर्णित राम-लक्ष्मण-सीता का वनगमनवृत्तान्त भी बालरामायण के वृत्तान्त से प्रभावित है। बालरामायण में यह वृत्त प्रथम सुमन्त्र तथा फिर गृध्रराज जटायु का मित्र रत्नशिखण्ड सुनाता है, और प्रसन्नराघव में यह वृत्तान्त गंगा, यमुना, सरयू, कलहंस, गोदावरी, सागर तथा तुंगभद्रा के वार्तालाप में निबद्ध किया गया है[८०]। दोनों में एक सी प्रासादिक शैली है तथा कई वर्णन भी साम्य लिये हुए हैं[८१]।

रामकथाश्रित नाटकों में प्रसन्नराघव का स्थान

संस्कृत वाङ्मय में राम के लोकोत्तर चरित को लेकर जिन महावीरचरित, उत्तररामचरित, अनर्घराघव, बालरामायण आदि नाटकों की रचना हुई है, उनमें कवित्वसौन्दर्य की दृष्टि से भवभूति के उत्तररामचरित के पश्चात् जयदेव के प्रसन्नराघव की ही गणना होती है, यद्यपि नाटकीय कला की दृष्टि से इसे उतना गौरव प्राप्त नहीं है। सरल प्रासादिक भाषा तथा कमनीय कान्त पदावलि में कोई अन्य नाटक प्रसन्नराघव की तुल्यता नहीं कर सकता। सरल भाषा के साथ-साथ प्रसंगानुसार क्लिष्ट एवं समास-प्रधान भाषा के प्रयोग पर भी कवि को अधिकार प्राप्त है। चुटीले व्यङ्ग्य करने में भी कवि कुशल है। पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण भी अद्भुत हुआ

---

७७. बाल रा० ३.२८–६३; प्र० ४२–४६

७८. बाल रा० : ३.८८; प्र० ३.४०

७९. बाल रा० ४.४८, प्र० ४ के अंक का अन्तिम भाग।

८०. बाल रा०: षष्ठ अंक, प्र० ५ म अंक।

८१ यथा, बाल रा० ६.३७ तथा प्र० ५,२१, २२। बाल रा० ६.४२, ४३ तथा प्र० ५.२९, ३१। बाल रा० ७.८८ तथा प्र० ७.४०।

है। वृत्तवर्णनचारुता अनुपम है। अलंकार प्रयोग में भी कवि निष्णात है। प्रकृति-चित्रण-कला भी अनोखी है। मुरारि, राजशेखर प्रभृति के समान व्याकरण आदि शास्त्रों का गहन पाण्डित्य दिखाने में जयदेव की रुचि नहीं है। महावीरचरित आदि के सदृश मूलकथा में आवश्यकता से अधिक परिवर्तन भी इन्होंने नहीं किया है। जहाँ अन्य कई नाटकों में राक्षसों के षड्यन्त्र का जाल सा बिछा हुआ है, वहाँ इसमें वैसा न होकर घटनाएँ प्रायः अपने स्वाभाविक रूप में हैं। राजशेखर आदि लम्बे-लम्बे वर्णनों में उलझ जाते हैं, वैसा इनके नाटक में अधिक नहीं है। प्रसन्नराघव की विशेषताएँ अगले अध्यायों में यथास्थान वर्णित की जायेंगी। संक्षेप में कहना हो तो सरल भाषा, हृदयस्पर्शी भाव, अनूठी कल्पना, अद्भुत पदलालित्य, उचित अलंकार-सज्जा, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण, रसपेशलता सब मिलाकर जयदेव ने प्रसन्नराघव में एक अपूर्व माधुरी उत्पन्न कर दी है। अतः रामकथाश्रित नाटकों में इसका एक अनूठा स्थान है।

१. कविता के विषय में कवि का आदर्श

चन्द्रालोक के काव्यलक्षण के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि जयदेव की दृष्टि में आदर्श काव्य वह है जो निर्दोष हो, लक्षणों, रीतियों वृत्तियों एवं गुणों से युक्त हो तथा अलंकारों से अलंकृत और रसादि से अनुप्राणित हो[1]। नाटक के विषय में प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में नट के मुख से इन्होंने निम्न पद्य कहलवाया है—

प्रत्यङ्कमङ्कुरितसर्वरसावतार-
न्नव्योल्लसत्कुसुमराजिविराजिबन्धम्।
घर्मेतरांशुमिव वक्रतयातिरम्यं
नाट्यप्रबन्धमतिमञ्जुलसंविधानम् ॥ प्र० १.७

इससे ज्ञात होता है कि इनकी संमति में उत्कृष्ट नाटक में ये विशेषताएँ होनी चाहिएँ—१. प्रत्येक अंक में रस-चित्रण परिपूर्ण रूप में हो। २. नाटक का ग्रथन विकसित पुष्पमाला के सदृश हो अर्थात् माला में पुष्प के समान प्रत्येक अंग स्वतन्त्र भी हो और एक-दूसरे से ग्रथित भी। ३. चन्द्रकला के समान वक्रता (वक्रोक्ति) से रम्य हो। ४. संविधान अतिमंजुल हो। कवि के अपने कथन के अनुसार प्रसन्नराघव में ये सब वैशिष्ट्य विद्यमान हैं।

जयदेव उस कृति को ही श्रेष्ठ मानते हैं, जो अद्वितीय रस के प्रवाह से मधुर हो[2] और जिसकी भाषा सुललित हो तथा वृत्तों का प्रयोग वर्ण्य अर्थ के अनुरूप हो[3]। इनके मत में कविता वह है जिससे सहृदय का सिर झूम उठे[4]। ये सूक्तियों के सरल और कोमल होने के पक्षपाती हैं, पर साथ ही कहीं-कहीं वक्रता और कठिनता के समावेश को भी आवश्यक मानते हैं।

२. प्रसन्नराघव का काव्य-वैशिष्ट्य

कविता के उक्त आदर्श-निकष पर परीक्षित होकर जयदेव का काव्य-सुवर्ण निःसंदेह खरा उतरता है। पीयूषवर्ष सचमुच पीयूषवर्ष ही हैं। प्रस्तावना में सूत्रधार ने कवि की स्तुति में ठीक ही कहा है—

विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दमधुरः
कुरङ्गाक्षीबिम्बाधरमधरभावं गमयति ॥ प्र० १.१४

नट शंका करता है कि पारिषद तो स्वयं कविताकोविद हैं, उनका इस कवि

---

१. च० १.७
२. विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दमधुरः। प्र० १.१४
३. सुललितवचनामुदारवृत्तां कृतिम्। प्र० १.१७
४. प्र० १.८

की कविता से मनोविनोद कैसे हो सकेगा ? इसका उत्तर सूत्रधार कवि के ही शब्दों में देता है :

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः ।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ॥ प्र० १.१९

इस सूक्ति से चमत्कृत हो नट के मुख से निकल पड़ता है—'अहो, अस्य कवेः सूक्तीनां सरलता कोमलता च'। सूत्रधार इसके साथ इतना और जोड़ देता है—'क्वचिद् वक्रता कठिनता च'। फिर नट द्वारा यह शंका करने पर कि क्या ये भी रमणीय हैं, सूत्रधार कहता है कि हां, मन्दमति लोग भले ही कवियों की वक्र वाणियों की निन्दा करें, पर विदग्धों के मन को तो वक्रता रुचती ही है। प्रतिभाशाली कवियों की कठिन वाणियां क्षण भर के लिए ही कठिन रहती हैं, फिर तो वे भी अमृतस्यन्दिनी हो जाती हैं। यदि मेघ अमृतसागर के क्षीर को पी-पी कर स्फटिक-भूमि पर ताराकार ओलों की वर्षा करे तो उनसे कदाचित् उन वाणियों की तुलना हो सकती है। अर्थात् जैसे वे कठिन भी ओले क्षण भर में ही द्रवीभूत हो अमृत बन जायेंगे, वैसे ही कठिन भी कवि-भारती सहृदय-हृदय रूपी स्फटिक-भूमि में द्रुत होकर अपना काठिन्य छोड़ अमृतस्राविणी हो जाती है।

अमृतजलधेः पायं पायं पयांसि पयोधरः
किरति करकास्ताराकारा यदि स्फटिकावनौ ।
तदिह तुलनामानीयन्ते क्षणं कठिनाः पुनः
सततममृतस्यन्दोद्गारा गिरः प्रतिभावताम् ॥ प्र० १.२१

नट इस सूक्ति पर भी रीझ जाता है और कहता है कि कवि का अन्तःकरण कैसा कौतुक तथा प्रमोद से परिपूर्ण है, जो ऐसी सरस-शीतल सूक्तियों को जन्म देता है।

यह कवि की अपने काव्य के विषय में स्वयंकृत आलोचना है, और पर्याप्त अंशों में सत्य है। प्रसन्नराघव में अधिक चमत्कार सरल-कोमल शैली का ही है। इस शैली के कुछ रुचिर उदाहरण निम्न हैं—

वार्ता च कौतुकवती विमला च विद्या
लोकोत्तरः परिमलश्च कुरंगनाभेः ।
तैलस्य बिन्दुरिव वारिणि दुर्निवार—
मेतत् त्रयं प्रसरति स्वयमेव भूमौ ॥ प्र० २.२

त्रिलोकी कोकीयं मुदमुदयतानेन भजते
विकासं वा धत्ते मुनिजनमनः पङ्कजवनम् ।
अये कोऽयं बालः कुवलयदलश्यामलतनु-
र्जगद्योनिर्ज्योतिः कथमिदमहो तत् परिणतम् ॥ प्र० ४.४४

वक्र-कमनीय वाग्विलास का उदाहरण निम्न है, जिसे कवि ने स्वयं ही ऐसा कहा है[५] :

जज्ञिवान् दशरथः स हि राजा राममिन्दुमिव सुन्दरगात्रम् ।
लोकलोचनविगाहनशीलां, त्वं पुनः कुमुदिनीमिव सीताम् ॥ प्र० ३.२६

विश्वामित्र जनक से कह रहे हैं कि राजा दशरथ ने चन्द्र के समान सुन्दर राम को जन्म दिया है, और आपने कुमुदिनी के तुल्य सीता को। इस वचन से राम और सीता के भावी विवाह की व्यंजना हो रही है, तथा दशरथ का सागरोपम और जनक का सरोवरसदृश होना तथा दोनों का ही महिमाशाली होना एवं परस्पर सम्बन्धी बनना भी सूचित हो रहा है। यह गूढ-व्यङ्ग्यार्थता ही इसकी वक्रता है।

वक्रोक्ति का द्वितीय उदाहरण लक्ष्मण की निम्नलिखित उक्ति है। ज्यों ही प्रभातकाल रूपी व्यापारी लोकत्रयी के माणिक्यरूप सूर्यबिम्ब को समुद्र से निकाल कर आकाश रूपी पण्यवीथी में बेचने के लिए रखता है, त्यों ही पद्माकर स्वयं उसका उचित मूल्य लगाने के लिए अपने पंकज रूपी हाथ में शोभा रूपी लक्ष्मी को ले उपस्थित हो जाता है।

यावन्नीरनिधेः प्रभातसमयः प्रोद्धृत्य लोकत्रयी —
माणिक्यं रविबिम्बमम्बरवणिग्वीथीपथे न्यस्यति ।
तावत् कर्तुमिवास्य मूल्यमुचितं पद्माकरेण स्वयं
लक्ष्मीर्लब्धविकासपङ्कजकरन्यस्ता पुरः स्थाप्यते ॥ प्र० ३.४

इससे यह गूढ़ व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है कि जब विश्वामित्र दशरथ के पास से पृथक् कर राम को धनुर्यज्ञ में ले जायेंगे तब जनक उन्हें जामाता रूप में पाने के लिए जानकी रूपिणी लक्ष्मी को सामने रख देंगे।

प्रसन्नराघव में सर्वत्र कवित्व का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। वर्णनों की स्वाभाविकता, भाषा की सजीवता, पदावली की सुकुमारता, कल्पनाओं की मधुरता, सूक्तियों की सरसता, अलंकारों की मोहकता, संवादों की सशक्तता, रसादिध्वनि की मनोहरता, चित्रणों की विचित्रता, प्रकृति-वर्णन की पेशलता, संविधान की नूतनता, कथा की प्रवाहात्मकता सबने मिलकर काव्य में अपूर्वता ला दी है। कविता वीणा की तन्त्री के समान पाठकों तथा श्रोताओं के हृदय में एक मीठी झंकार छोड़ती चलती है।

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ॥ प्र० १.२२

---

५. अनेन भगवतो वक्रकमनीयेन वाग्विलासेन द्वितीयेनेव हरकार्मुकेण किमपि कौतुकितोऽस्मि।

उक्त कवियों के साथ पीयूषवर्ष यदि स्वयं को कविताकामिनी के चरणनूपुरों की झंकार कह देते तो यह सर्वथा उपयुक्त होता।

कवि को विश्वास है कि उसकी कविता हृदय को हर्ष देने वाली होगी ही, क्योंकि लोकोत्तर पुरुष राम उसके कथा-नायक हैं —

न ब्रह्मविद्या न च राजलक्ष्मीस्तथा यथेयं कविता कवीनाम्।
लोकोत्तरे पुंसि निवेश्यमाना पुत्रीव हर्षं हृदये करोति ।। प्र० १.२३

यहां प्रसन्नराघव के कतिपय चारु प्रसंगों पर विहंगम-दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त होगा।

प्रथम अंक में जानकी-स्वयंवर का उत्सव रचा गया है। प्रत्येक दिशा से राजगण आकर अपनी-अपनी दिशा में वलयाकार सज्जित मंचों पर आरूढ़ हो गये हैं। कवि कल्पना करता है कि मानो स्वयंवर को देखने के कौतूहलवश साक्षात् दिङ्मंडल ही पुंजीभूत हो गया है ·

स्वां स्वां दिशं श्रितवतां निवहेन राज्ञां
मञ्चावलीवलयमाकलितं विभाति।
सीतास्वयंवरविलोकनकौतुकेन
पुञ्जीकृताकृति दिशामिव चक्रवालम् ।। प्र० १.२७

मंजीरक उपस्थित नृपतियों को संबोधन कर घोषणा करता है—

आकर्णान्तं त्रिपुरमथनोद्दण्डकोदण्डनद्धां
मौर्वीमुर्वीवलयतिलकः कोऽपि यः कर्षतीह।
तस्यायान्ती परिसरभुवं राजपुत्री भवित्री
कूजत्काञ्चीमुखरजघना श्रोत्रनेत्रोत्सवाय ।। प्र० १.२६

इस घोषणा में पाणिग्रहीता की योग्यता, सीता की आकर्षकता तथा पाणि-ग्रहण की शर्त तीनों बातें आ गई हैं। घोषणा जिन सुन्दर शब्दों में की गई है, उससे प्रत्येक राजा का जानकी को प्राप्त करने के लिए उत्कंठित हो जाना स्वाभाविक है। स्वयंवर में रावण तथा बाणासुर भी आये हैं। इनके परस्पर वाक्कलह की उक्ति-प्रत्युक्तियां बड़े सशक्त रूप में चित्रित हुई हैं।

द्वितीय अंक — का वृत्त कवि का अपना कल्पनाप्रसूत है। विवाह से पूर्व ही मिथिला के उपवन में राम और सीता एक-दूसरे को देख परस्पर आकृष्ट हो जाते हैं। कवित्व की दृष्टि से यह सारा प्रसंग नितान्त सुन्दर है। प्रारम्भ में राम-लक्ष्मण द्वारा किया हुआ मधुमास-लक्ष्मी का वर्णन है, जिसमें कल्पना की मधुरता दर्शनीय है। सीता उद्यान में बने हुए चंडिकायतन में पहुँच चंडी देवी को प्रणाम करती है— 'देवि, शशधरमौलिदेहार्धधारिणिम, त्रिभुवनगृहसुवासिनि, नमो नमस्ते'। उसकी सखी चुटकी लेती है—**'समुचितैव प्रणाम परिपाटी'**। क्योंकि देवी को सीता ने जो सम्बोधन किया है उससे यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि सीता भी किसी की देहार्ध-धारिणी तथा गृहसुवासिनी होने की अभिलाषा मन में संजोए हुए है। सीता सखी पर प्रणय-कोप

दिखाती हुई कहती है—**अलमलीकजल्पितेन**। सखी चंडी देवी से सीता के शीघ्र परिणय की प्रार्थना करती है :

> **कान्तमिन्दुमणिदामकोमले कोमलेन्दुमुकुटांकशायिनि।**
> **इन्दुचारुमचिरेण विन्दतामिन्दुसुन्दरमुखी सखी मम॥** प्र० २·१०

राम सीता की झांकी पा उसके रूप पर मुग्ध हो जाते हैं, तथा उसके सौन्दर्य का वर्णन करने लगते हैं। सीता के चित्त में भी उनके प्रति अनुराग अंकुरित हो जाता है। सीता के कटाक्ष-निक्षेप का रामकृत निम्न मूल्यांकन कैसा मनोमुग्ध-कारी है :

> **सर्वस्वं नवयौवनस्य भवनं भोगस्य भाग्यं दृशां**
> **सौभाग्यं मदविभ्रमस्य जगतः सारं फलं जन्मनः।**
> **साकूतं कुसुमायुधस्य हृदयं रामस्य तत्त्वं रतेः**
> **शृंगारस्य रहस्यमुत्पलदृशस्तत् किंचिदालोकितम्॥** प्र० २.२६

राम चाहते हैं कि यह मुहूर्त सदा ही बना रहे। पर फिर स्वयं कहते हैं कि यह कैसे संभव है, क्योंकि विधाता की सृष्टि में मधुर और कटु दोनों ही रहते हैं :

> **अमृतमयपयोधिक्षीरकल्लोललोलैः**
> **स्नपयति तरलाक्षी यत्र मां नेत्रपातैः।**
> **अपि भवतु सदायं सन्मुहूर्तः कुतो वा**
> **मधुरविधुरमिश्राः सृष्टयो हा विधातुः॥** प्र० २·२८

तृतीय अंक के विष्कंभक में वामनक-कुब्जक का संवाद हास्यरसमय होने से बड़ा ही कौतूहलजनक है। जब विश्वामित्र राम-लक्ष्मण-सहित जनकपुरी में पदार्पण करते हैं, तब जनक और विश्वामित्र द्वारा किये गये एक-दूसरे के प्रशस्ति-गान के कुछ संदर्भ अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। विश्वामित्र ने निमिवंश के राजाओं में परस्पर-विरोधी गुणों की अवस्थिति निम्न पद्य में कैसी सुन्दरता के साथ वर्णित की है :

> **ज्याघातः कार्मुकस्य श्रयति करतलं कण्ठमोङ्कारनाद—**
> **स्तेजो भाति प्रतापाभिधमवनितले ज्योतिरात्मीयमन्तः।**
> **राज्यं सिंहासनश्रीः शममपि परमं वक्ति पद्मासनश्री—**
> **र्येषां ते यूयमेते निमिकुलकुमुदानन्दचन्द्रा नरेन्द्राः॥** प्र० ३·१०

जनक द्वारा वर्णित महर्षि विश्वामित्र की महिमा भी अलौकिक है। वे विश्वामित्र द्वारा त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग भेजने की कथा की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि आप द्वारा तपःसामर्थ्य से भेजे हुए त्रिशंकु को जब देवों ने स्वर्ग में स्थान नहीं दिया तब आपने क्रुद्ध हो नूतन स्वर्ग का निर्माण आरम्भ कर दिया था। उस समय कोप से लाल-लाल अपनी दृष्टि को कूंची बनाकर जब आप गगनतल-भित्ति पर देवश्रेणी को चित्रित करने लगे थे, तब चन्द्र और सूर्य के बिम्बों ने क्रमशः सुधारस और लाक्षाद्रव के पात्रों का काम किया था :

शलाकीकृत्य स्वां दृशमसमकोपारुणरुचिं
सुरश्रेणीचित्रं गगनतलभित्तौ रचयतः ।
सुधांशोर्भानोश्च प्रथमरचितं बिम्बयुगलं
सुधालाक्षासान्द्रद्रवभरितपात्रद्वयमभूत् ।। प्र० ३.१४

जब विश्वामित्र राम को शिवचापारोपण के लिए कहते हैं, तब जनक के मन की द्विविधा भी दर्शनीय है। एक ग्रोर तो मुग्धमुख राम को देख उन्हें विश्वास ही नहीं होता कि यह धनुष उठा सकेगा, दूसरी ग्रोर वे सोचते हैं कि यदि राम में यह सामर्थ्य न होता तो इतने बड़े तपस्वी, ऋषि उत्कंठित क्यों होते :

यस्य ख्याता जगति सकले निस्तमिस्रा तपःश्री—
मिथ्योत्कण्ठः कथमिह भवेदेष गाधेस्तनूजः ।
बालो रामः किमपि गहनं कार्मुकं चन्द्रमौले—
र्दोलारोहं कलयति मुहुस्तेन मे चित्तवृत्तिः ।। प्र० ३.३५

इसी प्रसंग में परशुराम के परशु का जनक के प्रति सन्देश बड़ा ही गर्वोक्ति-पूर्ण है। प्रथम तो ग्रपने नाम से संदेश न कहला कर परशु के नाम से कहलाने में ही दर्प का प्रकाशन है, फिर संदेश के शब्द ग्रौर भी गर्वीले तथा उपहासकारी हैं :

कस्मैचिद् देहि कन्यां नरपतिशिशवे दीर्घमायुर्लभस्व
व्यावर्तस्वाप्रियान्नः पुरमथनधनुःकर्षणालापपापात् ।
नो चेदन्योऽस्त्युपायस्तव कलुषमसीपङ्कसंक्षालनाया—
मस्मद्विस्तारिधारांचलबहलपयःपूरदूरावगाहः ।। प्र० ३.३८

जनक से उत्तर भी कवि ने इसके ग्रनुरूप ही दिलवाया है, जिसमें उनका ग्रात्मसंमान सुरक्षित रहा है। वे उत्तर में कोई नम्र निवेदन न कर परशु को चुनौती देते हुए कहते हैं कि मैं तो ग्रपनी प्रतिज्ञानुसार चापारोपण करने वाले को ही कन्या देने जा रहा हूँ, यदि तुम्हें सहन नहीं है तो ग्राकर मेरे जामाता की शक्ति परख लो :

त्वं मित्रं मम जामदग्न्यपरशो येनैतदाभाष्यसे
सम्प्रत्येव यथाप्रतिश्रुतमियं कन्या मया दीयते ।
तेनेह स्वयमेत्य धूर्जटिधनुर्धरैयदोःसम्पदो
जामातुः पुरतश्चिराय भवता धाराजलं त्यज्यताम् ।। प्र० ३.३९

राम धनुष उठा लेते हैं। धनुर्भंग से उत्पन्न टंकार का वर्णन कवि ने निम्न शब्दों में किया है, जिसमें सामाजिकों को ग्रद्भुत रस की ग्रनुभूति होती है। वर्णन विषय के ग्रनुरूप विकट बन्ध में है :

भिन्दन् निद्रां मुरारेः सकलभुजभृतां म्लानयन् शौर्यदर्पं
छिन्दन् दिक्कुम्भिकर्णाञ्चलचलनकलां कम्पयन् कूर्मराजम् ।
ग्रार्यश्लाघागभीरः प्रलयजलधरध्वानधिक्कारधोर —
ष्टांकारः कृष्यमाणत्रिपुरहरधनुर्भङ्गभूराविरस्ति ।। प्र० ३.४५

चतुर्थ अंक में परशुराम का कोप तथा उनकी गर्वोक्तियां, राम के विनय-वचन तथा लक्ष्मण के व्यङ्ग्य-भरे उपहास विशेष चामत्कारिक हैं। राम के विनय-वचन भी बड़े वक्रोक्तिपूर्ण हैं। इसीलिए परशुराम को कहना पड़ा है—**आः, कथं रे चन्दन-दिग्धं नाराचं निधाय हृदयं मे शीतलयसि।**

जब परशुराम क्रुद्ध होकर कहते हैं कि तेरी भुजाओं के रुधिर से अपने कठिन कुठार को तृप्त करूंगा, तब राम भोले बनकर कहते हैं—**भगवन्, निग्रहानुग्रहयोः स्वाधीनोऽयं जनः, परं ते कोपबीजं ज्ञातुमिच्छामि।** फिर परशुराम के यह पूछने पर कि क्या तूने शिवधनुष तोड़ने का अपराध नहीं किया, राम उत्तर देते हैं :

मया स्पृष्टं न वा स्पृष्टं कार्मुकं पुरवैरिणः।
भगवन्नात्मनैवेदमभज्यत करोमि किम्॥ प्र० ४.२१

कैसी शान्त उक्ति प्रतीत होती है? पर ऊपर से जितनी शान्त है, अन्दर से उससे अधिक उत्तेजक है। जब परशुराम राम को युद्ध के लिए ललकारते हैं, तब राम उत्तर देते है कि हम ब्राह्मणों पर वीरता नहीं दिखाते।[६]

इसमें भी व्यङ्ग्य छिपा हुआ है। ऊपर से तो यह अभिप्राय है कि आप क्योंकि ब्राह्मण होने से पूज्य हैं, अतः आप पर मैं शस्त्र नहीं उठाऊंगा। व्यङ्ग्यार्थ है कि आप हैं ब्राह्मण होने से अशक्त, आप पर हम शस्त्र क्या उठायें। पुनः जब परशुराम कहते हैं कि कौन वीर है, इसका निर्णय तो संग्राम-तुला ही कर देगी, तब राम उत्तर देते हैं—महाराज, आपकी हमारी तुलना क्या, आप ठहरे बलियों के शिरोमणि और हम हैं हीनबल :

भो ब्रह्मन् भवता समं न घटते संग्रामवार्तापि नः
सर्वे हीनबला वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि।
यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभृता—
मस्माकं भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्॥ प्र० ४.२५

लक्ष्मण के इस दुर्विनय से परशुराम और भी प्रकुपित हो उठते हैं और कहते हैं कि यह तो विषकण्ठ है। इस पर लक्ष्मण फिर उपहास करते हैं—'**भगवन्, शितिकण्ठशिष्येण विशेषतः क्षन्तव्यम्।** व्यङ्ग्यार्थ है कि मैं विषकण्ठ (महादेव) हूँ, तो आप हुए मेरे शिष्य। परशुराम गर्वोक्ति करते हैं—'मेरे इस परशु को नहीं जानते? इसने क्षत्रियों के कण्ठ के रुधिर से भूमि को नीरेणुका (धूलिरहित) कर दिया था। इस पर लक्ष्मण फिर चिढ़ाते हैं—भगवन्, ठीक ही तो है, आपके कुठार की धार से भूमि नीरेणुका हुई थी। संकेत है परशुराम के अपनी माता रेणुका के वध रूपी जघन्य कृत्य की ओर।

जब पुनः पुनः परशुराम अपनी इक्कीस बार क्षत्रियों के संहार की यशोगाथा गाते हैं, तब राम उन्हें कैसा करारा उत्तर देते हैं :

---

६. प्र० ४.२३

प्रसीद त्वं रोषाद् विरम कुरु मे चेतसि गिरं
चिरं यच्चायासैर्बहुभिरिह वारैर्जितमभूत् ।
यशोवृत्तं वित्तं कितव इव विक्षोभतरलं
तदेतस्मिन् वारे भृगुतिलक मा हारय मुधा ।। प्र० ४.३५

ऋषि के प्रति अविनय का राम से जो अपराध हुआ उसका भी अन्त में कवि ने विजयी राम को अतिशय विनयी प्रदर्शित कर परिमार्जन कर दिया है ! वे अंजलि बांध क्षमायाचना करते हैं :

चण्डमेव किल तिग्मरोचिषः सौम्यमेव किल शीतरोचिषः ।
चण्डसौम्यमिति कौतुकावहं नौमि तावकमहं महन्महः ।। प्र० ४.४७

यह सारा अंक राम, लक्ष्मण, परशुराम, जनक आदि की उत्तेजक उक्ति-प्रत्युक्तियों से बहुत सजीव बन पड़ा है । रामायण में परशुरामगर्वमर्दन की घटना का यह रूप नहीं है । वहां परशुराम धनुर्भंगस्थल में नहीं आते, अपितु राम, दशरथ आदि के अयोध्या लौटते समय मार्ग में मिलते हैं । उनके आने पर आंधी आना आदि उत्पात अवश्य हुए हैं, पर यहां संवाद में कोई विशेषता नहीं है । केवल दशरथ तथा राम कुछ बोले हैं, लक्ष्मण बीच में नहीं आये, और जनक तो वहां थे ही नहीं । कवि की कल्पना ने इस घटना को सर्वथा नवीन रूप देकर अत्यन्त आकर्षक, कौतूहलवर्धक तथा सजीव बना दिया है । तुलसी ने अपनी रामायण में यह प्रसंग यहीं से उधार लिया है ।

पंचम अंक में गंगा, यमुना, सरयू, हंस, गोदावरी एवं सागर के वार्तालाप द्वारा कवि ने कक्रेयी की वर-याचना, राम-वनवास, दशरथ-मरण, वन-यात्रा, मारीच्-वध, सीताहरण, जटायु-मरण, बालि-वध, सुग्रीवाभिषेक आदि वृत्तान्त सूचित किये हैं । कवित्व की दृष्टि से कतिपय प्रसंग अत्यन्त रुचिर हैं ।

मल्ली-मुकुलसदृश-मोटे-मोटे आंसू गिराते हुए लक्ष्मण का राम की जटाएं बांधना तथा वनगमन के समय राम के पीछे-पीछे जाती हुई सीता के किसलय-तुल्य कोमलचरणों को देख बन्धुजनों का अश्रु बहाना बड़े ही करुणोत्पादक हैं[७] । मातुल-कुल से लौटने पर भरत का माता कैकेयी के साथ हुआ संवाद कवि ने एक ही श्लोक में कैसी कुशलता से निवद्ध कर दिया है :

मातस्तातः क्व यातः ? सुरपतिभवनं, हा कुतः ? पुत्रशोकात्,
कोऽसौ पुत्रश्चतुर्णां ? त्वमवरजतया यस्य जातः, किमस्य ?
प्राप्तोऽसौ काननान्तं, किमिति ? नृपगिरा, किं तथासौ बभाषे ?
मद्वाग्बद्धः, फलं ते किमिह ? तव धराधीशता, हा हतोऽस्मि । प्र०५.१८

वनयात्रा में मृगों तथा यवांकुरों के प्रति सीता का सदय व्यवहार भी देखने योग्य है । राम के धनुष से हरिण को भयभीत देख करुणार्द्र चित्ता सीता धनुष को अपने आंचल से ढक लेती है और कानों में लटकाने के लिए क्यारियों में से यवांकुर बड़ी सदय होकर तोड़ती है :

---

७. प्र० ५.१२, १४

भीतं विलोक्य हरिणं करुणार्द्रचित्ता
पत्युर्निजेन पिदधे धनुरंशुकेन ।
केदारसीम्नि सदयं च यवप्ररोह—
मादाय साधु विदधे श्रवणावतंसम् ॥ प्र० ५.२३

सूर्य की प्रखर किरणों से अतिशय तप्त पथ पर चलती हुई वह प्रिय के कुवलयदलदाम-तुल्य श्यामल अंगों को निहारती हुई सब संताप भूल जाती है :

अपि तपति पतङ्गे चण्डचण्डैर्मयूखैः
पथि जनकतनूजा नैव सन्तापमाप ।
अपरिचितनिमेषालोकमालोकयन्ती
कुवलयदलदामश्याममङ्गं प्रियस्य ॥ प्र० ५.२६

जानकी जब चलते-चलते श्रान्त हो जाती है तब राम प्रणय-माधुर्य के साथ वल्कलांचल से पंखा करके उसके श्रम को दूर कर देते हैं, और जब राम थक जाते हैं तब जानकी अपने लोचनांचल से निहार उनकी थकान मिटा देती है । विनिमय की कैसी कमनीयता है ।

कान्तेनाथ प्रणयमधुरं किञ्चिदाचञ्चलेन
श्रान्ता श्रान्ता जनकतनया वल्कलस्यांञ्चलेन ।
चक्रे वीतश्रमजलकणस्निग्धमुग्धाननश्रीः
श्रान्तः श्रान्तः स पुनरनया लोचनस्याञ्चलेन ॥ प्र० ५.२८

षष्ठ अंक में राम के विप्रलंभ का पोषण चामत्कारिक है, जब वे उन्मत्त से होकर चन्द्र, चकोर, तरंगिणी, भ्रमर, चक्रवाक आदि से सीता के विषय में पूछते हैं तथा उत्तर न पा आकुल होते हैं । रत्नशेखर के इन्द्रजाल द्वारा लंकानुभूत वृत्त का प्रदर्शन भी कवि की एक नूतन कल्पना है । इससे जहां सीता की असह्य विरह दशा का, रावण द्वारा प्रलोभन देने का, सीता की अपने प्रति अचल भक्ति का एवं दूत हनुमान् के अलौकिक कार्यों का राम ने अपनी आंखों से दर्शन कर लिया है, वहां साथ ही राम की असह्य वेदना का भी परिचय कराने का कवि को अवसर मिल गया है ।

इन्द्रजाल में सीता की वाणी सुनकर राम तुरन्त उसे पहचान लेते हैं और कहते हैं, यह तो प्रियतमा का ही समालाप है :

परिमितकमनीयः कोमलो वाग्विलासः
सरसमधुरकाकुस्वीकृता कापि लेखा ।
ध्वनिरपि च विपञ्चीपञ्चमस्यानुवादी
श्रुतिरपि कलकण्ठीकण्ठसंवादभूमिः ॥ प्र० ६.१४

कैसी सुन्दर सूक्ति है । पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो साक्षात् सीता की मधुर वाणी ही सुनाई दे रही हो ।

रावण की प्रणय-याचना को ठुकराते हुए सीता ने क्या ही अच्छा कहा है —

अपि खद्योतभासापि समुन्मीलति पद्मिनी। रावण कहता है कि मेरे खड्ग रूपी काल भुजंग से बचने की एकमात्र औषध तुम्हारे कंठ में मेरा भुजाश्लेष ही है। सीता का साहसिक उत्तर भी देखने योग्य है :

विरम विरम रक्षः किं मुधा जल्पितेन
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः।
रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्ते—
र्दशमुख भवदीयान्निष्कृपाद्‌ वा कृपाणात्।। प्र० ६.३०

सीता आत्मदाह के लिए अशोक तरु से अंगारे की याचना करती है। कहती है कि तुम तो विरहियों के संताप के लिए नवपल्लवों के बहाने से अग्नि-शिखाओं को उत्पन्न किया करते हो, फिर मैं तो तुमसे अग्नि की केवल एक कणिका ही मांग रही हूँ। सचमुच सीता के सामने एक अंगारे सी चमकती वस्तु आकर गिर पड़ती है। सीता यह देख चकित रह जाती है कि यह तो राम की रत्नमुद्रिका है। उसे अपनी जैसी अभागिन बताती हुई वह कहती है :

या शैशवादपि मनोरमरामचन्द्र—
हस्ताङ्गुलिप्रणयिनी सुभगा सुवृत्ता।
अन्येव सा जनकराजसुता कथं नु
लङ्कामुपागतवती मणिमुद्रिकेयम्।। प्र० ६.३८

मुझ जैसा खोटा भाग्य संसार में और किसका हो सकता है। अतः यह रत्नमुद्रिका मानों दूसरी जानकी ही है। कहां तो शैशव से ही मनोरम रामचन्द्र की हस्तांगुलि से प्रणय का सुख, और कहां निशाचरों की लंका में आने का हतभाग्य।

हनुमान् द्वारा सीता के प्रति कहे हुए राम के इस संदेश में कैसी वेदना छिपी है— "तुम्हारे विरह में मुझे शीतल चन्द्र दाहक सूर्य प्रतीत हो रहा है। नवीन मेघ दावानल लग रहा है। नदियों की तरगों से संसृष्ट होकर आने वाली ठंडी वायु क्रुद्ध सर्प की फुंकार सी अनुभव हो रही है। नवपुष्पित मल्ली लता नोकीली भल्ली का काम कर रही है। नीलोत्पल-वन कुंतों का समूह बन रहा है।"

हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहनः
सरिद्वीचीवातः कुपितफणिनिःश्वासपवनः।
नवा मल्ली भल्ली कुवलयवनं कुन्तगहनं
मम त्वद्विश्लेषात् सुमुखि विपरीतं जगदिदम्।। प्र० ६.४३

सीता का प्रतिसंदेश भी चामत्कारिक है। छोटा होते हुए भी उसमें बहुत कुछ आ गया है, विरह-जनित दशा भी और राम के प्रति भक्ति तथा उनसे मिलन की आतुरता भी। साथ ही विरोधालंकार का सौन्दर्य भी है :

[८]**बहलगलन्नयनजलनिर्झरपर्याकुलापि मम दृष्टिः।**
तव सुभग वदनशशधरलावण्यरसं पिपासति।। प्र० ६.४५

---

८. प्राकृत श्लोक की संस्कृत छाया।

सप्तम अंक में युद्ध का दृश्य उपस्थित होता है। उससे पूर्व रावण की मनःस्थिति का चित्रण हमारे संमुख आता है। विभीषण के विपरीत रावण की मान्यता है कि वे लोग भीरु हैं जिनकी दृष्टियां पर-स्त्रियों के कुचकुंभों पर तथा शरवृष्टियां शत्रुओं के हाथियों पर नहीं पड़तीं। अतः सीता उसके हृदय में समायी हुई है :

राजल्ललाटफलका कमनीयकूजत्—
काञ्चीगुणप्रणयिनी धृतकेशपक्षा।
हा किं करोमि मम सा हृदयं प्रविष्टा
नाराचयष्टिरिव पुष्पशिलीमुखस्य॥ प्र० ७.८

इस प्रसंग में एक चित्रपट की नवीन कल्पना की गई है। माल्यवान् अपने सेवक करालक के हाथ सीताविरह से व्याकुल रावण के मनोविनोद के लिए चित्रपट भेजता है। वस्तुतः वह मनोविनोदार्थ होने की अपेक्षा रावण के मन में सुमति जागरित करने के लिए ही अधिक है। उसमें धनुष-धारी राम-लक्ष्मण, शरणागत समुद्र और विभीषण, वानर-सैन्य, सेतुबन्ध आदि चित्रित हैं। पर रावण उसे चित्रकार की चातुरी-मात्र कहकर उपेक्षित कर देता है। कपि-वीरों का कोलाहल सुन उसके प्रतिकार की वह कोई आवश्यकता नहीं समझता। उसकी मनोवृत्ति कवि ने निम्न शब्दों में व्यक्त की है :

कोलाहलेनोल्लसता कपीनां मनो मदीयं मुदमेव धत्ते।
मन्दोदरीभूषणनूपुराणां महामणीनामिव शिंजितेन॥ प्र० ७.१४

युद्ध की दुन्दुभि बज उठती है। रणक्षेत्र में वीररस क्रीडा करने लगता है। दोनों पक्षों के विजय-घोष कर्णकुहरों में प्रवेश करते हैं। राम के साथ कुंभकर्ण तथा लक्ष्मण के साथ मेघनाद भिड़ जाता है :

रामेण सार्धमयमुद्धतबाहुदर्पः संग्रामभूमिमधितिष्ठति कुंभकर्णः।
रक्षःशिखण्डिहृदयोत्सवमेघनादः सौमित्रिणा सममसावपि मेघनादः॥
प्र० ७.२३

रावण का भी चन्द्रहास चाकचक्य करने लगता है :

भिन्नप्रभिन्नसुरकुञ्जरकुम्भमुक्तमुक्ताफलैर्विचलितैः कलिताधिवासः।
अद्यैव खेचरनिशाचरलोचनानामुन्मीलयन्मुदमुदञ्चति चन्द्रहासः॥ प्र० ७.२७

रावण राम के नील नामक वीर वानर को पकड़ लेता है। उसका कविकृत वर्णन कैसा कौतूहलोत्पादक है। नीलवर्ण वह वानर दशमुख के एक हाथ से दूसरे हाथ पर उछलता हुआ इतस्ततः घूमते हुए भ्रमर जैसा शोभित हो रहा है, और उसके दसों मुकुटों में से कभी इस पर और कभी उस पर कूदता हुआ इन्द्रनील मणि की शोभा को प्राप्त कर रहा है।

नीलोऽयं दशमुखपाणिपङ्कजानापङ्क्तेषु भ्रमरतुलां भ्रमन् बिभर्ति।
अप्येको दशसु किरीटपीठिकासु द्राक् प्रेंखन्ननुभवतीन्द्रनीललीलाम्॥ प्र० ७.२७

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का क्रन्दम बड़ा ही द्रावक है। रावण का रणोत्साह भी दर्शनीय है। राम के बाणों से उसके पहले-पहले सिर कटते जाते हैं और नये-नये निकलते हैं। कटे हुए दस सिरों को एक-एक करके अपने दस हाथों से पकड़ता है और शेष दस हाथों से उछाल कर फेंक देता है।

धनुर्निस्त्रिंशादिप्रहरणगणच्छेदकुञ्चितो
दशास्यः स्वान्मूर्ध्नो रघुपतिशरश्रेणिदलितान्।
करैरेकैरेकैर्नभसि भृशमादाय युगपत्
क्षिपन्नन्यैरन्यैः सफलयति दोर्विंशतिमपि॥ प्र० ७·४६

अन्त में राम विजयी होते हैं। जो रावण पराग से भूषित हो चन्द्रकान्त मणियों के पलंग पर फूलों की सेज के ऊपर लीलापूर्वक सोता था, वहीं राम के रोषारूढ़ होने पर धूलिधूसरित हो भूमि पर लोटने लगता है:

विकचकुसुमस्तोमाकीर्णे परागविभूषितः
शशिमणिशिलातल्पेऽनल्पे सलीलमशेत यः।
अयमयमसौ रोषारूढे क्षरू रघुनन्दने
भुवि दशमुखः शेते धूलिच्छटापरिधूसरः॥ प्र० ७.५२

सीता राम को प्राप्त हो जाती है। देवों का कार्य भी संपन्न हो जाता है। पुष्पक-विमान से अयोध्या पहुँच वे बन्धुजनों तथा पौरजनों से सानन्द मिलते हैं। राघव पूर्णकाम हो प्रसन्न हो जाते हैं। इस प्रकार प्रायः सभी प्रसंगों में कवि का कवित्व अपनी मनोहारिता को प्रदर्शित कर रहा है।

३. प्रकृति-चित्रण

संस्कृत कवियों के काव्यों में प्रकृतिचित्रण का वैचित्र्य अतिशय मनोमोहक है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर अब तक के प्रायः सभी कवियों ने अपने-अपने काव्यों में प्रकृति के विभिन्न रूपों को चित्रित किया है। कहीं वे सौदामिनी की चंचल रेखा से युक्त श्याम बलाहकों का वर्णन करते हैं, तो कहीं वर्षा से स्नात पुष्पित हरित तरुओं का। कहीं हिमधवल पर्वतराजि के उत्तुंग शिखरों का चित्रण करते हैं, तो कहीं कल-कल बहती हुई नदियों की धाराओं का। कहीं उनके काव्य में चन्द्र-तारकों से स्मित करती हुई निशा का वर्णन है, तो कहीं लालिमामयी उषा का। कहीं भाल पर अस्तोन्मुख सूर्य की कुंकुम-बिन्दी लगाए सन्ध्या का चित्रण है, तो कहीं निविड नैश अन्धकार का। कहीं उत्ताल तरंगों वाली सरिताओं के संगम का वर्णन है, तो कहीं ऋषियों के सुषमामय आश्रमों का।

संस्कृत कवियों के प्रकृति-वर्णनों को कई श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ चित्रण स्वभावोक्तिपूर्ण शैली के होते है, जिनमें कवि जैसा देखता है वैसा ही कुशलता के साथ वर्णन कर देता है, अपनी कल्पना आदि का समावेश नहीं करता। दूसरे चित्रण ईषदलंकारमयी शैली के होते हैं, जिनमें कवि प्राकृतिक सौन्दर्य को उपमा, रूपक आदि अलंकारों की पुट से अलंकृत कर प्रकट करता है। तीसरे

कल्पना-प्रधान शैली के चित्रण होते हैं, जिनमें कवि प्रकृति-चित्रण को अपनी कल्पना की तूलिका से रंगकर इस रूप में उपस्थित करता है कि चित्रण की अपेक्षा कल्पना-सौन्दर्य ही विशेष मुखरित हो रहा होता है। चौथे शब्दचित्रमय शैली के चित्रण होते हैं, जिनमें कवि का ध्यान भाषा को यमक आदि के वैचित्र्य से अलंकृत करने में ही प्रधान रूप से रहता है।

कोई भी कवि इनमें से किसी एक ही शैली का अनुगामी नहीं होता, किन्तु यथास्थान वह विभिन्न शैलियों को अपनाता है। वैदर्भी रीति के कवियों में स्वाभाविक चित्रण की कला अधिक पायी जाती है। साथ ही वे प्रकृति-कामिनी को मृदु कल्पनाओं तथा अलंकारों के परिधान एवं आभूषणों से सुसज्जित करके भी प्रस्तुत करते हैं। उत्तरवर्ती अलंकृत शैली के कवियों मे दूर-कल्पना एवं शब्दचित्रमयता का प्रयोग अधिक मिलता है।

जयदेव के प्रकृति-चित्रण उपर्युक्त शैलियों में से अधिकतर द्वितीय और तृतीय श्रेणी के हैं। ये प्रकृति की रमणीयता को अपनी अलंकारप्रियता तथा कल्पनावैभव की चमत्कृति से अनुरंजित कर प्रस्तुत करते हैं। पर कहीं-कहीं इन्होंने अपनी स्वभावोक्तिपूर्ण चित्रण की कुशलता भी प्रदर्शित की है[९]।

वसन्त-सुषमा—द्वितीय अंक में राम और लक्ष्मण मिथिला के उपवन में पहुँचते हैं। मधुमास-लक्ष्मी के अवतार से निसर्ग-रमणीय उपवन नितान्त रमणीय हो उठा है। राम उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि मल्ली-मधु का पान किये हुए भ्रमरियों की मधुर गुंजार कैसी सुहावनी लग रही है। अशोक वृक्ष की मंजरी सलील नर्तन कर रही है, मानो दक्षिण पवन से नृत्यकला की शिक्षा ले रही हो।

> **इह मधुपवधूनां पीतमल्लीमधूनां**
> **विलसति कमनीयः काकलीसम्प्रदायः।**
> **इह नटति सलीलं मञ्जरी वञ्जुलस्य**
> **प्रतिपदमुपदिष्टा दक्षिणेनानिलेन॥** प्र० २.३

वसन्त-समीरण मन्द-मन्द क्यों चल रहा है, इस पर राम उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह कन्दर्पराज के आदेश से मलयाचल से कैलास तक भुवनवलय को जीतने चला है, पर कैलास-शिखर पर निवास करने वाले भुजंगधारी महादेव को स्मरण कर भयभीत हो रहा है, क्योंकि भुजंग पवनाशी होते हैं। यही उसके मन्द-मन्द चलने का कारण है।

> **मलयशिखरादाकैलासं मनोभवशासनाद्**
> **भुवनवलयं जेतुं वाञ्छन् वसन्तसमीरणः।**
> **विहितवसतिं कैलासाग्रे भुजंगधरं हरं**
> **मनसि विमृशन् भीतः शङ्के प्रयाति शनैः शनैः॥** प्र० २.४

लक्ष्मण दूसरा ही कारण उत्प्रेक्षित करते हैं। वसन्त-समीरण ने मधुसीकर-

९. द्रष्टव्य : प्र० ५.२१,२२

स्रावी कुसुमनिकर को बरसाने वाली लता-सुन्दरियों की अर्चना स्वीकार करने के लिए अपनी गति मन्द कर दी है। दूसरे यह कि वह हरिण पर सवार है, और हरिण मधुकर-वधुओं के गीत में आसक्त होने के कारण मन्द चाल से चल रहा है।

पथि पथि लतालोलाक्षीभिः स्रवन्मघुसीकरं
कुसुमनिकरं वर्षन्तीभिः सहर्षमिवार्चितः।
मधुकरवधूगीतासक्तं कुरंगकमास्थितः
प्रसरति वने मन्दं मन्दं वसन्तसमीरणः॥ प्र० २.५

मद-कल कलहंसों से शोभायमान श्वेतकमलराजि-राजित सरसी को देख राम का चित्त सरस हो उठता है :

अये, इयमसौ मदकलकलहंसोत्तंसितसरोजराजिराजिता सरसी सरसीकरोति मे चेतः।

वसन्त के आगमन पर वासन्ती-लता कुसुमित हो गई है। भ्रमर उसके सुन्दर रस-बिन्दु का पान कर रहें हैं, और अपने चिर-मन्दिर अरविन्द को धीरे-धीरे छोड़ते जा रहे हैं :

वासन्तीरसबिन्दुं सुन्दरमिन्दिन्दिरा इहि चरन्ति।
चिरमन्दिरमरविन्दं मन्दं मन्दं परिहरन्ति॥ प्र० २.१८

भ्रमर कामदेव की पत्नी के नूपुर-रव के सदृश रमणीक गुंजार करते हुए भ्रमण कर रहे हैं और उनके मुख आम्रमंजरी के मकरन्द से मधुर हो रहे हैं :

मदनवधूनूपुररवरमणीयं किमपि किमपि कूजन्।
माकन्दमुकुल-मधुरस-मधुरमुखो मधुकरो भ्रमति॥ प्र० २.२४

सूर्योदय

प्रसन्नराघव के तृतीय तथा सप्तम अंकों में सूर्योदय का चित्रण हुआ है। तृतीय अंक में विश्वामित्र राम को कहते हैं कि देखो, चकवा-चकवियों के हृदय को आश्वासन देने के लिए, तारागण को ग्रसने के लिए, स्फुरित चन्द्रमण्डल का परिहास करने के लिए, दिशारूपी कान्ताओं के कुचकुंभों पर कुंकुम की लाली रचने के लिए, कमलों के उल्लास के लिये और प्रस्फुटित कुमुद-वनों के त्रास के लिये यह प्रभानिधि सूर्य विद्योतित हो रहा है :

एतत् तर्कय चक्रवाकहृदयाश्वासाय तारागण-
ग्रासाय स्फुरदिन्दुमण्डलपरीहासाय भासां निधिः।
दिक्कान्ताकुचकुंभकुङ्कुमरसन्यासाय पङ्केरुहो-
ल्लासाय स्फुटवैरिकैरववनत्रासाय विद्योतते॥ प्र० ३.२

सूर्योदय होने पर कमलों के विकास को कवि लक्ष्मण के मुख से रूपकसंकीर्ण उत्प्रेक्षा द्वारा इस रूप में प्रकट करता है कि ज्यों ही प्रभातकाल रूपी व्यापारी सूर्यबिम्ब रूपी रत्न को समुद्र से निकाल कर बेचने के लिये आकाश रूपी पण्यवीथि में

रखता है, त्यों ही पद्म-सरोवर रूपी जौहरी मानो उसका उचित मूल्य लगाने के लिये लक्ष्मी से युक्त अपने पंकज रूपी हाथ को फैला देता है[१०]।

सप्तम अंक में लंकाविजय के पश्चात् राम, लक्ष्मण, सीता, सुग्रीव, विभीषण आदि पुष्पक विमान पर आरूढ हो अयोध्या की ओर आ रहे हैं। वहीं से वे चन्द्रमा के अस्त होने का दृश्य देखते हैं। कालिदास ने इस दृश्य के इस रूप में दर्शन किये थे :

> यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
> माविष्कृतोऽरुणपुरस्सर एकतोऽर्कः।
> तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां
> लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु॥ शा० ४.२

जयदेव के राम रसिक है। वे कहते हैं कि चन्द्रांशु बुढ़ापे से जर्जर होकर मानों तप करने पश्चिमपयोधि के तीर पर पहुँच गये हैं, और सूर्य के तरुणाई से युक्त कर कमल-वनी के दृक्पात से संमानित होते हुए प्राची में राग (अनुराग तथा लालिमा) को प्रकट कर रहे हैं :

> एते केतकधूलिधूसररुचः शीतद्युतेरंशवः
> प्राप्ताः संप्रति पश्चिमस्य जलधेस्तीरं जराजर्जराः।
> अप्येते विकसत्सरोरुहवनीदृक्पातसंभाविताः
> प्राचीरागमुदीरयन्ति तरणेस्तारुण्यभाजः कराः॥ प्र० ७.८१

लक्ष्मण भी पीछे नहीं रहते। वे अपह्नुति और उत्प्रेक्षा का चमत्कार उत्पन्न करते हुए कहते हैं कि कान्ति के देव सूर्य ने चकवे-चकवियों को मिलाने के बहाने से दिशा रूपी कन्याओं के स्तनयुगल उभार दिये हैं, जिससे उनके यौवन की आभा प्रकट होने लगी है। साथ ही इसने मुंदी कमलिनियों के अन्दर बन्द भृंगावली को, जो मानो उनकी दुर्दैव की सूचक काली अक्षरमाला थी, एक ही झटके में वाहर निकाल कर कमलिनियों की शोभा को विस्तीर्ण कर दिया है :

> सद्यः संघटमानकोकमिथुनव्याजेन पीनस्तन-
> द्वन्द्वव्यंजितयौवनोज्ज्वलरुचो निर्माय दिक्कन्यकाः।
> दुर्दैवाक्षरमालिकामिव झगित्याकृष्य भृङ्गावलीं
> लक्ष्मीमम्बुजिनीजनस्य कुरुते देवस्त्विषामीश्वरः॥ प्र० ७.८२

राम और लक्ष्मण के साथ सुग्रीव तथा विभीषण भी सूर्य-वर्णन में रुचि लेते हैं। सुग्रीव मालारूपक का सौन्दर्य लाते हुए कहते हैं कि ये सूर्य-किरण निशाराक्षसी को छूमन्तर कर देने वाले मन्त्र-पाठक हैं, सोये हुए पंकज-वनों को जगाने वाले वैतालिक हैं, और प्रफुल्ल पंकजों के गर्भ से प्रादुर्भूत भृंगावली को गुंजार रूपी प्रणव का उपदेश करने वाले आचार्य हैं :

---

१०. प्र० ३.४

उन्मीलन्ति निशानिशाचरवधूनिर्वासनामान्त्रिकाः
सायं सालससुप्तपङ्कजवनप्रोद्बोधवैतालिकाः ।
फुल्लत्पङ्कोशगर्भकुहरप्रोद्भूतभृङ्गावली-
भाङ्कारप्रणवोपदेशगुरवस्तीव्रद्युतेरंशवः ॥ प्र० ७.८३

विभीषण की कल्पना भी अनूठी है । यह सूर्य क्या है, मानो आती हुई दिवस-लक्ष्मी के चरणस्पर्श से आकाशरूपी अशोकवृक्ष में लाल-लाल कलियों का गुच्छा निकल आया है, अथवा दिशारूपी सुन्दरियों का यह कर्णभूषण है :

आयान्त्या दिवसश्रियः पदतलस्पर्शानुभावादिव
व्योमाशोकतरोर्नवीनकलिकागुच्छः समुज्जृम्भते ।
आतन्वन्नवतंसविभ्रममसावाशाकुरङ्गीदृशा-
मुन्मीलत्तरुणप्रभाकरकरस्तोमः समुद्भासते ॥ प्र० ७.८४

राम सीता से कहते हैं कि देखो, ये सूर्य-किरण दिग्वधुओं के ऊपर कुंकुमजल की पिचकारी छोड़ रहे हैं और कमलवन-श्री के साथ अठखेलियाँ कर रहे हैं :

दीप्तांशोर्विकसन्ति दिङ्मृगदृशां काश्मीरपङ्कोदक-
व्यात्युक्षीचतुराः सरोरुहवनश्रीकेलिकाराः कराः ॥ प्र० ७.८५

पुनः वे कहते हैं कि देखो, जभी राग में भरा सूर्य अपने कर से कमलिनी की कमल-मुकुल रूप नीविग्रन्थि को ढीला करता है, तभी वह भी भ्रमरगुंजार रूप मंजु शब्द करती हुई उसे प्रमुदित कर देती है :

शिथिलयति सरागो यावदर्को नलिन्याः
कमलमुकुलनीवीग्रन्थिमुद्रां करेण ।
प्रविकसदलिमाला गुञ्जितैर्मञ्जुशब्दा
जनयति मुदमुच्चैः कामिनां कामिनीव ॥ प्र० ७.८६

सीता राम की इस कल्पना को सुन हंस पड़ती है, और अपनी ओर से नारी-जनोचित शालीनता के साथ इतना ही वर्णन करती है :

[११]पूर्वगिरिपद्मरागः प्रकटीकृतनयनशीतलस्वभावः ।
कुंकुमकृतांगरागो नलिनीजनवल्लभो देवः ॥ प्र० ७.८७

राम की दृष्टि में एक सूर्य प्राची-सुन्दरी के भाल का कुकुम-तिलक है, उदयाचल के मुकुट का माणिक्य है । त्रिभुवन रूप गृह का एकमात्र दीप है तथा लोकों का अद्वितीय लोचन है :

प्राचीकुंकुमतिलकं पूर्वाचलशेखरैकमाणिक्यम् ।
त्रिभुवनगृहैकदीपं वन्दे लोकैकलोचनं देवम् ॥ प्र० ७.९०

सन्ध्या एवं सूर्यास्त

सन्ध्या में कवि पतिंवरा नायिका के दर्शन करता है । जैसे राग (अनुराग) में भरी हुई, नेत्र-तारकों की शोभा प्रदर्शित करने वाली कोई पतिंवरा नायिका सुधा

---

११. प्राकृत श्लोक की संस्कृतछाया ।

के अगार नायक के अन्दर रुचि (प्रणय) को उत्पन्न करती है, वैसे ही राग (लालिमा) से युक्त, तारों की श्री प्रकट करने वाली यह सन्ध्या सुधाकर (चन्द्र) में रुचि (कान्ति) का विस्तार कर रही है :

मुग्धस्य केलिविजितस्मरचापयष्टे—
रातवन्ती रुचिमतीव सुधाकरस्य ।
रागोद्धुरा स्फुटमुदञ्चिततारकश्रीः
सन्ध्याविरस्ति ननु काऽपि पतिवरेव ।। प्र० २.३१

अरविन्दों के बन्धु भगवान् सूर्य अम्भोनिधि के गर्भ में प्रवेश कर रहे हैं। मानों सकल त्रिलोकी के कमलों को प्रबुद्ध कर चुकने के पश्चात् अब समुद्रशायी विष्णु जी के नाभिसरोज को विकसित करने के लिए वे उत्कण्ठित हुए हैं :

कृत्वा प्रबुद्धकमलामखिलां त्रिलोकी—
मम्भोनिधेर्विशति गर्भमसाविदानीम् ।
अन्तःप्रसुप्तहरिनाभिसरोजबोध—
कौतूहलीव भगवानरविन्दबन्धुः ।। प्र० २.३२

सूर्य अस्त हो रहा है, चन्द्र उदित हो रहा है। प्राची में घना अन्धकार व्याप्त हो गया है, प्रतीची में चन्द्र-किरणों का समूह छा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों आकाश एक आंगन है, जिसमें आधे में श्याम प्रस्तर तथा आधे में श्वेत-प्रस्तर जड़ दिये गये हैं, अथवा आकाश में गंगा-यमुना के प्रवाह का संगम हो रहा है।

प्राचीमालम्बमाने घनतिमिरचये बान्धवे बन्धकीनाम्
सम्प्राप्ते च प्रतीचीं शशिकरनिकरे वैरिणि स्वैरिणीनाम् ।
अर्धश्यामोपलार्धस्फटिकमिव दिशामन्तरालं विधत्ते
कालिन्दीजह्नुकन्यामिलदमलजलस्यन्दसन्दोहमैत्रीम् ।। प्र० २.३३

आकाश में गंगा-यमुना का संगम तो प्राचीन कवि भी कराते रहे हैं,[१२] किन्तु आकाश-प्रांगण को श्याम तथा श्वेत प्रस्तरों से जटित कर कवि ने उसमें एक नूतनता उत्पन्न कर दी है।

अब भगवान् अम्बर-मणि पश्चिम पयोधि-वेला पर पहुंच गये। कस्तूरी के समान कान्ति वाले, आकाश को मीलित कर देने वाले अन्धकार दिक्कन्दरों में विलसित होने लगे हैं, जिनकी श्यामल कान्ति उन भ्रमरसमूहों जैसी है जो उद्दाम दिग्गजों के चंचल कर्णभूषणों से उनके गण्डस्थलों की ओर मदपान करने के लिए उड़ रहे हों।

---

१२. यथा : नलचम्पू ६·१

उदयगिरिगतायां प्राक्प्रभापाण्डुतायामनुसरति निशीथे शृंगमस्ताचलस्य ।
जयति किमपि तेजः साम्प्रतं व्योममध्ये सलिलमिव विभिन्नं जाह्नवं यामुनं च ।।

उद्दामदिग्द्विरदचञ्चलकर्णपूर—
गण्डस्थलोच्चलदलिस्तबकाकृतीनि ।
मीलन्नभांसि मृगनाभिसमानभांसि
दिक्कन्दरेषु विलसन्तितमां तमांसि ।। प्र० ७.५४

यहां कवि ने सूर्यास्त के पश्चात् आकाश में व्याप्त होने वाले अन्धकार की उपमा कस्तूरी तथा दिग्गजों का मदपान करने वाले कृष्ण मधुकरों से दी है ।

चन्द्रोदय

चन्द्र-वर्णन में कवि ने विशेष रुचि प्रदर्शित की है। द्वितीय अंक में राम चन्द्रोदय होने पर सहर्ष उसकी ओर अंगुली दिखाते हुए कहते हैं कि यह सुधांशु-मंडल चक्रवाकियों के मन का शल्य है, चकोरिओं के बन्द चंचुकोटि-कपाटों को खोलने वाली कुंजी है, दग्ध हुए स्मरतरु का नवीन अंकुर है और प्रियतमाओं के मानरूपी उद्दाम गज का अंकुश है :

एतत् कोककुटुम्बिनीजनमनःशल्यं चकोरांगना—
चञ्चूकोटिकपाटयोर्घटितयोरुद्घाटिनी कुंचिका ।
दग्धस्यापि नवांकुरस्मरतरोरार्द्रागसां प्रेयसी—
मानोद्दामगजांकुशो विजयते मुग्धं सुधांशोर्वपुः ।। प्र० २.३४

यह सुन लक्ष्मण से भी रुका नहीं जाता। वे और भी चारुता के साथ रूपक-भंगी से चन्द्र-वर्णन में प्रसक्त हो जाते हैं । यह चन्द्र क्या है ? गगन रूपी कमलिनीपत्र पर स्थित पानी की बूंद है । इसका यह जगद्भूषण खंड शिव जी के सिर पर विद्यमान आकाश-गंगा का मृणाल है, पुंजीभूत कर्पूरचूर्ण है, या कन्दर्पवधू का सीधुपात्र है :

कल्लोलक्षिप्तपङ्क्तत्रिपुरहरशिरः स्वःस्रवन्तीमृणालं
कर्पूरक्षोदजालं कसुमशरवधूसीधुभृङ्गारनालम् ।
एतद्दुग्धाब्धिबन्धोर्गगनकमलिनीपत्रपानीयबिन्दो—
रत्नस्तोषं न केषां किसलयति जगन्मण्डनं खण्डमिन्दोः ।। प्र० २.३५

पर कवि की तृप्ति इतने से ही नहीं होती । सप्तम अङ्क में उसने पुनः चन्द्रोदय का प्रसंग प्रस्तुत किया है, तथा अधिक विस्तार के साथ । सुग्रीव, विभीषण, लक्ष्मण, राम, सीता सब चन्द्रवर्णन में मग्न हैं, मानों लङ्काविजय तथा सीता-मिलन के हर्ष में कवि-गोष्ठी हो रही हो ।

सुधांशु उदित हो रहा है । उसकी किरणें क्षीराब्धि की लहरों पर फेन सी धवल भासित होती, चन्द्रकांत मणियों मे जल प्रवाहित करती, विकासी कुमुद के क्रोड में पराग सी गौर लगती, चकोर की चोंच में कटती-जुड़ती, एवं प्रिय-वियुक्त रमणी के गात्र में चमत्कार उत्पन्न करती उन्मीलित हो रही हैं :

क्षीराब्धेर्लहरीषु फेनधवलाश्चन्द्रोपलेषु स्रुवत्—
पाथःशीकरिणो विकासिकुमुदक्रोडे रजःपिञ्जराः ।
उन्मीलन्ति चकोरचञ्चुगहने छिन्नप्ररूढाश्चमत्—
कुर्वन्तः प्रियविप्रयुक्तरमणीगात्रे सुधांशोःकराः ।। प्र०७.५

कमलिनियों का ऊंचा उठा हुआ पद्मकोश चन्द्रकिरण-सम्पर्क से संकुचित होने लगा है। कवि कल्पना करता है कि कमलिनियाँ मानो अपने विकसित कमल की पंखुड़ियों को बन्द करती हुई संकेत से यह सूचना दे रही हैं कि यह चन्द्रमा तो अर्धनारीश्वर शंकर के शरीर में बद्ध पार्वती के कुंकुमलिप्त कुचकोरक के समान है।

शंकरार्धतनुबद्धपार्वतीकुंकुमाक्तकुचकोरकाकृतिः।
सूच्यते कमलिनीभिरुन्नमत्पद्मकोशकरलीलया शशी ॥ प्र० ७.५६

प्रतीची में शिव जी के कण्ठ के समान काला अन्धकार व्याप्त हो रहा है, प्राची में दुग्ध की लहर के समान शुभ्र चन्द्रमा का प्रकाश फैल रहा है। चक्रवाक को वियोग के कारण शोक हो रहा है, चकोर को चन्द्रिका-पान के कारण आनन्द हो रहा है। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि इन दोनों के म्लान तथा प्रसन्न दृक्पातों के कारण ही मानो त्रिलोकी अन्धकार एवं प्रकाश से मिश्रित हो रही है।

ध्वान्तौघे शितिकण्ठकण्ठमहसि प्राप्ते प्रतीचीमुखं
प्राचीमञ्चति किं च दुग्धलहरीमुग्धे विधोर्धामनि।
एतत्कोकचकोरशोकरभसम्लानप्रसन्नोल्लसद्—
दृक्पातोर्मिकदम्बचुम्बितमिव त्रैलोक्यमाभासते ॥ प्र० ७.५७

पहले कवि आकाश में अन्धकार और प्रकाश के मिश्रण पर कृष्ण एवं श्वेत प्रस्तरों से जटित होने की तथा गंगा-यमुना के संगम की कल्पना कर चुका है[13]। यहाँ कालिमा तथा श्वेतिमा की व्याख्या अमूर्त शोक और आनन्द के मिश्रण से की गई है, जो कवि की सूक्ष्म कल्पनाशक्ति का परिचायक है।

यह चन्द्रमा वियोगियों के सन्ताप के लिए दिनमणि है, शृंगार का दीक्षामणि है, अनङ्ग रूपी भुजङ्ग का मस्तकमणि है, चण्डीश का चूडामणि है, तारकरूपी मोतियों के हार का नायकमणि है, कन्दर्पसीमन्तिनी की काञ्ची का मध्यमणि है, चकोरपरिषत् का चिन्तामणि है[14]। यह प्राची दिशा रूपी कामिनी का चन्दन-तिलक है, कन्दर्प-नृप का श्वेतछत्र है, वियल्लक्ष्मी रूपी मृगलोचना का कनफूल है, रति की क्रीडा का श्वेतकमल है, रजनि-रमणी का चांदी का सीधुपात्र है, जगत् का नेत्र है[15]। कैरव-कलिकाओं को प्रस्फुटित करता हुआ, युवकों के मन को विरह-खिन्न करता हुआ, कमलों को निमीलित करता हुआ, मृगलोचनाओं के मान को समुन्मीलित करता हुआ, ज्योत्स्ना को कन्दलित करता हुआ, दिशाओं को धवल करता हुआ, वारिधि में ज्वार उत्पन्न करता हुआ, कोकों को आकुलित करता हुआ, अन्धकार को कवलित करता हुआ यह इन्दु प्रादुर्भूत हो रहा है[16]।

---

१३. प्र० २.३३
१४. प्र० ७.५९
१५. प्र० ७.६२
१६. प्र० ७.६०

पूर्व दिशा रूपी गुहा के अन्दर सोकर जागा हुआ यह चन्द्ररूपी केसरी गगन-कानन में प्रवेश कर रहा है। इसने किरणरूपी नखों से अन्धकार रूपी हाथी के कुम्भस्थलों को विदीर्ण कर दिया है, जिससे निकले हुए मोती ही तारों के रूप में आकाश में फैल रहे हैं :

मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थलो—
च्छलत्तरलतारकाकपटकीर्णमुक्तागणः ।
पुरन्दरहरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थित—
स्तुषारकरकेसरी गगनकाननं गाहते ॥ प्र० ७.६१

आकाश में चन्द्रिका क्यों व्याप्त हो गई ? रजनि-रमणी ने देखा कि उसकी सखी व्योमलक्ष्मी अपने प्रिय तिमिर के विरह से व्याकुल है तथा उसका चन्द्रमा रूपी कपोल शोक से सफेद पड़ गया है। तब उसने उसकी विरहाग्नि को शान्त करने के लिए तारे रूपी जलकण उस पर छिड़क दिये और अब चांदनी के चन्दन से उसके शरीर को सुरभित कर रही है।

सितकिरणकपोलामालिमालोकयन्ती
तिमिरविरहतापव्याकुलां व्योमलक्ष्मीम् ।
रजनिरमलताराशीकरैः सिक्तमस्याः
परिमलयति गात्रं चन्द्रिकाचन्दनेन ॥ प्र० ७.६३

कवि कहता है कि यह चांद है, चांद है, ऐसी दुराशा क्यों करते हो ? यह तो पानी की बूंद है, अथवा किसी मृगनयनी का केशों से श्यामल, कोमल कपोल वाला आनन है :

इन्दुरिन्दुरिति किं दुराशया बिन्दुरेष पयसो विलोक्यते ।
नन्विदं विजयते मृगीदृशः श्यामकोमलकपोलमाननम् ॥

यह चन्द्र रजनी-रमणी के मुख की चन्दन की बिन्दी है[१७]। यह त्रियामारूपी युवति की कुचतटी पर लगा हुआ चन्दन का लेप है, व्योमश्री का चामर है, शंकर की जटावल्लरी का कोरक है, कन्दर्परूपी क्षोणिपाल का स्फटिकमणि-प्रासाद है, पूर्वदिशा रूपी रमणी का नासिका का मोती है[१८]।

विरहियों को शंकाकुल करने वाला यह शशांक व्योमावकाश में प्रवेश कर रहा है। यह रात्रिकालरूपी रावण की प्रचण्ड भुजदण्डक्रीडा का कैलास है, सप्तलोकी की विजय से मुदित कामदेव का शंख है, और लोलाक्षियों की कपोलपालि के लावण्य-जलधि से उत्पन्न फेनपिण्ड है[१९]।

रजनीवल्लभ चन्द्र अत्रि के नेत्र से उत्पन्न हुआ है, यह प्रज्ञावानों का भ्रम-मात्र है। यदि अत्रिनेत्र से उत्पन्न हुआ होता तो इसमें सुधा कहाँ से आ जाती ? यह तो चुम्बनकाल में रति के अधरबिम्ब के सुधारस से सिक्त कामदेव के नयन से उत्पन्न हुआ है :

---

१७. प्र० ७.६६
१८. प्र० ७.६७
१९. प्र० ७.७०

अयं नेत्रादत्रेरजनि रजनीवल्लभ इति
भ्रमः कोऽयं प्रज्ञापरिचयपराधीनमनसाम् ।
सुधानामाधारः सः खलु रतिबिम्बाधरसुधा-
रसासेकस्निग्धादजनि नयनात् पुष्पधनुषः ।। प्र० ७.७१

यह कवि का चन्द्र-वर्णन है, जिसमें कल्पना की चारुता दर्शनीय है ।

नदी, सरोवर, पर्वत आदि

कहीं-कहीं कवि ने नदी, सरोवर, पर्वत आदि का भी चित्रण किया है, जो संक्षिप्त होता हुआ भी अतिशय मनोमुग्धकारी है । चंचल तरंगों के साथ तरंगित होती हुई हंसमाला से युक्त गंगा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

तरलतरतरङ्गभङ्गहेलाबहलविलासविलोलहंसमाला
अमरपुरतरङ्गिणीयमम्बा सुरनरमङ्गलकारिणी न दूरे ।। प्र० ७.८८

यह सरोवर का वर्णन भी कैसा रमणीय है—

विहरास्मिन् रमणीये शुचिपयसि स्मेरनीरजे सरसि ।
पुरतरुणीचरणरणन्मणिनूपुरकूजितोत्कुतुकः ।। प्र० ५.४१

अरण्यपथ का यह स्वभावोक्तिपूर्ण चित्रण भी दर्शनीय है । मार्ग समतल तथा सिकतामय है । भूमि मृदुशाद्वल है । वेतसों से युक्त शीतल नदी समीप बह रही है । आगे कुमुदिनियों सहित सरसी शोभित है, जिसमें कादम्बों का कूजन और हंसों का नाद मिश्रित हो रहा है ।

पन्थाः समः सिकतिलो मृदुशाद्वला भू-
र्वेतस्वती सरिदियं शिशिरा न दूरे ।
अग्रे चकास्ति सरसी सकुमुद्वतीयं
कादम्बकूजितकरम्बितहंसनादा ।। प्र० ५.२१

इधर यह शीतल छाया वाला, पुष्परस के कणों को स्रवित करने वाला तरु है, इधर स्वच्छ तथा स्वल्प प्रवाह से मनोहर नदी है, और इधर कोमल सुगन्ध वाला तथा बार-बार मधुर गुंजन करने वाली भ्रमरियों से सुन्दर वन है—

तरुरयमितः शीतच्छायः स्रवन्मधुशीकरः
सरिदियमितः स्वच्छस्वल्पप्रवाहमनोहरा ।
इदमिदमितः स्निग्धामोदं मुहुर्मधुरं ध्वनन्-
मधुकरवधूमुग्धाभोगं वनं सरसीरुहाम् ।। प्र० ५.२२

सरसियों के तट पर और नदियों के सैकत पर चकवा-चकवी विहार कर रहे हैं । चक्रवाकी एक क्षण के लिए भी अपने प्रिय का साथ छोड़ने के लिए तैयार नहीं है । सीता उन्हें चंचलतापूर्वक देखती हुई हर्ष और शोक दोनों ही प्राप्त करती है—

तटभुवि सरसीनां सैकते निम्नगानां
परिसरमपहातुं चक्रवाकीं प्रियस्य ।
क्षणमपि न समर्थां लोलमालोकयन्ती
पथि जनकतनूजा प्राप हर्षं शुचं च ।। प्र० ५.२४

राम विमान द्वारा समुद्र, दण्डकारण्य तथा नर्मदा एवं यमुना को पार कर चित्रकूट पर्वत पर पहुंच जाते हैं। इसका वर्णन कवि ने निम्न शब्दों में किया है—

उल्लङ्घ्य नीरधिमतीत्य च दण्डकानि
नद्यौ च मेकलकलिन्दसुते व्यतीत्य।
प्राप्ताः शिखण्डिशतखण्डितशाखिखण्ड-
मेते वयं शिखरिणं ननु चित्रकूटम् ॥ प्र० ७.७८

इस प्रकार समग्र रूप से विचार करने पर जयदेव की प्रकृतिचित्रणकला क्वचित् सरल, स्वभावोक्तिपूर्ण, किन्तु अधिकतर कल्पनावैभवमयी होती हुई विशेष चमत्कारोत्पादक होकर काव्यरसिकों को आह्लादित करती है।

४. रूप-सौन्दर्य-चित्रण

रूप-सौन्दर्य के चित्रण में भी जयदेव सिद्धहस्त हैं। द्वितीय अंक में राम और लक्ष्मण मिथिला के उपवन में पहुँचते हैं। उधर सीता भी सखी सहित चण्डिकायतन में देवी को प्रणाम करने के लिए वहाँ आती है। दोनों की दृष्टि एक-दूसरे पर पड़ती है तथा वे परस्पर मुग्ध हो जाते हैं।

राम राजकुमारी सीता को देख कहते हैं कि यह कौन है जो काम के क्रीडा-भवन की अटारी की दीपिका सी प्रतीत हो रही है, जिसके अंग कसौटी के काले पत्थर पर सुवर्ण को कसने से पड़ी हुई हेमरेखा के समान सूक्ष्म, कनककदली की कंदलियों के अभ्यन्तरभाग के समान गौर तथा हल्दी के पानी के समान पीले कान्तिपूर को धारण करने वाले हैं—

केयं श्यामोपलविरचितोल्लेखहेमैकरेखा-
लग्नैरङ्गैः कनककदलीकन्दलीगर्भगौरैः।
हारिद्राम्बुद्रवसहचरं कान्तिपूरं वहद्भिः
कामक्रीडाभवनवलभीदीपिकेवाविरस्ति ॥ प्र० २.७

कालिदास ने इन्दुमती को संचारिणी दीपशिखा[२०] से उपमित किया था। जयदेव उससे आगे बढ़कर सीता को कामदेव के क्रीडाभवन की दीपिका से उत्प्रेक्षित करते हैं। कालिदास की इन्दुमती दीपशिखा के तुल्य है, किन्तु जयदेव की सीता मानो साक्षात् दीपिका ही है। उपमा की अपेक्षा उत्प्रेक्षा में जो चमत्कार अधिक हो गया है, उसे सहृदयजन सहज अनुभव कर सकते हैं। दीपिका कहने से सीता की देहयष्टि की उज्ज्वल कान्ति, सुकुमारता, सुडौलता, मधुरता तथा कृशता साकार उपस्थित हो जाती है। अंगों के लिए प्रदत्त उपमाओं से सीता का स्वरूप और भी मूर्तिमान् हो उठा है। अंग कसौटी पर सुवर्ण को कसने से पड़ी हुई रेखा के समान पीताभ तथा पतले हैं। कदली के नये निकले स्तम्भ का अन्दर का भाग कैसा गौर होता है, किन्तु

---

२०. रघु० ६.६७
संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

यदि वह कदली हेममयी हो तब उसके अभ्यन्तरभाग में जैसी गौरता होगी वैसे पीले-गोरे सीता के अंग हैं। अंगों से हरिद्रारस जैसी कान्ति फूटी पड़ रही है।

सीता की सखी उसे अनवद्यांगी संबोधन करती है। इस पर राम कहते हैं कि इसे अनवद्यांगी कहना तो बहुत कम है. सर्वानवद्यांगी कहना चाहिए। इसके प्रत्येक अंग में सुन्दरता है। बन्धूक पुष्प के समान लाल अधर है, श्वेत केतकी-पुष्प की आभा वाले नेत्र हैं, महुए की कली के समान मधुर कपोल हैं, दन्तावली अनार के दानों की पंक्ति को मात कर रही है, और मुख खिले कमल को पराजित कर रहा है—

बन्धूकबन्धुरधरः सितकेतकाभं
चक्षुर्मधूककलिकामधुरः कपोलः।
दन्तावली विजितदाडिमबीजराजि-
रास्यं पुनर्विकचपङ्कजदत्तदास्यम् ॥ प्र० २.८

अंगों की सुन्दरता का ऐसा सुकुमार वर्णन अन्यत्र कम देखने को मिलता है। पुनः राम उद्‌गार प्रकट करते हैं—"यह चरणों से विकसित रक्तकमलों की शोभा को मात कर रही हैं, करों से नवपल्लवों की लालिमा का आदान कर रही हैं, अधर से प्रवाल की कान्ति का पान कर रही है और मुस्कराहट से चन्द्र की कान्ति को पराजित कर रही है"—

पदाभ्यामुन्निद्रामधरयति शोणाम्बुजरुचिं
कराभ्यामादत्ते नवकिसलयानामरुणताम्।
प्रवालस्य च्छायां दशनवसनाग्रेण पिबति
स्मितज्योत्स्नापूरैरुपहसति कान्ति हिमरुचेः ॥ प्र० २.६

इसकी दृष्टि नवीन नीलकमल की समता को धारण कर रही है, मुख पूर्ण चन्द्र की शोभा को वहन कर रहा है, कुच कुछ-कुछ बन्द होते हुए कमलों जैसे प्रतीत हो रहे हैं और केशराशि अद्‌भुत तमः शोभा को उत्पन्न कर रही है—

वहत्यस्या दृष्टिर्विकचनवनीलोत्पलतुला-
मखण्डस्याभिख्यां वदनमिदमिन्दोः कलयति।
कुचौ किञ्चिन्मीलत्कमलतुलनां कन्दलयत-
स्तमःशोभां चित्रां चिकुरनिकुरम्बं हि कुरुते ॥ प्र० २.१६

सीता का उपर्युक्त समस्त सौन्दर्य-वर्णन राम की ओर से किया गया है। चेटी द्वारा अंकित चित्र भी अनुपम हैं। वह सीता की मुखलेखा में चन्द्रबिम्ब की शोभा को और दन्तकिरण-लक्ष्मी में चन्द्रिका की सुषमा को देखती है, तथा सीता की दृष्टि उसके लिए नीलकमल की पत्रपुटी में बहती हुई चंचल एवं अतिमधुर दूध की धार है—

"अयि तव मुखलेखा चन्द्रबिम्बे सस्नेहा
दशनकिरणलक्ष्मीरच्छज्योत्स्नासदृक्षा।

---

२१. तुलना : उ० च० ३.२३

कुवलयदलद्रोणीकन्दरायां वहन्ती
तरलबहलमिष्टा दुग्धधारेव दृष्टिः ।। प्र० २.२९

इधर राम सीता के रूपसौन्दर्य की झांकी ले रहे हैं, तो उधर सीता भी राम की रूपचन्द्रिका का पान कर रही है। उसकी दृष्टि जब राम पर पड़ती है तब कौतुक में भर अनायास उसके मुख से निकल पड़ता है कि विकसित उत्पलपत्रपुंज के समान श्यामल, शंकर के सौम्य शेखर पर चमकते हुए चांद के समान कोमल, कामदेव के रूप को भी मात करने वाला तथा मयूरपिच्छ से मण्डित यह कौन है, जो मेरे लोचनों को सुख दे रहा है ?

[22]विकसितपेशलोत्पलपलाशपुञ्जश्यामलो
महेशसौम्यशेखरस्फुरत्सोमकोमलः ।
लतागृहे कोऽयमनङ्गरूपखण्डनो
विलोचनयोर्ददाति मे सुखं शिखण्डमण्डनः ।। प्र० २.२१

जनक की ओर से राम-लक्ष्मण का सहज सौन्दर्य निम्न शब्दों में प्रकट किया गया है—

तनुश्रिया निर्जितचम्पकोत्पलौ सुवर्णनीलोत्पलकोशकोमलौ ।
अहो दृशामुत्सवदानदक्षिणौ सुलक्षणौ लक्ष्मण-लक्ष्मणाग्रजौ ।। प्र० ३.२१

५. व्यक्ति-चित्रण

जयदेव व्यक्तियों के चित्रण में भी कुशल हैं। इनके किये हुए राम, परशुराम, सीता, जनक, दशरथ आदि के चित्रण इसके उदाहरण हैं। राम के अन्दर सौन्दर्य, वीरता और मुग्धता के सुन्दर समन्वय का चित्रण परशुराम के मुख से कवि ने इस प्रकार कराया है—

सौन्दर्यं मदनादपि प्रथयति प्रौढिप्रकर्षं पुरां
भेत्तारं मदनारिमप्यधरयत्युद्दामदोःक्रीडितम् ।
मुग्धत्वं मदनारिमौलिशशिनोऽप्युत्कर्षमालम्बते
मूर्तैस्तत् किमसौ रसैर्विरचितः श्रृंगारवीराद्भुतैः ।। प्र० ४.१४

राम का सौन्दर्य कामदेव को भी परास्त कर रहा है, बाहु-पराक्रम में यह त्रिपुरासुर की नगरियों के भेत्ता महादेव को भी नीचा दिखा रहा है, मृदुत्व शंकर के शिरोभूषण चन्द्र से भी अधिक है। कहीं मूर्तिमान् श्रृंगार, वीर और अद्भुत रसों से ही तो इसकी रचना नहीं हुई है ?

क्रुद्ध परशुराम चले आ रहे हैं। उसका कविकृत चित्रण भी दर्शनीय है। परशुराम के कोपारुण नेत्रों की प्रभा कुठार पर पड़ रही है। उससे ऐसा लगता है मानो आज भी उनका कुठार क्षत्रियों के कंठ की रक्तधारा से सिंचित है। उनके तीव्र निश्वास इस बात की सूचना दे रहे हैं कि वे आज पुनः भुवनों में उत्पात करने वाले हैं। उनके धनुष की प्रत्यंचा गर्ज रही है।

---

२२. प्राकृत श्लोक की संस्कृत छाया

कुर्वन् कोपादुदञ्चद्रविकिरणसटापाटलैर्दृष्टिपातै-
रद्यापि क्षत्रकण्ठच्युतरुधिरसरित्सिक्तधारं कुठारम् ।
तीव्रैर्निश्वासपातैः पुनरपि भुवनोत्पातमासूचयद्भि-
र्गर्जन्मौर्वीकचापस्त्रिभुवनविजयी जामदग्न्यः समेति ॥ प्र० ४.२

अशोक-वाटिका में सीता जिस स्थिति में एक हाथ से अशोकवृक्ष की शाखा पकड़े हुए तथा दूसरे हाथ पर कपोल को टिकाए खड़ी है, उसका बिल्कुल वैसा ही चित्र कवि ने खींच दिया है।

एकेनालम्बितेयं शिथिलभुजलताशोभिना शाखिशाखा
हस्तेनान्येन चायं दिनकरकिरणक्लान्तकान्तिः कपोलः ।
एष स्रस्तो नितम्बे लुलति कचभरस्त्यक्तकांचीकलापे
नेत्रोत्संगे च वाष्पस्तबकनवकणैः पक्ष्मला पक्ष्मलेखा ॥ प्र० ६.१५

इसी प्रकार स्वयंवर में स्थित नरवीरचक्र[23], राम-लक्ष्मण सहित आते हुए मुनि विश्वामित्र[24], धनुभंग के पश्चात् जयमाल धारण किये हुए विजयी-विनयी राम आदि के चित्रण भी दर्शनीय हैं।

६. पशु-पक्षी-चित्रण

वृक्षों के मध्य में सुवर्ण-हरिण राम के नयनपथगोचर होता है। पद्मरागमणियों की उसकी आंखें हैं, मूंगों के सींग हैं, शरीर पर मोतियों की चित्रकारी है, देखते ही मन को हर लेने वाला है—

अथाविरासीत् कुरुविन्दलोचनो द्रुमान्तरे विद्रुमशृंगशोभितः ।
विभक्तमुक्तामयचित्रमण्डनो मनोऽपहारी हरिणो हिरण्मयः ॥ प्र० ५.३६

नदी के इस पार चक्रवाक बैठा हुआ है। बाहर वह केसर के पराग के सदृश रंग को धारण कर रहा है, अन्दर एक दयालु हृदय को धारण किये है। परले पार करुण शब्द करती हुई चक्रवाकी को एकटक निहार रहा है, पर विधि के विधान के कारण उसके समीप नहीं जा सकता। विप्रलम्भ का कैसा सुन्दर पोषण कवि ने किया है।

योऽयं बहिः कलितकुंकुमरेणुराग-
मन्तस्तु संभृतदयं हृदयं दधानः ।
पारेतरङ्गिणि मुहुः करुणं रटन्ती-
मालोकते सहचरीं न तु संनिधत्ते ॥ प्र० ६.६

७. वृत्त-चित्रण

घटित वृत्त को सजीव तथा संक्षिप्त रूप में प्रायः एक ही पद्य में चित्रित कर देने की कला भी जयदेव ने यत्र-तत्र प्रदर्शित की है। धनुर्भंग, नारायणधनुष पर

२३. प्र० १.४०
२४. प्र० ३.१

आरोपित बाण की यात्रा[२५], राम के वन चले जाने पर भरत का व्यापार[२६], सीता की कुटी से लक्ष्मण का निर्गमन तथा रावण का प्रवेश[२७], हनुमान् का लंकादहन, समुद्रलंघन आदि इसके उदाहरण हैं।

राम द्वारा लीलापूर्वक किये गये धनुर्भंग का कैसा सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। अपनी ललित अंगुलियों से धनुर्लता को कर्णपर्यन्त खींचते हुए राम की भौंहों में बल भी नहीं पड़े और शिवधनुष टूट गया। कंठ से अहंकार की लेशमात्र ध्वनि भी नहीं निकली, और टूटते हुए धनुष की उच्च टंकार जगत् में व्याप्त हो गई—

ज्यावल्लीं ललितांगुलीकिसलयैराकर्णमाकर्षतो
न भ्रूभँ गुरतां गता रघुशिशोर्भग्नं धनुर्धूर्जटेः।
नाहंकारतरंगितो ध्वनिरभूत् कण्ठेऽस्य दीर्घद्धनु-
ष्टंकारस्तु चकार तारतरलः शब्दाद्वितीयं जगत् ॥ प्र० ३.४८

हनुमान् का मेघनाद के बाणों को शरीर पर सहना, पूंछ में आग लगाया जाना, लंकादाह करना और अन्त में समुद्र में डुबाकर पूंछ की अग्नि को बुझा लेना, यह समस्त वृत्त निम्नलिखित एक ही श्लोक में कैसी कुशलता के साथ उपनिबद्ध किया गया है—

बाणौघानेष वीरः कलयति च रुषा मेघनादेन मुक्तान्
बद्धोऽयं राक्षसेन ज्वलदनलशिखादीप्तपुच्छः कृतश्च।
क्रामन्नट्टालिकानामुपरिकृतपदो दन्दहीत्येष लङ्कां
अक्लान्तोऽयं पयोधेः पयसि शमयति स्वाङ्गलग्नं कृशानुम् ॥ प्र० ६.४६

हनुमान् द्वारा समुद्रलंघन का दृश्य भी दर्शनीय है, जिसमें यथार्थता के साथ कवि की कल्पना भी मुखरित हो रही है। हनुमान् समुद्र के किनारे पर स्थित त्रिकूट-पर्वत के शिखर पर खड़े हो गये हैं। उछाल लेने के लिए जरा झुक कर फिर अपने अंगों का विस्तार कर कूद पड़े हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे गगनमणि सूर्य पूर्वांचल के शिखर पर आरूढ हो नभ को लांघता है। जब वे समुद्र पर से उड़ते जा रहे हैं, तब उनके शरीर के वेग से जो प्रचण्ड पवनाघात हुआ है, उससे समुद्र के जल में पाताल तक छिद्र हो गया है, उस छिद्र में से पातालस्थित शेषनाग से की गई स्तुति ऊपर आकर हनुमान् के गले में कीर्तिहार होकर पड़ गई है—

वेलाद्रेरस्य हेलाक्रमणपरिणतस्तुङ्गमाक्रम्य शृंगं
मौलिं पूर्वाचलस्य द्युमणिरिव नभो लंघयत्यम्बुराशिम्।
वेगप्रोद्भूतवातप्रतिहतसलिलोन्मुक्तगम्भीरगर्भ-
व्यक्तीभूतोरगेन्द्रस्तुतिशतविलसत्कीर्तिहारो हनूमान् ॥ प्र० ६.५०

८. रस-परिपाक

प्रसन्नराघव का अंगी रस वीर है। शृंगार, करुण आदि अंगभूत हैं। इस नाटक

२५, प्र० ४.४३
२६, प्र० ५.१६
२७. प्र० ५.३८

की प्रस्तावना में मंगलाचरण के तीन श्लोकों में से प्रथम से शृंगार ध्वनित हुआ है, जिसमें विष्णु जी के चारों हाथों द्वारा लक्ष्मी के पयोधर-युगल तथा कपोल-द्वय पर युगपत् कस्तूरीरेखाएं रचने का वर्णन है। द्वितीय में वीर-रस है, जिसमें मेघगर्जना को भी तिरस्कृत करने वाली, दानव-दन्तियों के गण्डस्थलों और कर्णों को व्यथित करने वाली, दिक्चक्रव्यापी पांचजन्यध्वनि की महिमा वर्णित है। तृतीय में रौद्र, करुण तथा हास्य का संकेत है।

वीर-रस

प्रथम अंक में मंजीरक द्वारा की गई स्वयंवर की घोषणा से ही वीर-रस का सूत्रपात हो जाता है—"जो भूमण्डल का तिलकभूत राजा त्रिपुरसंहारक महादेव के उद्दण्ड कोदण्ड पर आरोपित मौर्वी को कान तक खींच लेगा, उसी को राजपुत्री सीता प्राप्त हो सकेगी[२८]।" यह घोषणा सुन उपस्थित राजाओं के बाहुदण्ड उस धनुष के आकर्षण के कौतूहल से रोमांचित हो द्विगुणित हो जाते हैं[२९]। इसी अंक में रावण तथा बाणासुर की उक्तियों में भी वीर रस है। रावण रण में तथा शिवजी के चरणों में अपने मस्तकों के कटने को भी गौरव समझता है—

विधाधरप्रणयिनीकरपल्लवाग्र-
लीलाविमुक्तकुसुमप्रकरावकीर्णे।
श्रीचन्द्रचूडचरणे च रणे च कामं
छिन्नोऽपि मस्तकगणो मम मङ्गलाय॥ प्र० १.४४

बाणासुर शिवजी के धनुष को फूल के समान अपने करपल्लव से उठा कर भुजद्रुमवन को सफल करना चाहता है[३०]। वह कहता है कि त्रिपुरहन्ता शिव के धनुष पर बाणसंधान करने का इच्छुक मैं इसलिए नहीं हूँ कि जानकी का पाणिग्रहण करूं, अपितु मैं अपने भुजबल का ताण्डव प्रदर्शित करना चाहता हूँ—

त्रिपुरमथनचापारोपणोत्कण्ठिता धी—
मंम न जनकपुत्रीपाणिपद्मग्रहाय।
अपितु बहलबाहुव्यूहनिर्व्यूहमाला-
वलपरिमलहेलाताण्डवाडम्बराय॥ प्र० १.५१

तृतीय अंक में दशरथ का परिचय वीररसपूर्ण है। उदाहरणार्थ दशरथ की वीरता की परिचायक जनक की निम्न उक्ति द्रष्टव्य है—

यद्बाहू वहतः पराक्रमहतां प्रत्यर्थिसीमन्तिनी-
चक्षुःकज्जलकालिकामिव धनुर्मौर्वीकिणश्यामिकाम्।
यद्दोर्दुर्मदकर्मकार्मुकगुणप्रोत्तालकोलाहलै-
र्वैरिस्त्रीकलमेखलाकलकलाः पीता इवास्तं गताः॥ प्र० ३.२६

---

२८. प्र० १.२९
२९. प्र० १.३०
३०. प्र० १.४७

इसी अंक में शिवधनुष का वर्णन, परशुराम के परशु का संदेश, जनक का प्रतिसंदेश, तथा राम द्वारा धनुर्भंग भी वीररस के अच्छे उदाहरण हैं।

चतुर्थ अंक में राम द्वारा परशुराम के परिचय में कही गई उक्तियों में युद्ध-वीरता भी है और दान-वीरता भी। यथा—

वेध्यं क्रौञ्चमहीधरस्य शिखरं देयं धरित्रीतलं
प्रत्यक्षक्षितिखण्डदण्डनविधिक्रीडाविधेयोऽम्बुधिः।
जेयस्तारकसूदनो युधि करक्रीडाकुठारस्य च
च्छेद्यं यस्य बभूव हैहयपतेरुद्दामदोःकाननम्॥ प्र० ४.१६

नारायणीय चनुष पर बाणारोपण कर उस बाण से राम द्वारा परशुराम की स्वर्गगति का विच्छेद किया जाना भी वीररसपूर्ण है—

उद्भिन्नश्चापचक्रादमरपरिहृतव्योमरन्ध्रावगाही
बाणोऽयं राघवस्य त्रिदशपुरगतिच्छेदकृद् भार्गवस्य।
हंसीभूतः सुरस्त्रीकरकमलगलत्पुष्पसौरभ्यलुभ्यद्-
भृङ्गीसंगीतभङ्गीपरिचलितयशाः स्वर्गपर्यङ्कमेति॥ प्र० ४.४३

पंचम अंक में बन्धुजनों द्वारा रोके जाने पर भी राम का निर्भय होकर राक्षसों से परिपूर्ण दक्षिण दिशा में जाना वीररस का ही सूचक है[31]। लक्ष्मण की यह उक्ति भी कैसी वीररसपूर्ण है—

नक्तंचरेन्द्रभगिनीसुकुमारनासानिर्मुक्तरक्तलवलिप्तशितैकधारः।
उत्कण्ठते कठिनराक्षसकण्ठजानां पानाय कर्दमसृजामसृजां कृपाणः॥ प्र० ५.३४

राम द्वारा बालिवध[32] का वृत्त तथा रावण-जटायु-युद्ध भी वीररसपूर्ण है।

सप्तम अंक में नेपथ्य से सूचित राम-रावण की सेनाओं के रणोद्योग तथा विद्याधरमिथुन के वार्तालाप द्वारा वर्णित समर-वृत्तान्त वीररस के अच्छे निदर्शक हैं। वानरों का संहार करते हुए राक्षस भट समरांगण में चपलता दिखा रहे हैं—

हेलास्फालितरामलक्ष्मणधनुर्ज्यावल्लरीझल्लरी-
झाङ्कारप्रसरप्ररूढपुलकप्राग्भारनीरन्ध्रिताः।
व्यावलत्कपिकण्ठकाण्डकदनक्रीडाकृपाणाञ्चल-
स्फूर्जद्दुर्जयदोर्बलैकचपलाश्चञ्चन्ति रात्रिंचराः॥ प्र० ७.२०

इधर कपि-वीरों की सेना भी राक्षसों को पी रही है—

अग्रेसरी रघुपतेः परिणद्धपार्किकपाकपाटलमुखी कपिवीरसेना।
निःशेषमापिबति राक्षसवीरचक्रं प्रातः प्रभेव तपनस्य तमिस्रजालम्॥ प्र० ७.२१

रावण का चन्द्रहास भी चलने लगता है। युद्ध में नील द्वारा किये हुए नील-पर्वत के प्रहार को रावण हरिणेक्षणाओं के नीलोत्पल-प्रहारों जैसा मानता है। अन्त में राम-रावण का युद्ध प्रवृत्त हो जाता है—

---

३१. प्र० ५.१६
३२. प्र० ५.५०

तुलाधिरोहः खल्वयं वीरलक्ष्म्याः यन्नाम रामरावणयोः समर इति ।

विद्याधर द्वारा वर्णित रावण की प्रशस्ति भी कैसी वीररसपूर्ण है—

किं ब्रूमो दशकन्धरं निजचमूरक्षाकपाटीभवद्-
वक्षःपीठपतत्कठोरकुलिशाघातेषु जातस्मितम् ।
व्योमाभोगसरोविलासिनि वने यत्पाणिपंकेरुहां
कैलासेन शिरः स्थितेन्दुकलिकोत्तंसेन हंसायितम् ।। प्र० ७.३६

इधर से रावण की सेना का विजयघोष होता है, तो उधर से राम की सेना का। राम के बाणों से कटे हुए अपने सिरों को रावण एक-एक हाथ से पकड़ कर दूसरे-दूसरे हाथ से फेंकता चलता है। अन्त में वह राम के बाणों से निहत हो भूमि पर लोटने लगता है।

रौद्र-रस

प्रथम अंक में मंजीरक पुरुषवेष में प्रच्छन्न रावण को भर्त्सित करता हुआ कहता है कि क्या तुम्हें क्रोध से लाल-लाल नेत्रों वाले तथा खड्ग म्यान से बाहर निकाले हुये नरवीर दृष्टिगोचर नहीं हो रहे, जो तुम तलवार के बल से सीता को पाना चाहते हो। नर-वीरों के इस चित्रण में रौद्र रस की ही झांकी है—

रोषारुणीकृतविलोचनकान्तिभिन्न-
भ्रूभङ्गभीमघटितभ्रुकुटीविटङ्कम् ।
उत्खातलोलकरवाललताकराल-
दोर्दण्डचण्डचरितं नरवीरचक्रम् ।। प्र० १.४०

चतुर्थ अंक में परशुराम की उक्तियां प्रायः रौद्र-रसपूर्ण हैं। क्रोध से लाल नेत्र किये परशुराम चले आ रहे हैं। उनके रौद्र रूप का चित्रण व्यक्तिचित्रण के प्रसंग में दिया जा चुका है[३३]। वे कहते हैं कि जनक की कैसी धृष्टता है जो हरचापारोपण की शर्त रख कर कन्यादान करना चाहता है। वे जगत् को जनक-रहित कर देना चाहते हैं।

सकलनृपकठोरकण्ठपीठीबहलगलद्रुधिरौघधौतधारः ।
तदिदमजनकं जगद् विधत्ते परशुरयं जमदग्निनन्दनस्य ।। प्र० ४.३

वे अपने कुठार की दुहाई देते हुए कहते हैं कि यह वही कुठार है जिसने कार्तवीर्य की सहस्र भुजाओं को काट डाला था और उनसे रुधिर की धार बह चली थी। कुपित हो कहते हैं कि क्षत्रियांगनाओं के अश्रुपूर के बहाने से जिसकी कीर्तियां क्रीडा करती हैं, वह मेरा परशु आज अपने धाराजल में सबको डुबो देगा—

क्षत्रस्त्रीनयनाम्बुपूरमिषतः खेलन्ति यत्कीर्तयः ।
तत् तादृक् परशुर्ममायमधुना धाराजलं मुञ्चति ।। प्र० ४.६

भ्रमवश यह समझ कर कि रावण ने शिव-धनुष तोड़ा है, वे रावण के गले पर अपना परशु चलाने की प्रतिज्ञा करने लगते हैं। कहते हैं कि आज तक तो नृपों

---

३३. प्र० ४.२

के सुकुमार कंठ का ही कर्तन इसने किया था, अब रावण के कठोर कंठ को काटने का भी यह आनन्द ले ले। अपने वाण की अग्नि से लंका में आतंक कर देना चाहते हैं। जब यह ज्ञात होता है कि रावण ने नहीं, प्रत्युत राम ने धनुष तोड़ा है, तब सारे रघुकुल को अपने कुठार की धार में मग्न कर देने का प्रण कर बैठते हैं—

दुर्धर्षाः सुरसिद्धकिंनरनरैस्त्यक्तक्रमं नक्ततां
प्राप्ते यत्र विधातरीव तरसा तिस्रोऽपि दग्धाः पुरः।
तद् भग्नं यदि राघवेण शिशुना चण्डीपतेः कार्मुकं
तन्मग्नं कुलमेव तर्कय रघोर्मच्छस्त्रधाराम्भसि ।। प्र० ४.१३

राम को कहते हैं कि जिन बाहुओं से तूने शिव-धनुष भग्न किया है, उनके रुधिर से अपने कुठार को मैं तृप्त करूंगा, और मेरा निष्करुण कुठार तेरे कंठ में प्रवेश करेगा—

चण्डीशकार्मुकविमर्दविवर्धमान-
दर्पावलेपसविशेषविकासभाजोः।
बाह्वोस्तवाहमधुना मधुना समानै—
राराधयामि रुधिरैः कठिनं कुठारम् ।। प्र० ४.१६
हे राम कामरिपुकार्मुकमर्मघात—
सञ्जातपातक तवैष कठोरधारः।
सीताकरव्यतिकरप्रतिकूलबन्धुः
कण्ठं पुरा विशतु निष्करुणः कुठारः ।। प्र० ४.२२

वे कहते हैं कि पहले मैं इक्कीस वार और उसके बाद पुनः सात वार क्षत्रिय राजाओं का उच्छेद कर चुका हूँ। अब फिर क्ष्मापतियों के युद्ध में काटे हुए मस्तकों से कपालों की माला बना कर भगवान् भैरव को अर्पित करूंगा[३४]।

संयोग-शृंगार

द्वितीय अंक में मिथिलोद्यान में विवाह से पूर्व राम-सीता के पारस्परिक अनुरागोदय में दर्शन रूप संयोग-शृङ्गार है। सीता सखी सहित चण्डिकायतन में चण्डी देवी को प्रणाम करने उद्यान में पहुँचती है, जहां राम-लक्ष्मण पहले ही विद्यमान हैं। राजकुमारी को देख राम उस पर मुग्ध हो जाते हैं, तथा उसके सौन्दर्य का विविध चित्रण करने लगते हैं। वे उसकी वयःसन्धि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इसका शरीर कामदेव का परम मर्म है—

अपक्रान्ते बाल्ये तरुणिमनि चागन्तुमनसि
प्रयाते मुग्धत्वे चतुरिमणि चाश्लेषरसिके।
न केनापि स्पृष्टं यदिह वयसा मर्म परमं
तदेतत् पंचेषोर्जयति वपुरिन्दीवरदृशः ।। प्र० २.११

सीता भी राम पर रीझ जाती है। जब वह सखी-सहित घर जाने लगती है,

---

३४. प्र० ४.३४

तब बहाने से फिर लौट आती है। वह सखी से कहती है कि एक बात तो मैं भूल ही गई, वह आम्रवृक्ष भी तो देखना है जिसका मेरी माताएं वासन्ती लता के साथ विवाह करना चाहती हैं। राम उसे पुनः लौटा देख प्रसन्न हो उठते हैं—

मन्मनःकुमुदानन्दशरत्पार्वणशर्वरी ।
अहो इयमितो नूनं पुनरप्यभिवर्तते ।। प्र० ३.१५

सखी सीता को वासन्ती लता दिखाती है। राम कहते हैं कि लतान्तर के वर्णन से क्या लाभ, इस समय तो सीता की तनु-लता ही हमें आनन्दित कर रही है, जिसकी बाल्यावस्था रूपी शिशिर समाप्त हो चुकी है, तथा यौवन रूपी वसन्त के कारण सुरम्य शोभा उत्पन्न हो रही है, और जिसमें स्तन रूपी पुष्पगुच्छ भासित हो रहे हैं—

"[35]निर्मुक्तशैशवदशाशिशिरा नवीन-
सम्प्राप्तयौवनवसन्तमनोरमश्रीः ।
उन्मीलितस्तननवस्तबका निकाम-
मेणीदृशस्तनुलता तनुते मुदं नः ।। प्र० ३.१९

राम चाहते हैं कि यह सन्मुहूर्त सदा ही बना रहे। पर माताओं का बुलावा आने पर सीता चली जाती है, और राम सोचने लगते हैं कि क्या फिर भी इसे देखने का सौभाग्य प्राप्त होगा—

अप्याविरस्तु भूयोऽपि मम लोचनयोरियम् ।
दिवसेऽन्तर्हिता नक्तं चन्द्रिकेव चकोरयोः ।। प्र० ३.३०

कवि ने पूर्वानुराग उत्पन्न करा इनकी विप्रलंभ-दशा का वर्णन नहीं किया है। अतः यह प्रसंग पूर्वानुराग रूपी संयोग श्रृङ्गार का ही उदाहरण है।

तृतीय अंक में राम द्वारा हरचापारोपण के पश्चात् सीता के उनकी ओर कटाक्ष से देखने में भी श्रृंगार की मधुर झांकी के दर्शन होते हैं—

करकिसलयलीलाचारु चण्डीशचापे
दशरथतनयेन स्वैरमाकृष्यमाणे ।
रससरसविकासी सीतया पुंखितोऽसौ
कुवलयदलदामश्यामकान्तिः कटाक्षः ।। प्र० ३.४४

पंचम अंक में वनवास-काल में प्रचंड सूर्य की धूप में भी सीता राम के नीलोत्पलश्याम शरीर को निहारती हुई सब संताप भूल जाती है[36]। दुपहरी में जलते हुए दुर्गम मार्ग में भी वह प्रियतम के चरणों से अंकित भूमि-भागों को प्रेमार्द्र चित्त से अत्यधिक शीतल मानती है[37]। सीता थक जाती है तब राम प्रणयपूर्वक वल्कल के अंचल से पंखा कर उसकी थकान मिटा देते हैं, और राम जब थकते हैं तब सीता

३५. तुलना : कु० सं० ३.५५
३६. प्र० ५.२६
३७. प्र० ५.२७

उन्हें अपने लोचनांचल से निहार कर सुखी कर देती है[३८]।

सप्तम अंक में पुष्पक विमान पर आरूढ़ राम-लक्ष्मण सीता-सहित अयोध्या आ रहे हैं। मार्ग में आकाश में चन्द्रोदय होने पर वे सीता को कहते हैं कि हे सुन्दरा, तुम्हारे मुख में तो लावण्य का समुद्र है और यह चांद दुग्धसागर की लहर का एक बिन्दुमात्र है, अतः यह तुम्हारे मुख-विलास के लेशमात्र को भी भला कैसे पा सकता है। थोड़ी देर के लिए अपने नेत्रों को उत्तरंगित तो करो, जिससे यह चन्द्र नव नीलकमलों की बगिया में खेलते हुए मराल की शोभा को प्राप्त कर सके। चिरकाल के विरह के पश्चात् मिलन का यह मधुर शृंगार है[३९]।

विप्रलंभ-शृंगार

षष्ठ अंक में विरही राम के विप्रलंभ का उत्कृष्ट चित्रण हुआ है। सीता की स्मृति में राम मोहापन्न हैं। वे चन्द्र और सूर्य में भी विवेक नहीं कर पाते। वे कहते हैं—लक्ष्मण, वृक्ष के नीचे आ जाओ, चण्डांशु उदित हो रहा है। लक्ष्मण के यह बताने पर कि रात्रि में सूर्य कहां, यह तो चन्द्रमा है, वे पूछ बैठते हैं कि तुमने कैसे जाना। जब लक्ष्मण पहचान बताते हैं 'मध्य में मृग होना', तब मृग और चन्द्र के सम्बन्ध से मृगनयनी चन्द्रानना सीता को स्मरण कर वे धैर्य खो बैठते हैं—

क्वासि प्रेयसि हा कुरंगनयने चन्द्रानने जानकि।

चन्द्रमा को सम्बोधन कर कहते हैं—बताओ, मेरी जानकी कहां है? चकार को देख उससे प्रार्थना करते हैं—भाई चकोर, तुम्हीं बता दो, मेरी विदेहतनया का मुख कहां है? तुम्हारा तो वह पूर्व परिचित है, क्योंकि अनेक बार कान्ता-सहित तुमने चन्द्रमा को भी छोड़ कर उसकी कमनीय कान्ति का पान किया है। शरत्कृश तरंगिणी को देख कहते हैं—हे कल्लोलिनी, तेरे समान वह कुरंगलोचना भी दिन प्रतिदिन कृश हो रही है, केवल इतना अन्तर है कि तू निसर्गशीतल है और वह दुःसह तापमुद्रा को धारण कर रही है। भ्रमर से अनुनय करते हैं—भय्या भ्रमर, तुम्हीं मेरी कान्ता का मुख बता दो, तुम तो उसके कपोलों पर लटकते हुए कर्णोत्पलों पर बैठकर गुञ्जार करते रहे हो। इतने में ही उनकी दृष्टि चक्रवाक पर पड़ती है, जो नदी के परले पार करुण क्रन्दन करती हुई चक्रवाकी को एकटक देख रहा है। उसे देख कहते हैं कि यह मेरे ही समान विरहदुःख का पात्र होने से मेरा समानशील है। पर फिर कहते हैं कि मेरी–इसकी समानता क्या?

अयमुदयति चन्द्रे विप्रयोगं प्रियायाः
श्रयति तपति सूर्ये सङ्गमङ्गीकरोति।
मम तु जनकपुत्रीविप्रयुक्तस्य यातं
शतमधिकमपीदं चन्द्रसूर्योदयानाम् ॥ प्र० ६.७

आगे रत्नशेखर की इन्द्रजालकला में सामाजिक सीता और राम दोनों के ही

---

३८. प्र० ५.२८
३९. प्र० ७.६५

विप्रलंभ की अनुभूति करते हैं। सीता की स्वर-माधुरी सुन कर और उसे अपने सम्मुख देख कर राम झट उठ कर पास जाने लगते हैं। लक्ष्मण उन्हें रोकते हैं— **अलमिह संभ्रमेण, विद्याधरोपनीतमिन्द्रजालकं खल्वेतत्।** सीता स्वप्न में गोदा नदी द्वारा तरंग-चामर तथा धवल कमलातपत्र से सेवा किये जाते हुए राम को देखती है। नेत्रोन्मीलन करने पर जब राम के दर्शन नहीं होते तब मूर्छित हो जाती है।

राम के सीता के प्रति इस संदेश में कैसी विरह-वेदना छिपी है—

हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहनः
सरिद्वीचीवातः कुपितफणिनिश्वासपवनः।
नवा मल्ली भल्ली कुवलयवनं कुन्तगहनं
मम त्वद् विश्लेषात् सुमुखि विपरीतं जगदिदम्॥ प्र० ६.४३
कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्तदुःखो भवेयं
को जानीते निभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम्।
जानात्येकं शशधरमुखि प्रेमतत्त्वं मनो मे
त्वामेवैतच्चिरमनुगतं तत् प्रिये किं करोमि॥ प्र० ६.४४

शृंगाराभास

सीता के पर-स्त्री होने के कारण उसके प्रति व्यक्त किये गये रावण के शृङ्गारिक भाव शृङ्गाराभास के अन्तर्गत होते हैं। प्रथम अंक में रावण अपनी भुजाओं को कहता है कि तुम शिवधनुष पर बाणसंधान कर त्रिलोकी को मेरे यश से धवल कर दो तथा वैदेही के उरोजों में लगे चन्दन से परिधूसर होने का सौभाग्य प्राप्त करो[४०]। वह सीता के सौन्दर्य की झांकी पा उसका वर्णन करता हुआ कहता है कि इसके मुख के आगे कमल व्यर्थ है, और चन्द्रमा इसके पैरों के नख की भी बराबरी नहीं करता, मुख का तो कहना ही क्या। इस मृगनयनी के नेत्रों के सम्मुख हरिण और खंजन को भी नीचा देखना पड़ता है—

राजीव जीवसि मुधा न सुधाकर त्व-
मस्याः समः पदनखस्य कुतो मुखस्य।
अग्रे दृशोर्मृगदृशः कतमः कुरंग-
स्तत खंजन त्वमपि किं जनरंजनाय॥ प्र० १.३६

सीता के ऊरुओं का वर्णन करता हुआ कहता है कि त्रिलोकी में कहीं भी इसका उपमान नहीं मिल सकता—

कदली कदली करभः करभः, करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥ प्र० १.३७

षष्ठ अंक में सीता से प्रणय-याचना करता है कि यह मेरा वक्षस्थल तुझे चाह रहा है, जो काम-ज्वर की वेदना से झरते आंसुओं के प्रवाह से धुल चुका है, स्वर्ग-स्त्रियों के कुच-कलशों से कुंकुम-रज की चोरी का सौभाग्य प्राप्त कर चुका है, और

४०. प्र० १.५४

जो सुर-दन्तियों के दन्दों की खरौंचों को सहन करने में प्रख्यात है। [४१]। यह भी कहता है कि मेरा वह दसवां सिर तेरे चरणों में झुक कर तुझसे प्रणय की भिक्षा मांग रहा है, जो शिवजी के सम्मुख भी नहीं झुका था—

> यत् संतुष्टवतः पुरः पुरभिदश्छन्दोत्सवच्छेदिनो
> न क्रोधादनमन्नवोद्गतशिरः श्रेणौ नमन्त्यामपि।
> एतत् तद् दशमं शिरो मम नमत् त्वत्पादपाथोजयो-
> रव्याजं मिथिलेन्द्रपुत्रि भवतीं प्रेमातुरं याचते॥ प्र० ६.२५

सप्तम ग्रंक में वह कहता है कि मेरे हृदय में तो सीता वस गई है—

> राजल्ललाटफलका कमनीयकूजत्-
> कांचीगुणप्रणयिनी धृतकेशपक्षा।
> हा किं करोमि मम सा हृदयं प्रविष्टा
> नाराचयष्टिरिव पुष्पशिलीमुखस्य॥ प्र० ७.८

हास्य-रस

भवभूति के नाटकों के समान प्रसन्नराघव में भी हास्य रस के प्रमुख पात्र विदूषक के दर्शन नहीं होते, तो भी कवि ने कई प्रसंगों में कोमल हास्य का प्रयोग किया हैं। प्रथम ग्रंक में मंजीरक ग्रौर पुरुष, मंजीरक ग्रौर नूपुरक, मंजीरक-नूपुरक-रावण तथा वाण ग्रौर रावण के संवादों में हास्य रस का पुट है। द्वितीय ग्रंक में सखी ग्रौर सीता के वार्तालाप में मृदु हास्य है। जव सीता चण्डी देवी को शशधर-मौलिदेहार्धधारिणी कहकर प्रणाम करती है, तव उसकी सखी मीठी चुटकी लेती है कि तुम्हारी प्रणाम-परिपाटी वड़ी सलोनी है। सखी देवी से प्रार्थना करती है कि शीघ्र ही सीता के विवाह का मेरा मनोरथ पूर्ण कर दो, कहीं यह उन्मस्क न होने लगे। इस पर सीता प्रणय-कोप दिखाती हुई कहती है कि मैं क्यों उन्मनस्क होती? सीता लक्ष्मण को देख कहती है कि इसे देखकर उर्मिला मेरे चित्त में ग्रा जाती है। इस पर उसकी सखी हँसकर कहती है कि इसका भी तो कोई ग्रग्रज होगा, जिसे देखकर तू मेरी चित्तवृत्ति में ग्रायेगी। सखी सीता से उपहास करती हुई कहती है कि देख, यह वासन्तीलता स्वयं ही सहकार-शिशु का ग्रलिंगन करने के लिए वढ़ रही है। सीता उसका ग्रन्तर्निहित ग्राशय समझकर उत्तर में कहती है—हट, झूठी कहीं की, मैं तेरा साथ छोड़कर ग्रन्यत्र कहीं चली जा रही हूँ। तृतीय ग्रंक में वामनक ग्रौर कुब्जक का वार्तालाप हास्यरसपूर्ण है। इसी ग्रंक में एक ग्रन्य स्थल में भी हास्य है। राम द्वारा धनुर्भंग के पश्चात् प्रतीहारी कंचुकी को कहती है कि कौतूहल की बात देखो, सीता ग्रौर राम मिलकर पुनः हरचापारोपण कर रहे हैं। कंचुकी पहले तो पूछता है—कैसे? पर फिर हंसकर कहता है कि हां, ठीक है, राम के शिवधनुष खींचने पर सीता राम पर कटाक्षपात कर शरसंधान कर रही है[४२]। चतुर्थ ग्रंक में

---

४१. प्र० ६.२४
४२. प्र० ३.४४

लक्ष्मण और राम की परशुराम के प्रति तथा परशुराम की जनक के प्रति व्यङ्ग्योक्तियों में भी हास्य है।

करुण-रस

करुण रस का कतिपय स्थलों में कवि ने अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। पंचम अंक में जब गंगा को सरयू के मुख से दशरथ की मृत्यु का वृत्त ज्ञात होता है तब वह उनके गुणों का स्मरण करते-करते मूर्च्छित हो जाती है—

हा इन्दुमतिनन्दन, हा सकललोकहृदयानन्दनचन्दन, हा महाकोदण्डपण्डित, हा आखण्डलप्रियसख, हा निजतनयनिर्विशेषप्रीतिपरिपालितसकललोक, हा रामभद्रैकजीवित (इति मूर्च्छति)।

वनवास के लिए प्रयाण करने से पूर्व लक्ष्मण का मल्लीमुकुलसदृश मोटे-मोटे आंसू गिराते हुए राम के सिर पर जटाएं बांधना कैसा करुणोत्पादक है—

निकामं रामस्य प्रमुदितमुखाम्भोरुहरुचे—
र्जटावल्लीर्मल्लीमुकुलसदृशैर्बाष्पपृषतैः।
निषिञ्चन् सौमित्रिः कथमपि वितेने खलु यदा
तदा जातं मातः करुणमयमेतज्जगदपि॥ प्र० ५.१२

पति के पीछे-पीछे जाती हुई सीता के किसलयतुल्य चरणों की ओर दृष्टिपात कर बन्धुओं के नयनों से भी अश्रु झरने लगते हैं[४३]। रावण पुनः पुनः विलाप करती हुई सीता को आकाशमार्ग से ले जा रहा है। उसका चित्रण भी करुणापूर्ण है—

हा राम हा रमण हा जगदेकवीर
हा नाथ हा रघुपते किमुपेक्षसे माम्।
इत्थं विदेहतनयां मुहुरालपन्ती-
मादाय राक्षसपतिर्नभसा जगाम॥ प्र० ५.४५

षष्ठ अंक में सीता स्वप्न में गोदावरी के तट पर अपने आपको राम के साथ देखती है। जागने पर वस्तुस्थिति को विपरीत पा मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़ती है।

हा धिक्, हा धिक् अन्यादृशो मे जीवलोकः। गोदावरी क्व सा, नीलोत्पलश्यामलः क्व रामः? लंका क्व, क्व वा हा धिक् रामैकजीविता सीता (इति मूर्च्छति)।

राम भूमि को उपालंभ देते हुए कहते हैं—हे वसुधे, जिसे तुमने अपनी कोख से जन्म दिया, उसे इस रूप में अपनी गोद में अस्त-व्यस्त पड़ी हुई देख तुम विदीर्ण क्यों नहीं हो गई?

यां वै गर्भे त्रिजगदबलारत्नभूतां दधाना
लब्धार्थत्वाज्जगति भवती रत्नगर्भा बभूव।
तामुत्सङ्गे तव विलुलितां वीक्षमाणा च सीतां
द्राग् दीर्णासीन्न कथमथवा देवि सर्वंसहासि॥ प्र० ६.१७

---

४३. प्र० ५.१४

इन्द्रजाल में रावण को सीता के कण्ठ पर तलवार चलाने के लिए उद्यत देख राम का करुण स्रोत फूट पड़ता है। हाय, आज विधि निष्करुण हो गया। आंखों के आगे अंधेरा छा रहा है। आज मेरे लिए विश्व समुद्र के सलिल में डूब गया, युग परिवर्तित हो गया। सीता का जो कण्ठ नीलकमलों की माला का पात्र है, उस पर आज कृपाण अपना स्थान बनाने चला है।

> **विधिरकरुणः स्फीतं स्फीतं तमः परिजृम्भते**
> **जलधिसलिले मग्नं विश्वं युगं परिवर्तते।**
> **कुवलयदलस्रक्संश्लेषोत्सवैकपदे पदं**
> **यदयमदयः सीताकण्ठे करोति कृपाणकः॥ प्र० ६.३१**

सीता राम-प्राप्ति से निराश हो आत्मदाह के लिए उद्यत हो जाती है। वह अशोक वृक्ष से अग्नि की याचना करती हुई कहती है—अशोक, तुम्हीं अपने चित्त को मेरे प्रति सकरुण कर लो। कृपा करके अग्नि की एक कणी दे दो। तुम तो विरहियों के संताप के लिए नवपल्लवों के बहाने से अग्निशिखाओं को प्रकट किया करते हो[४४]। कैसी करुणोक्ति है।

सप्तम अंक में कुम्भकर्ण और मेघनाद के वध की सूचना तथा उसे सुन रावण का मूर्च्छित हो जाना कारुण्यपूर्ण है। जिसके दंष्ट्रा के वज्रघातों से युद्ध में पर्वततुल्य कपीन्द्र विदलित हो जाते थे और जिसकी बाणाम्बुवृष्टि से दावाग्निसदृश वानरराज बुझ जाते थे वह कुम्भकर्ण तथा समरकलाकौतुकी मेघनाद, हाय, दशरथ-सुतों की बाणाग्नि के पतंग बन गये[४५]। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का क्रन्दन भी नितान्त करुण है—

> **हा वत्स लक्ष्मण विकासय नेत्रपद्मे**
> **मा गादिदं युगपदेव समस्तमस्तम्।**
> **भाग्यं दिवाकरकुलस्य च जीवितं च**
> **रामस्य किं च नयनाञ्जनभूमिलायाः॥ प्र० ७.३०**

सुग्रीव द्वारा सान्त्वना देने पर वे कहते हैं कि मैं धैर्य कैसे रखूं? छोटी मां सुमित्रा के सामने जब मैं अकेला पहुंचूँगा और वह लक्ष्मण को देखने के लिये इधर-उधर निष्फल नेत्र-संचार करेगी तब उसे मैं कैसे सह सकूँगा?

> **कनीयस्या मातुः कृतचरणपातः कथमहं**
> **सहिष्ये मत्पार्श्वे विफलपरिवर्तं नयनयोः।**
> **अये शान्तं पापं कठिन इव चेज्जीवितुमना**
> **विना वत्सं रामः पुनरयमयोध्यां प्रविशति॥ प्र० ७.३२**

अद्भुत-रस

प्रसन्नराघव में अद्भुत रस के भी दर्शन होते हैं। जिस शिवधनुष का आरोपण

---

४४. प्र० ६.३५
४५. प्र० ७.२४

बड़े-बड़े शूर नृपति नहीं कर सके उसे शिशु राघव लीलापूर्वक ही कर देते हैं, यह देख पाठक विस्मय-सागर में निमग्न हो जाते हैं। अपनी कोमल अंगुलियों से शिवधनुष की प्रत्यंचा को कान तक खींचने में राम की भृकुटि भी वक्र नहीं होती, और धनुष टूट जाता है। राम के कण्ठ में अहंकार की हुंकार तक नहीं होती, और भग्न होते हुए धनुष की टंकार से जगत् भरपूर हो जाता है—

ज्यावल्लीं ललितांगुलीकिसलयैराकर्णमाकर्षतो
न भ्रूभंगुरतां गता रघुशिशोर्भग्नं धनुर्धूर्जटेः।
नाहंकारतरंगितो ध्वनिरभूत् कण्ठेऽस्य दीर्यद्धनु-
ष्टंकारस्तु चकार ..रतरलः शब्दाद्वितीयं जगत् ॥ प्र० ३.४८

उस टंकार को सुन विष्णु निद्रा से जाग उठते हैं, भुजशालियों का वीरता का गर्व चूर हो जाता है, दिग्गज कर्णांचलों का चालन छोड़ चौकन्ने हो जाते हैं, कूर्मराज कांप उठते हैं—

लक्ष्मणः—भगवन्, अत्यद्भुतं वर्तते। नन्वयम्,
भिन्दन् निद्रां मुरारेः सकलभुजभृतां म्लानयन् शौर्यदर्पं
छिन्दन् दिक्कुम्भिकर्णांचलचलनकलां कम्पयन् कूर्मराजम्।
आर्यश्लाघागभीरः प्रलयजलधरध्वानधिक्कारधीरः
टांकारः कृष्यमाणत्रिपुरहरधनुर्भंगभूराविरस्ति ॥ प्र० ३.४५

राम द्वारा परशुराम के मानमर्दन में भी अद्भुत रस की प्रतीति होती है। परशुराम कहते हैं कि शिवधनुष तो रखा-रखा स्वतः ही जीर्ण हो चुका था, उसके तोड़ने में तुम्हारी क्या वीरता है, यदि वस्तुतः वीर हो तो इस नारायणीय धनुष पर मौर्वी चढ़ाकर दिखाओ। राम उसे भी अनायास खींचकर चक्राकार कर देते हैं—

मा शांभवं धनुरिवेदमपि प्रयातु
भंगप्रसंगमिति मन्दचलद्भुजेन।
आर्येण कार्मुकमपीदमहो सहेलं
वक्रीकृतं भगवतो गरुडध्वजस्य ॥ प्र० ४.४२

जो परशुराम राम पर अतिशय लाल-पीले हो रहे थे उन्हीं के मुख से राम के प्रति आशीर्वाद की वृष्टि होने लगती है—

यशः पूरं दूरं तनु सुतनुनेत्रोत्पलवनी-
तमस्तन्द्राचण्डातप तप सहस्राणि शरदाम्।
इयं चास्तां युष्मच्छरशमितलङ्केश्वरशिरः-
श्रितोत्संगा नन्दत्सुरनरभुजंगा त्रिजगती ॥ प्र० ४.४८

पंचम अंक में ज्यों ही रावण सीता का स्पर्श करना चाहता है त्यों ही अत्रि-पत्नी अनुसूया द्वारा दिये हुए अंगराग के प्रभाव से सीता के चारों ओर अग्नि-शिखायें प्रज्वलित हो उठती हैं, इसमें भी अद्भुतरस का आस्वादन होता है—

रजनिचरकराग्रस्पर्शसंपातविघ्नं
रचयितुमनुसूयादत्तहस्तांगरागाम्।

बहलमनलपुंजः पिंजरज्योतिरुद्यन्
कुवलयदलशीतां संवृणोति स्म सीताम् ॥ प्र० ५.४४

षष्ठ अंक के इन्द्रजाल-प्रसंग में और सप्तम अंक में राम के बाणों से रावण के पुराने सिरों के कट जाने और नवीन-नवीन सिरों के निकलते चलने में[४६] तथा सीता की वह्नि-परीक्षा[४७] में भी अद्भुत रस है।

इतर रस

एक-दो प्रसंग शान्तरस के भी आते हैं। जनक बालक राम को देखकर वैसा ही आनन्द अनुभव कर रहे हैं, जैसा समाधि में परम पुरुष के दर्शन में होता है। यह प्रसंग पाठकों में शम स्थायिभाव का ही संचार करने वाला है—

यथाहं निस्सीमोत्सवसुभगयोगे भवकथा-
पथातीते चेतःप्रणयिनि रमे पुंसि परमे।
तथैवास्मिन् बाले दलदमलनीलोत्पलदलो-
दरश्यामे रामे नयनपदवीमागतवति ॥ प्र० ३.२२

सप्तम अंक में भारद्वाज मुनि के आश्रम के वर्णन में भी शान्तरस है, जहाँ सब प्राणी सहज विरोध को विस्मृत कर परस्पर स्नेहपूर्वक रहते हैं[४८]।

प्रसन्नराघव के प्रायः सभी पात्र वीर हैं, अतः भयानक रस इसमें नहीं के बराबर है। केवल मन्दोदरी सप्तम अंक में कपि-सेना के कोलाहल से तथा शकुन-परीक्षा में पति के पराजय की सूचना से भयभीत प्रदर्शित की गई है। बीभत्स रस के प्रदर्शन का अवसर भी इस नाटक में नहीं आया है, केवल चतुर्थ अंक में जामदग्न्य की एक उक्ति में कथंचित् यह माना जा सकता है, जहाँ वे अपने परशु से काटे हुए क्षत्रियों के कंठ से निसृत रुधिर से स्नान कर तथा नरमुंडों के केशों को कुशा बनाकर रक्त की जलांजलि देते हुए पितरों के मन में जुगुप्सा उत्पन्न करते वर्णित हुए हैं[४९]। ठीक-ठीक देखा जाये तो यह प्रसंग विस्मय, जुगुप्सा, करुणा, त्रास और हास की एकत्र एक काल में अवस्थिति के कारण भाव-सन्धि का है।

जनक एवं शतानन्द द्वारा राम-लक्ष्मण के वर्णन में[५०] तथा सीता के मृगों और यवांकुरों के प्रति सदय व्यवहार में[५१] वत्सलरस का चित्रण हुआ है।

९. भावादि चित्रण

प्रथम अंक में कवि द्वारा वाल्मीकि और राम के प्रति[५२], द्वितीय अंक में राम

---

४६. प्र० ७.४७
४७. प्र० ७.५३
४८. प्र० ७.७९, ८०
४९. प्र० ४.३३
५०. प्र० ३.१७,१८
५१. प्र० ५.२३
५२. प्र० १.९–१३

एवं सीता का चण्डी देवी के प्रति[५३], तृतीय अंक में जनक का विश्वामित्र के प्रति[५४], चतुर्थ अंक के अन्त में राम का परशुराम के प्रति[५५] तथा सप्तम अंक में राम का माता गंगा और भगवान् सूर्य के प्रति[५६] तथा सुग्रीव और विभीषण का राम के प्रति[५७] भक्ति-प्रकाशन भाव-ध्वनि के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

निम्न श्लोक में भाव-सन्धि का चित्रण सुन्दर हुआ है। लीलापूर्वक शिव-धनुष को तोड़ राम जानकी द्वारा पहनाई गई कमल-माला को धारण किये लज्जावश अधोमुख खड़े हैं। उन्हें देख राजाओं के मन में एक साथ क्रोध, विषाद, विस्मय और हर्ष के भाव उत्पन्न हो रहे हैं।

क्रीडाभग्नमृगाङ्कमौलिधनुषं सीतार्पितां वक्षसा
बिभ्राणं कमलस्रजं निजगृहं शृंगारवीरश्रियोः।
रामं व्रीडवशादवाङ्चितमुखं भूमीभुजां पश्यतां
चेतः क्रोध-विषादविस्मय-मुदामूर्मीः समालिङ्गति॥ प्र० ३.४७

अधोनिर्दिष्ट पद्य में कवि ने राम के प्रति परशुराम के चित्त में क्रमशः आविर्भूत होने वाले करुणा, क्रोध, अनुक्रोश तथा अमर्ष के भावों की शबलता का निर्वाह कैसी कुशलता से किया है—

रामे चन्द्राभिरामे विनयवति शिशौ किं प्रकुप्यातिमात्रं
हुं चापं चन्द्रमौलेश्चपलमतिरसाविक्षुदण्डं बभंज।
बाला वैधव्यदीक्षां जनकनृपसुता नार्हतीयं मदस्त्रात्
आः शान्तो मे कुठारः कथमयमधुना रेणुकाकण्ठशत्रुः॥ प्र० ४.१८

१०. सूक्तियाँ

नाटक में कवि ने स्थान-स्थान पर सूक्तियां भी संनिविष्ट की हैं, जिनसे वर्णन में सजीवता उत्पन्न हो गई है। इनमें से कतिपय यहां उल्लिखित की जाती हैं।

१. कथमहं निजशिरःशेखरशयाल्वपि नीलोत्पलं रत्नाकरचपलवीचिमालापरिसरे विचारयामि।
२. कथमविदितचन्द्रमसश्चकोरकिशोरस्य चरितमनुस्मृतोऽस्मि।
३. केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय।
४. विषस्य विषमौषधं भविष्यति।
५. कथं रे पलालभारनिःसारेण भुजभारेण वीरंमन्योऽसि।
६. परस्त्रीति शङ्कापि संकोचाय रघूणाम्।
७. स्त्रीणां कलाः परिचिताः स्थिरतां प्रयान्ति।

---

५३. प्र० २.३
५४. प्र० ३.६
५५. प्र० ४.४७
५६. प्र० ७.८८, ९०
५७. प्र० ७.६८, ६६

८. मधुरविधुरमिश्राः सृष्टयो हा विधातुः ।
९. अयि तव मुखलेखा चन्द्रबिम्बे सस्नेहा ।
१०. अन्तस्तोषं न केषां किसलयति जगन्मण्डनं खण्डमिन्दोः ।
११. कथं तनुरिव मतिरपि ते वामनी यदीदृशालीकलोकवृत्तान्तेऽपि प्रत्याय्यते ।
१२. सम्बन्धिजने परिहासवचनानि न पापकारणानि भवन्ति ।
१३. देवताधिष्ठितानि हि मुग्धवचनानि भवन्ति ।
१४. शोभन्ते एव विनयमधुराणाम् अधरीकृतात्ममहिमानः कामं सत्यविधुरा अपि वाचः ।
१५. गृहीतमिदम् अधिशेखरम् आज्ञाकुसुमं भगवतः ।
१६. निग्रहानुग्रहयोः स्वाधीनोऽयं जनः, परं ते कोपबीजं ज्ञातुमिच्छामि ।
१७. भगवन्, अलीकलोकवार्तया निरपराधे मयि मुधा कोपकलंकितोऽसि ।
१८. आः, कथं रे, चन्दनदिग्धं नाराचं निधाय हृदयं मे शीतलयसि ।
१९. किं नाम वाग्डम्बरपण्डितेषु युष्मासु वाणीः प्रचुराः प्रयुञ्जे ।
२०. दुर्विनयपङ्कमलिनीकृतमात्मानं तावद् भवच्चरणनखकिरणतरंगिणीजलेन क्षालयामि ।
२१. को जानाति विधेः संविधानवैदग्ध्यम् ।
२२. न खल्वप्रोषितसलिलसेकः कमलकेदारः परिशुष्यति ।
२३. कथं दावानलशोषितायां तरुशाखायां कुठारमारोपयितुमिच्छसि ।
२४. सेयं प्रथमदर्शिततीव्रातपा पीयूषवृष्टिः ।
२५. प्रायो दुरन्तपर्यन्ताः संपदोऽपि दुरात्मनाम् ।
२६. भवन्ति हि सुखोदर्का विपदोऽपि महात्मनाम् ।
२७. का पुनरिमानि सूचीशलाकाविद्धानि मम नखान्यलक्तकरसेन सिञ्चति ।
२८. इदानीं चन्दनचण्डातपलिप्यमानपार्श्वयुगला वर्ते ।
२९. तत्कथमयम् अदृष्टचन्द्रलेखश्चन्द्रालोकः ।
३०. निजेऽप्यपत्ये करुणा कठिनप्रकृतेः कुतः ।
३१. किमिति हरमुकुटमृगांके कलङ्कमारोपयिष्ये ।
३२. अपि खद्योतभासापि समुन्मीलति पद्मिनी ।
३३. निजचित्तभित्तिभूमिकानुसारीणि वाक्चित्राणि लोकस्य ।

११. सुभाषित पद्य

प्रसन्नराघव के कतिपय सुभाषित पद्य भी विशेष हृदयग्राही हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

१. आकारेणैव चतुरास्तर्कयन्ति परेङ्गितम् ।
गर्भस्थं केतकीपुष्पमामोदेनेव षट्पदाः ॥ १.४

२. गुणग्रामाविसंवादि नामापि हि महात्मनाम् ।
यथा सुवर्णश्रीखण्डरत्नाकरसुधाकराः ॥ १.५

३. अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः ।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ॥ १.१६

४. वार्ता च कौतुकवती विमला च विद्या
लोकोत्तरः परिमलश्च कुरंगनाभेः ।
तैलस्य बिन्दुरिव वारिणि दुर्निवार-
मेतत् त्रयं प्रसरति स्वयमेव भूमौ ॥ २.२

५. न ज्ञातुं नाप्यनुज्ञातुं नेक्षितुं नाप्युपेक्षितुम् ।
सुजनः स्वजने जातं विपत्पातं समीहते ॥ ५.२

६. प्रोषितवति रजनिकरे बन्धुतया न खलु कैरवाण्येव ।
म्लायन्ति किन्तु सहसा भुवनान्यपि तमसि मज्जन्ति ॥ ५.५

७. उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते ।
चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका ॥ ७.१

८. आचान्तकान्तिरुन्निद्रैर्मयूखैरहिमत्विषः ।
धूसरापि कला चान्द्री किं न बध्नाति लोचनम् ॥ ७.६

अष्टम अध्याय में महाकवि जयदेव की काव्य-कला के भाव-पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में रीति, गुण, अलंकार आदि के रूप में इनकी काव्य-कला का निरीक्षण किया जायेगा।

रीति

प्रसन्नराघव में रीति प्रायः पांचाली तथा लाटी है। अनेक स्थलों पर वैदर्भी की छटा भी दृष्टिगोचर होती है। प्रसंगानुरूप क्वचित् गौडी रीति के भी दर्शन होते हैं। जयदेव के अपने मतानुसार चार पदों के समास तक पांचाली, सात पदों के समास तक लाटी, आठ या अधिक पदों के समास में गौडी, एवं समास सर्वथा न होने पर वैदर्भी रीति होती है, तथा साथ में रस का विचार भी किया जाता है, यह पहले चन्द्रालोक के रीति-विचार में दर्शाया जा चुका है। इस दृष्टि से प्रसन्नराघव में इन रीतियों के निम्न उदाहरण अवलोकनीय हैं—

वैदर्भी : न ब्रह्मविद्या न च राजलक्ष्मी-
स्तथा यथेयं कविता कवीनाम्।
लोकोत्तरे पुंसि निवेश्यमाना
पुत्रीव हर्षं हृदये करोति ॥ प्र० १.२३

पांचाली : बन्धूकबन्धुरधरः सितकेतकाभं
चक्षुर्मधूककलिकामधुरः कपोलः।
दन्तावली विजितदाडिमबीजराजि-
रास्यं पुर्नविकचपङ्कजदत्तदास्यम् ॥ प्र० २.८

लाटी : निजनखशिखालेखालीढस्फुरत्कमलस्तनीं
निरतमधुपश्रेणीगीतां चलन् कलहंसकः।
अकरुणशशिप्रेङ्खत्पादप्रहारविमूर्च्छिता-
महह ! नलिनीं क्लान्तक्लान्तां मुहुर्मुहुरीक्षते ॥ प्र० ६.८

गौडी : उद्दण्डचण्डिमलसद्भुजदण्डखण्ड-
हेलाचलाचलहराचलचारुकीर्त्तेः।
कीदृग्यशस्तुलितबालमृणालकाण्ड-
कोदण्डकर्षणकदर्थनयाऽनया मे ॥ प्र० १.४८

वृत्ति

चन्द्रालोक में जयदेव ने मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा ये पांच वृत्तियां स्वीकार की हैं, जिनका सोदाहरण निरूपण, इस शोधप्रबन्ध के षष्ठ अध्याय में किया जा चुका है। प्रसन्नराघव में भी कवि ने इन वृत्तियों के प्रयोग से चारुता

उत्पन्न की है। मधुरा, ललिता तथा इनके मिश्रण का चमत्कार अधिक पाया जाता है। यथास्थान अन्य वृत्तियां भी हैं। उदाहरणार्थ निम्न श्लोकों में से प्रथम में असंयुक्त लकार, मकार, रकार तथा सकार के कारण तथा द्वितीय में मकार, धकार, रकार, सकार के कारण ललिता वृत्ति का चमत्कार है[1]—

अमलमृणालकाण्डकमनीयकपोलरुचे-
स्तरलसलीलनीलनलिनप्रतिफुल्लदृशः ।
विकसदशोकशोणकरकान्तिभृतः सुतनो-
र्मदलुलितानि हन्त ललितानि हरन्ति मनः ।। प्र० २.२०
तरुरयमितः शीतच्छायः स्रवन्मधुशीकरः
सरिदियमितः स्वल्पस्वच्छप्रवाहमनोहरा ।
इदमिदमितः स्निग्धामोदं मुहुर्मधुरध्वन-
न्मधुकरवधूमुग्धाभोगं वनं सरसीरुहाम् ।। प्र० ५.२२

निम्न श्लोकार्ध में वर्ग्यवर्णों के ऊपर रेफ संयोग एवं क्त तथा प्त के प्रयोग के कारण प्रौढा वृत्ति है[2]—

तुहिनकरमयूखैर्दीप्तकन्दर्पदर्प-
स्तपनकुलवधूटीं त्वामयं मुक्तलज्जः ।। प्र० ६.२३

अधोनिर्दिष्ट श्लोकांश में रेफ तथा श, ष् के कारण परुषा वृत्ति है[3]—

क्रीडाविनिर्मितसुदुर्मददोर्विलास-
निःशेषराजकवधस्य परश्वधस्य । प्र० ४.२८

निम्न पद्यों एवं पद्यांशों में मधुरा वृत्ति का सौष्ठव है—

चरणकमलगुञ्जन्मञ्जुमञ्जीरशब्दैः । प्र० ५.१३
अधिचरणममू चमूरुनेत्रे मृदुरणितौ मणिनूपुरौ विधेहि ।
अहरपि विरहं न यन्महिम्ना हरिणदृशः सह वल्लभैर्लभन्ते ।। प्र० ५.४२

निम्न श्लोक में मधुरा और ललिता वृत्तियों का सुन्दर मिश्रण है—

तरलतरतरङ्गभङ्गहेलाबहलविलासविलोलहंसमाला ।
अमरपुरतङ्गिणीयमम्बा सुरनरमङ्गलकारिणीन दूरे । प्र० ७.८८

भाषा

जयदेव की भाषा में प्रवाह है। शब्द सरल हैं। कठिन तथा अप्रयुक्त शब्दों के प्रयोग द्वारा पाण्डित्यप्रदर्शन का प्रयत्न ये नहीं करते। इनकी भारती छोटे-छोटे मनोहर शब्दों से गुंथी हुई मनोरम मालतीमाला के समान सुशोभित होती है। क्वचित् नामों को लम्बे विशेषण पदों से सूचित करने की इनकी प्रवृत्ति पायी जाती है। जैसे शिव के लिए चन्द्रकलाकिरीट या कुमुदिनीकान्तकलाकिरीट, सूर्य के लिए

---

१. लकारोऽन्यैरसंयुक्तो लघवो घमधा रसौ, ललितायाम् । च० ६.२६

२. च० ६.२४

३. च० ६.२५

पद्मवनबान्धव, कैलास के लिए शशांकमुकुटाचल, पार्वती के लिए तरुणतुहिनकरचूडामणिरमणी का प्रयोग किया है। सुन्दर मुहावरेदार सजीव भाषा लिखने में ये सिद्धहस्त हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में प्रचुर भाव निहित कर देते हैं। कतिपय उदाहरण निम्न हैं—

धनुरिति वक्रः पन्थाः। चित्रीयते मे चेतः। शिथिलादरः संवृत्तः। सादृश्येन प्रतारितोऽस्मि। वृत्तान्तम् उपायनीकरोमि। महान् अनर्थाङ्कुरोद्भेदः। प्रकृतं तावत् उपक्रमामहे। कथमयं वाचाटतां प्रकटयति? इदानीमुद्भिन्नो मम मनोरथाङ्कुरः। ममापि भुजभारं निस्सारं व्यपदिशसि? अलमलीकजल्पितेन। किमिति दुर्मनायिष्ये। ननु सुखोपश्रुतिरियम। अहो, कर्णामृतम्। कः पुनराभ्यां पुत्रवतां मौलिमाणिक्यमारोपितः? भवतोर्महिम्नि भवन्तावेव साक्षिणौ। बध्यतां परिकरः। अनुवर्तस्व महर्षेर्वचनम्। समीहितं निष्पादयामः। अहोऽस्य दुखलेपः। अनुचितमुदासितुमेतस्मिन् कृतागसि। अर्धमुग्धः खल्वयं जनः। अलीकलोकवार्तया निरपराधे मयि मुधा कोपकलङ्कितोऽसि। अलमिह माननीये मुनौ दुर्विनयवैदग्ध्येन। अलमिह क्षीरकण्ठे कठोरकोपतया। विषकण्ठः खल्वसौ। कथं भृगूणामग्रे तपस्ताण्डवं मण्डयसि। समरक्षमां क्षमामवतरावः। एकामिषाभिलाषो हि बीजं वैरमहातरोः। सकलजनमनः साधारणी हि रामचन्द्रमाधुरी। अहो सचमत्कारता संविधानस्य। अये अलीकवाग्डम्बरं निशाचरस्य। भवानपि समीहितं साधयतु। एषा निमग्नास्मि शोकतिमिरे। अहह, करुणैकार्णवो वर्तते। वक्रो हि विधिः। अलं तुच्छप्रायजल्पितेन।

जयदेव की भाषा में पदलालित्य भी अनूठा है। विषय के अनुरूप नर्तन करती हुई पदावली सहृदयों के हृदय को हर लेती है। पदों का मनोरम सन्निवेश गर्भित भाव को भी ध्वनित करता प्रीतत होता है। यथा—

वासन्तीरसबिन्दुं सुन्दरमिन्दिन्दिरा इह चरन्ति।
चिरमन्दिरमरविन्दं मन्दं मन्दं परिहरन्ति॥ प्र० २.१८

वैचित्र्यप्रदर्शन में अभिरुचि

जहाँ जयदेव सरल एवं कोमल पदावली लिखने के पक्षपाती हैं, वहाँ क्वचित् इन्होंने वैचित्र्यप्रदर्शन में भी अपनी अभिरुचि दिखाई है। इन्होंने 'प्रत्यङ्कमङ्कुरितसर्वरसावतारम्'[४] आदि श्लोक लिखा है, जिसकी आठ पंक्तियां बनायें तो प्रत्येक पंक्ति का आदि अक्षर लेने पर 'प्रसन्नराघव-नाम' बन जाता है। इस सूक्ति से चमत्कृत हो नट ने इसे विचित्रमधुर सूक्ति कहा है[५]।

प्रथम अंक में मंजीरक पुरुषवेषधारी रावण को कहता है—

अयेऽलंकेश विस्रस्तशेखरालोकनेन ते।
समयो याति तत्तूर्णं गृहाण हारकार्मुकम्॥ प्र० १.३८

४. प्र० १.७

५. अहो, देव्याः कविकुलकुमुदविकासचन्द्रिकायाः प्रसादहिमा सरस्वत्याः, यत्प्रसादादेवंविधाः कवीनां विचित्रमधुराः सूक्तयः समुल्लसन्ति।

मंजीरक का अभिप्राय यह है कि केशों से विस्रस्त शिरोमुकुट के आलोकन में तू समय व्यर्थ नष्ट क्यों करता हैं ? किन्तु रावण 'अये अलं केश०' के स्थान पर 'अये लंकेश' यह योजना कर मन में कहता है कि अरे, क्या इसने पहचान लिया कि मैं रावण हूँ ? यहाँ भी कवि ने वैचित्र्य उत्पन्न करने का यत्न किया है।

इसी प्रसंग में मंजीरक पुरुषवेषधारी रावण को कहता है कि धनुष तो यह है, और सीता धनुष के आरोपण के पश्चात् लोचनगोचर हो सकेगी। तब रावण कहता है कि राशिनक्षत्रपाठकों की गोष्ठी क्या तूने नहीं देखी ? वे तो कन्या को ही पहले प्रकट करते हैं, धनु राशि को बाद में। इस पर मंजीरक उसे आड़े हाथों लेता है—'अयि, एतावति वीरमण्डले त्वमेव नक्षत्रविद्याकुशलः।' इसका एक भाव तो यह है कि इतने वीरों के वीच में तू ही अकेला नक्षत्र-विद्याकुशल है, और दूसरा यह है कि अकेला तू ही है जो क्षत्रविद्या में कुशल नहीं है।

द्वितीय अंक में वाटिकाप्रसंग में सखी सीता से पूछती है कि तेरा चित्त कहां था जो तूने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया। सीता कहती है—**आरामम्मि (आरामे)**। इस पर सखी हंस कर कहती है कि मैंने तेरी चतुराई समझ ली, सीधा 'रामे' क्यों नहीं कहती ? तूने तो आकार (आ अक्षर) प्रकट करके ही आकार (आशय) को छिपा लिया है,[६] क्योंकि 'आरामे' का अर्थ हो जाता है 'उद्यान में', जबकि तेरा चित्त तो राम में था। पर कहां तक छिपायेगी, प्रकट तो इसप्रकार भी हो ही गया—'आ, रामे।'

काव्यगुण

पीयूषवर्ष ने चन्द्रालोक में जो श्लेष, प्रसाद, समता आदि आठ काव्यगुण[७] वर्णित किये हैं उनकी मनोहारिता भी प्रसन्नराघव में यत्र-तत्र दृष्टिगत होती है। चन्द्रालोक में इनका जो स्वरूप कथित हुआ है तदनुसार कतिपय उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

श्लेष—किसी अघटमान बात को युक्ति से घटमान प्रदर्शित करने में आर्थ श्लेषगुण होता है। उदाहरणार्थ, कवि कहता है कि सरस्वती के चरणकमलों की रेणु-कणिका सत्पुरुषों के मानस में पहुँच कवितालतारूप में परिणत हो जाती है, उसका जो सुभाषित रूपी किसलय निकलता है वह सरस्वती के भी कान की शोभा बढ़ाता है। पर उसके कान में तो पहले ही पारिजातकलिका का गुच्छा भूषण बना हुआ है। कवि युक्ति से उसे गिरवा देता है जिससे सूक्त-किसलय उसका कर्णालंकार बन सके। सत्कविता के प्रभाव से सरस्वती का सिर झूम उठता है, जिससे पारिजात का गुच्छा गिर जाता है।

वाणि त्वत्पदपद्मरेणुकणिका या स्वान्तभूमिं सतां
सम्प्राप्ता कवितालता परिणता सैवेयमुज्जृम्भते।

---

६. अहो ते चातुर्यं, यत् आकारप्रकटनेनैवाकार-गुप्तिं कृतवत्यसि। प्र०, पृ० ११८
७. द्रष्टव्यः च० ४.१–१०

त्वत्कर्णेऽपि चिराय यत्किसलयं सूक्तापदेशं शिरः-
कम्पभ्रंशितपारिजातकलिकागुच्छे विधत्ते पदम् । प्र० १.८

सजातीय शब्दों के सुखावह वन्ध में ये शाब्द श्लेष मानते हैं । इसकी चारुता तो प्रसन्नराघव में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है । उक्त उदाहरण में भी 'त्वत्पदपद्मरेणु-कणिका', 'स्वान्तभूमि सतां' तथा 'सम्प्राप्ता कवितालता परिणता' में शाब्द श्लेष-गुण है ।

प्रसाद—जिससे अन्तःस्थित सकल अर्थ स्वयं अवभासित हो जाये उसे पीयूषवर्ष ने प्रसादगुण कहा है । इसके उदाहरणों की प्रसन्नराघव में कमी नहीं है, यतः कवि का आदर्श ही सरल भाषा है । निम्न पद्य देखिए—

बाला विदेहतनया तरलौ भवन्तौ
दिग् दक्षिणा च रजनीचरचक्रदुष्टा
तद् वत्स वत्सलतयेदमुदाहरामो
मा राम गच्छ नयदक्षिण दक्षिणाशाम् ।। प्र० ५.१५

समता—ये अल्पसमासत्व को तथा वर्णादि से तुल्यता को समता गुण कहते हैं । अल्पसमासत्व के उदाहरण उपर्युक्त दोनों श्लोक ही बन सकते हैं । 'सम्प्राप्ता कविता, लता, परिणता' चारों के अन्त में ता होने से वर्णादि की तुल्यता भी है । इसी प्रकार 'बाला विदेहतनया' तथा 'तरलौ भवन्तौ' भी इसके उदाहरण हो सकते हैं ।

समाधि—समाधि इनके मत में वह अर्थमहिमा है जिसके सान्द्र रसरूप में परिणत होकर चित्त में प्रवेश करने में सहृदयों का गात्र रोमांचित हो उठे । सप्तम अध्याय में रसों के जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें से कई इस गुण की कोटि में आ जाते हैं । दण्डी ने, जैसा कि हम पूर्व देख चुके हैं, अन्य का धर्म अन्य में आरोपित करने को समाधि कहा है । तदनुसार चन्द्रवर्णन के निम्न श्लोक में समाधिगुण है, यतः अम्भोजों में निमीलन रूपी नेत्रव्यापार, मृगलोचनाओं के मान में समुन्मीलन रूप नेत्रव्यापार, ज्योत्स्ना में कन्दलित होना रूपी तरुशाखाव्यापार, तथा इन्दु में कवलन रूपी चेतनव्यापार वर्णित हैं—

स्वैरं कैरवकोरकान् विदलयन् यूनां मनः खेदय-
न्नम्भोजानि निमीलयन् मृगादृशां मानं समुन्मीलयन् ।
ज्योत्स्नां कन्दलयन् दिशो धवलयन्नुद्वेलयन् वारिधीन्
कोकानाकुलयंस्तमः कवलयन्निन्दुः समुज्जृम्भते ।। प्र० ७.६०

'भीतं विलोक्य हरिणं करुणार्द्रचित्ता 'प्र० ५.२३' आदि में वामनसंमत आरोहावरोह रूप समाधि है । चन्द्रमा को गगनकमलिनीपत्र पर पड़ी हुई पानी की बूँद[८] कहने में अयोन्यर्थदृष्टिरूप समाधि है । इसीप्रकार चन्द्र को दिशा-सुन्दरी का

८. प्र० २.३५ तथा ७.६४

चन्दन-तिलक, कामदेव रूपी नृप का पाण्डुच्छत्र, वियल्लक्ष्मी रूप मृगलोचना का कर्णालंकार, रति का श्वेत क्रीडाकमल, रजनी-रमणी का राजतसीधुपात्र[९] कल्पित करने में भी अर्थसमाधि गुण है।

माधुर्य—पुनरुक्त के चारुतावह वैचित्र्य को पीयूपवर्ष ने माधुर्यगुण कहा है, जिसका चन्द्रालोकप्रदत्त उदाहरण **'वयस्य पश्य पश्यास्याश्चञ्जलं लोचनाञ्चलम'** च० ४.६ है। इसप्रकार का माधुर्यगुण प्रसन्नराघव में कई स्थलों पर आता है, यथा प्रथम अंक में अकस्मात् दस सिरों वाले रावण को देख नूपुरक निम्न शब्दों में अपना कौतूहल प्रकट करता है—**वयस्य पश्य पश्य कौतूहलं, यदेकस्यापि मानुषस्य दश मस्तकानि।** इसीप्रकार चतुर्थ अंक में प्रतीहारी सीता को राम की ओर नेत्रवाण चलाते देख कंचुकी से कहती है—**आर्य, पश्य पश्य कौतूहलम्, सीतारामाभ्यां मिलित्वा पुनर्हरचापारोपणं समग्रीक्रियते।**

'प्रसीद त्वं रोषाद् विरम कुरु मे चेतसि गिरं, प्र० ४.३५' आदि में वामनाभिमत पृथक्पदत्व रूप शब्दमाधुर्य हैं। निम्न पद्यार्ध में उक्तिवैचित्र्य रूप अर्थमाधुर्य है, जहाँ समान अर्थ को छिन्दद्, भिन्दन् आदि भिन्नार्थक शब्दों से प्रकट किया गया है—

> **भिन्दन् निद्रां मुरारेः सकलभुजभृतां म्लानयन् शौर्यदर्प**
> **छिन्दन् दिक्कुम्भिकर्णाञ्चलचलनकलां कम्पयन् कूर्मराजम्।** प्र० ३.४५

ओज—जयदेव के अनुसार ओज गुण के दो रूप हैं, एक तो अर्थ की प्रौढि, दूसरा विस्तीर्ण का संक्षेप। जो जिस क्रिया आदि का वस्तुतः आश्रय न हो उसे उसका आश्रय कथन करना प्रौढि है। इसका उदाहरण प्रसन्नराघव का निम्न श्लोक है, जिसमें परशु को, जो कि वस्तुतः जगत् को अजनक-रहित करने की क्रिया का करण है, उस क्रिया का कर्ता कहा गया है—

> **सकलनृपकठोरकण्ठपीठीबहलगलद्रुधिरौघधौतधारः।**
> **तदिदमजनकं जगद् विधत्ते परशुरयं जमदग्निनन्दनस्य॥** प्र० ४.३

द्वितीय प्रकार के ओज का चमत्कार निम्न उदाहरण में देखा जा सकता है, जहाँ अनेक वाक्यों द्वारा वक्तव्य अर्थ संक्षेप से एक वाक्य में कथित हो गया है—

> **दर्पोद्धतं दधिमुखं तरसा निपीड्य**
> **पीत्वा चिरं मधुवने स्वरसं मधूनि।**
> **द्रष्टुं समेति भवतः पदपद्मलीलां**
> **नीलाङ्गदप्रभृतिभिः सहितो हनूमान्॥** प्र० ६.५१

सौकुमार्य—परुष अर्थ को भी अपरुष पर्याय के प्रयोग से सुकुमार रूप में प्रकट करना सौकुमार्य गुण कहलाता है। इसका उदाहरण है प्रसन्नराघव का निम्न पद्यांश—

> **सङ्ग्रामे दशकन्धरः सुररिपुर्नीतो यशःशेषताम्॥** प्र० ७.९३

उदारता—वैदग्ध्यभणिति को जयदेव उदारता गुण कहते हैं, अर्थात् ग्राम्य

---

९. प्र० ७.६२

अर्थ को भी विदग्धता पूर्वक कहना। यथा, 'सीता मेरी ओर देख रही है' इसी बात को प्रसन्नराघव में विदग्धता का आश्रय ले इस रूप में कहा गया है—

अमृतमयपयोधिक्षीरकल्लोललोलैः
स्नपयति तरलाक्षी यत्र मां नेत्रपातैः ॥ प्र० २.२८

ध्वनिकार अभिनवगुप्त एवं मम्मट आदि की दृष्टि से विचारें तो माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीनों रसगुण भी प्रसन्नराघव में विच्छित्तिविधायक हुए हैं। यथा—

माधुर्य

योऽयं बहिः कलितकुंकुमरेणुराग-
मन्तस्तु सम्भृतदयं हृदयं दधानः।
पारेतरङ्गिणि मुहुः करुणं रटन्ती-
मालोकते सहचरीं न तु सन्निधत्ते ॥ प्र० ६.६

ओज

यः कर्तार्जुनभूरुहाद्भुतभुजाशाखासहस्रच्छिदां
दम्भोलेर्गिरिकूटपाटनपटोः शौण्डीर्यतो लज्जते।
तस्यैतस्य परेतराजसदनद्वारः कुठारस्य मे
का श्लाघा दशकण्ठकण्ठकदलीकाण्डावलीखण्डने ॥ प्र० ४.१०

प्रसाद

हा वत्स लक्ष्मण विकासय नेत्रपद्मे
मा गादिदं युगपदेव समस्तमस्तम्।
भाग्यं दिवाकरकुलस्य च जीवितं च
रामस्य किंच नयनाञ्जनमूर्मिलायाः ॥ प्र० ७.३०

शब्दालंकार

कविवर जयदेव ने अपनी सहजसुन्दर सरस्वती को अनुरूप अलंकारों से अलंकृत कर नितान्त मनोरम बना दिया है। उसमें शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों की छटा अतिशय लुभावनी प्रतीत होती है। चन्द्रालोक में जो भी शब्द एवं अर्थ के अलंकार वर्णित हुए हैं उनमें से प्रमुख अलंकार प्रसन्नराघव में प्रयुक्त हो गये हैं।

अनुप्रास

अनुप्रासमयी पदावली का प्रयोग इन्हें विशेष रुचिकर है। छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास की रुचिरता इन्होंने स्थान-स्थान पर प्रकट की है, जिससे पदलालित्य की चारुता भी उत्पन्न हो गई है। यथा—

अत्र ते सखि शिखण्डमण्डने पुण्डरीकरमणीयलोचने।
श्यामतामरसदामकोमले रामनामनि मनो मनोभवे ॥ प्र० २.२३
सुरमुरजगभीरधीरनादद्विगुणगुणध्वनिचापदत्तहस्तः।
पुरजननयनैः कृतं दधानः कुवलयदाम जगाम रामभद्रः ॥ प्र० ५.१६

विहरास्मिन् रमणीये शुचिपयसि स्मेरनीरजे सरसि।
पुरतरुणीचरणरणन्मणिनूपुरकूजितोत्कुतुकः ।। प्र० ५.४१
भिन्नप्रभिन्नसुरकुञ्जरकुम्भमुक्तमुक्ताफलैर्विचलितैः कलिताधिवासः।
अद्यैव खेचरनिशाचरलोचनानामुन्मीलयन्मुदमुदञ्चति चन्द्रहासः ।।
प्र० ७.२५

निम्न उदाहरणों में छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा स्फुटानुप्रास (अन्त्यानुप्रास) तीनों की मनोहारिता द्रष्टव्य है—

लालयन्तमरविन्दवनानि क्षालयन्तमभितो भुवनानि।
पालयन्तमथ कोककुलानि ज्योतिषां पतिमहं महयामि ।। प्र० ३.३
पयोभिः सिच्यन्तां बहलविहलसत्कुङ्कुमरसैः
प्रसूनैः कीर्यन्तां परिमलमिलल्लोलमधुपैः।
चतुष्कैः पूर्यन्तामविरललसन्मौक्तिकगणै-
र्मुदा पौरस्त्रीभिर्नगरपथरथ्याङ्गणभुवः ।। प्र० ३.६

अधोलिखित श्लोक में चन्द्रालोक-प्रतिपादित पांचों अनुप्रासों—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास तथा अर्थानुप्रास—का एक साथ प्रयोग अत्यन्त चामत्कारिक है—

उत्तरङ्गय कुरङ्गलोचने लोचने कमलगर्वमोचने।
अस्तु सुन्दरि कलिन्दनन्दिनीवीचिडम्बरगभीरमम्बरम् ।। प्र० २.२२

यमक

कवि ने कहीं-कहीं यमक का वैचित्र्य भी चित्रित किया है। निम्नलिखित कतिपय उदाहरणों में इसकी चारुता देखी जा सकती है—

१. श्रीचन्द्रचूडचरण च रणे च कामं
छिन्नोऽपि मस्तकगणो मम मङ्गलाय ।। १.४४
२. अये, इयमसौ मदकलकलहंसोत्तंसितसितसरोज-
राजिराजिता सरसी सरसीकरोति मे चेतः। पृ० ९८
३. गाधिनन्दन न नन्दनजन्मा तादृशः स हरिचन्दनशाखी
यादृशो मम भवत्पदपद्मद्वन्द्ववन्दनविधिः सुखहेतुः ।। ३.९
४. मारीचमारीचतुरं सुबाहोरपवारणम्।
न्यस्यतां लक्ष्मणकरे ताटकाताडनं धनुः ।। ३.३२

अर्थालंकार

जयदेव का कवि-हृदय काव्य-कल्पना में विशेष उल्लास अनुभव करता है। अतएव इनके काव्य में अर्थालंकारों की मधुर छवि इतस्ततः छिटकी हुई है। अलंकृत शैली के कवियों के समान इनकी कविता अलंकारों से बोझिल नहीं हुई है, अपितु इनके अलंकार स्वाभाविकता को लिए हुए हैं। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक एवं निदर्शना के प्रयोग में इन्होंने अधिक रुचि प्रदर्शित की है। यथास्थान

सन्देह, भ्रान्तिमान्, विकल्प, दीपक, तुल्ययोगिता, परिसंख्या, काव्यलिंग आदि अलंकार भी प्राप्त होते हैं।

उपमा

यद्यपि कालिदास के काव्य में उपमा को जो स्थान प्राप्त है वह इनके काव्य में नहीं है, तथापि अनेक सुन्दर उपमाएं इनके काव्य को सुशोभित कर रही हैं। उपमा के कुछ सुन्दर प्रसंग निम्न हैं।

१. हाथी-दांत की शलाकाओं से रचित धवल मंचों पर कुंकुम का अंगराग लगाये नृपतिगण आसीन हैं। उनकी ऐसी शोभा हो रही है, जैसे शुभ्र स्फटिकप्रस्तरों के प्रासादशिखरों पर बने हुए सुनहरे सिंह शोभित होते हैं, अथवा जैसे क्षीरसागर की लहरियों पर नवोदित चन्द्रमण्डल के प्रतिबिम्ब भासित होते हैं—

गजेन्द्रदशनस्निग्धशलाकासहस्रनिर्मितेषु मञ्चेष्वासीना
इमे कुंकुमकृताङ्गरागा राजानोऽमलस्फटिकप्रासादशिखरा-
संगिनः कनकसिंहा इव राजन्ते। अमुग्धदुग्धसागरलहरी—
शिखरावलम्बिनोऽभिनवोद्गच्छन्निशाकरबिम्बप्रतिबिम्बा इव शोभन्ते।
प्र०, पृ० ४०

२. कौतुकमयी वार्ता, निर्मल विद्या तथा कस्तूरी की गन्ध स्वयं चारों ओर ऐसे ही फैल जाती है, जैसे पानी में तैल की बूंद। यहां तैल-बिन्दु की उपमा कैसी उपयुक्त जंचती है? दीपक अलंकार के साथ इसका संकर सोने में सुगन्ध का कार्य कर रहा है।

वार्ता च कौतुकवती विमला च विद्या
लोकोत्तरः परिमलश्च कुरङ्गनाभेः।
तैलस्य बिन्दुरिव वारिणि दुर्निवार—
मेतत् त्रयं प्रसरति स्वयमेव भूमौ॥ प्र० २.२

३. मिथिलोद्यान में सीता श्याम छवि वाले कदली-पत्रों के मध्य राम को दिखाई दे जाती है। वे कहते हैं कि यह मुझे ऐसे ही मुदित कर रही हैं, जैसे नवीन मेघखण्डों के बीच प्रकट हुई चन्द्रकला चकोर को मुदित करती है। यहाँ चन्द्रालोक-प्रोक्त स्तवकोपमा का सौन्दर्य निखर रहा है।

श्यामच्छवीनामियमन्तराले प्रादुर्भवन्ती कदलीदलानाम्।
कलेव चान्द्री नवनीरदानां चकोरवन्मां मुदितं करोति॥ प्र० २.१३

४. सीता की मुखलेखा को चन्द्रबिम्ब से, दन्त-किरणलक्ष्मी को निर्मल चन्द्रिका से और दृष्टि को नीलकमलपत्र की द्रोणी में बहती हुई दूध की धार से उपमित करना भी कैसा चामत्कारिक है।

अयि तव मुखलेखा चन्द्रबिम्बे सस्नेहा
दशनकिरणलक्ष्मीरच्छज्योत्स्नासदृक्षा।
कुवलयदलद्रोणीकन्दरायां वहन्ती
तरलबहलमिष्टा दुग्धधारेव दृष्टिः॥ प्र० २.२६

५. विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण जनकपुरी में आये हैं। जनक राम के विषय में पूछते हैं कि सकल जनों के लोचनों को उत्सव प्रदान करने वाला यह बालक कौन है। उसी के साथ शतानन्द अपना प्रश्न जोड़ देते हैं कि इस नीलकमलदल-श्यामल कुमार के पास यह दूसरा सोने सा सलोना कौन स्फुरित हो रहा है, जैसे किसी सुनयनी के श्यामल लोचन के समीप कान में धारण किया हुआ चम्पक का गुच्छा शोभित होता है। यहां भी स्तबकोपमा की रुचिरता है।

नीलनीरजदलोज्ज्वलकान्तेरन्तिके स्फुरति काञ्चनगौरः।

लोचनस्य सुदृशः श्रवणाग्रे सन्निविष्ट इव चम्पकगुच्छः॥ प्र० ३.१८

६. जनक पृथ्वी को सम्बोधन कर कहते हैं कि यह तुम्हारी पुत्री सीता रति के सदृश लोकलोचनों को आनन्दित करने वाली है, और यह कुमार राम कन्दर्प के तुल्य सौन्दर्य का निधान है। यदि इसके हाथ पड़ कर यह शिवधनुष भी पुष्प के समान हो जाये तो सब मेल मिल जाये। यहां सीता और राम के लिए रति तथा कन्दर्प की उपमा कैसी अर्थगर्भित है!

रतिरिव जननेत्रानन्दिनी नन्दिनी ते

कुसुमशर इवायं रूपसारः कुमारः।

यदि तु धनुरपीदं प्राप्तमेतस्य हस्तं

कुसुममयमिव स्यात् संभृतः सम्प्रदायः। प्र० ३.३६

७. लंकायुद्ध में राक्षसों के संहार का वर्णन कवि ने कैसी सुन्दर उपमा के साथ किया है। परिपक्व किंपाक फल के समान रक्त मुख वाली कपिवीरसेना कृष्ण-वर्ण राक्षसदल का वैसे ही विध्वंस कर रही है, जैसे सूर्य की रक्तमुखी प्रातःकालीन प्रभा काले अन्धकारसमूह को ध्वस्त करती है—

अग्रेसरी रघुपतेः परिणद्धपाक—

किंपाकपाटलमुखी कपिवीरसेना।

निःशेषमापिबति राक्षसवीरचक्रं

प्रातः प्रभव तपनस्य तमिस्रजालम्॥ प्र० ७.२१

८. निम्न श्लोक में चन्द्रवर्णन करते हुए कवि ने धर्मवाचकलुप्तोपमा की मनोहर माला ग्रथित की है—

यः श्रीखण्डतमालपत्रति दिशः प्राच्याः स्मरक्ष्मापतेः

पाण्डुच्छत्रति दन्तपत्रति वियल्लक्ष्मीकुरंगीदृशः।

केलिश्वेतसहस्रपत्रति रतेः किं च क्षपायोषितः

क्रीडाराजतसीधुपात्रति शशी सोऽयं जगन्नेत्रति॥ प्र० ७.६२

रूपक

रूपकालंकार के कई उत्कृष्ट उदाहरण प्रसन्नराघव में प्राप्त होते हैं। कवित्व-द्रुम का सांगरूपक कवि ने कैसी कुशलता से निबद्ध किया है—

बीजं यस्य चिरार्जितं सुचरितं प्रज्ञा नवीनोऽङ्कुरः।

काण्डः पण्डितमण्डलीपरिचयः काव्यं नवः पल्लवः।

कीर्तिः पुष्पपरम्परा परिणतः सोऽयं कवित्वद्रुमः
किं वन्ध्यः क्रियते विना रघुकुलोत्तंसप्रशंसाफलम् ।। प्र० १.१३

राम द्वारा सीता को अपने मनःकुमुद को आनन्दित करने वाली शरत्पूर्णिमा की रजनी कहना परस्परित रूपक का सुन्दर उदाहरण है—

मन्मनःकुमुदानन्दशरत्पार्वणशर्वरी ।
अहो इयमितो नूनं पुनरप्यभिवर्तते ।। प्र० २.१५

परशुराम की इस उक्ति में भी रूपक का मनोहर चमत्कार है—

त्रिलोकी कोकीयं मुदमुदयतानेन लभते
विकासं वा धत्ते मुनिजनमनः पङ्कजवनम् ।
अये कोऽयं बालः कुवलयदलश्यामलतनु—
र्जगद्योनिर्ज्योतिः कथमिदमहो तत् परिणतम् ।। प्र० ४.४४

निम्न श्लोक में मालारूपक की छटा दर्शनीय है—

सर्वस्वं नवयौवनस्य भवनं भोगस्य भाग्यं दृशां
सौभाग्यं मदविभ्रमस्य जगतः सारं फलं जन्मनः ।
साकूतं कुसुमायुधस्य हृदयं रामस्य तत्त्वं रतेः
शृंगारस्य रहस्यमुत्पलदृशस्तत् किंचिदालोकितम् ।। प्र० २.२६

कवि चन्द्रमा को शिवजी के सिर पर स्थित गंगा का मृणाल, आकाशरूपी कमलिनीपत्र पर पड़ी हुई पानी की बूंद[१०] तथा रजनीरमणी के मुख पर लगी हुई चन्दन की बिन्दी[११] कहता है। सूर्य को प्राची-सुन्दरी का कुंकुमतिलक, पूर्वांचल के मुकुट का माणिक्य तथा त्रिभुवनगृह का दीपक निरूपित करता है[१२]। ये उसकी रूपक-कल्पना के सुन्दर निदर्शन हैं।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा कवि का सर्वाधिक प्रिय अलंकार है। इसके कई मनोहर उदाहरण इससे पूर्व के अध्याय में काव्य-वैशिष्टय, प्रकृतिचित्रण एवं रूपचित्रण के प्रकरणों में आ चुके हैं। वसन्त-समीर के मन्दगति से चलने पर राम और लक्ष्मण की उत्प्रेक्षाएँ कैसी मनोमुग्धकारिणी हैं[१३]। लाल आभा वाले नवोदित सूर्य को दिवसलक्ष्मी के चरणस्पर्श से व्योम रूपी अशोकतरु में आविर्भूत हुआ कलिकागुच्छ उत्प्रेक्षित किया गया है[१४]। सायंकाल सूर्य मानो समुद्र के गर्भ में यह सोचकर प्रवेश करता है कि वाहर त्रिलोकी के कमलों को तो मैं विकसित कर चुका, जलधि के अन्दर सोये हुए विष्णु के नाभि-सरोज को भी उत्फुल्ल कर दूं[१५]। सूर्यास्त एवं चन्द्रोदय के समय

१०. प्र० २.३५
११. प्र० ७.६६
१२. प्र० ७.६०
१३. प्र० २.३, ४
१४. प्र० ७.८४
१५. प्र० २.३२

प्राची में अन्धकार छा जाने पर तथा प्रतीची के चन्द्रकिरणों से धवल हो जाने पर अर्धभाग में कालिमा तथा अर्धभाग में धवलिमा छायी देख कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो आकाश रूपी प्रांगण के आधे भाग में नीलमणियां तथा आधे में स्फटिकमणियां जड़ दी गई हैं, या आकाश में गंगा-यमुना का संगम हो रहा है[१६]। चन्द्रोदय-काल में गगन के क्षणभर के लिए ताम्र होकर फिर श्वेत हो जाने पर कवि अनूठी कल्पना करता है कि मानो शीतांशु रूपी आलवाल से जो चन्द्रिकालता अंकुरित हुई उसके नूतन पल्लवों से व्याप्त होने के कारण आकाश पहले ताम्र हो गया था, और अब चन्द्रिकापायी चकोर ने अपनी चोंच से उस लता के अग्रकाण्ड को काट दिया है, जिसमें से दूध बह पड़ने के कारण श्वेत हो गया है—

शीतांशुस्फटिकालवालवलयद्रागुल्लसत्कौमुदी—
वल्लीनूतनपल्लवाञ्चितमिव प्राप्य क्षणं ताम्रताम् ।
चञ्चन्मत्तचकोरचञ्चुघटनाच्छिन्नाग्रकाण्डस्तु त—
क्षीरस्यन्दनिरन्तराप्लुतमिव श्वेतं वियद् भासते ।। प्र० ७.५८

व्यतिरेक

व्यतिरेक अलंकार की छटा दिखाने में भी, जिसमें उपमेय को उपमान से अधिक प्रकट किया जाता है, प्रसन्नराघवकार ने विशेष रस लिया है। सीता अपने चरणों से शोणाम्बुजों की कान्ति को तथा मुस्कराहट से सुधांशु की छवि को अधर करती है[१७]। उसके अधर के सामने नवपल्लव की लक्ष्मी फीकी जंचती है[१८]। राम का सौन्दर्य कामदेव से भी बढ़कर है, उद्दाम भुजक्रीडा रुद्र को भी तिरस्कृत करती है, और मुग्धत्व शिव के मस्तकमणि शशी को भी मात करता है[१९]। राम की कीर्तियों के वर्णन में कवि ने व्यतिरेक की कैसी सुन्दर माला गूंथी है—

कर्पूरादपि कैरवादपि दलत्कुन्दादपि स्वर्णदी—
कल्लोलादपि केतकादपि चलत्कान्तादृगन्तादपि ।
दूरोन्मुक्तकलङ्कशंकरशिरःशीतांशुखण्डादपि
श्वेताभिस्तव कीर्तिभिर्धवलिता सप्तार्णवा मेदिनी ।। प्र० ७.६८

निम्न उदाहरण में अध्यात्मज्योति का इतर ज्योतियों से व्यतिरेक कैसी चामत्कारिकता के साथ निबद्ध किया गया है—

छत्रच्छाया तिरयति न यद्यत्र च स्प्रष्टुमीष्टे
दृप्यद्गन्धद्विपमदमषीपङ्कनामा कलङ्कः ।
लीलालोलः शमयति न यच्चामराणां समीरः
स्फीतं ज्योतिः किमपि तदमी भूभुजः शीलयन्ति ।। प्र० ३.१२

---

१६. प्र० २.३३
१७. प्र० २.६
१८. प्र० २.१२
१९. प्र० ४.१४

निदर्शना

जयदेव के अनुसार सदृश वाक्यार्थों में ऐक्यारोप को निदर्शना कहते हैं[२०]। इसमें वस्तुसम्बन्ध अघटित होकर उपमापर्यवसायी हो जाता है। इसका चमत्कार कवि ने अनेक स्थलों पर प्रदर्शित किया है। निम्न श्लोकों में मालानिदर्शना की कैसी मनोहारिता है। षष्ठ अंक के इन्द्रजाल में रावण को सीता के कण्ठ पर खड्ग चलाने के लिए उद्यत देख राम कहते हैं—

विधिरकरुणः स्फीतंस्फीतं तमः परिजृम्भते
जलधिसलिले मग्नं विश्वं युगं परिवर्तते।
कुवलयदलस्रक्संश्लेषोत्सवैकपदे पदं
यदयमदयः सीताकण्ठे करोति कृपाणकः॥ प्र० ६.३१

चान्द्रीं लेखां दशति दशनैर्दारुणः सैंहिकेयो
नव्यां वल्लीं दवदहनकश्चान्दनीं दन्दहीति।
अप्युन्मत्तः कुवलयमयीं मालिकामालुनीते
मूलादुन्मूलयति नलिनीं दुष्टहस्ती करेण॥ प्र० ६.३२

हाय, आज विधि निष्करुण हो रहा है, चारों ओर अन्धकार छा रहा है, संसार समुद्र-जल में डूब रहा है, युग परिवर्तित हो रहा है, जो कि कुवलयदल की माला पहिनने योग्य सीता के कण्ठ में कृपाण स्थान पा रहा है। आज दारुण राहु चन्द्रलेखा को दांतों से डंस रहा है, दावाग्नि नूतन चन्दन-लता को भस्म कर रही है, उन्मत्त जन नीलकमलों की माला को तोड़ रहा है, दुष्ट हाथी कमलिनी को समूल उखाड़ रहा है।

निम्न उक्तियाँ भी निदर्शना के सुन्दर उदाहहण हैं—

१. कथं रे चन्दनदिग्धं नाराचं निधाय हृदयं मे शीतलयसि।
२. सेयं प्रथमदर्शिततीव्रातपा पीयूषवृष्टिः।
३. का पुनरिमानि सूचीशलाकाविद्धानि मम नखान्यलक्तकरसेन सिञ्चति।
४. इदानीं चन्दनचण्डातपलिप्यमानपार्श्वयुगला वर्ते।
५. तत्कथमयमदृष्टचन्द्रलेखश्चन्द्रालोकः।
६. कथमपि शार्दूलमुखान्मुक्तायाः पुनरपि शबरवागुरामवतीर्णायाः कुरंगवध्वा भङ्गीमङ्गीकृतवती जानकी[२१]।

सन्देह

प्रसन्नराघव में सन्देहालंकार का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण निम्नलिखित है, जिसमें विश्वामित्र दशरथ का परिचय देते हुए कहते हैं कि ये दोनों कुमार उसके पुत्र हैं, जिसकी दिग्दिगन्त में व्यापी हुई कीर्तियों को कौतूहलपूर्वक देखती हुई देवांगनाएं इस सन्देह

---

२०. वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना। च० ५.५८

२१ चन्द्रालोक के अनुसार यह सूक्ति ललितोपमा के अन्तर्गत होगी। किन्तु मम्मट आदि इस प्रकार के उदाहरणों में निदर्शना ही मानते हैं।

में पड़ जाती हैं कि कहीं ये चन्द्रमा की किरणें तो नहीं हैं, या सुरगंगा की लहरें तो नहीं हैं, अथवा केतकपुष्पों की सूचियां या चन्द्रकान्तमणियों के श्वेतपुंज तो नहीं हैं।

किं शीतांशुमरीचयः किमु सुरस्रोतस्विनीवीचयः
किं वा केतकसूचयः किमथ वा चन्द्रोपलानां चयः।
इत्थं जातकुतूहलाभिरभितः सानन्दमालोकिताः
कान्ताभिस्त्रिदिवौकसां दिशि दिशि क्रीडन्ति यत्कीर्तयः ॥ प्र० ३.२३

विकल्प

जब परशुराम राम का युद्ध के लिए आह्वान करते हैं तब राम ने जो उत्तर दिया है उसमें विकल्पालंकार की अनुपम सुन्दरता है। हमारे कण्ठ में हार प्रवेश करे या तीक्ष्णधार कुठार, हमारी स्त्रियों के नेत्रों में काजल का वास हो या आंसुओं का, हम सुख देखें या यमराज का मुख, जो कुछ भी हो, हम ब्राह्मणों पर वीरता नहीं दिखायेंगे।

हारः कण्ठं विशतु यदि वा तीक्ष्णधारः कुठारः
स्त्रीणां नेत्राण्यधिवसतु नः कज्जलं वा जलं वा।
संपश्यामो ध्रुवमिह सुखं प्रेतभर्तुर्मुखं वा
यद्वा तद्वा भवतु न वयं ब्राह्मणेषु प्रवीराः ॥ प्र० ४.२३

विरोध

जनक शिवधनुष की महत्ता वर्णित करते हुए कहते हैं कि यह चन्द्रमौलि के भुजदण्डों से नत होकर भी उन्नत बना रहा और ऐसा होते हुए भी त्रिपुरासुर की मृगलोचनाओं के नेत्रों से अश्रुवृष्टि करने के लिए ऐन्द्र सिद्ध हुआ। यहां एक साथ दो विरोधाभासों का चमत्कार है—

दोर्दण्डैश्चन्द्रमौलेर्नतमपि यदभूदुन्नतं कार्मुकाणां
वाष्पाम्भोवृष्टये च त्रिपुरमृगदृशामैशमप्यैन्द्रमासीत् ॥ प्र० ३.३०

षष्ठ अंक में सीता द्वारा राम के प्रति भेजे गये सन्देश में भी विरोधालंकार की चारुता है। सीता कहती है कि प्रचुर नेत्रजल के निर्झर से पर्याकुल भी मेरी दृष्टि आपके मुखचन्द्र के लावण्यरस की प्यासी है—

बहलगलन्नयनजलनिर्झरपर्याकुलापि मम दृष्टिः।
तव सुभग वदनशशधरलावण्यरसं पिपासति ॥ प्र० ६.४५

इतर अर्थालंकार

उपर्युक्त अर्थालंकारों के अतिरिक्त अन्य अर्थालंकार भी पीयूषवर्ष के काव्य में शोभावर्धन करते हैं। इनमें से कतिपय अलंकारों के उदाहरणमात्र नीचे दिये जा रहे हैं।

तुल्ययोगिता

हा वत्स लक्ष्मण विकासय नेत्रपद्मे
मा गादिदं युगपदेव समस्तमस्तम्।

भाग्यं दिवाकरकुलस्य च जीवितं च
रामस्य किं च नयनाञ्जनमूर्मिलायाः ॥ प्र० ७.३०

कारकदीपक

मन्दोदरीमपि विमुञ्चति राज्यमेत-
दप्युन्मदं तव पदाब्जतले करोति ।
किं जल्पितेन बहुना सुमुखि त्वदर्थे
स्वान्युच्छिनत्त्यपि शिरांसि पुनर्दशास्यः ॥ प्र० ६.२८

क्रियादीपक

चन्द्रे च रामचन्द्रे च नारीणां च दृगञ्चले ।
नीलोत्पलसुहृत्कान्तौ कस्य नामोदते मनः ॥ प्र० १.१०

स्मरण

वक्षःस्थले किमपि नीलकरोज्झितेन
नीलाचलस्य शिखरेण कृतप्रहारः ।
लंकेश्वरः स्मरति नूनमसौ वसन्त-
नीलोत्पलप्रहरणं हरिणेक्षणानाम् ॥ प्र० ७.२६

काव्यलिङ्ग

तटभुवि सरसीनां सैकते निम्नगानां
परिसरमपहातुं चक्रवाकीं प्रियस्य ।
क्षणमपि न समर्था लोलमालोकयन्ती
पथि जनकतनूजा प्राप हर्षं शुचं च ॥ प्र० ५.२४

यथासंख्य

अङ्गैरङ्गीकृता यत्र षड्भिः सप्तभिरष्टभिः ।
त्रयी च राजलक्ष्मीश्च योगविद्या च दीव्यति ॥ प्र० ३.७

परिसंख्या

पश्य पश्य सुभटैः स्फुटभावं भक्तिरेव गमिता न तु शक्तिः ।
अञ्जलिर्विरचितो न तु मुष्टिर्मौलिरेव नमितो न तु चापः ॥ प्र० १.३१

दृष्टान्त

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः ।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ॥ प्र० १.१६

समासोक्ति

एते केतकधूलिधूसररुचः शीतद्युतेरंशवः
प्राप्ताः संप्रति पश्चिमस्य जलधेस्तीरं जराजर्जराः ।
अप्येते विकसत्सरोरुहवनीदृक्पातसंभाविताः
प्राचीरागमुदीरयन्ति तरणेस्तारुण्यभाजः कराः ॥ प्र० ७.८१

सहोक्ति

एतैः श्रीकण्ठकोदण्डचञ्चन्मौर्वीभवै रवैः ।
चिरात्प्रतिज्ञया साकं पूर्णो मम मनोरथः ॥ प्र० ३.४३

विषम

क्व परशुरशुभस्ते कुत्र गोत्रं पवित्रं
क्व नु धनुरिदमुग्रं निर्मलं कुत्र शीलम् ।
घनसमरकराला कुत्र नाराचहेला
कुशकिसलयलीला कुत्र वा पर्णशाला ॥ प्र० ४.३२

अतिशयोक्ति

व्याजृम्भमाणवदनस्य हरेः करेण
कर्षन्ति केसरसटाः कलभाः किलैके ।
अन्ये च केसरिकिशोरकपीतमुक्तं
दुग्धं मृगेन्द्रवनितास्तनजं पिबन्ति ॥ प्र० ७.७६

विशेषोक्ति

अपि तपति पतङ्गे चण्डचण्डैर्मयूखैः
पथि जनकतनूजा नैव संतापमाप ।
अपरिचितनिमेषालोकमालोकयन्ती
कुवलयदलदामश्याममङ्गं प्रियस्य ॥ प्र० ५.२६

कैतवापह्नुति

कुरु सकरुणं चेतः श्रीमन्नशोकवनस्पते
दहनकणिकामेकां तावन्मम प्रकटीकुरु ।
ननु विरहिणां संतापाय स्फुटीकुरुते भवा-
न्नवकिसलयश्रेणीव्याजात्कृशानुशिखावलिम् ॥ प्र० ६.३५

प्रतीप

राजीव जीवसि मुधा न सुधाकर त्व-
मस्याः समः पदनखस्य कुतो मुखस्य ।
अग्रे दृशोर्मृगदृशः कतमः कुरंग-
स्तत् खञ्जन त्वमपि किं जनरञ्जनाय ॥ प्र० १.३६

छन्द-योजना

नाट्याचार्य भरतमुनि ने छन्दों की योजना रसानुकूल ही करनी चाहिये इस पर बल दिया है। उनके अनुसार शृङ्गार रस में आर्या जैसा मृदु वृत्त, वीर, रौद्र एवं अद्भुत रसों में लघ्वक्षरप्राय वृत्त तथा बीभत्स और करुण में गुर्वक्षरप्राय वृत्त भावाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त होते हैं[22]। आचार्य अभिनवगुप्त की सम्मति में भी

२२. ना० शा० १७.११४–११६

छन्द रसानुभूति में सहायक होते हैं[२३]। क्षेमेन्द्र का कथन है कि काव्य में रसानुसार तथा वर्णनानुसार ही छन्दों का विनियोग करना चाहिए[२४]। अस्थान में विनिवेशित वृत्तरत्नावली गले में धारण की हुई मेखला के समान कवि की अज्ञता को ही प्रकट करती है। सर्गबन्ध के आरम्भ में कथाविस्तार के संग्रह में तथा शमोपदेशवृत्तान्त में अनुष्टुप् का प्रयोग प्रशंसित होता है। शृङ्गार की आलंबनभूत उदारनायिका का रूपवर्णन, वसन्त आदि उपजाति छन्द में शोभास्पद होते हैं। चन्द्रोदय आदि विभावों के वर्णन में रथोद्धता छन्द तथा षाड्गुण्यप्रगुण नीति के प्रतिपादन में वंशस्थ छन्द प्रशस्त माना जाता है। इसी प्रकार वीर तथा रौद्र के संकर में वसन्ततिलका, उपपन्न के परिच्छेद में शिखरिणी, औदार्य एवं रुचिर औचित्य के विचार में हरिणी, साक्षेप क्रोध तथा धिक्कार में पृथ्वी, प्रावृट्प्रवास रूप व्यसन में मन्दाक्रान्ता, नृपादि के शौर्य-स्तवन में शार्दूलविक्रीडित तथा सावेग पवन आदि के वर्णन में स्रग्धरा छन्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र ने उचित माना है[२५]। इनका यह भी कथन है कि अनेक छन्दों में अपनी भारती को प्रवृत्त करते हुए भी कवियों को कोई एक छन्द विशेष प्रिय हो जाता है, जिसके माध्यम से वे काव्य में विशिष्ट चमत्कृति उत्पन्न करते हैं। जैसे भारवि ने वंशस्थ से, रत्नाकर ने वसन्ततिलका से, भवभूति ने शिखरिणी से, कालिदास ने मन्दाक्रान्ता से तथा राजशेखर ने शार्दूलविक्रीडित से ख्याति प्राप्त की है।

जयदेव ने प्रसन्नराघव में ३९३ श्लोक लिखे हैं, जिनमें कुल २५ छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें शार्दूलविक्रीडित के सबसे अधिक पद्य हैं, जिनकी संख्या ७७ है। वसन्ततिलका के ७५, अनुष्टुप् के ५१, शिखरिणी के ३८, स्रग्धरा के २३, मालिनी के २१, मन्दाक्रान्ता के १७, आर्या के १७, हरिणी के १२, रथोद्धता के ११, पुष्पिताग्रा के ११ तथा स्वागता के १० हैं। कुछ श्लोक वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, पृथ्वी, प्रहर्षिणी, तोटक, नर्दटक, पंचचामर तथा प्रमिताक्षरा के हैं। विष्णुस्तुति, दशरथस्तुति, धनुष्टंकार, कुपित परशुराम के आगमन, परशुराम की आत्मश्लाघा, युद्ध में रावण तथा राम की विजय-सूचना, रावण की आत्मश्लाघा, राम की कीर्तिगाथा आदि में शार्दूलविक्रीडत का प्रयोग हुआ है, जो सर्वथा उचित है। मुनि-प्रशस्ति, सौन्दर्यवर्णन, करुण प्रसंग, आशीर्वाद, कौतुकमयी वार्ता आदि कोमल प्रसंगों में कवि ने शिखरिणी का आश्रय लिया है। इनके अन्य छन्दों का प्रयोग भी रस एवं वर्णन के अनुरूप तथा भावाभिव्यक्ति में समर्थ रहा है। छन्दों का वैविध्य भी चित्ताकर्षक है। श्लोकों की बहुलता अवश्य पाठक को अखरती है।

---

२३. अत एव भयानके हास्ये शान्ते वा यथायोगं संवेदनस्पन्दताचर्व्यमाणस्वाद्यताश्चर्य-कृतो विभागो वृत्तानां मन्तव्यः। अभि० भा०

२४. काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्॥ सुवृत्त ति० ३.७

२५. वही ३.८–२२

प्राकृत भाषा का प्रयोग

संस्कृत नाटक विशुद्ध रूप से केवल संस्कृत में रचित नहीं होते, अपितु उनमें नाट्यशास्त्र के नियमानुसार कुछ विशेष पात्र प्राकृत का व्यवहार करते हैं। भरतमुनि, शारदातनय, नाट्यदर्पणकार, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने नाटक के विविध पात्रों के लिए भाषाविधान किया है। प्रायः उच्च वर्ग के पात्र संस्कृत का व्यवहार करते हैं तथा नीच पात्र एवं नारी पात्र प्राकृत का। पर इसके अपवादों का भी विधान किया गया है। प्रसन्नराघव में भी विविध पात्रों द्वारा प्राकृत का प्रयोग मिलता है।

प्रथम अंक में नूपुरक और मंजीरक के वार्तालाप में प्राकृत आती है। ये दोनों बन्दी हैं, जिनमें नूपुरक प्राकृत में बोलता है तथा मंजीरक संस्कृत में। द्वितीय अंक में सीता और सखी के वार्तालाप में सीता की भाषा प्राकृत है और सखी की संस्कृत। सीता के साथ वार्तालाप में चेटी भी प्राकृत में बोलती है। तृतीय अक के प्रवेशक में वामनक और कुब्जक दोनों प्राकृत में संभाषण करते हैं। इसी अंक में प्रतीहारी ने भी प्राकृत का अवलम्बन किया है। चतुर्थ अंक में केवल प्रारम्भ की ध्रुवागीति प्राकृत में गायी गई है। पंचम अंक में यमुना, गंगा, सरयू, गोदावरी तथा तुंगभद्रा के मध्य हुए वार्तालाप में केवल यमुना प्राकृत में बोलती है, शेष सब नदियों की भाषा संस्कृत है। सागर और हंस भी संस्कृत में ही बोले हैं। षष्ठ अंक में सीता का त्रिजटा, रावण और हनूमान् के साथ वार्तालाप हुआ है, जिसमें कुछ स्थलों को छोड़कर वह प्राकृत में ही बोली है। सप्तम अंक में मन्दोदरी, विद्याधरी तथा सीता की भाषा प्राकृत है।

नाटक में प्राकृत बोलने वाला पात्र सर्वत्र प्राकृत का प्रयोग करे यह आवश्यक नहीं है। किसी विशेष कारण से या वैदग्ध्यप्रदर्शनार्थ वह पात्र क्वचित् संस्कृत का भी व्यवहार कर सकता है[२६]। तदनुसार प्रसन्नराघव में सीता ने कहीं-कहीं संस्कृत का प्रयोग किया है। षष्ठ अंक में रावण के साथ हुए वार्तालाप में वह संस्कृत को ही माध्यम बनाती है। संभवतः रावण के प्रति सीता के उग्रता, दृढता एवं उपेक्षा के भावों के द्योतनार्थ संस्कृत भाषा को ही कवि ने समर्थ पाया हैं। संस्कृत में रावण के प्रति अपना रोष प्रकट कर त्रिजटा के साथ वार्तालाप में पुनः वह प्राकृत का ही आश्रय ले लेती है। जब वह आत्मदाह के लिये अग्नि की याचना करती है और त्रिजटा उसे यह सूचना देती है कि इस प्रदेश में अग्नि सुलभ नहीं है तब पुनः दीन और व्यथित हृदय से संस्कृत के ही माध्यम से उसने अशोकवृक्ष से अग्निकणिका को मांगा है[२७]। जब वह देखती है कि अशोकवृक्ष से नीचे गिरी हुई रक्तवर्ण की वस्तु अंगारा नहीं, अपितु राम की रत्नमुद्रिका है, तब भी वह संस्कृत का ही आश्रय ले

---

२६. राज्ञाश्च गणिकायाश्च शिल्पकार्यास्तथैव च।
कार्यावस्थान्तरकृतं योज्यं पाठ्यं तु संस्कृतम्॥ ना. शा. १८.३६

२७. प्र० ६.३५

कहती है कि मुझ अभागिन के समान यह मुद्रिका लंका में कैसी आ पहुंची[२८]। इसमें वह अपनी व्यथा, वेदना और राममुद्रिका की आकस्मिक प्राप्ति से विस्मय आदि के भाव संस्कृत को माध्यम बनाकर अधिक अच्छी तरह प्रकट कर सकी है।

प्रसन्नराघव के उपलब्ध संस्करणों की प्राकृत भाषा में भाषाओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत भाषी पात्रों की भाषा में भाषाओं का अत्यधिक सम्मिश्रण हुआ है। उदाहरणार्थ, हम वामनक और कुब्जक के वार्तालाप को ले सकते हैं। ये दोनों अनुदात्त पात्र हैं। अनुदात्त पात्रो के लिये मागधी या पैशाची का विधान है[२६], जिसमें पैशाची का प्रयोग अत्यन्त नीच पात्रों के लिए किया जाता है। सामान्यतः अनुदात्त पात्रों के लिए मागधी का प्रयोग होता है। मागधी की विशेषता शौरसेनी प्राकृत की अपेक्षा कुछ विशिष्ट नियमों से सूचित होती है, जिनमें से तीन मुख्य नियम इस प्रकार हैं—१. स्वतन्त्र रकार-ध्वनि के स्थान पर लकार की ध्वनि, २. ऐसी ही अवस्था में सकार-ध्वनि के स्थान पर शकार-ध्वनि, तथा ३. अजन्त शब्दों के प्रथमा एकवचन में अन्तिम आकार के स्थान पर एकार। उक्त दोनों पात्रों के वार्तालाप में इन नियमों का खण्डन अधिक मिलता है। वस्तुतः इनकी भाषा मागधी न होकर शौरसेनी और महाराष्ट्री का मिश्रण है।

नारियों और मध्यम पात्रों की भाषा प्रायः शौरसेनी होती है। किन्तु यहां सीता, उसकी सखी आदि नारी पात्रों की तथा नूपुरक की भाषा विशुद्ध शौरसेनी न होकर मिश्रित है। इसीप्रकार प्राकृतमाषी पात्रों के पद्य प्रायः महाराष्ट्री में होती हैं, किन्तु यहां पद्यों की भाषा भी इतर प्राकृतों से मिश्रित है।

---

२८. प्र० ६.३८

२६. द० रू० २.६५

दशम अध्याय | # प्रसन्नराघव की नाटकीय कला

रूपक और नाटक

संस्कृत काव्य दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है, दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य अभिनययोग्य होता है। इसी को रूपक भी कहते हैं, यतः इसमें अभिनय करने वाले नटों में रामादि के स्वरूप आरोप किया जाता है[1]। रूपक दस कहे गये हैं, जिनमें नाटक भी एक है :

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥ द० रू० १.८

इनके अतिरिक्त नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक आदि १८ उपरूपक भी होते हैं। इन रूपक एवं उप-रूपकों में नाटक का एक उत्कृष्ट स्थान है। नाटक का वृत्त प्रख्यात अर्थात् रामायणादि में प्रसिद्ध होता है। अंकों की संख्या पांच से दस तक हो सकती है। नायक या तो प्रख्यात वंश का कोई राजर्षि होता है, या कोई दिव्य पुरुष, या दिव्यादिव्य पुरुष। उसका धीरोदात्त, प्रतापी और गुणवान् होना आवश्यक है। इसमें शृंगार या वीर रस प्रधान रहता है तथा शेष रस अंगभूत होते हैं। प्रारम्भ में पूर्व रंग के पश्चात् प्रस्तावना होती है, जिसमें नाटक के नामकीर्तन, कविप्रशस्ति आदि के साथ भावी काव्यार्थ की सूचना भी रहती है। यदि मूल कथानक में नायक के धीरोदात्त स्वरूप के अथवा अंगीकृत रस के विरुद्ध कोई बात हो तो कवि को यह अधिकार है कि वह उसे छोड़ दे अथवा परिवर्तित कर दे[2]। नाटक में यथास्थान पंचसन्धि, संध्यङ्ग, अर्थोपक्षेपक, पताकास्थानक आदि का प्रयोग किया जाता है। दो प्रकार की वस्तु उपनिबद्ध की जाती है, आधिकारिक और प्रासंगिक इनमें से प्रासंगिक पताका और प्रकरी के भेद रूप पुनः द्विविध होती है। दूराह्वान, वध, युद्ध, राज्य-देशादिविप्लव, भोजन, स्नान, सुरत आदि का रंगमंच पर प्रदर्शन वर्जित है।

रूपक के उक्त दस भेदों में से प्रसन्नराघव नाटक की श्रेणी में आता है। इसमें धीरोदात्त राम नायक हैं, जो दिव्यादिव्य कोटि के हैं, अर्थात् जो दिव्य होते हुए भी मनुष्य के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। इसमें वीर रस अंगी तथा इतर रस अंग-भूत हैं। अंकों की संख्या सात है।

---

१. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तयाभिनेयं तद् रूपारोपात्तु रूपकम् ॥ सा० द० ६.१

२. यत् स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥ द० रू०

नामकरण

नाटक का नाम गर्भित अर्थ का प्रकाशक होना चाहिए[3]। प्रस्तुत नाटक में रघुकुलतिलक राम सफलता लाभ कर प्रसन्न हुए हैं, अतः कवि ने इसका नाम प्रसन्न-राघव रखा है—प्रसन्नः राघवः यत्र तत् प्रसन्नराघवम् । प्रसन्नता किन कारणों से हुई है इसका उल्लेख नाटक के अन्त में कवि ने स्वयं ही कर दिया है । राम ने अपने गुणों से अतिशय उन्नति प्राप्त की, पिता की आज्ञा का पालन किया, सुग्रीव और विभीषण को राज्यश्री प्रदान की, युद्ध में रावण का संहार किया, सीता की प्राप्ति हुई और भरत आदि बन्धुजनों से तथा वसिष्ठ प्रभृति गुरुजनों से पुनः मिलाप हुआ :

प्राप्ता निर्भरमुन्नतिर्निजगुणैराज्ञा पितुः पालिता
सुग्रीवश्च बिभीषणश्च परमां राज्यश्रियं प्रापितौ ।
संग्रामे दशकन्धरः सुररिपुर्नीतो यशःशेषतां
दृष्टो बन्धुजनश्च हर्षविगलद्बाष्पोल्लसल्लोचनः ।। प्र० ७.६३

नान्दी

पूर्वरंग की अंगभूत नान्दी में देव, द्विज, नृपादि की स्तुति रहती है, जिसमें सामाजिकों के लिए आशीर्वाद की प्रार्थना होती है । इसमें शंख, चक्र, चन्द्र, कमल, कैरव, चक्रवाक आदि मांगलिक वस्तुओं का शंसन किया जाता है तथा यह आठ, बारह, अठारह अथवा बाईस पादों या वाक्यों से युक्त होती है[4] । क्वचित् नान्दी में काव्यार्थ की सूचना भी दी जाती है[5] । प्रसन्नराघव की नान्दी में तीन पद्य हैं । प्रथम में विष्णु के पाणिचतुष्टय की, द्वितीय में उनकी पांचजन्यध्वनि की तथा तृतीय में उनकी सक्रोध, सकरुणस्नेह एवं सोत्प्रासप्रणय दृष्टि की स्तुति करते हुए उनसे सामाजिकों के मंगल की आशंसा की गई है । बारह चरण होने से यह द्वादशपादात्मिका नान्दी है । इसमें सरोज, इन्दु, पद्म आदि मांगलिक शब्दों का शंसन भी हुआ है । इस नान्दी के द्वितीय पद्य से मेघनाद, कुंभकर्ण एवं दशमुख के वध[6] की तथा तृतीय पद्य से राम द्वारा शत्रुओं के प्रतिशोध, पत्नी के प्रति अनुकंपा और स्नेह तथा आश्रितों के प्रति प्रणयव्यवहार[7] की भी सूचना मिलती है, अतः यह काव्यार्थ की सूचक भी है ।

---

३. नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम् । सा० द० ६.१४२

४. द्रष्टव्यः सा० द० ६.२४,२५ तथा प्र० रु०, नाटकप्रकरण ३४

५. अर्थतः शब्दतो वापि मनाक् काव्यार्थसूचनम् । प्र०रु० वही

६. लीलालङ्घितमेघनादविभवो यः कुंभकर्णव्यथा-
दायी दानवदन्तिनां दशमुखं दिक्चक्रमाक्रामति ।। प्र० १.२

७. सक्रोधं मधुकैटभौ सकरुणस्नेहं सुतामम्बुधेः ।
सोत्प्रासप्रणयं सरोजवसतिं पश्यन् हरिः पातु वः।। प्र० १.३

प्रस्तावना

नान्दी के पश्चात् प्रस्तावना होती है, जिसमें सूत्रधार नट, नटी विदूषक या पारिपार्श्विक के साथ भारती वृत्ति का ग्राश्रय लेकर संलाप करता है। इसमें प्ररोचना तथा वीथ्यंग भी रहते हैं ग्रौर भावी कथा की सूचना रहती है। प्ररोचना में प्रस्तुत काव्य, कवि, नायक ग्रादि की प्रशंसा कर सामाजिकों को उन्मुख किया जाता है। प्रस्तुत नाटक में भी ऐसी प्ररोचना की गई है। काव्य की प्रशंसा करते हुए कहा है कि इस प्रसन्नराघव नाटक में प्रत्येक में सम्पूर्ण रस है, नवीन खिलती हुई पुष्पराजि के समान इसका बन्ध है, चन्द्र के समान यह वक्रता से रम्य है तथा इसका संविधान ग्रत्यन्त मंजुल है[८]। कवि की प्रशंसा में कहा है कि ग्रनुपम रस-प्रवाह से मधुर इसका वाग्विलास कुरंगाक्षी के ग्रधर-बिम्ब के माधुर्य को भी तिरस्कृत करता है[९]। नायक की प्रशंसा में कहा है कि रघुकुलतिलक राम के कीर्तिगान के बिना कविता रूपी वृक्ष निष्फल है[१०]। यह भी कहा है कि ब्रह्मलोक से पृथ्वी लोक में ग्राती हुई वाग्देवी को जो श्रम हुग्रा उसे वह कैसे दूर करे, यदि रघुपति की गुणग्रामश्लाघा रूपी ग्रमृतवापी में स्नान न करे[११]।

प्रसन्नराघव की इस प्रस्तावना में सूत्रधार ग्रौर नट का संलाप है। सूत्रधार रंगमंच पर ग्राकर कहता है कि भगवान् शंकर की यात्रा में पारिषदगण एकत्र हैं, तो इनके समीप जाकर प्रार्थना करता हूँ कि ये मेरी कला को देखने का ग्रनुग्रह करें। फिर सोचकर कहता है कि ग्रथवा प्रार्थना करने की क्या ग्रावश्यकता है, चतुर पुरुष तो ग्राकार से ही दूसरे के मनोगत ग्रभिप्राय को जान लेते हैं। इतने में ही वह देखता है कि सामाजिकों के समाज से उसका सखा रंगतरंग नामक नट उसी की ग्रोर चला ग्रा रहा है। नट प्रविष्ट होकर सामाजिकों की ग्रोर से कुछ कहने के लिए उसे भरताधिराज सम्बोधन करता है। इस सम्बोधन को सुनते ही सूत्रधार कान बन्द कर ग्रसमंजस-ग्रसमंजस कह उठता है। नट के पूछने पर वह बताता है कि ग्रसमंजस की बात यह है कि मेरे बड़े भाई के होते हुए मुझे तुम राजपद दे रहे हो। मैं तो भरतमात्र हूँ, राजपद का पात्र तो मेरा ग्रग्रज गुणाराम है, जो राजा रतिजनक की सभा में हरचापारोपणनामक रूपक का ग्रभिनय कर परितुष्ट राजा से समर्पित रंगविद्याधर ख्याति को प्रिया के समान प्राप्त कर चुका है। नट के यह पूछने पर कि संप्रति वह किस देश को ग्रभिनंदित कर रहा है, सूत्रधार बताता है कि किसी दाक्षिणात्य नटापसद ने ग्रपना ही नाम गुणाराम बतला कर उसकी रंगविद्याधर ख्याति को चुरा लिया था। जब मेरे भाई को यह बात ज्ञात हुई तब वह उसी दिशा में चला गया है, ग्रौर ग्रब हमने सुना है कि उसने सुकंठ

---

८. प्र० १.७
९. प्र० १.१४
१०. प्र० १.१३
११. प्र० १.११

नामक गायक से मैत्री करके दाक्षिणात्य राजाओं की सभा में रंगयुद्ध प्रारम्भ कर दिया है। यह सुन नट कहता है कि अहो, यह तो महान् उपक्रम है। सूत्रधार कहता है कि यह उचित ही है, क्योंकि हरी हुई दयिता के समान अपनी हरी हुई कीर्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए भला कौन उपक्रम नहीं करता। इस वृत्त को लिखकर कवि ने छोटे भाई भरत द्वारा राजपद को अस्वीकृत करने, हरचापारोपण कर राजा जनक से सीता को प्राप्त करने, दाक्षिणात्य रावण द्वारा उसके हरे जाने तथा सुग्रीव से मैत्री कर राम के लंकायुद्ध करने की भावी कथा की सूचना दे दी है।

फिर सूत्रधार नट से पूछता है कि अच्छा, कार्य कहो। नट एक पद्य बोल कर कहता है कि कार्य तो यही है कि सामाजिक चाहते हैं कि हम आपके द्वारा अभिनीयमान किसी सुन्दर नाटक को देखें[१२]। सूत्रधार कहता है कि इसका कैसे निश्चय हो कि कौन सा नाटक खेला जाए। फिर सोचकर कहता है कि वाह, तुमने तो नाटक का नाम भी स्वयं बता दिया, क्योंकि तुमने जो पद्य बोला है उसके प्रति अर्धचरण का प्रथम-प्रथम अक्षर लेकर मिलाने से 'प्रसन्नराघव नाम' बन जाता है। फिर वह वाल्मीकि और राम के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करता है। नट के यह पूछने पर कि सभी कवि अपनी कृतियों में राम का ही वर्णन क्यों करते हैं, वह उत्तर देता है कि यह तो राम का दोष नहीं, प्रत्युत उन गुणगणों का दोष है जिन्होंने एकमात्र राम को ही अपना निवासस्थान बनाया है। फिर वह कवि-नाम तथा उसके कुंडिन गोत्र एवं पिता-माता महादेव और सुमित्रा का उल्लेख करता हुआ कवि-प्रशंसा करता है। नट कहता है कि इस कवि ने तो स्वयं मेरे हाथ में अपना नाटक देकर यह कहा था कि इस सूक्तिरत्न की चोरों से रक्षा करना। इस पर सूत्रधार कहता है कि कवि को यह अलीक शंका कैसे हो गई ? उसकी कृति को अथवा किसी युवति को चुरा कर कोई परले पार भी चला जाये तो भी सुखी नहीं रह सकता :

सुललितवदनामुदारवृत्तां कृतिमथवा युवतिं परस्य हृत्वा ।
तटमपि परमर्णवस्य गत्वा वद कतरः सुखभाजनं जनस्यात्॥ प्र० १.१७

यहाँ भी कवि भावी वृत्त की सूचना दे रहा है। फिर नट कहता है कि सुना जाता है, यह कवि प्रमाणप्रवीण भी है, तो इसमें चन्द्रिका और चण्डातप के समान कविता और तार्किकता की एकाधिकरणता को देख मुझे आश्चर्य होता है। फिर वह सूत्रधार के मुख से इस कवि की एक सूक्ति सुन इसकी सूक्तियों की सरलता एवं कोमलता की सराहना करता है। सूत्रधार कहता है कि कहीं-कहीं इसकी सूक्तियों में वक्रता और कठिनता की भी रमणीयता है। फिर वह कविता-कामिनी की प्रशंसा करता है और कहता है कि कवियों की कविता यदि लोकोत्तर पुरुष का वर्णन करती है तब वह लोकोत्तर पुरुष को समर्पित की जाती हुई पुत्री के समान हृदय को आनन्दन देती है :

---

१२. प्रत्यंकमंकुरितसर्वरसावतारन्नव्योल्लसत्कुसुमराजिविराजिबन्धम् ।
घर्मेतरांशुमिव वक्रतयातिरम्यं नाट्यप्रबन्धमतिमंजुलसंविधानम् ॥ प्र० १.७

न ब्रह्मविद्या न च राजलक्ष्मीस्तथा यथेयं कविता कवीनाम् ।
लोकोत्तरे पुंसि निवेश्यमाना पुत्रीव हर्षं हृदये करोति ।। प्र० १.२३

इतने में ही नेपथ्य से आवाज आती है—साधु भोः, कुशीलवोत्तंस, साधु। सूत्रधार कहता है—अरे, यह तो भगवान् याज्ञवल्क्य का प्रिय शिष्य दाल्भ्यायन इधर ही चला आ रहा है। शूद्र का अवलोकन न करने वाले इसके संमुख हमारा खड़े रहना उचित नहीं है। चलो, दूसरी ओर चलें। यह कह सूत्रधार और नट दोनों रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाते हैं। प्रस्तावना समाप्त होती है। इसके बाद दाल्भ्यायन का प्रवेश होता है, तथा वह सूत्रधार के उपर्युक्त श्लोक को ही पढ़कर कहता है कि इसने ठीक ही कहा है, क्योंकि भूपति जनक भी किसी पुरुषप्रकांड को अपनी कन्या समर्पित करने की चिन्ता में गुरूपदिष्ट ब्रह्मविद्या में तथा कुलक्रमागत राजलक्ष्मी में भी शिथिल आदर वाले हो गये हैं।

प्रस्तावना के पांच भेद होते हैं—उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित। इनमें से प्रसन्नराघव की यह प्रस्तावना कथोद्घातरूपा है, क्योंकि इसमें सूत्रधार ने जो श्लोक बोला है उसे लेकर पात्र दाल्भ्यायन का आगे प्रवेश हुआ है—

सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमेव वा ।
भवेत् पात्रप्रवेशश्चेत् कथोद्घातः स उच्यते । सा. द. ६.३५

आद्य विष्कंभक

नाटक का यह नियम है कि यदि मूल से ही वस्तु सरस हो तो प्रस्तावना के पश्चात् सीधा ही अंक का आरम्भ कर दिया जाता है। किन्तु यदि आरम्भिक कथांश नीरस हो, पर नाटकीय वस्तु को गति देने के लिए उसकी आवश्यकता भी हो, तो अनावश्यक वस्तु-विस्तार को छोड़कर शेष को विष्कंभक द्वारा प्रदर्शित कर दिया जाता है तथा उसके पश्चात् अंक का प्रारंभ होता है।

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ।
यदा संदर्शयेच्छेषं कुर्याद् विष्कंभकं तदा ।।
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ।
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।। द. रू. ३.२८-३०

प्रसन्नराघव में भी प्रस्तावना और अंक के मध्य में विष्कंभक रखा गया है। इसमें याज्ञवल्क्य के शिष्य दाल्भ्यायन को मधुरप्रिय और कलालाप नामक भ्रमररूपधारी दो वन्दियों के वार्तालाप से बाणासुर के शिव-धनुष को देखने के लिए जनकपुरी को जाने, जनक द्वारा सीता-स्वयंवर के रचे जाने तथा स्वयंवर का वृत्तान्त रावण को भी ज्ञात हो जाने की सूचना मिलती है। यह सूचना वह अपने गुरु जी को देने चला जाता है। इसके उपरान्त अंक प्रारम्भ होता है, जिसमें स्वयंवर में अनेक राजाओं के पहुंचने, रावण और बाणासुर के भी उपस्थित होने तथा उन सबके विफल होने का वृत्त चित्रित है।

अंक-प्रयोग एवं इतिवृत्तनिर्वाह

प्रस्तुत नाटक में कवि ने सीतास्वयंवर से लेकर रावणवध के अनन्तर जानकी को प्राप्त कर अयोध्या लौटने तक की रामकथा सात अंकों में उपनिबद्ध की है। बाण-रावण का कलह, जनक-विश्वामित्र का मिलन, परशु के संदेशहर मुनि और जनक की वार्ता, चंपकापीड-रत्नशेखर की भेंट, चित्रपट-दर्शन, रावण-मन्दोदरी का वार्तालाप आदि कतिपय कवि-कल्पित प्रासंगिक वर्णन भी आते हैं। सुग्रीव, जटायु आदि की कथा का संकेतमात्र है। हां, हनुमान् के कार्यों का अपेक्षाकृत अधिक वर्णन हुआ है।

इतिवृत्त के निर्वाह तथा अंकों में उसके विभाजन में कवि को बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः जयदेव जितने सफल कवि हैं, उतने सफल नाटककार नहीं हैं। स्वयंवर का वर्णन तृतीय अंक तक चला है, जब कि उसके लिए एक अंक पर्याप्त होता। प्रथम अंक स्वयंवर में एकत्र राजाओं के वर्णन, मंजीरक और रावण के विवाद तथा बाण और रावण के वाक्कलह में ही समाप्त हो गया है। द्वितीय अंक में यद्यपि काव्य का चमत्कार है, तथापि कथाप्रवाह के आगे न बढ़ने के कारण वह सदोष है। नाटक का नियम है कि उसमें रस और कथावस्तु का संतुलन रहना चाहिए[13]। इस अंक में वह नहीं पाया जाता। तृतीय अंक में जनक-विश्वामित्र की पारस्परिक प्रशास्तिकथा अधिक दीर्घ हो जाने के कारण उद्वेगकर प्रतीत होने लगती है। इस वार्ता में शतानन्द और राम ने भी भाग लिया है। इतने लम्बे प्रसंग की आवश्यकता नहीं थी। दशरथ के वर्णन में भी अनावश्यक विस्तार है। चतुर्थ अंक का कविकल्पित परशुराम-वृत्त भी बहुत लम्बा है।

पंचम अंक वस्तु, देश और काल की एकता की दृष्टि से अत्यन्त असफल है। गंगा, यमुना, सरयू, गोदावरी और तुंगभद्रा नदियां तथा समुद्र और हंस इसके पात्र हैं। अमानवीय वस्तुओं को पात्र बनाना यद्यपि भास एवं भवभूति के नाटकों में भी आता है, तथापि आदर्श नहीं कहा जा सकता। यद्यपि इस अंक में वृत्तवर्णनचारुता है, तथा कुछ सन्दर्भों में उच्चकोटि का कवित्व भी है, तथापि अभिनय का सर्वथा अभाव अखरता है। नाटक में सामाजिक अभिनय देखना चाहते हैं, कहानी सुनना नहीं। यद्यपि यह ठीक है कि जितनी घटनाएं इस में वर्णित हुई हैं उन सबका रंगमंच पर अभिनय संभव नहीं था, तथापि कैकेयी-वरयाचना, राम-वनवास, दशरथ-विलाप, शूर्पणखा की प्रणय-याचना, सीताहरण आदि के दृश्य अभिनीत किये जा सकते थे। शेष कथा विष्कंभक आदि द्वारा सूचित की जा सकती थी। वर्तमान रूप में तो यह सारा अंक विष्कंभक सा ही हो गया है। सप्तम अंक में रावणवध के पश्चात् राम, लक्ष्मण, सीता, सुग्रीव एवं विभीषण ने मिलकर जो सूर्यास्त, चन्द्रोदय एवं प्रभात का विस्तृत वर्णन किया है, जिसने अंक के एक बड़े भाग को व्याप्त कर लिया है, नाटक के

---

१३. न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।
रसं वा न तिरोदध्याद् वस्त्वलंकारलक्षणैः॥ द० रू० ३.३२,३३

कलेवर में अत्यन्त विसंगत प्रतीत होता है। इसमें उसके समक्ष अपने पूर्ववर्ती मुरारि और राजशेखर से प्रकृतिवर्णन में न हारने का ही विचार प्रमुख रहा होगा।

अंकों के शरीर का विस्तार भी अधिक है तथा उनमें 'नातिप्रचुरपद्यवान्' के नियम का भी ध्यान नहीं रखा गया है। उत्कृष्ट नाटकों की तुलना में इस पद्य-संख्या अनावयक रूप से अधिक है। इसके सात अंकों में कुल ३९३ श्लोक हैं, जब कि सात अंकों वाले ही शाकुन्तल, उत्तररामचरित तथा वेणीसंहार नाटकों की श्लोक-संख्या क्रमशः १९१, २५६ तथा २५५ है।

पताकास्थानक

नाटकीय वृत्त में वैचित्र्य एवं रोचकता लाने तथा सहृदय पाठकों और दर्शकों में कौतूहल उत्पन्न करने की दृष्टि से पताकास्थानकों का प्रयोग वांछनीय होता है। इनका उपनिबन्धन कहीं मंगल के लिये होता है, कहीं अमंगल के लिये। भरतमुनि एवं तदनुसार विश्वनाथ ने चार पताकास्थानक माने हैं। धनंजय दो ही मानते हैं, अन्योक्तिमूलक और समासोक्तिमूलक[१४]। पताकास्थानक का सामान्य लक्षण यह है कि जहाँ पात्र जिस प्रकृत अर्थ को मन में रखकर वाक्य का प्रयोग करता है उससे भिन्न दूसरा अर्थ आगन्तुक रूप से उपस्थित हो जाया करता है, वहाँ पताकास्थानक होता है:

यत्रार्थे चिन्त्यमानेऽपि तल्लिंगार्थः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं च तत्॥ ना० शा० २१.३१

प्रथम

जहाँ आशातीत रूप में अकस्मात् प्रस्तुत से विपरीत कोई गुणवती अर्थसंपत्ति उत्पन्न हो जाती है वहाँ प्रथम पताकास्थानक होता है[१५]। प्रसन्नराघव में इसका कई स्थानों पर प्रयोग हुआ है। प्रथमांकीय विष्कम्भक में दो भ्रमरों की बातचीत सुनकर दाल्भ्यायन कहता है कि ये दोनों भ्रमर बन्दीजनों के समान सुशोभित हो रहे हैं[१६]। उसका अभिप्राय बन्दियों से अतिशय साम्य बताना ही है। किन्तु उसे बड़ा आश्चर्य-मिश्रित हर्ष होता है, जब उसे ज्ञात होता है कि वे दोनों भ्रमर सचमुच बन्दी ही हैं। इसी प्रकार षष्ठ अंक में सीता द्वारा अशोकवृक्ष से अंगारखण्ड की याचना करने पर एक लाल-लाल पदार्थ नीचे आ गिरता है। सीता उसे अंगारखण्ड समझ कर ही उठाती है, पर सहसा यह देखकर चकित रह जाती है कि यह तो राम की रत्नमुद्रिका है।

द्वितीय

द्वितीय[१७] पताकास्थानक निम्न उक्ति में है जहाँ सातिशय श्लिष्ट शब्दों के

---

१४. द० रू० १.१४

१५. सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्त्यते। ना. शा. २१.३२

१६. मकरन्दरसस्यन्दसुन्दरोद्गारधारिणौ।
श्रवणानन्दिनावेतौ बन्दिनाविव राजतः॥ प्र० १.२६

१७. वचःसातिशयश्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम्।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम्॥ ना. शा. २१.३३

प्रयोग द्वारा एक ओर पांचजन्यध्वनि परक अर्थ निकलता है तथा दूसरी ओर मेघनाथ कुंभकर्ण एवं दशमुख के वध की सूचना से वीजार्थ के प्रतिपादन द्वारा नायक के मंगल की प्रतीति होती है :

आकल्पं मुरजिन्मुखेन्दुमधुरोन्मीलन्मरुन्माधुरी-
धीरोदात्तमनोहरः सुखयतु त्वां पाञ्चजन्यध्वनिः ।
लीलालंघितमेघनादविभवो यः कुम्भकर्णव्यथा-
दायी दानवदन्तिनां दशमुखं दिक्चक्रमाक्रामति ।। प्र० १.२

तृतीय

तृतीय पताकास्थानक[१८] के प्रयोग द्वारा चमत्कृति उत्पन्न करने में प्रसन्न-राघवकार ने प्रभूत रुचि प्रदर्शित की है । निम्न स्थल इसके परिचायक हैं ।

द्वितीय अंक के विष्कंभक में विश्वामित्र मुनि ने दशरथ द्वारा यज्ञरक्षार्थ अपने दोनों पुत्र उन्हें सौंप दिये जाने पर प्रसन्न हो कौशल्या के कानों का भूषण वनाने के लिये दिव्य ताटंकयुगल दशरथ को दिये हैं । माल्यवान् उन्हें लंकेश्वर-जननी के लिये प्राप्त करना चाहता है, अतः किसी प्रकार उन्हें हस्तगत करने के लिये उसने ताटका को अपने अनुचर द्वारा कहलवाया है । यह विचार कर कि ताटका उन कर्णभूषणों को ले आयी होगी, वह अन्य तापस वेषधारी सेवक को उसके पास भेजता है । इस प्रसंग में तृतीय पताकास्थानक का प्रयोग कवि ने इस प्रकार किया है :

तापसः — क्व पुनः संप्रति ताटका ?
भिक्षुः — पुरीं प्रविष्टा ।
तापसः — तत् किं दशरथस्य ?
भिक्षुः — नहि नहि, अन्तकस्य ।

यहाँ 'पुरीं प्रविष्टा' से प्रसंगानुसार सामाजिकों को दशरथपुरी की ही प्रतीति होती है, पर जब ज्ञात होता है कि दशरथपुरी में नहीं, प्रत्युत वह तो अन्तकपुरी में चली गई, तब बड़ा कोतूहल होता है ।

इसी अंक में जनकपुरी के उद्यान में राम सीता को देख उसकी रूपमाधुरी का पान करते हैं । पर जब सखी सहित वह घर के लिए प्रस्थान करती है तथा नयन-पथातिक्रान्त हो जाती है, तब वे पुनः उसके आविर्भूत होने की इच्छा करने लगते हैं और कहते हैं :

अप्याविरस्ति भूयोऽपि मम लोचनयोरियम् ।
दिवसेऽन्तर्हिता नक्तं चन्द्रिकेव चकोरयोः ।। प्र० २.३०

तभी लक्ष्मण कहते हैं—**आर्य, इयमाविरस्ति** । सीता का प्रसंग चल रहा था, अतः स्वभावतः राम यही समझते हैं कि सीता पुनः अविर्भूत हो गई है । पर सीता को न देख पूछते हैं—**वत्स, केयमाविरस्ति ?** लक्ष्मण उत्तर देते हैं—**सन्ध्या आविरस्ति** । यहाँ भी इसी तृतीय पताकास्थानक का सुन्दर प्रयोग है ।

---

१८. अर्थोपक्षेपणं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमिष्यते ।। ना. शा. २१.३४

चतुर्थ अंक में कन्याप्रदान के लिए जनक की हरचापारोपण की शर्त के कारण विक्षुब्ध परशुराम जनकपुरी में पहुँचते हैं। शतानन्द के शिष्य ताण्ड्यायन के साथ उनका निम्न संवाद होता है, जिसमें तृतीय पताकास्थानक की ही रुचिरता है।

ताण्ड्यायनः — भगवन्, अभिवादये।
जामदग्न्यः — आयुष्मान् भूयाः। कथय तावत्, अपि नाम भवदुपाध्याय-यजमानस्य निवृत्ता हरचापारोपणश्रद्धा ?
ताण्ड्यायनः — निवृत्ता।
जामदग्न्यः — (सहर्षम्) निवृत्ता ?
ताण्ड्यायनः — भगवन्, निवृत्ता सहैव चापेन।
जामदग्न्यः — (ससंभ्रमम्) किमात्थ, सहैव चापेन निवृत्तेति ?
तान्ड्यायनः — अथ किम्।
जामदग्न्यः — स्फुटं कथय तावत् किं वृत्तमिति ?
ताण्ड्यायनः — कस्यचिद्,

अखण्डचन्डिमोद्दण्डभुजदण्डनिपीडितम्।
भगवन् भृगुमार्तण्ड भग्नं भर्गशरासनम्॥

चतुर्थ

प्रस्तावना में जो भावी कथावृत्त के सूचक प्रसंग आये हैं, जिनका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है, चतुर्थ पताकास्थानक[१९] के उदाहरण हैं। निम्न पद्यों में भी यही है, जिनमें से प्रथम में रावणापहृत सीता की पुनः प्राप्ति के लिए नायक राम का परमोपक्रम-रूप प्रधान अर्थ द्योतित होता है तथा द्वितीय में जनक द्वारा राम को सीता-प्रदान का भावी वृत्त।

कीर्तिं मृणालकमनीयभुजामनिद्र-
चन्द्राननां स्मितसरोरुहचारुनेत्राम्।
ज्योत्स्नास्मितामपहृतां दयितामिव स्वां
लब्धुं न कः परमुपक्रममातनोति॥ प्र० १.९

यावन्नीरनिधेः प्रभातसमयः प्रोद्धृत्य लोकत्रयी-
माणिक्यं रविबिम्बमम्बरवणिग्वीथीपथे न्यस्यति।
तावत्कर्तुमिवास्य मूल्यमुचितं पद्माकरेण स्वयं
लक्ष्मीर्लब्धविकाशपंकजकरन्यस्ता पुरः स्थाप्यते॥ प्र० ३.४

अर्थोपक्षेपक

आधिकारिक और प्रासंगिक भेद से वस्तु द्विविध होती है, इसका निर्देश पूर्व किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त वस्तु के दो विभाग और किये जाते हैं, एक सूच्य वस्तु, दूसरी दृश्यश्रव्य वस्तु[२०]। जो वस्तु नीरस हो या किसी कारण

---

१९. द्वयर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः।
उपन्यासंयुतश्च तच्चतुर्थमुदाहृतम्॥ ना. शा. २१.३५

२०. द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत् किंचिद् दृश्यश्रव्यमथापरम्॥ द. रू. १.५६

जिसका रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाना अनुचित हो, उसकी सूचनामात्र दे दी जाती है तथा उसे सूच्य कहते हैं। किन्तु जो वस्तु मधुर, उदात्त तथा रस-भाव से परिपूर्ण होती है वह रंगमंच पर अभिनीत की जाती है, तथा उसे दृश्यश्रव्य कहते हैं, यतः उसके दर्शन और श्रवण दोनों किये जा सकते हैं[२१]। नाटक में सूच्य वस्तु को प्रकट करने के नाट्यशास्त्रियों ने पांच प्रकार कहे हैं— विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकास्य। ये पांचों अर्थोपक्षेपक कहाते हैं, यतः इनसे अर्थ उपक्षिप्त या सूचित किया जाता है। इन पांच अर्थोपक्षेपकों में से प्रथम तीन का प्रयोग सूच्य वस्तु के लिए प्रसन्नराघव में किया है।

विष्कंभक

विष्कंभक में भूत या भावी कथांशों की संक्षेप से सूचना दी जाती है। यह अंक के आदि में रखा जाता है। प्रथम अंक में भी हो सकता है और मध्य के अंकों में भी। इसके दो भेद होते हैं, शुद्ध और संकीर्ण। एक या दो मध्यम पात्रों से प्रयुक्त होने पर शुद्ध और नीच तथा मध्यम मिले-जुले पात्रों से प्रयुक्त होने पर संकीर्ण या मिश्र कहलाता है। इसकी भाषा संस्कृत या शौरसेनी प्राकृत होती है।

वृत्तर्वातिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः॥
एकानेककृतः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमैः। द. रू. १.५९, ६०

प्रसन्नराघव में कवि ने तीन विष्कंभक रचित किये हैं, जो क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा सप्तम अंक के आदि में हैं। ये तीनों ही शुद्ध विष्कंभक हैं।

१. प्रथम अंक के विष्कंभक में एक ही मध्यम-पात्र याज्ञवल्क्यशिष्य दाल्भ्यायन है, जो मधुरप्रिय और कलालाप नामक दो भ्रमरों के संलाप को सुनकर सूच्य वस्तु सूचित करता चलता है। कलालाप मधुरप्रिय को बताता है कि मैं निरन्तर विकसित रहने वाले शिव-मन्दाकिनी के कुमुदवन से आ रहा हूँ। वहां बलिपुत्र बाणासुर ने शिव जी की अभ्यर्चना कर उनसे विनयपूर्वक यह पूछा कि क्या महीतल पर कैलास पर्वत से भी अधिक कोई सारवान् वस्तु है, जिसे उठाकर मेरा भुजमंडल सफलता लाभ करे। शिव जी ने उसे कहा कि राजा जनक के यहां रखा हुआ मेरा धनुष ऐसा है, अतः उसे देखने के लिए बाणासुर जनकपुरी चला गया है। मधुरप्रिय कलालाप को कहता है कि मैं नन्दनवन से आ रहा हूँ। वहाँ मैंने रावण के अनुचर की यह गर्जना सुनी कि अरे रखवालो, आज राक्षसराज के शिव जी की अर्चना करने से पूर्व ही नन्दनवन के सब फूल किसने तोड़ लिये हैं। उन्होंने उसे यह उत्तर दिया कि जानकी का स्वयंवरोत्सव देखने के लिए उत्कंठित देवों के विमान सजाने में सब पुष्पों का उपयोग कर लिया गया है। रावणानुचर यह वृत्तान्त रावण को निवेदन करने चला गया है। दाल्भ्यायन इस बात से बड़ा दुःखी होता है कि सीता-स्वयंवर

---

२१. नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः॥ वही १.५७

का वृत्तान्त बाण और रावण के भी कर्णगोचर हो गया। अन्त में यह रहस्य उद्घाटित होता है कि मधुरप्रिय और कलालाप वस्तुतः भ्रमर नहीं, किन्तु बन्दी हैं, जिन्हें जनक ने नाना दिगन्तों से स्वयंवर में समागत नृपतियों का वर्णन करने के लिए नियुक्त किया है।

इस विष्कंभक का प्रयोजन सीतास्वयंवर के रचे जाने तथा उसमें बाणासुर, रावण और अनेक नृपगणों के पहुँचने की सूचना देना मात्र है। भ्रमरों की कल्पना कवि ने कथा में कौतुकता लाने के उद्देश्य से की है। किन्तु भ्रमर-रूप में जो मधुरप्रिय और कलालाप थे वे सहसा बन्दी रूप में नूपुरक और मंजीरक बन जाते हैं, इसप्रकार का परिवर्तन नाटक-रचना के शैथिल्य को ही प्रकट करता है।

२. द्वितीयांक के विष्कंभक में रावण के प्रधानमंत्री माल्यवान् के दो राक्षस गुप्तचर तापस और भिक्षु के वेष में मिथिला के उपवन में वार्तालाप कर रहे हैं। इसके द्वारा कवि ने निम्न सूचनाएं दी हैं :

क. विश्वामित्र का अपने यज्ञ की रक्षार्थ दशरथ से राम-लक्ष्मण को प्राप्त करना।

ख. राम द्वारा ताटका और सुबाहु का वध किया जाना।

ग. मारीच का राम के बाण से दूर फेंका जाना, आक्रन्दन करना, तथा रावण का उस आक्रन्दन को सुनकर भी सीता प्राप्ति की उत्कंठा के कारण कुछ प्रतिकार न करना।

घ. राम-लक्ष्मण का विश्वामित्र के साथ मिथिला की ओर प्रस्थान करना।

आक्रन्द को सुन रावण प्रथम अंक में ही यह अनुमान कर चुका है कि यह आक्रन्द किसी के बाण से पीडित गगनपथचारी मारीच का है। यहाँ इतनी ही नवीनता है कि यह स्पष्ट कर दिया है कि मारीच राम के ही बाण से घायल हुआ था। शेष सब सूचनाएं नयी हैं। इस विष्कंभक में विश्वामित्र द्वारा दशरथ को कौशल्या के कान में पहनाने के लिए कर्णकुंडल भेंट किये जाने की कथा कविकल्पनाप्रसूत है, जो सामाजिकों के कौतूहलवर्धन का कार्य करती है। कहाँ तो माल्यवान् ताटका से उन कर्णकुंडलों को कौशल्या के पास से चुरा लाने की आशा करता है, और कहाँ वह अपने प्राणों से भी हाथ धो बैठती है।

३. सप्तम अंक के विष्कंभक में पुलस्त्य के शिष्य एक मुनि तथा माल्यवान् के परिचारक करालक का वार्तालाप है। इसमें निम्न निर्दिष्ट सूचनाएं दी गई हैं।

क. विभीषण के परस्त्री की ओर कुदृष्टि न करने के परामर्श का रावण ने आदर नहीं किया, प्रत्युत उसे चरणप्रहार से अपमानित किया। अतः वह कुछ साथियों सहित राम से जा मिला है।

ख. माल्यवान् ने जानकी-विरह से विह्वल रावण के मनोविनोद के लिए करालक के हाथ चित्रपट भेजा है।

ग. रावण इतना संतप्त है कि सबको उसके शीतोपचार की चिन्ता हो रही है।

इसके उपरान्त चित्रपट हाथ में लिए प्रहस्त के साथ रावण का प्रवेश होता है। चित्रपट की कल्पना कवि की अपनी है, जिसमें माल्यवान् की नीतिज्ञता सूचित होती है। माल्यवान् विभीषण के समान स्पष्ट शब्दों में न कह कर चित्रपट के द्वारा उसे सद्बुद्धि देना चाहता है।

प्रवेशक

प्रवेशक नीच पात्रों से प्रयोजित होता है तथा इसमें भाषा संस्कृत न होकर प्राकृत होती है। यह दो अंकों के मध्य में ही आता है, एवं प्रथमांक में इसका प्रयोग निषिद्ध है। इसका भी उद्देश्य विष्कंभक के समान भूत या भावी कथांशों की सूचना देना होता है।

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
प्रवेशोऽकद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः॥ द. रू. १.६०, ६१

प्रसन्नराघव में केवल एक प्रवेशक है, जो तृतीयांक के आरम्भ में आता है। इसमें वामनक और कुब्जक दो पात्र हैं, जो दोनों प्राकृत बोलते हैं। इसकी सूच्य वस्तु निम्न है:

क. जनक बाह्य मण्ड में बैठे महर्षि विश्वामित्र के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

ख. विश्वामित्र के आगमन का प्रयोजन है रामलक्ष्मण को शिवधनुष दिखाना।

ग. इस बात की आशा व्यक्त की गई है कि राम-लक्ष्मण सीता-उर्मिला का पाणिग्रहण कर लेंगे, क्योंकि सकललोकभीषण राक्षसी ताटका का जिसने संहार कर दिया उसके लिए हरचापारोपण भला क्या दुष्कर होगा।

एवं इस प्रवेशक में भावी वृत्त की सूचना है। इसके पश्चात् राम-लक्ष्मण सहित विश्वामित्र का प्रवेश होता है। सूच्य वस्तु की दृष्टि से यह प्रवेशक व्यर्थ ही प्रतीत होता है। राम-लक्ष्मण का विश्वामित्र के साथ मिथिलापुरी की ओर प्रस्थान द्वितीय अंक के विष्कंभक में सूचित किया जा चुका है तथा इसके पश्चात् द्वितीय अंक में मिथिलोद्यान में वे पहुंच भी चुके हैं। अतः इस प्रवेशक को बीच में न लाकर सीधे रंगमंच पर उनके प्रवेश से ही तृतीय अंक का प्रारम्भ किया जा सकता था। राम-लक्ष्मण के धनुर्भंग कर लेने के भावी वृत्त की सूचना से भी यहाँ कोई विशेषता उत्पन्न नहीं हो सकी है। तथापि हास्यरस की उक्ति-प्रत्युक्तियों के कारण नाटक में इस प्रवेशक का अपना विशिष्ट स्थान है।

चूलिका

रंगमंच पर प्रकट हुए बिना नेपथ्य से अर्थ की सूचना देना चूलिका नामक अर्थोपक्षेपक होता है।

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना। द० रू० १.६१

इसका प्रयोग प्रसन्नराघव में यथास्थान सभी अंकों में हुआ है। प्रथम अंक की प्रस्तावना के लगभग अन्त में नेपथ्य से 'साधु भो कुशीलवोत्तंस, साधु' कहलवा कर

याज्ञवल्क्य-शिष्य दाल्भ्यायन के उधर आने की सूचना दी गई है, जो सूत्रधार तथा नट के निष्क्रमण की निमित्त बनती है। विष्कंभक में नेपथ्य से **'साधु भगवन् विज्ञातं वन्दिनावेव खल्वावां नानादिगन्तसमागतनृपतिचक्रवर्णनाय जनकेन समादिष्टौ'** कहला कर भ्रमरों के वस्तुतः वन्दी होने का रहस्योद्घाटन किया गया है। इसी अंक में **'आः' कोऽयमलीकवैतालिको धनुर्मात्रकेऽपि नमयितव्ये निर्वीरमुर्वीतलमुपदिशति'** इस नेपथ्योक्ति से स्वयंवरस्थल में पुरुष के वेष में प्रच्छन्न रावण के प्रवेश की भूमिका बांधी गई है। इससे आगे पुरुषवेषधारी रावण जब स्वयंवर में उपस्थित राजाओं की कटूक्तियों से तंग आ जाता है, तब अपना दस सिरों वाला असली रूप धारण करने के लिये रंगमंच से निकल जाता है। उस समय नेपथ्य से उक्त **'तेऽमी भुजा मम निजाः प्रकटीभवन्तु'** श्लोक से उसकी बीस भुजाएं और दस सिर निकल आने की सूचना दी गई है। तत्पश्चात् वह रावण रूप में प्रवेश करता है। इस प्रकार प्रथम अंक में चार वार चूलिका का प्रयोग किया गया है।

द्वितीय अंक में यह एक ही वार आती है, जब नेपथ्य से कहे गये **'भर्तृदारिके, इत इतः'** इस वचन द्वारा नूपुरों की झंकार के साथ आती हुई स्त्री के राजकुमारी होने की सूचना दी गई है। तृतीय अंक में इसके दो स्थल हैं। प्रथम है नेपथ्य से कहा हुआ **'ताटङ्किना झटिति ताडितताटकेन'**[२२] आदि पद्य, जिससे राम-लक्ष्मण सहित विश्वामित्र के आने की सूचना मिलती है, और दूसरा **'पयोभिः सिच्यन्तां'**[२३] आदि श्लोक, जिसके द्वारा विश्वामित्र के स्वागतार्थ नगरपरिष्कार की सूचना दी गई है।

चतुर्थ अंक में चार प्रसंगों में इसका उपयोग हुआ है। आरंभ में नेपथ्य में **'मणिमयमंगलदीपो जनकनरेन्द्रस्य मण्डपे ज्वलति'** आदि ध्रुवा गीति का गान होता है, जिससे राम का मंगल तथा प्रचण्ड परशुराम का विफलागम होना सूचित किया गया है। इसी के तुरन्त पश्चात् नेपथ्य से ही क्रोध में लाल आंखें किये परशुराम के आगमन की सूचना दी गई है।[२४] इसी अंक में अन्यत्र **'अहो नियोगिनः कृतविवाह-मंगलयोः सीतारामचन्द्रयोः स्वस्तिवाचनिका द्विजा आहूयन्ताम्'** इस उक्ति से परशुराम को, जो यह मान बैठे थे कि रावण ने धनुर्भंग किया है, वास्तविकता से परिचित कराया गया है[२५]। इसी प्रकार परशुराम जब राम-लक्ष्मण के प्रति बहुत बढ़-बढ़कर रोष प्रकट कर रहे हैं, तब कवि जनक और शतानन्द को भी बीच में लाना चाहता है। परन्तु दो-एक उत्तेजक वाक्य बुलवाने के लिये उन्हें रंगमंच के पात्र के रूप में उपस्थित करना उचित नहीं था। अतः कवि चूलिका का ही आश्रय लेता है।

---

२२. प्र० ३.१

२३. प्र० ३.६

२४. प्र० ४.२

२५. प्र० पृ० २०१

नेपथ्य से जनक कहते हैं—**अये जामदग्न्य, कथमति प्रगल्भसे, तदिदमिदानीं भवच्छासनाय शरासनमानीयते।** एक ही वाक्य में जनक ने उससे अधिक कह दिया है, जितना वे रंगमंच के पात्र बन कर कह सकते। इस पर परशुराम की प्रतिक्रिया भी कवि ने बहुत सुन्दर व्यक्त की है —**अरे याज्ञवल्क्यशिष्य, किं भवतः शरासनेन, पद्मासनमेवावलम्बस्व।** इसके पश्चात् शतानन्द नेपथ्य में आते हैं और कहते हैं — अरे परशुराम, क्यों तू शान्ति-धन के धनी जमदग्नि का पुत्र होकर भी शान्ति में दरिद्र हो रहा है? परशुराम आवाज से उसे पहचान उत्तर देते हैं— तूने यह शान्ति का पाठ कहाँ से पढ़ लिया, गौतम से या इन्द्र से? इस पर पुनः नेपथ्य से शतानन्द कहते हैं—अरे क्षत्रियापुत्र, अपनी माता के कण्ठ पर कुठार चलाने वाले कुलांगार, तू तपस्तुंग अंगिरस कुल को भी कलंकित करने लगा।

पंचम अंक में एक ही बार चूलिका आती है, जब तुंगभद्रा नेपथ्य से यमुना को बधाई देती है—**सखि कालिन्दि, वर्धसे।** इससे यह सूचना मिलती है कि कोई ऐसी बात घटित हुई है जो यमुना के लिए हर्षजनक है। यह यमुना क भाई सुग्रीव के चक्रवर्तिपदलाभ की घटना है। चूलिका द्वारा इसी के सुनाने की भूमिका बांधी गई है।

चूलिका के तीन प्रसंग षष्ठ अंक में आते हैं। राम सीता के विरह में आकुल हो रहे हैं। इसी समय नेपथ्य से चम्पकापीड और रत्नशेखर का वार्तालाप सुनाई देता है। रत्नशेखर ऐन्द्रजालिक है, वह चित्ररूप नामक दानव से इन्द्रजालकला सीखकर आया है। चम्पकापीड के अनुरोध पर वह उसे लंकानुभूत वृत्तान्त ही इन्द्रजाल से प्रत्यक्ष दिखाने लगता है। राम-लक्ष्मण भी दर्शक बन जाते हैं। नेपथ्य से सीता की आवाज सुनाई देती है, जिसे राम पहचान लेते हैं। उसके पश्चात् सीता रंगमंच पर आती है। दूसरा प्रसंग वह है जहाँ लंका-वासियों को यह सूचना दी जाती है कि आप लोग सावाधान हो जाओ, वानरवीर हनुमान् प्राकार को लांघकर अन्दर घुस आया है, और रावणपुत्र अक्षकुमार उससे युद्ध करने जा रहा है[२६]। तीसरे प्रसंग में हनुमान् द्वारा अक्षकुमार के वध, मेघनाथ के युद्ध, पुच्छप्रज्वलन, लंकादाह, समुद्र में पूंछ बुझाने, समुद्र लांघने तथा मधुवन में मधु पीकर नील, अंगद आदि सहित राम के चरणकमलों के दर्शन के लिए उसके आने की सूचना है।

सप्तम अंक में चूलिका का प्रथम स्थल वह है जहाँ सीता की अप्राप्ति से संतप्त रावण के शीतोपचार के लिए राक्षसों को आदेश दिया गया है।[२७] द्वितीय स्थल में नेपथ्य से रामसैन्य के वानरवीरों का कोलाहल सुनवाया गया है। तृतीय स्थल में रावण और राम की सेनाओं का पारस्परिक रणसंहार[२८], कुंभकर्ण और

---

२६. प्र० ६.२२
२७. प्र० ७.६
२८. प्र० ७.२०, २१

मेघनाद के युद्ध में मारे जाने[२९] की सूचना है। तत्पश्चात् नेपथ्य से लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम के करुणविलाप तथा सुग्रीव द्वारा समाश्वासन का वृत सुनाया गया है[३०]। तदनन्तर अपने-अपने पक्षों की ओर से रावण और राम के जयकारों की सूचना[३१], राम-रावण की सोपहास उक्ति-प्रत्युक्तियां[३२], देवों द्वारा रावणवध के लिए राम को प्रोत्साहन[३३] तथा रावण का सीता की कमर की करधनी बनाने के लिए अपनी भुजाओं को दिक्पालों के मौलिमंडलमाणिक्य लूट लाने का आदेश[३४] है। अन्त मे सूर्य भगवान् नेपथ्य से राम को आर्शीवाद देते हैं[३५]।

चूलिकाओं के प्रयोग में कवि प्रायः सफल रहा है, तथा इस माध्यम से रंगमंच पर अभिनीत न हो सकने योग्य अनेक वृत्तों की सूचना यत्र-तत्र उसने दे दी है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कहीं-कहीं चूलिका का प्रयोग आवश्यकता से अधिक हुआ है, यथा सप्तक अंक मे।

अर्थ-प्रकृतियां

१. **बीज**—नाटक में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य नामक पांच अर्थप्रकृतियां रहती हैं। प्रसन्नराघव में प्रथम अंक के विष्कंभक में सीतास्वयंवर की सूचना रावण को देने के लिए उसके सेवक निशाचर के प्रस्थान करने से ही बीज नामक अर्थप्रकृति का सूत्रपात हो जाता है, जिसका विकास स्वयंवर में रावण की उपस्थिति, धनुष उठाने में विफलता, नूपुरक के साथ उसकी कहासुनी तथा राम द्वारा ताटका, सुबाहु और मारीच के वध में होता है। इनके वध से राम-राबण के विद्वेष-वृक्ष का बीजवपन हो जाता है, जो राम-सीता के विवाह से अंकुरित एवं पल्लवित होता है[३६]।

२. **बिन्दु**—चतुर्थ अंक के परशुरामवृत्त में तथा पंचम अंक के सीताहरण से पूर्व तक के वनवास वृत्त में अवान्तर प्रसंग वर्णित हुआ है, जिससे मुख्य घटना से सम्वन्ध विच्छिन्न हो गया है। पुनः पंचम अंक का वह प्रसंग ही बिन्दु है, जिसमें राम-लक्ष्मण-सीता के गोदावरी-परिसर में पहुंचने की सूचना देते हुए यह कहा गया है कि वहां तो लंकेश्वरभगिनी शूर्पणखा परिभ्रमण करती है। यह प्रसंग पूर्वघटना को भावी सीताहरण की घटना से जोड़ने वाला है[३७]।

---

२९. प्र० ७.२३, २४
३०. प्र० ७.३०—३२
३१. प्र० ७.३७, ३८
३२. प्र० ७.३९—४५
३३. प्र० ७.५०
३४. प्र० ७.५१
३५. प्र० ७.६२
३६. अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद् विसर्पति।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते।। सा० द० ६.६५
३७. अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्। वही ६.६६

३. **पताका**—पंचम अंक के सीताहरण के पश्चात् से अंक-समाप्ति तक का सुग्रीव-मैत्री एवं हनुमान् द्वारा समुद्र-तरण का वृत्त पताका है।[३८]

४. **प्रकरी**—इसीप्रकार षष्ठ अंक का लंका में घटित हनुमान् का वृत्त तथा उनका सीता से वार्तालाप प्रकरी है।[३९]

५. **कार्य**—सप्तम अंक में रावणवध, सीता की प्राप्ति तथा अयोध्या पहुंच बन्धुजनों से मिलाप 'कार्य' है।[४०]

कार्यावस्थाएं

फलार्थियों के द्वारा प्रारब्ध कार्य की पांच अवस्थाएं हुआ करती हैं—आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।

१. **आरंभ**—प्रसन्नराघव के प्रथम अंक में रावण जब स्वयंवर में मिथिला गया हुआ था तभी राम द्वारा ताटका, सुबाहु और मारीच का वध करके उसे उत्तेजित करना ही आरंभ नामक कार्यावस्था है।[४१]

२. **यत्न**—पंचम अंक में सीताहरण के पश्चात् सुग्रीव से मैत्री कर सीता की खोज में वानरवीरों को नियुक्त करना एवं हनुमान् को समुद्र पार भेजना आदि ही यत्न है।[४२]

३. **प्राप्त्याशा**—षष्ठ अंक में राम रत्नशेखर द्वारा प्रदर्शित इन्द्रजाल में रावण को सीता के प्रति खड्ग उठाये देखते हैं, फिर उसे आत्मदाह की तय्यारी करते देखते हैं। इससे उन्हें यह प्रतीत होने लगता है कि सीता तो अब यमपुरी की पथिक होने वाली है, अब उससे मिलाप नहीं हो सकता। दूसरी ओर सीता का बच जाना, लंका में पहुंचे हुए हनुमान् द्वारा अक्षकुमार का वध करना, लंकादाह करना, सीता को आश्वासन देना आदि देखते हैं, तब पुनः सीता-प्राप्ति की आशा हो जाती है। इसीप्रकार सप्तम अंक में लक्ष्मण के शक्ति लगकर मूर्च्छित हो जाने पर धूमिल हो जाती है। पर हनुमान् द्वारा ओषधियों के भण्डार गन्धमादन पर्वत उठा लाने पर, तथा ओषधियों की गन्ध से लक्ष्मण के पुनः सचेत हो जाने पर फिर प्राप्त्याशा हो जाती है। यही प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था है।[४३]

४. **नियताप्ति**—सप्तम अंक में कुंभकर्ण, मेघनाद एवं रावण का वध हो जाने

---

३८. व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते। वही ६.६७

३९. प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता। वही ६.६८

४०. अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति संमतम्॥ वही ६.६९

४१. भवेदारंभ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये। वही ६.७१

४२. प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः। वही ६.७२

४३. उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः। वही

पर नायक को सीता की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। अतः नियताप्ति नामक अवस्था है।[४४]

५. फलागम—अन्त में सीताप्राप्ति तथा बन्धुजनसमागम रूपी फल के प्राप्त हो जाने पर फलागम अवस्था है।[४५]

सन्धियां

नाटक में पांच सन्धियां होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण। मुखसन्धि में बीजसमुत्पत्ति प्रदर्शित की जाती है। मुखसन्धि में विनिविष्ट बीज का ऐसा उद्‌भेद जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों रूपों में हो प्रतिमुख सन्धि कहाती है। गर्भ वह सन्धि है जिसमें मुख-प्रतिमुख सन्धि में किंचिन्मात्र उद्‌भिन्न बीज का ऐसा समुद्‌भेदन दिखाया जाता है, जिसमें ह्रास और अन्वेषण साथ-साथ चलते हैं। जहां मुख्यफलोपाय गर्भ की अपेक्षा अधिक उद्‌भिन्न होते हुए भी शापादि से सान्तराय रहता है वह विमर्श सन्धि कहाती है। जहाँ पूर्वसन्धियों में विप्रकीर्ण इतिवृत्तांश प्रधान फल के निष्पादक बनते दिखाई देते हैं वह उपसंहाररूप निर्वहणसन्धि होती है।[४६]

१. मुख—प्रसन्नराघव में प्रथम से तृतीय अंक तक मुखसन्धि है। प्रथम अंक में ही ताटका, सुबाहु एवं मारीच के वध से राम-रावण के परस्पर वैर-रूपी बीज का वपन हो गया है। प्रथम तो रावण को यह आशा है कि मैं स्वयंवर-स्थल पर पहुँच चापारोपण कर लूंगा, पर उसमें वह सफल नहीं होता। तब वह तलवार के बल से सीता को हस्तगत कर लेना चाहता है। उसका यह मनोरथ भी पूर्ण नहीं होता। इसके विपरीत वह नूपुरक जैसे जनक के एक साधारण से वन्दी से अपमानित किया जाता है। फिर राम द्वारा उसके आश्रितों का वध किया जाना उसे और भी अधिक रोषाविष्ट कर देता है। पुनः जिस सीता को पाने का वह प्रत्याशी है उसे राम पा लेते हैं। इससे विरोधाग्नि और भी अधिक प्रज्ज्वलित हो जाती है। इसप्रकार तृतीय अंक की समाप्ति तक मुखसन्धि चली है।

२. प्रतिमुख—चतुर्थ अंक से लेकर पंचम अंक के सीताहरण वृत्त तक प्रतिमुख सन्धि है। चतुर्थ अंक में परशुराम के गर्व का मर्दन कर राम और भी अधिक उन्नति के शिखर पर पहुँच गये हैं। पंचम अंक में वे कैकेयी की वरयाचना सुनते ही पिता के चरणों में प्रणाम कर स्वेच्छा से वन को चले गये हैं। उसके पश्चात् रावण द्वारा सीता हर ली जाती है। एवं प्रारम्भ में जिस विरोध-बीज का वपन एवं अंकुरण हुआ था, वह समय पाकर पल्लवित हो जाता है।

३. गर्भ—पंचम अंक के सीताहरण के पश्चात् से आरम्भ कर षष्ठ अंक की

---

४४. अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता। वही ६.७३

४५. सावस्था फलयोगः स्याद् यः समग्रफलोदयः। वही

४६. द्रष्टव्यः ना. शा. १९.३९-४३, द. रू. १.२४,३०,३६,४३,४८, सा. द. ६.७६-८१

समाप्ति तक गर्भसन्धि है। सुग्रीव से मैत्री कर वालि का वध कर राम सुग्रीव को राज्याभिषिक्त कर देते हैं। सुग्रीव की आज्ञा पा हनुमान् सहित कुमुद, नल, नील, अंगद आदि वीर वानर दिशा-दिशा में सीता की खोज में तत्पर हो जाते हैं।

> **परिम्लानां मालामिव ललितसौरभ्यरहिता—**
> **मपि स्थाने स्थाने विचिनुत वधूटीं दिनमणेः।**
> **इति स्वेनैवोक्ताः कुमुदनलनीलांगदमुखा**
> **हनूमत्संयुक्ता दिशिदिशि नियुक्ताः कपिभटाः॥** प्र० ५.५१

षष्ठ अंक में राम सीता-विरह से विह्वल दिखाये गये हैं। तभी रत्नशेखर का इन्द्रजाल आरम्भ होता है। उसमें रावण की प्रणययाचना के सीता द्वारा ठुकरा दिये जाने पर रावण उसके कंठ पर खड्ग चलाने के लिए उद्यत हो जाता है। फिर उससे उद्धार होता है, तो सीता आत्मदाह के लिए अग्नि मांगने लगती है। इस सबके सीता प्राप्ति के प्रतिबन्धक रूप में होते हुए भी लंका में हनुमान् के कृत्यों से सफलता की आशा बलवती हो जाती है। इसप्रकार ह्रास-अन्वेषण चलता रहता है।

४. विमर्श—सप्तम अंक में रावणवध से पूर्व तक विमर्शसन्धि है। इसमें विभीषण एवं समुद्र के शरणागत होने, समुद्र पर पुल बांधने एवं वानर-वीरों के युद्धोत्साह से तथा कुंभकर्ण एवं मेघनाद के वध से उपाय सफल होते दिखाई देते हैं। तभी लक्ष्मण की मूर्च्छा रूपी अन्तराय उपस्थित हो जाता है। किन्तु हनूमान् द्वारा लायी हुई ओषधियों से लक्ष्मण पुनः सचेत हो जाते हैं।

५. निर्वहण—इसके आगे नाटक की समाप्ति तक निर्वहणसन्धि है। इसमें रावणवध, सीता का वह्निपरीक्षा में सफल होना, पुष्पक-विमान द्वारा राम का सीता सहित अयोध्या लौटना एवं बन्धुजनों से समागम वर्णित है।

यह यथाकथंचित् प्रसन्नराघव में सन्धियों का प्रयोग प्रदर्शित किया गया है। कतिपय संध्यंशों का प्रयोग भी कवि ने किया है। वस्तुतः सन्धियों और सन्ध्यंगों की योजना में जयदेव, पूर्णतः सफल नहीं कहे जासकते।

अभिनेयता

उत्कृष्ट नाटक के लिए यह आवश्यक है कि उसका रंगमंच पर समुचित रूप से अभिनय किया जा सके। इस दृष्टि से विचार करने पर संस्कृत के कुछ नाटक अत्यन्त सफल, कुछ अत्यन्त असफल तथा कुछ मध्यकोटि के हैं। प्रसन्नराघव के कतिपय स्थलों का बहुत सुन्दर अभिनय किया जा सकता है, किन्तु कुछ स्थलों के अभिनय में कठिनाई अनुभव होती है। प्रथम अंक में कवि ने एक चक्राकार विशाल स्वयंवर-मंच का संकेत किया है, जहाँ सिंहासनों पर असंख्य नृपति आसीन हैं। हाथी-दांत के बने हुए सिंहासनों पर कुंकुम का अंगराग लगाकर आसीन राजा निर्मल स्फटिक-प्रासादों के शिखरों पर बैठे हुए स्वर्णमय सिंहों के समान शोभा पा रहे हैं।

उस मंच रूपी कठपुतली की डोरी को खींच-खींच कर कोई मनुष्य उसे नचा रहा है। फिर वे सब राजा एक साथ ही धनुष पर अपनी शक्ति की परीक्षा करने के लिए चल पड़ते हैं। एक साथ चलने से परस्पर उनके कपोल और भुजाओं के केयूर टकराते हैं। केयूरों के टकराने से सुवर्ण के कण अग्नि की चिनगारियों के समान निकलने लगते हैं। यह सब रंगमंच पर कैसे प्रदर्शित किया जा सकेगा।

पंचम अंक में गंगा, यमुना आदि नदियों एवं समुद्र और हंस को पात्र बनाया गया है। कवि इनमें देवत्व का आरोप करके पात्र-कल्पना कर लेता है। तो भी इन्हें पात्र बनाने में नाटकीयता की दृष्टि से दोष अवश्य है, क्योंकि रंगमंच पर इनका अभिनय समुचित रूप से प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। जैसे इस अंक में गंगा, यमुना, सरयू बहती चलती हैं और वार्तालाप करती जाती हैं, यह रंगमंच पर कैसे दर्शाया जायेगा। अधिक से अधिक इतना सम्भव है कि कोई नारी या नारी-वेश-धारी पुरुष इनका अभिनय करे और प्रवाह दिखाने के लिए अपने पीछे लम्बी शुभ्र या नीली साड़ी लटका कर चले। ऐसे ही कलहंस का अभिनय कोई पुरुषपात्र ही करे, और कृत्रिम चोंच लगा ले। किन्तु इसप्रकार स्वाभाविकता नहीं आती।

सप्तम अंक में जो विमान-यात्रा करायी गयी है उसका भी सम्यक् अभिनय सम्भव नहीं है। केवल इतना ही हो सकता है कि रंगमच पर उनका विमानारोहण प्रदर्शित कर दिया जाये, और उसपर बैठे बैठे वे सब दृश्यों का वर्णन करते चलें तथा अन्त में विमान से अवतरण दिखला दिया जाये।

अभिनय की दृष्टि से द्वितीय, चतुर्थ और षष्ठ अंक विशेष स्पृहणीय हैं। वाचिक अभिनय की कला में तो जयदेव नितान्त निपुण हैं। संवादों में हर्ष, विषाद, क्रोध, अमर्ष, चिन्ता, लज्जा, विस्मय, मोह, गर्व, औत्सुक्य आदि भावों के अभिनय का भी सुन्दर अवसर कवि को प्राप्त हुआ है। आंगिक अभिनय की छटा भी दृष्टि-गोचर होती है। तथापि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो इस नाटक में जितना स्थान वाचिक अभिनय को मिला है, उतना इतर अभिनयों को नहीं।

संवाद एवं कथोपकथन

संवाद एवं कथोपकथन की दृष्टि से जयदेव अत्यन्त सफल हैं। प्रसन्नराघव में कई प्रसंग तो इन्होंने अपनी संवाद-कला की पटुता को प्रदर्शित करने के लिए ही संनिविष्ट किये हैं। ये संवादों में विषयानुरूप तथा मुहावरेदार उतार-चढ़ाव की भाषा लिखने में सिद्धहस्त हैं। प्रथम अंक के बाण-रावण-संवाद में बाण और रावण की आत्मश्लाघा-पूर्ण तथा एक-दूसरे का उपहास करने वाली उक्तियां दर्शनीय हैं। यथा:

रावणः—कथमद्यापि नानीयते सीता। तदयं चन्द्रहास एव बलादानयति।

बाणः—(विहस्य) यदीदृशं वीरडम्बरं तत्किमारोप्यैव हरकार्मुकं नानीयते सीता?

रावणः—आः, कोऽयमलीकपण्डितः?

उद्दण्डचण्डिमलसद्भुजदण्डखण्ड—
हेलाचलाचलहराचलचारुकीर्तेः ।
कीदृग् यशस्तुलितबालमृणालकाण्ड—
कोदण्डकर्षणकदर्थनयाऽनया मे ॥ प्र० १.४८

बाणः—सोऽयमशक्तिप्रकारः ।

रावणः—आः, कथं दशमुखस्याप्यशक्तिसंभावना ?

बाणः—(विहस्य) अये, बहुमुखता नाम बहुप्रलापितायाः कारणम् । विक्रमस्य बहुबाहुतैव ।

रावणः—आः, कथं रे, पलालभारनिस्सारेण भुज-भारेण वीरंमन्योऽसि ?

बाणः—(सक्रोधम्) अये समरकलाकुण्ठ दशकण्ठ, ममापि भुजभारं निस्सारं व्यपदिशसि ।

द्वितीय अंक के विष्कंभक का भिक्षु-तापस-संवाद भी अतिशय कौतूहलोत्पादक है । तृतीय अंक के प्रवेशक का हास्यात्मक वामनक-कुब्जक-संवाद भी अपने ढंग का अनूठा है । चतुर्थ अंक का ताण्ड्यायन-जामदग्न्य-संवाद और राम-भार्गव-लक्ष्मण-संवाद भी विशेष स्पृहणीय है । षष्ठ अंक के रावण-सीता-संवाद में सीता की ओजस्विनी उक्तियां बड़ी ही प्रभावोत्पादक हैं । इसी अंक का सीता-हनूमान्-संवाद सीता के विरहाकुल हृदय को बड़ी सान्त्वना देने वाला तथा भाषा, भाव आदि की दृष्टि से प्रसंग के सर्वथा उपयुक्त है । तथापि प्रसन्नराघव के संवादों में एक दोष यह है कि प्रायः मध्य में श्लोकों का वाहुल्य संवाद की चारुता का विघातक हो गया है ।

रस-चित्रण

नाटक में रसाभिव्यक्ति का अपना विशेष स्थान है । अभिनय आदि के सामाजिकों में हृदयग्राह्य होने के लिए रस अत्यधिक उपकारक है । नाट्यशास्त्रियों के नियमानुसार नाटक का प्रधान-रस वीर या शृंगार ही होना चाहिए, यद्यपि इसके अपवाद भी प्राप्त होते हैं । प्रसन्नराघव में अंगीरस वीर है, क्योंकि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा, ताटका, सुबाहु एवं मारीच का दमन, शिवधनुर्भंग, नारायणीय धनुष पर शरसंधान और रावणवध सदृश सफलता की जो घटनाएं हुई हैं, उसका श्रेय इसी रस को है । एक टीकाकार ने इस नाटक में करुण-विप्रलम्भ शृंगार को अंगी-रस स्वीकार किया है[४६] जो सर्वथा असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि वह तो किसी एक के लोकान्तरगत तथा पुनर्लभ्य होने पर होता है,[४७] जैसा कि कादम्बरी के पुण्डरीक-महाश्वेतावृत्तान्त में है । किन्तु इस नाटक में तो सीता जीवित है । कदाचित् विप्रलंभ

४६. द्रष्टव्य : प्रसन्नराघवम्, चौखम्बा, १९५६, पृ० ४५७

४७. यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलं भाख्यः ॥ सा.द० ३.२०९

शृंगार के सफल चित्रण के कारण उसे किसी के द्वारा इस नाटक का प्रधान रस कहा जाये, परन्तु वह भी संभव नहीं है, क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति एकदेश में ही है, और वांछित लक्ष्यप्राप्ति का श्रेय इस रस को नहीं है।

प्रस्तुत नाटक में वीर रस का चित्रण प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पंचम तथा सप्तम अंकों में हुआ है। शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र एवं अद्भुत रस इसके सहकारी रूप में चित्रित हुए हैं। रसों का विस्तृत निरूपण अष्टम अध्याय में किया जा चुका है। यहां केवल इस दृष्टि से विचार करना अभिप्रेत है कि इन रसों के चित्रण में कवि कहां तक सफल रहा है।

अंगी रस

अंगीभूत वीर रस के चित्रण में कवि को बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। वीररस की निष्पत्ति का सर्वोत्तम अवसर कवि को सप्तम अंक में लंका-समर के प्रसंग में प्राप्त हुआ है। किन्तु वह प्रसंग वीर रस की दृष्टि से अत्यन्त शिथिल है। कुछ ही श्लोक उत्कृष्ट वीर रस के हैं। करुण के समावेश से वीर रस निर्बल हो गया है। कुम्भकर्ण और मेघनाद के वध की वीर रस से प्रारम्भ हुई सूचना का पर्यवसान करुण में ही हुआ है, जहां मन्दोदरी और रावण मूर्छित हो जाते हैं।

> **यद्दंष्ट्रावज्रघातैः समिति विदलिताः शैलकल्पाः कपीन्द्राः**
> **यन्नाराचाम्बुवर्षैर्दवदहनसमाः शमिता वानरेन्द्राः।**
> **वीरोऽसौ कुम्भकर्णः स च समरकलाकौतुकी मेघनादः**
> **संजातौ हा पतंगौ दशरथसुतयोर्दारुणे बाणवह्नौ॥** प्र० ७.२४

युद्ध-वर्णन के प्रसंग में लक्ष्मण के शक्ति लगने पर करुण रस के चित्रण का प्रलोभन कवि संवरण नहीं कर सका है[४८]। एक श्लोक में तो वीर और करुण का मिश्रित वर्णन अत्यन्त अस्वाभाविक हो गया है। राम एक-साथ एक ओर तो रावण पर शरवृष्टि कर रहे हैं, दूसरी ओर गोद में रखे हुए चेतनाहीन लक्ष्मण पर अश्रुवृष्टि कर रहे हैं :

> **वर्षन्नेव समन्ततो दशमुखं चापच्युतैः सायकैः**
> **सौमित्रिं च विसंज्ञमंकनिहितं नेत्रच्युतैरम्बुभिः।**
> **एतत्तर्कय हर्षशोकतरलाः कुर्वन्कपीनां दृशो**
> **रामश्चामलकेलिवीरकरुणव्यामिश्रतां गाहते॥** प्र० ७.२९

रावण-वध का श्लोक भी वीर की अपेक्षा करुण रस को ही अधिक अभिव्यक्त करता है। विद्याधर हर्ष-मिश्रित विषाद के साथ रावण-वध की सूचना देता हुआ कहता है कि जो रावण परागभूषित हो चन्द्रकांतमणियों के पर्यंक पर फूलों की सेज पर सोता था, वही आज राम के प्रकुपित होने पर धूलिधूसरित हुआ भूमि पर शयन कर रहा है :

---

४८. : ७.२९–३२

विकचकुसुमस्तोमाकीर्णे परागविभूषितः
शशिमणिशिलातल्पेऽनल्पे सलीलमशेत यः ।
अयमयमसौ रोषारूढे क्षणं रघुनन्दने
भुवि दशमुखः शेते धूलिच्छटापरिधूसरः ।। प्र० ७.५२

कहां तो महावीर रावण का वध, जिसके लिए सम्पूर्ण नाटक का सूत्रपात हुआ है, और कहां ऐसा शिथिल चित्रण । तृतीय अंक में धनुर्भंग का जैसा प्रभावोत्पादक वर्णन हुआ है, उसकी तुलना में यह वर्णन अत्यन्त श्रीविहीन प्रतीत होता है । रावण के अधःपात से तो भूमि कंपित हो जाती, शेषनाग के फन डोल जाते, गिरने के शब्द से दिशायें व्याप्त हो जातीं और देवों के जयजयकार से द्यावापृथिवी गुंजित हो जाते । प्रतीत ऐसा होता है कि कुछ हुआ ही नहीं ।

अंगभूत रस

प्रसन्नराघव में रौद्र रस ने वीर रस का सुन्दर पोषण किया है । चतुर्थ अंक में परशुराम का जो रौद्र रूप प्रस्तुत किया गया है उसका उपसंहार राम की वीरता में ही होता है । द्वितीय अंक के पूर्वानुराग में चित्रित संयोग-श्रृंगार राम के हृदय में सीता-प्राप्ति की उत्कण्ठा को जागरित कर शिवचापारोपण रूपी वीरता में हेतु बनता है । षष्ठ अंक का सीता के विरह में अश्रु बहाना रूपी विप्रलम्भ श्रृंगार भी आगे लंकायुद्ध में वीरता की अभिव्यक्ति में सहायक होता है । धनुर्भंग का अद्भुत रस तो है ही वीर रस से मिश्रित । इसी प्रकार कतिपय स्थलों में चित्रित अन्य रस एवं भावादि भी अंगीरस के उपकारक हुए हैं । इस प्रकार जहां तक अंगभूत रसों के चित्रण का प्रश्न है, जयदेव सफल रहे हैं ।

पात्रों का चरित्र-चित्रण

किसी भी नाटक की सफलता के लिए नायक आदि पात्रों के नाटक में प्रतिफलित चरित्र का सजीव होना आवश्यक है । अतः प्रसन्नराघव में प्रयुक्त प्रधान पात्रों का चरित्र-चित्रण यहां दर्शाया जाता है ।

राम

प्रसन्नराघव नाटक के नायक मर्यादा पुरुषोत्तम राम दिव्यादिव्य और धीरोदात्त हैं । वे वीरता, सहृदयता, गुणग्राहकता, शरणागतवत्सलता आदि अनेक गुणों की निधि हैं । वे अद्वितीय वीर हैं । विश्वामित्र के यज्ञ में विघ्न डालने वाले ताटका, सुबाहु, मारीच आदि का वध उनकी वीरता का निदर्शक है । उनकी परमवीरता एवं शक्तिसम्पन्नता की एक झलक हमें उस समय मिलती है जब गुरु विश्वामित्र की आज्ञा पाकर वे अनायास ही शिवधनुष को उठा कर उसकी प्रत्यंचा का भंजन कर देते हैं :

ज्यावल्लीं ललिताङ्गुलीकिसलयैराकर्णमाकर्षतो
न भ्रूभङ्गुरतां गता रघुशिशोर्भग्नं धनुर्धूर्जटेः ।। प्र० ३.४८

नारायण के धनुष पर भी वे शरसंधान कर देते हैं। लंकायुद्ध और रावण-वध में उनकी वीरता की चरम परिणति दृष्टिगोचर होती है।

राम के स्वभाव में उग्रता और स्वाभिमान भी दृष्टिगोचर होते हैं। उनके मन में अपने गुरु मुनि विश्वामित्र के प्रति भी अत्यधिक आदर है। भार्गव के यह कहने पर कि तेरा गुरु भी मेरे बाणों को नहीं सह सकता, वे उत्तेजित हो जाते हैं—'**कथं भगवन्तं विश्वामित्रमधिक्षिपति ? तदतः परं न सहिष्ये**'। भार्गव को ललकार कर कहते हैं :

> **तत्कोदण्डं कुलिशकठिनं भग्नमेतेत भग्नं**
> **मग्नं शल्यं तव हृदि महन्मग्नमेतावता किम् ?**
> **त्रैयक्षं वा भवतु यदि वा नाम नारायणीयं**
> **नैतत् किञ्चिद् गणयति स मे दुर्मदो दोर्विलासः ।।** प्र० ४.३६

वे विनयी इतने हैं कि परशुराम के गर्वमर्दन के पश्चात् भी अहंकारी न होकर उनके प्रति अतिशय नम्रता ही प्रकट करते हैं। मुनि के साथ विवाद में हुई अपनी किंचिन्मात्र धृष्टता को वे बहुत बड़ा मानते हैं और नतमस्तक हो हाथ जोड़ क्षमा-याचना करते हुए उनके चरणों पर गिर पड़ते हैं।

राम को अपने शत्रुओं के गुणों का मूल्यांकन करने में भी तनिक संकोच नहीं है। अपने परम शत्रु रावण को भी वे त्रिभुवन का एकमात्र वीर मानते हैं। जब लक्ष्मण उनके कथन पर आक्षेप करते हैं तो वे रावण को त्रिकूट-पर्वत के शिखर का सिंह कहते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं। शत्रुप्रशंसा के अतिरिक्त राम में शत्रु के प्रति उदारता के भाव भी दृष्टिगोचर होते हैं। उनके इस स्वभाव का परिचय उस प्रसंग से मिलता है जब वे युद्ध के समय रावण के धनुष के कट जाने पर उससे कोई अन्य अस्त्र ग्रहण करने के लिए कहते हैं।

राम की अपने माता-पिता के प्रति अगाध भक्ति है। अपनी माता कैकेयी द्वारा दशरथ से वरद्वय मांगे जाने पर उनकी इच्छा का आदर करते हुए वे प्रसन्नता-पूर्वक वन की ओर प्रस्थान कर जाते हैं। वे सीता को भी वहीं रहकर माताओं की सेवा करने के लिए प्रेरित करते हैं। इसके अतिरिक्त उनका भ्रातृप्रेम भी प्रशंसनीय है। रावण की शक्ति से आहत लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर वे अत्यधिक आतुर हो जाते हैं। सूर्य, गंगा आदि देव-देवियों के प्रति वे भक्तिमान् हैं।

राम को अपने वंश की मर्यादा का भी ध्यान है। जनक की वाटिका में सीता के नूपुर की ध्वनि सुनकर वे किसी पर-नारी की उपस्थिति का अनुमान कर कहते हैं—**तदलमस्माकमितो ऽवलोकनेन, परस्त्रीति शंकापि संकोचाय रघूणाम्।**

जयदेव के राम प्रियदर्शन तथा माधुर्ययुक्त हैं। यही कारण है कि देखने वाले अनायास ही उनकी ओर खिंचे चले आते हैं। पंचम अंक में राम के माधुर्य की चर्चा करते हुए सागर ने भी कहा है—**सकलजनमनः साधारणी हि रामचन्द्रमाधुरी।** जनक, शतानन्द और भार्गव भी उनके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं।

राम को प्रकृति के प्रति विशेष अनुराग है। जनक की वाटिका में वसन्तर्तु की शोभा को देखकर वे भावविभोर हो जाते हैं तथा उसका सुन्दर वर्णन करते हैं। उनके द्वारा द्वितीय और सप्तम अंकों में किया गया सन्ध्या, चन्द्रोदय और सूर्योदय का चित्र भी उनके प्रकृति-प्रेम का परिचायक है।

राम के चरित्र में सामान्य व्यक्तियों की भांति शृंगारिकता के भी दर्शन होते हैं। इसका उदाहरण द्वितीय अंक का पूर्वानुराग-प्रसंग है, जहां सीता के रूपलावण्य को देखकर राम उसमें इतना अधिक अनुरक्त हो जाते हैं कि वे उसके नख-शिख का शृंगारपूर्ण वर्णन करने लगते हैं।

राम सहृदय तथा भावुक हैं। उनकी सहृदयता का परिचय षष्ठ अंक के उस वर्णन से मिलता है, जहां सीता-हरण के पश्चात् उसकी खोज में वन-वन भटकते हुए वे भावविभोर होकर चन्द्र, चकोर, नदी, भ्रमर, चक्रवाक आदि से सीता का पता पूछते हैं। रत्नशेखर द्वारा दिखलाये गये इन्द्रजाल में सीता के चित्रों को देखकर भावुकता के वशीभूत हो उसे वास्तविक सीता समझ उसके पास जाने लगते हैं। इसके अतिरिक्त हनूमान् द्वारा सीता को दिये गये राम के सन्देश में उनकी विरहावस्था का जो चित्रण किया गया है, वह भी उनकी भावुकता का परिचायक है।

लक्ष्मण

लक्ष्मण आदर्श भाई हैं। आरम्भ से अन्त तक राम के चरणकमलों का अनुसरण करते हैं। वे अपने अगाध भ्रातृ-प्रेम के कारण राम के साथ वन जाने के लिए भी उद्यत हो जाते हैं। राम के साथ रहते हुए उन्हें अनेक युग भी प्रहरवत् प्रतीत होते हैं तथा राम के बिना चौदह वर्ष मन्वन्तर के तुल्य लगते हैं :

त्वया समं मे चत्वारि यामा एव युगान्यपि।
चतुर्दश समाः स्यातु बिना मन्वन्तराणि मे॥ प्र० ५.८

वनयात्रा के समय लक्ष्मण मार्ग में स्थान-स्थान पर सेवा कर राम-सीता की थकावट को दूर करते हैं। सीताहरण के पश्चात् वे विरह-संतप्त राम को सान्त्वना देते हुए सीता की खोज में वन-वन घूमते हैं।

परशुराम के साथ सम्पन्न संबाद में लक्ष्मण का एक नूतन व्यक्तित्व सामने आता है। शिवधनुर्भंग को निमित्त बना कर परशुराम द्वारा राम के प्रति रौद्र रूप धारण करने पर लक्ष्मण उनके लिए उपहासपूर्ण व्यङ्ग्यवाणों का प्रयोग करते हैं।

लक्ष्मण को शत्रु के गुणों की प्रशंसा सहन नहीं है। राम द्वारा रावण को त्रिभुवन का एकमात्र वीर कहे जाने पर वे अपनी असहमति प्रकट करते हुए अमर्षपूर्वक कहते हैं—**कथमयं किष्किन्धामाहिष्मतीपतिभ्यः समभागविभक्तलक्ष्मीकोऽपि त्रिभुवनैकवीर इति व्यपदिश्यते।**

लक्ष्मण के चरित्र में शौर्य और वीरता भी परिलक्षित होती हैं। वे शूर्पणखा की नाक काटने के पश्चात् निर्भीकतापूर्वक राक्षसों से लड़ने की उत्सुकता राम के सम्मुख व्यक्त करते हैं। लंका में सम्पन्न युद्ध में भी वीरतापूर्वक मेघनाद आदि का

संहार करते हैं। यहाँ तक कि रावण द्वारा विभीषण पर फेंकी गई शक्ति को वे अपने वक्षस्थल पर झेल लेते हैं—

येयं विभीषणे शक्तिर्मुक्ता क्रूरेण रक्षसा।
लक्ष्मणेन गृहीतेयं प्रियेव निजवक्षसा।। प्र० ७.२८

एक अन्य स्थान पर लक्ष्मण रावण को चेतावनी देते हुए राम की शरण में आने अथवा राम के बाण से मृत्यु को प्राप्त करने का विकल्प रखते हुए अपनी उग्रता का परिचय देते हैं :

दूरोन्मुक्तमदो विभीषण इव न्यञ्चच्छिरःशेखरः
स्वच्छन्दं चरणारविन्दयुगले रामस्य भृङ्गो भव।
रे नक्तञ्चर कुम्भकर्ण इव वा कर्णान्तिचक्रीभव-
च्चापोत्सङ्गविमुक्तबाणदहने सद्यः पतङ्गो भव।। प्र० ७.४२

लक्ष्मण संयमी हैं। जनक की वाटिका में जानकी को देख राम की भाँति उनके चित्त में शृंगारिक भावों का उदय नहीं होता, अपितु उनमें सीता के प्रति मातृभावना जागरित होती है—**अये केयमस्यां सुमित्रायामिव मे सुचिरप्रवृत्ता चित्त-वृत्ति।**

राम के समान लक्ष्मण को भी प्रकृति के प्रति विशेष अनुरक्ति है। वे भी जनकोद्यान में वसन्त-श्री तथा सन्ध्या के आगमन का मनोहर चित्रण करते हैं।

सीता

इस नाटक की नायिका सीता कुमुदिनी के सदृश अपूर्व सुन्दरी हैं। उनकी देहलता विद्युल्लेखा के समान सुशोभित हो रही है, और मुस्कराहट की कान्ति चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करने वाली है। वे सौन्दर्य के कारण 'कामदेव के क्रीडाभवन की दीपिका' के समान प्रतीत होती हैं।

सीता स्त्रीसुलभ कोमलता तथा लज्जा से पूर्ण हैं। पुष्पवाटिका में राम के सौन्दर्य से आकृष्ट हो उनके हृदय में अनुरागोदय हो जाता है।

सीता पतिप्रेमपरायणा हैं। 'चन्द्रमा में चन्द्रिका' की भाँति वे सदा राम के समीप रहती हैं[४९]। वनगमन के समय राम द्वारा अयोध्या-वास का प्रस्ताव रखने पर सीता मूर्च्छित हो जाती हैं, उनकी मूर्च्छा तभी दूर होती है जब राम साथ चलने की अनुमति दे देते हैं[५०]। विभूति जैसे नय का अनुगमन करती है, वैसे ही वे राम का अनुसरण करती है[५१]। सूर्य-किरणों से संतप्त भी भूमि-भागों को प्रियतम के पदों से अंकित होने के कारण वे अति शीतल अनुभव करती हैं। वे पति-सेविका भी हैं। यात्रा के परिश्रम से श्रान्त राम के श्रम को पल्लवों से पंखा करके[५२] और

---

४९. प्र०, पृ० २५१
५०. प्र० ५.६
५१. प्र० ५.२०
५२. प्र० ५.२९

दृगञ्चलों से निहार कर [५३] दूर कर देती हैं।

अगाध प्रेम के कारण पल भर के लिए भी राम का वियोग उन्हें असह्य है। रावण द्वारा हरण किये जाने के पश्चात् उनकी अवस्था अत्यन्त दयनीय हो जाती है। अशोकवाटिका में राम का स्मरण करती हुई रामैकचित्ता वे अपने जीवन को धिक्कारती हैं :

यन्न खलु सम्भाव्यते तदपि हला अस्त्यत्र जीवलोके।
यज्जीवति जनकसुता अनालोकयन्त्यपि रामचन्द्रमुखम् ॥ प्र० ६.२०

रामविरहजन्य कष्ट से संतप्त वे प्राणत्यागार्थ त्रिजटा से बार-बार अग्नि लाने का आग्रह करती हैं। किन्तु त्रिजटा द्वारा उस स्थान पर अग्नि की असुलभता सूचित करने पर आतुर हो अशोकवृक्ष से ही चिनगारी मांगने लगती हैं। राम के मुखचन्द्र-दर्शन की आकुलता हनुमान् द्वारा राम के प्रति भेजे गये सीता के प्रति-सन्देश में मुखरित है :

बहलगलन्नयनजलनिर्झरपर्याकुलापि मम दृष्टिः।
तव सुभग ! वदनशशधरलावण्यरसं पिपासति ॥ प्र० ६.४५

सीता के जीवन का मूलादर्श उनका पातिव्रत्य-धर्म में अटूट विश्वास है। पति के अतिरिक्त वे किसी अन्य की ओर देखना भी पसन्द नहीं करतीं। रावण की प्रेम-याचना को सुनना भी उनके लिए असह्य है। रावण द्वारा अनेक प्रलोभन दिये जाने पर उनका स्वाभिमान जाग जाता है और वे निर्भयतापूर्वक रावण को खद्योत कह कर उसका तिरस्कार करती हैं। कण्ठ में भुजाश्लेष का प्रस्ताव करने पर वे उसे साहस के साथ दुत्कार देती हैं [५४]।

वे करुणार्द्रचित्ता तथा अनुकम्पनीय-जनों के प्रति नितान्त वत्सल हैं। वनयात्रा के समय भयभीत मृग को देखकर राम के धनुष को अपने आंचल से ढक लेती हैं। चक्रवाकी के रात्रिकालीन वियोग की कल्पनामात्र से उन्हें शोक की अनुभूति होने लगती है।

रावण

इस नाटक का प्रतिनायक रावण धीरोद्धत, अहंकारी तथा कामुक है। उसमें अपरिमित शक्ति है, जो उसने अपने तप के बल पर प्राप्त की है। भुजाओं से कैलासशिखर के उत्तोलन पर उसे गर्व है। क्षीरसागर में स्थित विष्णु की नाभि-कमलिनी को अपनी क्रीडा-वापी में ले जाने के लिए तत्पर देख अपने निवासभ्रंश की आशंका से ब्रह्मा भी उसका अनुनय कर चुके हैं[५५]। वह अपने पराक्रम के कारण दशों दिशाओं में त्रिभुवनवीर के रूप में विख्यात है। वह अपने पराक्रम पर अभिमान करता हुआ कहता है :

---

५३. प्र० ५.२८
५४. प्र० ६.३०
५५. प्र० १.३४

मन्दोदरीकुटिलकोमलकेशभार-
मन्दारदाममकरन्दरसं पिबन्तः
वीणानिनादमधुरध्वनिमुदगिरन्तो
मद्विक्रमं मधुकरा अपि कीर्तयन्ति ।। प्र० १.५८

वह इतना गर्वोन्मत्त है कि मनुष्यों को कीटों के सदृश समझता है।[५६] किन्तु शिवधनुष के संमुख उसका गर्व चूर हो जाता है तथा वह बहाना बनाकर स्वयंवरस्थल से भाग जाता है।

रावण अतिशय कामुक है। वह विदेहतनयाकुचकुंभकेलि के लिए ही धनुष उठाना चाहता है। सीता के परस्त्री बन जाने पर वह उसे हर ले जाता हैं। अशोक-वाटिका में स्थित सीता से प्रणय-याचना करता हुआ वह सीता के चरणों में सिर रख देता है तथा मन्दोदरी को छोड़ने और राज्य को चरणों में न्योछावर करने तक को उद्यत है। सीता को मनाने के लिए उसे अपने उस दसवें सिर को काटने में भी संकोच नहीं है जो महादेव जी के चरणों में भी नहीं झुका था। सीता द्वारा प्रार्थना के अस्वीकार किये जाने पर वह उसके विरह में इतना व्याकुल हो जाता है कि माल्यवान् को उसके शीतोपचार की चिन्ता करनी पड़ती है।

रावण की प्रकृति में क्रोध का विशेष स्थान है। उसकी प्रार्थना न मान कर सीता द्वारा राम की ही प्रशंसा करने पर उसकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठती है, जिसके कारण वह सीता को खड्ग से मारने के लिए उद्यत हो जाता है इसीप्रकार विभीषण द्वारा परस्त्री में अनुरक्ति का अनौचित्य बतलाने पर क्रोधाभिभूत हो वह चरणप्रहार कर उसे अपमानित करता है।

अपने अनुचरों के प्रति रावण को विशेष स्नेह है। वह सीता का हठपूर्वक हरण किये बिना स्वयम्वरस्थल से न जाने का प्रण करता है, किन्तु अनुचर के चीत्कार को सुन प्रण को भी भूल जाता है। उसका हृदय कारुण्यपूर्ण है। हनूमान् द्वारा उसके हाथ पर अक्षकुमार का कटा सिर गिराया जाने पर तथा युद्ध में मेघनाद और कुम्भकर्ण के वध-वृत्त को सुनने पर वह व्यथित होकर मूर्च्छित हो जाता है।

वह निर्भय तथा स्वभाव से निश्शंक है। वानर-सेना के अनिर्वचनीय कोलाहल को सुनकर भी उसमें भय का संचार नहीं होता, अपितु वह उसे मन्दोदरी से आभूषणों की ध्वनि के समान मोददायक ही अनुभव करता है। राम के साथ युद्ध में छाती पर पड़ने वाले वज्रप्रहारों को भी वह निर्भयतापूर्वक सहन कर लेता है। इसी प्रकार मन्दोदरी द्वारा शबरपत्नी की अशकुनसूचक[५७] उक्ति के विषय में सुनकर वह किसी प्रकार की शंका नहीं करता।

जनक

मिथिलापति राजा जनक याज्ञवल्क्य के शिष्य योगीश्वर हैं। वेदत्रयी, राज्य-लक्ष्मी तथा योगविद्या तीनों के वे धनी हैं—

---

५६. प्र०, पृ० ६४ "अहो धृष्टता मनुष्यकीटानाम् ।"
५७. प्र० ७.१९

अङ्गैरङ्गीकृता यत्र षड्भिः सप्तभिरष्टभिः ।
त्रयी च राजलक्ष्मीश्च योगविद्या च दीव्यति ।। प्र० ३.७

वे व्यवहारकुशल तथा शिष्टाचार, नम्रता आदि गुणगणों के अगार हैं। विश्वामित्र के मिथिला पहुंचने पर आदरपूर्वक उनका अभिवादन करते हैं, तथा उनके चरण-वन्दन के सुख को वे हरिचन्दनवृक्ष के सुख से भी अधिक मानते हैं। उनके द्वारा की गई मुनि विश्वामित्र तथा राजा दशरथ की प्रशस्ति उनकी गुण-ग्राहकता की ही ज्ञापक है। वे आत्मश्लाघी नहीं हैं। मुनि द्वारा स्वाभाविक ब्रह्मानन्दरूप महासागर में निमग्न कहे जाने पर वे नम्रतापूर्वक उनके कथन का प्रतिवाद करते हैं—"भगवन्, अस्मद्विधानां राज्यरागोपरक्तचेतश्चन्द्रमसां कुतस्त्योऽयं सहजानन्द-चन्द्रिकोद्भेदः ।' दशरथ को सागर कह उनके संमुख अपने आप को कासार मानते हैं।

जनक अतिथिसत्कार को अपना सौभाग्य मानते हैं। वे धनुर्भंग के प्रयत्न में असफल नृपगणों से आदरपूर्वक राजकीय सत्कार स्वीकार करने के लिए आग्रह करते हैं। विश्वामित्र के आगमन को वे इन्द्रपदवी प्राप्त करने से भी अधिक मानते हैं। वे विनयी होते हुए भी स्वाभिमान से रिक्त नहीं हैं। परशुराम के परशु का उत्तेजक संदेश सुन वे तदनुरूप ही उत्तर देते हैं। परशुराम जब लक्ष्मण के कण्ठ पर कुठार चलाने के लिए उद्यत हो जाते हैं, तब जनक को भी क्रोध आ जाता है और वे उन्हें रोकते हुए कहते हैं कि क्यों बहुत धृष्ट हो रहे हो, अभी तुम्हें दण्डित करने के लिए धनुष लाता हूँ।

परशुराम

परशुराम अत्यन्त पराक्रमी तथा परम शिवभक्त हैं। उनका रूप अत्याकर्षक है। क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों के चिह्न धारण करने के कारण वीर और शान्त रस के विकार प्रतीत होते हैं[५८]।

कार्तवीर्य की भुजाओं का छेदन करना, क्रौंचपर्वत-शिखर का वेधन करना, समुद्र के कुछ भाग को अपने वाण से सुखाकर भूमिखण्ड के रूप में परिणत करना, कार्तिकेय को परास्त करना, नर्मदा-प्रवाह को निरुद्ध करना तथा संग्राम में रावण को बद्ध करना आदि घटनाएं उनके पराक्रम की द्योतक हैं। काश्यप को सकल पृथ्वी देकर वे दानवीरता का परिचय दे चुके हैं। राम के शब्दों में परशुराम विस्मयशीलों के शिरोमणि हैं।

वे अत्यन्त क्रोधी स्वभाव के हैं। शिवधनुष के भंग होने के वृत्त से खिन्न हो वे अपराधी को परशु से मारने का प्रण कर लेते हैं। उनमें क्रूरत्व और अहंकार भी कूट-कूट कर भरा है। राम-लक्ष्मण के साथ सम्पन्न संवाद उनके इसी स्वभाव का निदर्शक है। वे राम की भुजाओं के रुधिर से अपने परशु को सिक्त करने की धमकी देते हैं तथा राम को वाणप्रहार सहन करने के लिए ललकारते हैं। उनकी दृष्टि में लक्ष्मण विषकण्ठ है। विश्वामित्र, शतानन्द एवं जनक का भी अपमान करने में

---

५८. प्र० ४.१५

संकोच नहीं करते। अपने क्रूर स्वभाव के कारण वे अपनी जननी रेणुका का वध कर चुके हैं।

क्रूरता के पीछे उनके हृदय के एक कोने में करुणा तथा स्नेह का भाव भी दृष्टिगोचर होता है। सर्वप्रथम राम को देखकर उनके हृदय में करुणा का ही संचार होता है। मेरे कुठार से कहीं सीता विधवा न हो जाये इसकी चिन्ता भी उन्हें है। जितने अधिक वे उग्र हैं, राम द्वारा विष्णुचाप का भी आरोपण कर लेने पर उन्हें अवतार मान उससे भी अधिक विनम्र हो जाते हैं, और राम के प्रति आशीर्वाद की वृष्टि करने लगते हैं। राम के शब्दों में उनका चरित्र चण्ड-सौम्य उभयात्मक होने से अत्यन्त कौतुकावह है।

हनूमान्

पवनसुत हनूमान् की राम में अपार भक्ति है। वे सीता के विरह से संतप्त राम की सेवा में अपने आपको समर्पित कर देते हैं तथा सुग्रीव के आदेशानुसार अन्य वानरवीरों के साथ दिशा-दिशा में जाकर सीता की खोज करते हैं। अन्त में लंका की अशोकवाटिका में सीता को प्राप्त कर उसे राम का सन्देश देते हैं। तथा सीता का प्रतिसन्देश राम के पास पहुँचाते हैं।

वे अपरिमित शक्ति तथा वीरता की प्रतिमूर्ति हैं। ऊंचे प्राकारों को लांघकर लंका में प्रविष्ट हो जाते हैं, जहां रावणतनय अक्षकुमार से युद्ध कर उसका सिर काट लेते हैं, और उसे वे अशोकवृक्ष के ऊपर से रावण के फैले हुए हाथ पर गिरा देते हैं। अपने इस चातुर्य से वे सीता की रावण के खड्ग से रक्षा कर लेते हैं। वे मेघनाद के बाणप्रहार को सहन करते हैं। जब मेघनाद उन्हें पकड़कर पूंछ में आग लगा देता है, तब वे निर्भयतापूर्वक घूम-घूमकर लंका को भस्मसात् करते हैं। तदनन्तर अपने कार्य में सफल हो वे त्रिकूट पर्वत की ऊंची चोटी पर चढ़ समुद्र-लंघन करते हैं और राम से पास पहुंच जाते हैं। युद्ध में रावण की शक्ति से आहत लक्ष्मण की प्राणरक्षा हेतु वे महौषधियों के आधार गन्धमादन पर्वत को ही उठा लाते हैं।

विश्वामित्र

मुनि विश्वामित्र तपोनिष्ठ महर्षि हैं। उन्होने स्वयं को तपस्या रूपी अग्नि में तपा कर ब्रह्मा जी से पारितोपिक के रूप में क्षत्रियत्व के बदले ब्राह्मणत्वरूप उत्कर्ष को प्राप्त किया है—

यः कांचनमिवात्मानं निक्षिप्याग्नौ तपोमये।
वर्णोत्कर्ष गतः सोऽयं विश्वामित्रो मुनीश्वरः ॥ प्र० ३.८

इन्द्र द्वारा त्रिशंकु को स्वर्ग से नीचे गिराने के लिए उद्यत होने पर जब इन्होंने क्रुद्ध होकर एक नवीन स्वर्ग की रचना करनी चाही थी तब देवताओं ने भी हाथ जोड़ इनकी उपासना की थी।

मुनि को राम-लक्ष्मण के प्रति पितृतुल्य स्नेह है। वे इनके गुरु हैं, जिनके समीप रहकर इन दोनों ने धनुर्विद्या ग्रहण की है। यज्ञ की रक्षा में तत्पर राम द्वारा

ताटका का वध किये जाने के पश्चात् वे शिवधनुष दिखलाने के निमित्त उन्हें मिथिला लाते हैं। उन्हें राम की शक्ति पर पूर्ण विश्वास है, इसी कारण राम में मुग्धत्व को देखने वाले जनक के संकोच करने पर भी वे राम को धनुष नमाने की आज्ञा देते हैं। दशरथ से वे अपने आपको इतना अभिन्न मानते हैं कि उनसे पूछे विना ही चारों जनक-कन्याओं के साथ क्रमशः राम आदि चारों भाइयों के विवाह की स्वीकृति स्वयं दे देते हैं।

बाणासुर

सहस्रबाहु वलितनय वाणासुर अत्यन्त अहंकारी है। अपनी अनेक भुजाओं को ही वह अपने पराक्रम का कारण मानता है। रावण द्वारा बाहुओं को सारहीन कहे जाने पर कुपित हो वह अपनी वाहुओं के पराक्रम का इस प्रकार बखान करता है—

पितुः पादाम्भोजप्रणतिरभसोत्सिक्तहृदयः
प्रयातः पातालं न कतिकतिवारानकरवम्।
सहस्रं बाहूनां क्षितिवलयमासज्य सकलं
जगद्भारोद्वेलां फणफलकमालां फणिपतेः॥ प्र० १.४९

वह गर्व के कारण कैलास-पर्वत के शिखर से भी अधिक भार वाले धनुष को पुष्प के समान मानकर अपनी बाहुओं से उठाने को तत्पर तो होता हैं, किन्तु प्रयत्न करने पर हिला भी नहीं पाता। एवं उसका दर्प क्षण भर में टूट जाता है।

वाण अपनी व्यङ्ग्योक्तियों से रावण को पराजित करने का प्रयत्न करता है। वह कामी-प्रकृति का नहीं है। स्वयंवर में आने का उसका एक मात्र ध्येय चापारोपण की उत्कण्ठा है, न कि वह रावण के समान सीता के साथ पाणिग्रहण के लिये उत्सुक है—

त्रिपुरमथनचापारोपणोत्कण्ठिता धी-
र्मम न जनकपुत्री पाणिपद्मग्रहाय।
अपि तु बहुलबाहुव्यूहनिर्व्यूहमाला-
बलपरिमलहेलाताण्डवाडम्बराय॥ प्र० १.५१

वह वीर भी है। अपने वज्रतुल्य बाहुदण्ड से इन्द्र को पराजित करना चाहता है, तथा उसके नन्दनकानन को नष्ट कर अपने क्रीडोद्यान को मनोहर बनाने के लिए इच्छुक है।

विभीषण

विभीषण रावण का अनुज है। उसे राम के प्रति अगाध श्रद्धा है। वह न्यायप्रिय है तथा उसकी सम्मति में परस्त्रीहरण अनुचित है। इसीकारण वह सीताहरण करने वाले अपने भाई रावण को पुलस्त्यवंश का कलंक मानता है। परिणामतः उसे रावण के चरणप्रहार से अपमानित होना पड़ता है। वह अपने सम्बन्धियों के साथ राम की शरण में चला जाता है। वह लोकत्रय को राम के यश से धवलित तथा राम के यश को देवलोक की सुन्दरियों में गेय मानता है। वह राम-रावण युद्ध में भी भाग लेता है। उसके द्वारा किया गया चन्द्रमा और सूर्य का वर्णन उसके प्रकृतिप्रेम का परिचायक है।

त्रिजटा

त्रिजटा लंका में निवास करने वाली एक वृद्धा राक्षसी है। सीता के प्रति उसके मन में अत्यधिक सहानुभूति है। वह उसकी प्रिय सखी और हितैषिणी है। उसका स्वभाव उदात्त तथा दयालु है। रामविरह के कारण सन्तप्त सीता को वह येन-केन प्रकारेण सान्त्वना देने का प्रशंसनीय कार्य करती है। सीता द्वारा प्राणत्याग के लिए अग्नि मांगने पर वह अग्नि की असुलभता बताकर टाल देती है। वह सीता द्वारा स्वप्नावस्था में गोदावरी से सेवित राम के दर्शन को सुखसूचक बतलाती है। सीता के आग्रह पर वह आकाशचारिणी होकर हनूमान और मेघनाद के मध्य हुए युद्ध का वर्णन करती है। सीता में अनुरक्त रावण को कामान्ध, निर्लज्ज तथा उसके अनुनय-विनय को प्रलाप कहती है।

नूपुरक तथा मंजीरक

ये दोनों राजा जनक के स्तुतिपाठक हैं। पहले ये भ्रमर का रूप धारण कर संलाप करते हैं। वाद में ये अपना असली रूप प्रकट कर देते हैं। इनका स्वर मनोहर है। इन्हें स्वयंवर में आये नृपगणों का परिचय देने का कार्य सौंपा गया है। ये कुछ राजाओं का वर्णन करते भी हैं। किन्तु उसके अतिरिक्त ये जनक की सीता-विवाह विषयक पण की घोषणा तथा पुरुषवेषधारी रावण से कहासुनी भी करते है। इन्हें बाणासुर का उपहास करने में भी संकोच नहीं है। बाण और रावण के प्रति इनकी उपहासात्मक उक्तियां बड़ी सजीव हैं। सीता के भविष्य की इन्हें बड़ी चिन्ता है, ये इस बात से वड़े सशंक हैं कि कहीं वह बाण या रावण के हस्तगत न हो जाये। इनका भाग्य पर विश्वास है। वाण-रावण के चले जाने पर सीता की भाग्य से ही रक्षा हुई मानते हैं।

इनके अतिरिक्त शतानन्द, दाल्भ्यायन, ताण्डचायन, रत्नशेखर, सुग्रीव, करालक, प्रहस्त, विद्याधरमिथुन, मन्दोदरी, गंगा, यमुना, आदि पात्र भी प्रसन्नराघव में आते हैं। कवि अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में पर्याप्त सफल रहा है।

प्रसन्नराघव के नाटकरचना सम्बन्धी कतिपय दोष

नाटक-रचना की दृष्टि से प्रसन्नराघव में कई त्रुटियां परिलक्षित होती हैं, जिनके कारण जयदेव कुशल नाटककार के रूप में प्रख्यात नहीं हो सके, यद्यपि काव्य-चमत्कृति की दृष्टि से ये पीयूषवर्ष कहलाते हैं। प्रमुख त्रुटियां यहां प्रदर्शित की जा रही हैं।

१. प्रथम अंक का विष्कंभक शिथिल है। नाटक में एक व्यक्ति आवश्यकता-नुसार कई पात्रों का अभिनय कर सकता है। किन्तु प्रत्येक बार वह नवीन पात्र के रूप में ही रंगमंच पर आता है। नाटककार इस बात की सूचना नहीं देता कि जो व्यक्ति पहले अमुक पात्र का अभिनय कर चुका है, वही अब द्वितीय पात्र के रूप में आ रहा है। किन्तु यहां कवि ने नूपुरक एवं मंजीरक को पहले कलालाप और मधुर-प्रिय नामक भ्रमर बनाया है, फिर सहसा ही वे नेपथ्य से यह सूचना देते हैं कि हम

तो भ्रमर नहीं हैं, अपितु बन्दी हैं तथा हमें राजा जनक ने स्वयंवर में उपस्थित राजाओं का वर्णन करने के लिए नियुक्त किया है[५९]। इसके पश्चात् वे बन्दी के रूप में रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। यदि भ्रमरों का वृत्तान्त कवि को विष्कंभक में रखना ही था तो उसे आगे आने वाले वन्दियों के वृत्तान्त से स्वतन्त्र ही रहने देना उचित था।

२. स्वयंवर का चित्रण अत्यन्त अव्यवस्थित है। मंजीरक और नूपुरक दोनों वन्दियों को स्वयंवर में उपस्थित राजाओं का वर्णन करने के लिए नियुक्त किया गया है। किन्तु वे अन्य कार्य भी करते हैं, जैसे जनक की प्रतिज्ञा की घोषणा करना तथा स्वयंवर में उपस्थित रावण और बाणासुर से कहासुनी करना। जिसे अभ्यागतों का परिचय देने का कार्य सौंपा गया है, वही उनका उपहास करने लगे यह दोषावह है। दूसरी बात यह है कि जब अनेक नृपति चापारोपण की आशा लेकर आये हुए हैं तब उन्हें एक-एक करके ही अपनी शक्ति के परीक्षणार्थ धनुष के समीप भेजना चाहिए था। किन्तु कवि ने कोई क्रम नहीं रखा है। जनक की प्रतिज्ञा की घोषणा सुन सब राजा भीड़ में एक साथ ही धनुरारोपण के लिए चल पड़ते हैं। स्वयंवर-स्थल में बाणासुर और रावण आकर परस्पर वाक्कलह करते हैं, यह भी अव्यवस्था का द्योतक है। साथ ही स्वयंवर एक दिन में ही समाप्त न होकर कई दिन चला है, क्योंकि जब विश्वामित्र जनक से पूछते हैं कि ये चारों ओर बहुत से सिर कैसे दिखाई दे रहे हैं, तब जनक उत्तर देते हैं कि चापारोपण में विफल हुए नृपतिगण मेरी प्रार्थना पर कुछ दिन के लिए मेरा सत्कार स्वीकार करने के लिए रुके हुए हैं। स्वयंवरोत्सव एक दिन में ही सम्पन्न हो जाना उचित था।

यह भी असंगति है कि प्रथम अंक में तो धनुष रंगमंच पर ही रखा हुआ है, जहां रावण और बाण उसे उठाने का प्रयत्न करते हैं तथा विफल होते हैं, किन्तु तृतीय अंक में धनुष अन्यत्र है। राम को धनुरारोपण के लिए रंगमंच से बाहर जाना पड़ता है। राम जब चापारोपण के लिए रंगमंच से बाहर चले जाते हैं, तब जनक शतानन्द को कहते हैं कि कंचुकी को आदेश दे दीजिये कि वह हाथ में कमलमाला लेकर स्वयंवरांगण में आ जाये[६०]। यह भी असंगत प्रतीत होता है। जब अन्य नृपगण धनुरुत्तोलन के लिए गये तब तो सीता स्वयंवरांगण में आयी नहीं, अब क्यों आ रही है। व्यवस्था एक समान रहनी चाहिए थी। धनुर्भंग के पश्चात् ही सीता को लाना चाहिए था।

३. प्रथम अंक के ५३वें श्लोक द्वारा नेपथ्य से जनक ने जो घोषणा की है वह अनावश्यक है, क्योंकि कन्या-प्रदान की शर्त पहले मंजीरक २९वें श्लोक में घोषित

५९. वन्दिनावेव खल्वावां, नानादिगन्तसमागतनृपतिचक्रवर्णनाय जनकेन समादिष्टौ। प्र०, पृ० ४३

६०. आदिश्यतां कंचुकी च करकलितकमलमालाया जानक्याः स्वयंवराङ्गणावतरणाय। प्र०, पृ० १८१

कर ही चुका है। साथ ही यह अस्थान में की गई है, क्योंकि इससे बाण और रावण को चापारोपण का प्रोत्साहन मिलता है। जिन शब्दों में घोषणा की गई है वे भी अनुपयुक्त हैं, क्योंकि इसमें सर्वप्रथम असुर का नाम लिया है, तथा निशाचर और उरग भी इसमें उल्लिखित हैं। किसी पिता की यह अभिलाषा नहीं हो सकती कि किसी असुर, निशाचर या सांप से उसकी कन्या का विवाह हो। इसकी तुलना में मंजीरक की घोषणा बहुत सुन्दर है। दोनों घोषणाएं इस प्रकार हैं—

मंजीरक : आकर्णान्तं त्रिपुरमथनोद्दण्डकोदण्डनद्धां
मौर्वीमुर्वीवलयतिलकः कोऽपि यः कर्षतीह।
तस्यायान्ती परिसरभुवं राजपुत्री भवित्री
कूजत्कांचीमुखरजघना श्रोत्रनेत्रोत्सवाय ॥ प्र० १.२९

जनक : असुरसुरनिशाचरोरगाणामपि नरकिन्नरसिद्धचारणानाम्।
नमयति यदि कोऽपि चापमेतन्मम दुहितुः स करग्रहं तनोतु ॥
प्र० १.५३

४. बाण के चले जाने पर रावण कहता है कि अरे, यह तो चला गया, पर मैं तो बलपूर्वक सीता को बिना लिए नहीं जाऊंगा। पर इसके साथ वह यह भी कह देता है कि यदि अपने किसी अनुजीवी का आक्रन्द मेरे कानों में पड़ जायेगा तब मुझे जाना ही पड़ेगा।

अनाहृत्य हठात् सीतां नान्यतो गन्तुमुत्सहे।
न श्रृणोमि यदि क्रूरमाक्रन्दमनुजीविनः ॥ प्र० १.६०

उत्तरार्ध के पठित कर देने से पूर्व प्रतिज्ञा का सम्पूर्ण बल समाप्त हो गया है। आगे सचमुच उसे अपने अनुजीवी मारीच का आक्रन्द सुनाई देता है, और इस बहाने वह निकल जाता है। होना यह चाहिए था कि पहले तो वह केवल अपने दृढ़ संकल्प को ही प्रकट करता कि मैं सीता को लिए बिना नहीं जाऊंगा। उसके पश्चात् अकस्मात् अनुजीवी का आक्रन्द सुनाई पड़ने पर यह कह कर निकल जाता कि अनुजीवी की रक्षार्थ मुझे जाना पड़ रहा है।

५. द्वितीय अंक में सीता लक्ष्मण के प्रति कहती है कि इसे देख कर मेरा हृदय ऐसा वात्सल्यप्रक्षालित हो रहा है जैसे वत्स को देख कर होता है[६१]। इसी प्रकार लक्ष्मण सीता के लिए कहते हैं कि इसके दृष्टि में आने पर मेरी चित्तवृत्ति ऐसी हो रही है, जैसी माता सुमित्रा के प्रति होती है[६२]। यह वर्णन अस्वाभाविक प्रतीत होता है। नाटक में कवि को चाहिए कि अपने पात्रों का निर्माण कर उन्हें स्वतन्त्र छोड़ दे, किन्तु यहां कवि की अपनी भावना सीता और लक्ष्मण के मुख से बोल रही है।

---

६१. सीता—इमं पश्यन्त्या मम निजवत्स इव वात्सल्यप्रक्षालितं हृदयं वर्तते।
प्र०, पृ० १०८

६२. लक्ष्मणः—अये, केयमस्यां सुमित्रायामिव मे सुचिरप्रवृत्ता चित्तवृत्तिः।
प्र०, पृ० १०९

सीता की आयु लक्ष्मण से छोटी ही रही होगी, उसके प्रति लक्ष्मण में मातृत्व की भावना और किशोरी सीता में लक्ष्मण के प्रति वत्स की भावना जागृत नहीं हो सकती। यहां यदि कवि देवर और भाभी की भावना उत्पन्न करवाता तो अधिक स्वाभाविक होता।

६. वर्ण्य विषयों के असन्तुलन का दोष भी प्रसन्नराघव में पाया जाता है। सीता और राम के मिथिलोद्यान में पारस्परिक आकर्षणरूप एक कल्पित वृत्त को कवि ने इतना महत्त्व दिया है कि उसके लिए सम्पूर्ण द्वितीय अंक व्यय किया है। इस अंक को पढ़ते हुए यह पौराणिक प्रणय-नाटक सा प्रतीत होने लगता है। साथ ही सीता के सौन्दर्य का वर्णन भी अतिमात्रा में किया गया है। तृतीय अंक में जनक-विश्वामित्र की प्रशस्तिकथा[६३] तथा दशरथ की[६४] स्तुति आवश्यकता से अधिक लम्बी है। चतुर्थ अंक का परशुरामवृत्त रोचक होते हुए भी अधिक विस्तृत हो गया है। पंचम अंक में कलहंस द्वारा सुनाई गई वनवास-कथा में भी अनावश्यक विस्तार है।

७. शान्त, वीर या शृंगारी जैसा पात्र हो उसी के अनुरूप उसके मुख से वर्णन होना चाहिए, अन्यथा प्रकृतिविपर्यय दोष हो जाता है। परन्तु तृतीय अंक के श्लोक २ और २४ में महर्षि विश्वामित्र तथा श्लोक २७ में राजर्षि जनक शृंगारपूर्ण उद्गार प्रस्तुत करते हैं। विश्वामित्र सूर्योदय का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह सूर्य दिशारूपी कान्ताओं के कुचकुम्भों पर कुंकुमरस का न्यास करने के लिए विद्योतित हो रहा है। दशरथ की महिमा के प्रसंग में कहते हैं कि दानवेन्द्रों की चन्द्रमुखियों के भ्रूवल्लरीविलास तो दशरथ की ही कोदण्डलीलाओं से समाप्त हो जाते हैं, अतः इन्द्र निश्चिन्त होकर इन्द्राणी के साथ कामकेलि करते हुए उसके नखक्षतों के पात्र बनते हैं। जनक भी ऐसा ही कहते हैं, अन्तर इतना ही है कि वे नखक्षत इन्द्र के शरीर में न कराकर इन्द्राणी के कुचकुम्भों पर कराते हैं।

८. तृतीय अंक में प्रवेशक के पश्चात् राम-लक्ष्मण सहित विश्वामित्र का प्रवेश हुआ है। वे प्रसंगोचित वार्तालाप कर राजभवन जाने के लिए रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाते हैं।[६५] फिर शतानन्द का रंगमंच पर प्रवेश होता है तथा वे विश्वामित्र को अभिवादन करते हैं और कहते हैं कि राजा जनक आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। विश्वामित्र देखकर कहते हैं[६६] कि अहो, ये वे ही जनक हैं जिनके समीप त्रयी विद्या, राजलक्ष्मी और योगविद्या तीनों क्रीडा करती हैं। फिर जनक प्रविष्ट हो विश्वामित्र को प्रणति विज्ञापित करते हैं तथा विश्वामित्र उन्हें अप्रतिहतमनोरथ होने की आशीः से कृतार्थ करते हैं। तत्पश्चात् जनक और विश्वामित्र का वार्तालाप प्रवृत्त हो जाता है, जिसमें शतानन्द भी भाग लेते हैं तथा राम और लक्ष्मण भी परस्पर अपने उद्गार

६३. प्र० ३.७–१६

६४. प्र० ३.२३–२८

६५. तदेहि, राजभवनमुपसर्पामः (इति निष्क्रान्ताः) प्र०, पृ० १४४

६६. विश्वामित्रः—(विलोक्य) अये, स एष जनक········· । प्र०, पृ० १४५

प्रकट करते हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कवि ने राम-लक्ष्मण सहित विश्वामित्र को एक बार रंगमंच से निष्क्रान्त करके पुनः उनका प्रवेश कराये बिना ही रंगमंच पर उनका वार्तालाप दिखा दिया है, जो नाटकीय शिल्प के सर्वथा विरुद्ध है। जब विश्वामित्र रंगमंच पर हैं ही नहीं तो शतानन्द 'भगवन्, अभिवादये' कहकर अभिवादन किसको कर रहे हैं। इसी प्रकार विश्वामित्र जनक को देखकर 'अये, स एष जनकः' आदि उद्गार प्रकट करते हैं, पर जनक का प्रवेश दिखाया गया है उसके बाद। जनक को तो पूर्व ही रंगमंच पर उपस्थित होना चाहिए था। यदि यह समाधान प्रस्तुत किया जाये कि बाहर से जनक को आता देख विश्वामित्र ने ऐसा कहा तो शतानन्द की 'अयमसौ जनको राजा भगवन्तं प्रतीक्षते' यह उक्ति संगत नहीं होती।

९. विश्वामित्र और जनक ने दशरथ का जो कीर्तिगान किया है उससे ज्ञात होता है कि वे सर्वविदित थे तथा जनक का उनसे घनिष्ठ परिचय था। किन्तु आगे कवि यह दर्शाता है कि जनक और शतानन्द को उनके पुत्रों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। शतानन्द ऋष्यश्रृंग के चरुभागों के वृत्त से तो परिचित हैं, पर उसके परिणाम से अनभिज्ञ हैं। वे आश्चर्य के साथ पूछते हैं कि क्या राम-लक्ष्मण के अतिरिक्त दो अन्य कुमार भी दशरथ की गोद को अलंकृत करते हैं। इस अनभिज्ञता को कवि न दर्शाता तो कोई हानि नहीं थी।

१०. परशुराम के परशु को संदेशहर द्वारा जनक यह प्रतिसंदेश भिजवाते हैं—'मैं तो अपनी प्रतिज्ञानुसार चापारोपण करने वाले को अपनी कन्या दे रहा हूं। तुम आकर अद्वितीय भुजशाली मेरे जामाता के आगे अपने धाराजल को छोड़ो'[६७]। जनक की यह उक्ति उचित प्रतीत नहीं होती। अभी तक तो जामाता का चयन ही नहीं किया गया। न ही यह ज्ञात है कि कौन व्यक्ति धनुष का आरोपण कर सीता का वरण करेगा। अतः यह निश्चयपूर्वक कैसे कहा जा सकता है कि भावी जामाता परशुराम से लोहा ले ही सकेगा। कहा जा सकता है कि जनक को राम के प्रति आशा है, किन्तु वे तो पहले ही उसे दुधमुहा समझते हैं[६८]। उस पर भरोसा रखकर ऐसी बात नहीं कही जा सकती। यदि यह मान लिया जाये कि जो भी जामाता बनेगा वह वीर ही होगा, तो भी किसी श्वसुर का मन इसके लिए उत्साहित नहीं हो सकता कि अपने पुत्रवत् प्रिय नव-जामाता को ऐसे संकट में डाले कि वह उस जगत्प्रसिद्ध परशुराम से युद्ध करे जो इक्कीस बार समस्त क्षत्रियों का संहार कर चुका है। जनक को कहना यह चाहिए था कि तुम्हें जो कुछ करना हो कर लो।

११. राम के चापारोपण से कवि ने विश्वामित्र को विस्मित कराया है—

विश्वामित्र—(विलोक्य सहर्षम्) आः, कथमुद्गतमेव रामचन्द्रयशःपताकाकेतुदण्डेन हरकोदण्डेन। (पुनः सविस्मयम्) अये,

६७. तेनेह स्वयमेत्य धूर्जटिधनुर्धौरेयदोःसम्पदो।
जामातुः पुरतश्चिराय भवता धाराजलं त्यज्यताम्॥ प्र० ३·३९

६८. कथं मुग्ध इव दुग्धमुखमपि राममिन्दुकिरीटकार्मुकानयनार्थमादिशसि। प्र० पृ० १६९

राघवेण शिशुनापि किलायं लीलयैव नमितो हरचापः।
दूरमुल्लसति यस्य समन्तादम्बरेऽपि गमितो गुणघोषः ॥ प्र० ३·४१

यहाँ विश्वामित्र को विस्मय होना असंगत है, क्योंकि उन्हें तो राम की शक्ति पर पूर्ण विश्वास था। विस्मय तो जनक को होना चाहिए था, जो राम को दुग्धमुख शिशु समझते थे। पर कवि ने जनक को विस्मय नहीं कराया, अपितु उनके मुख से जो उक्ति कहलायी है उससे विस्मय के स्थान पर उनका संतोष और हर्ष ही अधिक प्रकट होता है[६९]। उपर्युक्त श्लोक जनक के मुख से कहलाया जाना अधिक उचित होता।

१२. धनुर्भंग के पश्चात् जनक सीता के पाणिग्रहण की अनुमति विश्वामित्र से मांगते हैं। शतानन्द उर्मिला और लक्ष्मण के विवाह का भी प्रस्ताव करते हैं। विश्वामित्र दोनों की स्वीकृति दे देते हैं तथा अपनी ओर से भरत और शत्रुघ्न के लिए मांडवी और श्रुतकीर्ति को भी मांग लेते हैं। जनक इसे सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रसंग में दशरथ की सर्वथा उपेक्षा की गई है, जो लोकव्यवहार के विरुद्ध है। वाल्मीकिरामायण एवं अनर्घराघव में यह दोष नहीं है, वहाँ विवाह से पूर्व दशरथ को बुलवा लिया गया है।

१३. पंचम अंक में गंगा दशरथ के गुणों को स्मरण करते-करते मूर्च्छित हो जाती है। कवि ने मूर्च्छित हो जाने तथा मूर्च्छित होकर गिरने में अन्तर किया है। प्रथम 'हा रामभद्रैकजीवित' के पश्चात् लिखा है 'इति मूर्च्छति', फिर 'हा महाराज दशरथ' के पश्चात् इति मूर्च्छिता पतति'। यहाँ प्रथम 'इति मूर्च्छति' कहना अनावश्यक प्रतीत होता है। मूर्च्छित हुई गंगा को यमुना अंशुकांचल से पंखाकर समाश्वस्त करने का उपाय करती है। पर कवि उसके समाश्वस्त हो जाने की सूचना बिना दिये ही उससे वार्तालाप करवाने लगता है। यह भी सदोष है। यहाँ 'आश्वस्य' लिखना चाहिए। यही दोष इसी अंक में आगे सागर की मूर्च्छा के समय भी हुआ है[७०]।

सागरः—हा वत्से जानकि, अधुना नीतासि निशाचरेण (इति मूर्च्छति)।
गंगा—(उपसृत्यांशुकान्तेन बीजयन्ती) अये रघुकुलतिलक, समाश्वसिहि समाश्वसिहि।
सागरः—कथमिह गंगापि।

षष्ठ अंक में भी सीता मूर्च्छित होती है तथा त्रिजटा उसे समाश्वस्त करती है। पर वहां यह दोष नहीं है, क्योंकि वहां 'समाश्वस्य' पद कवि ने लिख दिया है[७१]। सप्तम अंक में मन्दोदरी और रावण की मूर्च्छा के प्रसंग में भी 'समाश्वस्य' कह दिया गया है।

---

६९. प्र० ३·४३

७०. यह भी संभव है कि लिपिकर के प्रमाद से 'आश्वस्य' लिखा जाना छूट गया हो। किन्तु मुद्रित प्रतियों में ऐसा ही है।

७१. त्रिजटा—जानकि, समाश्वसिहि समाश्वसिहि।
सीता (समाश्वस्य) कथं प्रियसखी मे त्रिजटा। प्र०, पृ० ३२२

१४.३४वें श्लोक में कलहंस ने राम के प्रति कहा गया लक्ष्मण का यह वचन सूचित किया है कि भगिनी शूर्पणखा की सुकुमार नासिका के रक्त से लिप्त धार वाला मेरा कृपाण राक्षसों के कठोर कण्ठ के रुधिर पानार्थ उत्कठित हो रहा है। परन्तु शूर्पणखा के नासिका-छेदन का वृत्त इससे पूर्व कहीं उल्लिखित नहीं हुआ। वह होना चाहिए था।

१५. सप्तम अंक में प्रहस्त के यह कथन करने पर कि यह सुग्रीवपालित कपिकुल है, रावण कहता है कि सुग्रीवपालित क्यों, वालिपालित कहो—**अयि, वालिपालितमिति वक्तव्यम्**। यह आश्चर्य का विषय है कि बालिवध जैसी बड़ी घटना से भी रावण को, जिसे अपने गुप्तचरों से सब वृत्त अनायास ज्ञात हो सकते हैं, कवि ने अपरिचित रखा है। माल्यवान्-सदृश नीतिनिपुण मन्त्री के रहते यह अपरिचय और भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

१६. इसी अंक के श्लोक ४५ में रावण कहता है कि—'मैंने अपनी दस भुजाओं से तो दस दिशाएँ विध्वस्त कर दीं, शेष दस भुजाएं भारभूत ही बन रही हैं। कुछ सूझता नहीं कि उनसे क्या करूँ? शिवजी तो मेरे आराध्य हैं, अतः इन भुजाओं से उन्हें तो दण्डित कर नहीं सकता और नारायण सागर के जल में शयन कर रहे हैं।' इससे व्यंग्यार्थ निसृत होता है कि यदि नारायण सागर-जल में शयन न कर रहे होते और सुलभ होते तो उन्हीं की मरम्मत कर देता। परन्तु कवि के तो शिव और नारायण दोनों ही आराध्य हैं। नाटक के आरम्भ में उसने नारायण की ही स्तुति की है तथा वह दोनों में अभेद मानता है[७२]। अपने आराध्यदेव के लिए इस प्रकार के उद्गार किसी के भी मुख से कहलाना दोषावह है[७३]।

१७. रावणवध और सीता की वह्निपरीक्षा के अनन्तर राम, सीता, लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण ने मिलकर जो प्रकृतिवर्णन किया है वह अनावश्यक रूप से विस्तीर्ण है। कवि ने पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या को प्रस्थान भी रात्रि शेष रहते करवाया है, क्योंकि उसे विमान से प्रभातोदय का दृश्य वर्णित करने का प्रलोभन है। यह प्रकृति-वर्णन लगभग २५ श्लोकों में व्याप्त है। इसमें कवित्व का चमत्कार भले ही हो पर नाट्यकला की दृष्टि से इतना विस्तृत वर्णन दोषपूर्ण है।

---

७२. द्रष्टव्य : प्र० ७.६४
७३. तुलना कीजिए, भवभूति के उत्तररामचरित का श्लोक ५.३४ जिसमें लव राम की निन्दा करता है, तथा जिसे क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य-विचारचर्चा में सदोष माना है।

उपसंहार

पीयूषवर्ष जयदेव का आचार्य रूप में तथा कवि एवं नाटककार के रूप में इस शोधप्रबन्ध में मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। आचार्य रूप में काव्यशास्त्र में इन्होंने जो नवीन उद्भावनाएं की हैं, उनका उल्लेख प्रत्येक विषय के अध्याय में यथास्थान हो चुका है। ध्वनिवादी होते हुए भी काव्य में अलंकार को अनिवार्य मानना इनकी एक विशेषता है। अलंकाररहित शब्दार्थ को काव्य कहना इनकी सम्मति में वैसा ही है जैसा अग्नि को अनुष्ण कहना। इन्होंने काव्य में लक्षण, रीति, गुण, अलंकार, रस तथा वृत्ति सभी की अनिवार्यता स्वीकार की है। काव्य-हेतुओं के सम्बन्ध में इनका विचार है कि जैसे मृत्तिका और जल से सम्बद्ध होकर बीजमाला लता को उत्पन्न करती है वैसे ही प्रतिभा श्रुत और अभ्यास से युक्त होकर काव्योत्पत्ति में हेतु बनती है। एवं यद्यपि काव्य-रचना में कारण तीनों ही हैं, तथापि मुख्यता प्रतिभा की है। इन्होंने शास्त्रीय शब्द एवं वाक्य पर भी विचार किया है।

दोष-प्रकरण को लिखने में यद्यपि जयदेव ने मम्मट के काव्यप्रकाश से पर्याप्त सहायता ली है, तथापि उसमें कुछ नवीनता भी है। जिससे रमणीयता की क्षति होती हो उसे ये दोष कहते हैं। इन्होंने दोषों के दो ही वर्ग किये हैं—शब्दगत तथा अर्थगत। शब्दगत को पद, पदांश, वाक्यांश, वाक्य तथा वाक्यकदम्बक की दृष्टि से पंचविध कहा है। केवलवाक्यगत दोषों में इनके कुसन्धि तथा विकृत और अर्थदोषों में अनौचित्य तथा विरुद्धान्योन्यसंगति दोष काव्यप्रकाश की अपेक्षा नवीन हैं। मम्मट-संमत केवलवाक्यगत दोषों में से अनभिहितवाच्य, अपदस्थपद तथा प्रसिद्धिहत ये तीन दोष और अर्थदोषों में से निर्हेतु, अनवीकृत, सनियमपरिवृत्त, अनियमपरिवृत्त, साकांक्ष, अपदयुक्त, प्रकाशितविरुद्ध, विध्ययुक्त, अनुवादायुक्त, त्यक्तपुनःस्वीकृत तथा अश्लील ये ११ दोष इन्होंने परित्यक्त कर दिये हैं। रसदोषों की भी चर्चा ये नहीं करते। विभिन्न दोष किस स्थिति में दोष नहीं रहते या गुण का कार्य करते हैं, इसके लिए इन्होंने दोषांकुश-प्रकरण लिखा है।

भरतमुनि ने ३६ नाट्यलक्षणों का वर्णन किया था, कुछ आचार्यों ने लक्षणों को अलंकारों में ही समाविष्ट कर लिया। जयदेव प्रथम आलंकारिक हैं, जिन्होंने लक्षणों को इतना महत्त्व दिया है कि काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है। इन्होंने अक्षरसंहति, शोभा आदि दस लक्षणों की सोदाहरण परिभाषाएं दी हैं, जिनमें से कुछ नवीन भी हैं। शेष लक्षणों को भी ये स्वीकार करते हैं। इनके मत में जैसे स्वर्ण-भ्राजिष्णुभालत्व आदि किसी राजा के लक्षण होते हैं वैसे ही ये काव्य के लक्षण हैं।

काव्य के जो १० गुण भरतमुनि आदि ने वर्णित किये थे उनमें से कान्ति और अर्थव्यक्ति को छोड़कर शेष आठ गुण श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य तथा उदारता जयदेव ने स्वीकृत किये हैं। यद्यपि इन्हें ये शब्दगुण या अर्थगुण नाम नहीं देते, तथापि इन्होंने जो इनका स्वरूप बतलाया है उससे कुछ शब्द के, कुछ अर्थ के तथा कुछ दोनों के गुण सिद्ध होते हैं। समता, समाधि तथा माधुर्य गुणों का इनके द्वारा प्रतिपादित स्वरूप सर्वथा नवीन है। ये गुणों को दोषाभाव रूप मानने के पक्ष में भी नहीं हैं।

जयदेव का अलंकार-प्रकरण सर्वाधिक महत्त्व रखता है। उसी को उपजीव्य बनाकर अप्पय दीक्षित ने अपने प्रख्यात अलंकारग्रन्थ कुवलयानन्द की रचना की है। इन्होंने निम्नलिखित अलंकार नवीन कल्पित किये हैं—स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास, उन्मीलित, परिकरांकुर, प्रौढोक्ति, संभावना, प्रहर्षण, विषादन, विकस्वर, असंभव, उल्लास, पूर्वरूपता, अनुगुण, अवज्ञा तथा अत्युक्ति। रूपक, अतिशयोक्ति, अपह्नुति आदि के भेदप्रपंच में भी विलक्षणता है। प्राचीन आचार्यों से उद्भावित अलंकारों का स्वरूप-प्रतिपादन भी कई स्थानों पर नवीन है। उदाहरणार्थ इन्होंने दीपक तथा एकावली के योग को मालादीपक कहा है, जो इनकी नवीन उद्भावना है। इसी प्रकार पिहित अलंकार यद्यपि रुद्रट लिख चुके थे, तथापि इनका पिहित उससे सर्वथा भिन्न है। संसृष्टि, संकर, माला, परम्परा आदि को ये अलंकारान्तर मानने के पक्ष में नहीं हैं। प्राचीन आचार्य जितने अलंकार लिख चुके उससे आगे उनके भेदोपभेदों तथा नूतन अलंकारों की परिकल्पना न हो इसके ये विरोधी हैं। यद्यपि कविराज विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने इनकी उद्भावनाओं की उपेक्षा की है, तथापि नवीन अलंकार-प्रकारों के अनुसंधान की दिशा में इनका कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रकाण्ड आलोचक पण्डितराज ने भी इनके कतिपय अलंकारों को स्वीकार किया है।

रस, भावादि के निरूपण में जयदेव ने प्रायः मम्मट का ही अनुसरण किया है। रीतियां रुद्रट के अनुसार इन्होंने पांचाली, लाटीया, गौडीया तथा वैदर्भी मानी हैं और इनका स्वरूप समासासमास के आधार पर निर्णीत किया है। इनका वृत्ति-विचार भी रुद्रट से प्रभावित है तथा उनके समान इन्होंने भी मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा ये पांच वृत्तियाँ स्वीकार की हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना इन शब्दवृत्तियों के विवेचन में, विशेषकर भेद-निरूपण में, इन्होंने नवीन पद्धति का आश्रय लिया है। व्यंजनाव्यापार को ये लोलाक्षी के कटाक्ष से उपमित करते हैं। ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य काव्यों का भी इन्होंने विचार किया है। अपनी संक्षेपप्रधान शैली तथा कतिपय नूतन उद्भावनाओं के कारण काव्यशास्त्र के आचार्यों में इनका उल्लेखनीय स्थान है। इनके चन्द्रालोक का रीतिकालीन हिन्दी अलंकारग्रन्थों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

अपने प्रसन्नराघव नाटक से जयदेव ने कवि एवं नाटककार के रूप में प्रचुर ख्याति प्राप्त की है। राम के पावन चरित्र को लेकर संस्कृतसाहित्य में जिन नाटकों का प्रणयन हुआ है उनमें कवित्वसौन्दर्य की दृष्टि से प्रसन्नराघव का स्थान अत्यन्त उच्च है। इसकी सरल भाषा, कमनीयकान्त पदावली, नूतन कल्पना, मनोरम भाव सहृदयों के हृदय को हर लेने वाले हैं। कवि ने प्रकृतिचित्रण की कला भी सुरम्य रूप में प्रदर्शित की है। कविताकामिनी को शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से अलंकृत करने में भी ये कुशल हैं। रसचित्रण भी मनोहारी है। यद्यपि नाट्यकला एवं इतर दृष्टियों से प्रसन्नराघव में कतिपय त्रुटियां परिलक्षित होती हैं, तथापि तुलनात्मक विचार करने पर ये संस्कृत के महाकवियों में अग्रपंक्ति में आसीन होते हैं। इनके प्रसन्नराघव नाटक ने तुलसी के रामचरितमानस, केशव की रामचन्द्रिका आदि को पर्याप्त प्रभावित किया है।

संकेत-सूची

अ०	अनर्घराघव
अग्नि पु०	अग्निपुराण
अभि० भा०	अभिनवभारती
अमर०	अमरकोष
अ० स०	अलंकारसर्वस्व
उ० च०	उत्तररामचरित
ऋग्०	ऋग्वेद
औ० वि० च०	औचित्यविचारचर्चा
का० प्र०	काव्यप्रकाश
काव्यमी०	काव्यमीमांसा
काव्या०	काव्यादर्श
काव्यालं०, उ०	काव्यालंकार, उद्भट
काव्यालं०, भा०	काव्यालंकार, भामह
काव्यालं०, रु०	काव्यालंकार, रुद्रट
काव्यालं० सू०	काव्यालंकारसूत्र, वामन
का० सा० सं०	काव्यालंकारसारसंग्रह
कु०	कुवलयानन्द
कु० सं०	कुमारसंभव
च०	चन्द्रालोक
द० रू०	दशरूपक
ध्वन्या०	ध्वन्यालोक
न० च०	नलचम्पू
ना० शा०	नाटयशास्त्र
प्र०	प्रसन्नराघव
प्रती०	प्रतीहारेन्दुराज
प्र० रु०	प्रतापरुद्रिय
पा०	पाणिनीयाष्टकम्
बाल० रा०	बालरामायण
भा० प्र०	भावप्रकाश, शारदातनय
म० च०	महावीरचरित
म० भा०	महाभारत
व० जी०	वक्रोक्तिजीवित
वा० प०	वाक्यपदीय
वा० भ०	वाग्भटालंकार
वा० रा०	वाल्मीकिरामायण
र० गं०	रसगंगाधर
रघु०	रघुवंश
र० सु०	रसार्णवसुधाकर, शिंगभूपाल
शा०	अभिज्ञानशाकुन्तल
शार्ङ्ग०	शार्ङ्गधरपद्धति
शृं० प्र०	शृंगारप्रकाश
शिशु०	शिशुपालवध
सर० कण्ठा०	सरस्वतीकण्ठाभरण
सा० द०	साहित्यदर्पण
ह० च०	हर्षचरित



सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

ग्रनर्घराघवम्—मुरारि, चौखम्बा, १९६०

ग्रभिज्ञानशाकुन्तलम्—कालिदास, निर्णयसागर, १९१३

ग्रलंकारकौस्तुभम्—विश्वेश्वर पण्डित, निर्णयसागर, १८९८

ग्रलंकारशेखरः—केशवमिश्र, चौखम्बा, १९८४

ग्रलंकारसर्वस्वम्—रुय्यक, संजीवनी-सहित, मोती० बना०, १९६५

उत्तररामचरितम्—भवभूति, चौखम्बा, १९५३

ग्रौचित्यविचारचर्चा—क्षेमेन्द्र, चौखम्बा, १९६४

कविकण्ठाभरणम्—क्षेमेन्द्र, मोती० बना०, १९६७

काव्यादर्शः—दण्डी, टीकाः रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, १९५८

काव्यानुशासनम्—हेमचन्द्र, निर्णयसागर, १९०१

काव्यप्रकाशः—मम्मट, टीकाः सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा, १९६५

काव्यप्रकाशः—मम्मट, साहित्य भण्डार मेरठ, २०१७ वि०

काव्यप्रकाशः—मम्मट, टीकाः विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल वाराणसी, २०१७ वि०

काव्यमीमांसा—राजशेखर, चौखम्बा, १९६४

काव्यालंकारः—भामह, चौखम्बा १९८५ वि०

काव्यालंकारः—रुद्रट, टीकाः रामदेवशुक्ल, १९६६

काव्यालंकारसंग्रहः—उद्भट, ग्रोरियण्टल इन्स्टि० बड़ौदा, १९३१

काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः—वामन, टीकाः विश्वेश्वर, ग्रात्माराम दिल्ली, १९५४

कुमारसंभवम्—कालिदास, चौखम्बा, १९५७

कुवलयानन्दः—ग्रप्पय दीक्षित, टीकाः भोलाशंकर व्यास, १९५६

चन्द्रालोकः—जयदेव, पौर्णमासी-कथाभट्टीया, १९९३ वि०

चन्द्रालोकः—जयदेव, टीकाः सुबोधचन्द्र पन्त, मोती० बना०, १९६६

चन्द्रालोकः—रमाटीका, गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस बम्बई, १९३४

चन्द्रालोकः—राकागम टीका, चौखम्बा, १९९५ वि०

चन्द्रालोकः—शरदागम टीका, चौखम्बा, १९२९

चित्रमीमांसा—ग्रप्पय दीक्षित, चौखम्बा, १९६५

दशरूपकम्—धनंजय, टीकाः भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा, १९५५

ध्वन्यालोकः—(लोचनसहितः) ग्रानन्दवर्धन, चौखम्बा, १९६५

ध्वन्यालोकः—ग्रानन्दवर्धन, दीधिति टीका, चौखम्बा, १९५३

ध्वन्यालोकः—टीकाः विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५२

नाट्यशास्त्रम्—भरत, ग्रभि० भा० सहित, ग्रोरियण्टल इन्स्टि० बड़ौदा, १९३४

प्रतापरुद्रीयम्—विद्यानाथ, रत्नापणटीका, मद्रास १९१४
प्रसन्नराघवम्—जयदेव, निर्णयसागर, १९०७
प्रसन्नराघवम्—जयदेव, चौखम्बा, १९५६
प्राकृतप्रकाशः—वररुचि, चौखम्बा, १९५९
बालरामायणम्—राजशेखर, निर्णयसागर
महावीरचरितम्—भवभूति, चौखम्बा, १९५५
वक्रोक्तिजीवितम्—कुन्तक, टीकाः विश्वेश्वर, आत्माराम, दिल्ली, १९५५
वाग्भटालंकारः—वाग्भट प्रथम, सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा, १९५७
वाल्मीकीयरामायणम्—पंडित पुस्तकालय काशी
विक्रमोर्वशीयम्—कालिदास, चौखम्बा, १९५३
व्यक्तिविवेकः—महिमभट्ट, चौखम्बा, १९६४
रघुवंशः—कालिदास, चौखम्बा, १९३८
रसगंगाधरः—जगन्नाथ, टीकाः नागेशभट्ट, निर्णयसागर, १९२५
रसगंगाधरः—जगन्नाथ, टीकाः मधुसूदन, हिन्दू विश्व०, वाराणसी
सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भोज, निर्णयसागर, १९२५
साहित्यदर्पणः—विश्वनाथ, टीकाः सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा, , १९५७

हिन्दी-ग्रन्थ

अलंकारों का क्रमिक विकास—पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, मोती० बना०, १९६७
काव्यात्ममीमांसा—जयमन्तमिश्र, चौखम्बा, १९६४
भरत और भारतीयनाट्यकला—सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९७०
भरत का नाट्यशास्त्र—रघुवंश, मोती० बना०, १९६४
भारतीय साहित्यशास्त्र—
बलदेव उपाध्याय, भाग १– नन्दकिशोर एण्ड सन्स वाराणसी, १९६३
भाग २– प्रसाद परिषद् काशी सम्वत् २०१२
भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार—भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा, १९६५
महिमभट्ट—व्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, १९६८
मिथिलातत्त्वविमर्श—परमेश्वर झा, १९४९
रामकथा—कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद् प्रकाशन प्रयाग विश्व०, १९६२
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—पी० वी० काणे, मोती० बना०, १९६६
संस्कृत नाटक—ए० बी० कीथ, मोती० बना०, १९६५
संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर वाराणसी, १९६०
संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १–
कन्हैयालाल पोद्दार, रामबिलास पोद्दार, स्मारक ग्रन्थमाला समिति नवलगढ़, १९३८

अंग्रेजी ग्रन्थ

१. काव्यप्रकाश—मम्मट, टीका: गजेन्द्रगडकर, पोपुलर बुक डिपो बम्बई, १९५९
२. भोजाज़ शृंगारप्रकाश—वी० राघवन्, पुनर्वसु, मद्रास १९६३
३. नम्बर ऑफ रसाज़—वी० राघवन्, अद्यार लाइब्रेरी, १९४०
४. स्टडीज ऑन सम कन्सेप्ट्स ऑफ दी अलंकारशास्त्र—वी० राघवन्, लाइब्रेरी १९४२
५. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स—एस० के० दे, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय कलकत्ता, १९६०

